प्राचीन भारत का इतिहास

(आरंभ से १२०० ई० तक)

[आचार्य नरेन्द्रदेव-लिखित 'दो शब्द' के साथ]

भगवतशरण उपाध्याय





प्रकाशक

ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना

मूल्य १०)

मुद्रक—देवकुमार मिश्र, हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना

मेरे पिता

श्री पण्डित रघुनन्दन उपाध्याय

को



दो शब्द

श्री भगवत्शरण उपाध्याय ने 'प्राचीन भारत का इतिहास' लिखकर हिन्दी साहित्य का बड़ा उपकार किया है। शिक्षा का माध्यम सिद्धान्त रू से हिन्दी को माना गया है, किन्तु पाठ्य पुस्तकों की नितान्त कमी होने के कारण हिन्दी अभी तक विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम नहीं बन पाई है। उद्देश्य को सफल बनाने के लिये इस कमी को शीघ्र पूरा करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक बी० ए० परीक्षा के पाठ्यक्रम में स्थान पाने योग्य है। वस्तुतः हिन्दी में इस विषय की यह पहली पुस्तक है, जो बी० ए० के विद्यार्थियों के काम की है। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन भारत के इतिहास से संबंध रखनेवाली कुछ उत्कृष्ट पुस्तकें लिखी गई हैं, किन्तु उनका क्षेत्र सीमित है, प्रस्तुत पुस्तक में १२ वीं शती तक का क्रमिक इतिहास अति प्राचीन काल से दिया गया है।

ग्रन्थकार एक अच्छे लेखक और गवेषक हैं। उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह पुस्तक बड़े परिश्रम से लिखी गई है। इसमें इतिहास की वैज्ञानिक पद्धति का यथासाध्य अनुसरण किया गया है तथा आज तक के शोध से पूरा लाभ उठाया गया है। आशा है, इसका समुचित आदर होगा और नवीन पाठ-क्रम में इसको स्थान दिया जायगा।

नरेन्द्र देव

भूमिका

प्रस्तुत इतिहास हिन्दी में पहली पाठ्य-पुस्तक (Text book) है। यह बी० ए०-एम० ए० के पाठ्य-क्रम और अन्य अग्रशील विद्यार्थियों की आवश्यकताओं के विचार से लिखी गयी है। आशा है, यह शिक्षार्थी और विद्वान् दोनों की आवश्यकताओं की पूर्ति करेगी। इसकी काल-सीमाएँ आरंभ से लेकर लगभग १२०९ ई० तक हैं।

इस काल की पाठ्य-पुस्तक हिन्दी में तो नहीं ही है, अंग्रेजी में भी उसकी संख्या विशेष नहीं। अंग्रेजी में डा० स्मिथ की Early History of India, डा० राय चौधरी की Political History of Ancient India और डा० त्रिपाठी की History of Ancient India मात्र हैं। इनमें से पहली कई कारणों से अनुपादेय है जिनमें से मुख्य कारण, विकृत दृष्टिकोण के अतिरिक्त, उसकी अनाधुनिकता है। नये शोधों का उसमें समावेश नहीं। वह बहुत पुरानी हो चुकी है और उसके अनेक प्रकरण पूर्णतया बदल देने पड़ेंगे, यद्यपि वह पुस्तक इस क्षेत्र में प्रथम है और जिस असाधारण अध्यवसाय और योग्यता का उसमें डा० स्मिथ ने परिचय दिया है, उससे भारतीय इतिहासकार उपकृत हुआ है। डा० त्रिपाठी की पुस्तक ने उसका स्थान पूर्णतया ले लिया है। अंग्रेजी में डा० त्रिपाठी के ग्रन्थ से सुन्दर, वैज्ञानिक और उपादेय पुस्तक अन्य नहीं है। लेखक ने इससे बहुत लाभ उठाया है। जहाँ-जहाँ भ्रम हुआ है, वहाँ-वहाँ उसने इससे सहायता ली है। यद्यपि अनेक स्थलों पर उसका इससे मतभेद हुआ है, इसके अनेक तिथि-क्रम उसे अग्राह्य सिद्ध हुए हैं, फिर भी उसने जो इसका निरन्तर उपयोग किया है, उसके लिए वह डा० रामशंकर त्रिपाठी का आभारी है।

अनेक विश्वविद्यालयों ने अब अपनी शिक्षा का माध्यम हिन्दी कर दिया है। पहले एक कृत्रिम वृत्त-सा उन्होंने खड़ा कर दिया था। उनका कहना था कि चूँकि पाठ्य-पुस्तकें हिन्दी में नहीं हैं, हिन्दी शिक्षा का माध्यम नहीं की जा सकती। विद्वान् कहते थे जब तक विश्वविद्यालय में शिक्षा का माध्यम हिन्दी नहीं हो जाता, पुस्तकों की खपत न हो सकेगी, पाठ्य-पुस्तक लिखना व्यर्थ होगा। अब विश्वविद्यालयों ने जो हिन्दी माध्यम की घोषणा कर दी है उससे विद्वानों का उत्तरदायित्व बढ़ गया है। प्रस्तुत पुस्तक उसी क्षेत्र में प्रथम प्रयास है। इसमें त्रुटियाँ हो सकती हैं, क्योंकि टेक्स्ट-बुक लिखना वैसे भी कठिन है, फिर किसी हिन्दी-मॉडल के अभाव में यह कठिनाई और भी बढ़ गयी है। मेरे मित्र श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार का अपनी 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' द्वारा प्रयास अवश्य इस दिशा में स्तुत्य है, परन्तु वह पुस्तक अति विस्तृत है और शक-सातवाहनों तक आधी दूर आकर ही वह समाप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त भाषा की अपनी

परम्परा भी होती है जो कला की भाँति कोरी और सँवारी जाती है। हिन्दी में इतिहास, विशेषकर पाठ्य-पुस्तक (टेक्स्ट-बुक) के इतिहास की परम्परा अभी नहीं बनी है। इससे लाक्षणिक और ऐतिहासिक अभिव्यक्ति के उसमें अभाव के कारण प्रस्तुत प्रयास अति कठिन सिद्ध हुआ है। इसी कारण इसमें त्रुटियाँ भी हो सकती हैं। लेखक इस प्रयास के अनेक दोषों और सीमाओं से अवगत है और इस दिशा में जो विद्वान् उसका ध्यान आकर्षित करेंगे, उनका वह कृतज्ञ होगा तथा उनकी सुझाई भूलों को सही करने का प्रयत्न करेगा। आशा है, इस इतिहास से पाठ्य पुस्तक की कमी पूरी होगी। अन्य प्रयास इसके आधार पर इस क्षेत्र में जो विद्वान् करेंगे, निस्सन्देह वे एक पग इस मंजिल से आगे होंगे। यह इतिहास विशेषकर कमी पूरी करने के लिए ही लिखा गया है। आरंभ सदा सफल नहीं होता, परन्तु आरंभ तो कभी करना ही होता है।

भारतवर्ष अनेक रूप से चीन, मिस्र, सुमेर आदि की भाँति मानव-सभ्यताओं की जन्मभूमि और समाधिस्थल रहा है। अनेक संस्कृतियाँ यहाँ उठीं और विलीन हो गयीं। अनेक साम्राज्यों के यहाँ उत्थान-पतन हुए जिनके भग्न स्तूप और खँडहर आज भी जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं। आज भी संस्कृतियों, जातियों और साम्राज्यों के भग्नावशेष पृथ्वी के नीचे दबे पुराविद् के फावड़े की ओर टक लगाये देख रहे हैं। भारतीय पुराविद् अपने सीमित सम्बल और परिमित साधनों के कारण बेबस हैं। फिर भी आशा है आगे भारतीय सरकार उसकी मुश्किलें आसान करेगी।

प्रस्तुत इतिहास वैज्ञानिक और objective है। ऐतिहासिक सामग्री पर इसमें इतिहासकार ने विचार किया है। घटनाओं के क्रम को यथास्थान रख उसने उसके पूर्व कारणों और अन्त्य परिणामों का रूप पाठकों के सामने रखा है। इतिहासकार स्वयं घटनाओं से अलग है, अपने इतिहास की पंक्तियों में वह स्वयं नहीं उतरता। इस पुस्तक की एक विशेषता यह है कि इसमें सांस्कृतिक और सामाजिक घटनाओं और स्रोतों का यथासंभव भरपूर हवाला है। अब तक के इतिहास अधिकतर राजनीतिक घटनाओं के अनुक्रमणीमात्र रहे हैं। वास्तव में अधिक इतिहास जनता का है, राजा का नहीं। फिर भी सामग्री के अभाव में इच्छानुसार सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है; क्योंकि प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री में राजा का स्थान ही विशिष्ट रहा है। एक अन्य विशेषता उसके परिशिष्टों की है। महत्वपूर्ण विषयों, काल आदि पर परिशिष्टों में विस्तृत विचार किया गया है जिससे विद्यार्थियों पर भार न पड़े और साथ ही अग्रगामी जिज्ञासुओं की शोध-संबंधी प्यास मिटने में सहायता मिले।

पुस्तक के फुटनोटों में सर्वत्र प्रमाणों के हवाले दिए गये हैं। जिस ग्रन्थ अथवा सामग्री का उपयोग हुआ है उसके आधारादि नीचे निर्दिष्ट हैं जिससे लाभ उठाया जा सकता है। मल्लिनाथ का आदर्श बराबर लेखक के सामने रहा है—नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते—जो टीकाकार के साथ ही प्रत्येक इतिहासकार का भी संकेत-मंत्र होना चाहिए।

जिन पुस्तकों का लेखक ने विशेष उपयोग किया है, उनके नाम नीचे दिए जाते हैं। उनके लेखकों के प्रति प्रस्तुत लेखक कृतज्ञ है।

१. त्रिपाठी—History of Ancient India.
२. स्मिथ—Early History of India, चतुर्थ संस्करण
३. राय-चौधरी—Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण।
४. जायसवाल—History of India—150 A. D. to 350 A. D.
५. बनर्जी—Age of the Imperial Guptas.
६. टार्न—The Greeks in Bactria and India.
७ रे—Dynastic History of Northern India.
८. मार्शल—Mohenjo-daro and the Indus Civilization.
९. अल्तेकर—Rastrakutas and their Times.
१०. भण्डारकर—Early History of Deccan.
११. बसक—The History of North-Eastern India.
१२. गोपालन्—History of the Pallavas of Kanci.
१३. शास्त्री—The Colas.
१४. Cambridge History of India, खण्ड १।

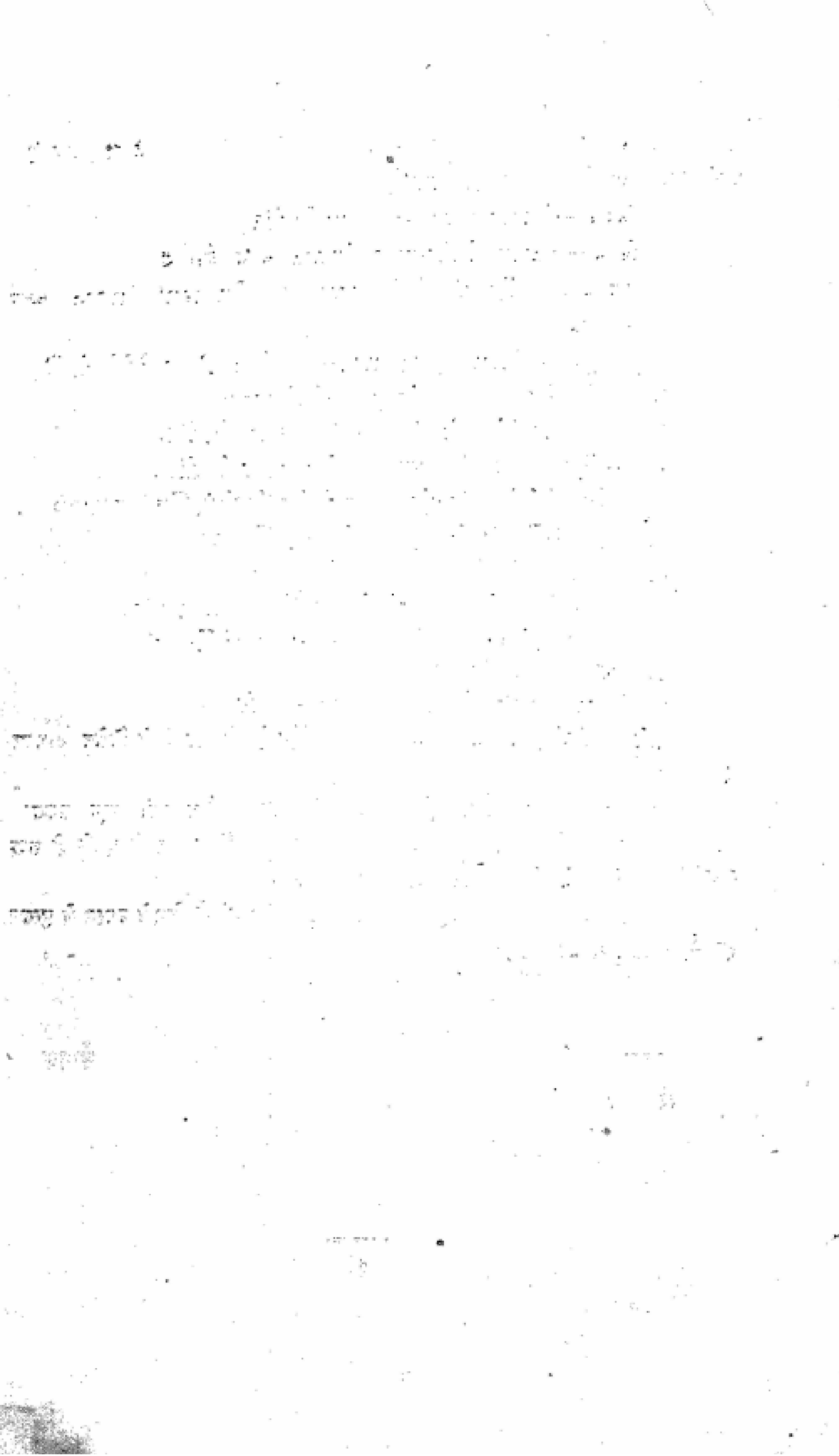
प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में साहित्य निर्दिष्ट है जो पाठकों को विशेष लाभकर सिद्ध होगा।

अन्त में लेखक आचार्य नरेन्द्रदेव के प्रति भी अपना कर्त्तव्य नहीं भूल सकता। देश के अनन्त कार्यों में व्यस्त रहकर भी उन्होंने समय निकालकर जो इसके दो शब्द लिखे हैं, उसके लिये लेखक उनका अत्यन्त अनुगृहीत है।

लेखक प्रकाशक (श्री देवकुमार मिश्र) का भी ऋणी है जिसके प्रयत्न से पुस्तक पाठकों के हाथ में आ सकी।

काशी,
मई १९४९

लेखक



विषय-सूची

खण्ड १

आरंभ काल

खण्ड २

खण्ड ३

खण्ड ४

खण्ड ५

खण्ड ६

खण्ड ७

दृष्टिकोण

इतिहास सभ्य काल में किए अतीत के मानव-प्रयास का क्रमिक इतिवृत्त है। इसमें तीन बातें मुख्य हैं—(१) अतीत के मानव-प्रयास, (२) क्रमिक इतिवृत्त और (३) सभ्य काल में किए प्रयास। जो प्रयास मनुष्य ने नहीं किये, प्राकृतिकमात्र हैं, वे इतिहास के विषय नहीं, भूशास्त्र आदि अनेक अन्य विज्ञानों के हैं। जो अतीत के प्रयास हैं केवल वे ही इतिहास के विषय हैं, अन्य नहीं। वर्त्तमान और भविष्य इतिहास के दायरे से बाहर हैं। जो घटना आज घट रही है, वह पत्रकार, राजनीति-विशारद, क्रानिक्लर अथवा समाजशास्त्री के साक्षात्कार की वस्तु है; परन्तु घट जाने के साथ ही वह ऐतिहासिक के मनन का विषय हो जाती है। उसका पूर्व और पर से अविच्छिन्न संबंध होने से भी केवल अतीत ही इतिहासकार का वस्तु-तत्त्व है।

इतिहास क्रमिक इतिवृत्त है। यदि इतिहास क्रमिक नहीं तो वह इतिहास नहीं। घटनाओं में पूर्व और पर का यदि संबंध न रखा जा सका, तो वह इतिहास नहीं हो सकता। पहली बात तो यह है कि घटना-विशेष अकेला अपने प्रवाह-स्रोत से अलग नहीं देखा जा सकता; क्योंकि इससे उसकी क्रमिक सजीवता (organic continuity) नष्ट हो जाती है। घटना अपने स्थान पर रहकर ही स्रोत में एक प्रकार की सार्थक सजीवता का निर्माण करती है। शृंखला की वह एक कड़ी है जिसके निकलते ही शृंखला टूट जाती है। फिर इससे इतिहास की वैज्ञानिकता भी नष्ट हो जाती है। घटनाओं का शृंखला-विस्तार अटूट है। पिछली घटना अगली घटना का कारण है, अगली घटना का परिणाम और अगली घटना है। इससे क्रम का निर्वाह इतिहास की आत्मा हो जाता है। घटनाओं का अंकनमात्र इतिहास नहीं, उनका पूर्व-पर संबंध तथा क्रमिक स्रोत इतिहास है। घटनाओं का अंकनमात्र अधिक-से-अधिक chronicling हो सकता है, इतिहास नहीं। प्राचीन वस्तुओं का विक्रेता केवल उनका स्वामी है, जानकार नहीं; क्रानिक्लर घटनाओं का समूह प्रस्तुत करता है, इतिहास नहीं; यद्यपि वह अनेक बार घटनाओं को तिथियाँ भी प्रदान करता है। यदि घटनाओं का ऊहापोह सही क्रम से न रहा, तो उनमें व्यतिक्रम होगा, उनका sequence बिगड़ जाएगा; संभवतः पुत्र पिता हो जाए, पिता पुत्र अथवा पौत्र पितामह और पितामह पौत्र। इसी कारण क्रनालॉजी अथवा तिथि-विज्ञान की भी इतिहास में आवश्यकता होती है। स्वयं तिथि का इसके सिवा और कोई अर्थ नहीं कि वह घटनाओं का उचित क्रम कायम रखती है और उनको कालमाप से बाँध हमको उन्हें समझने में सरलता प्रदान करती है। यदि यह कार्य किसी और साधन से हो सकता तो तिथि की आवश्यकता न थी। जब हम 'सिकन्दर ३२६ ई० पू०' कहते हैं तब हमारे सामने उस मकदूनिया के विजेता का भारत का विजय प्रयास और उसका

समय संकेत-रूप में आ खड़े होते हैं। सो तिथि का एक अन्य कार्य घटना को थोड़े में सांकेतिक पर सही रूप में उसी प्रकार रखना है जैसे H_2O का जल के निर्माण के संबंध में।

फिर इतिहास सभ्य काल में किए प्रयासों का क्रमिक प्रवाह अथवा विकास है। 'सभ्यता के काल में किए प्रयासों का'—यह न भूलना चाहिए। वैसे तो इतिहास उसी प्रकार अनादि है जैसे विश्व और उसका विस्तार भी अनन्त है ; परन्तु विकास के स्तरों और विविध क्षेत्रों के वैज्ञानिक अनुशीलन के लिए विविध विज्ञानों की अभिसृष्टि हुई है, जैसे मानव-शास्त्र का अध्ययन 'एन्थ्रोपालोजी' और जातियों का अध्ययन 'एथनालोजी' का क्षेत्र है। इसी प्रकार सभ्यता के भग्नावशेषों का अध्ययन 'आर्कियालोजी' अथवा पुरातत्त्व का विषय है। पुरातत्त्व इतिहास के सन्निकट का विज्ञान है, उसका निकटतम पूर्ववर्ती जो अनेक रूपों में इतिहास का आधार है। जब से मनुष्य के प्रयास सभ्यता के क्षेत्र में होने लगते हैं, उनका क्रमिक अनुशीलन इतिहास का विषय हो जाता है।

इतिहास के दृष्टिकोण अनेक हैं, परन्तु मुख्य उनमें तीन हैं—(१) वैज्ञानिक, (२) मार्क्सवादी और (३) राष्ट्रीय। एथनालोजी, पुरातत्त्व और तुलनात्मक धर्म तथा भाषा (Comparative religion and philology) के वैज्ञानिक अध्ययन को आधार बनाकर जब इतिहासकार प्रस्तुत सामग्री पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करता और ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमिक चिन्तन करता है तब उसकी शैली को वैज्ञानिक शैली कहते हैं। 'क्यों' पर ईमानदारी से इतिहासकार विचार करता है और स्वयं वह घटनाओं के बीच में नहीं आता। अपनी व्यक्तिगत अभिरुचियों को घटनाओं की तोल में वह अन्तर नहीं डालने देता। अतीत की घटनाओं के घटयिता गत और मूक हैं और इतिहासकार की प्रवृत्तियों के विरोध में वे अपना पक्ष वक्तव्य से पुष्ट नहीं कर सकते। इस कारण इतिहासकार को अत्यन्त सच्चाई से काम लेना होता है। अपनी भली-बुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों को दबाकर, अपनी 'अहम्' की subjective भावना को नितान्त निर्मूल कर पूर्व-पर के विचार से घटनाओं को यथास्थान रखना उसका कर्तव्य है। यह 'वैज्ञानिक' दृष्टिकोण है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण अनेकार्थ में इसके समीप आ जाता है। प्रकृति ने मनुष्य पर कुछ आवश्यकताओं का आरोप किया है। उनकी पूर्ति में जब मनुष्य प्रयास करता है, उसी सिलसिले में वह इतिहास का निर्माण भी करता जाता है। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पैदावार उद्योग के साधनों की अभिवृद्धि, वर्गों का आरम्भ, उनके स्वार्थ में व्यवहार (कानून) आदि संस्थाओं की उत्पत्ति, युद्ध, जातियों का पारस्परिक संघर्ष—सब उस दृष्टिकोण के शारीरिक अवयव हैं। 'हूणों के सतत आघात से गुप्त साम्राज्य के प्रान्त बिखर गए' अथवा 'शकों ने भारत में प्रवेश कर वहाँ अपने पाँच राजकुलों की नींव डाली' कुछ अर्थ नहीं रखते जब तक कि यह न कहा जाय कि चीन के उत्तर-पश्चिमी भाग में अकाल पड़ा, 'ह्यु ंग-नू' जाति ने बढ़कर कान्सू प्रान्त की 'यूइ-ची' जाति को वहाँ से उखाड़ फेंका जो सीर दरिया के उपरले काँठे के शकों से जा टकराई और इन शकों ने पार्थवों का सशक्त राज्य चूर-चूर कर दिया और उसके प्रवाह में बाख्त्री और उद्यान के अनेक ग्रीक

राष्ट्र बह गये। वास्तव में गुप्त-साम्राज्य के टूटने की कहानी रोम-साम्राज्य के विध्वंस की कहानी है, जो सदियों और देशों के पार चीन के अकाल से संबद्ध है।

स्थानीय दृष्टिकोण से इतिहास का स्तवन राष्ट्रीय दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण यथार्थतः संकुचित है। वास्तव में जैसे राष्ट्रीय रसायन नहीं हो सकता, राष्ट्रीय चिकित्सा नहीं हो सकती, राष्ट्रीय इतिहास भी नहीं हो सकता। चरित्र-निर्माण अथवा राष्ट्रीय उत्कर्ष यदि इतिहास का आदर्श है, तो वह बिना इतिहास के कुछ अंगों को शिथिल किये और कुछ पर जोर डाले नहीं लिखा जा सकता; परन्तु दोनों दशाओं में इतिहास-विज्ञान विकृत हो जाता है। 'भारतीय दृष्टिकोण से इतिहास' की बात सत्यतः उस पाप का सबल विरोध है, जो विदेशी इतिहासकार, विशेषकर यदि वह परतंत्र देश के शासकों में से हुआ, करता है। उस दृष्टिकोण की चरम सीमा अन्ततः उस पौराणिक इतिहास-परम्परा का निर्माण करती है, जिसमें केवल राष्ट्र की विजयों का वितन्वन होता है, पराजयों का नहीं। इस प्रकार का प्रयास राष्ट्र के चरित्र-गठन में उपादेय अवश्य होता है, परन्तु वह एक पृथक् कर्तव्य राष्ट्रप्रेमी चारण अथवा समाजशास्त्री का है, इतिहासकार का नहीं। सच्चा इतिहास वैज्ञानिक होगा।

कारलाइल ने इतिहास को समर्थों (वीरों) के कृत्यों का समाहार माना है, वह भी इतिहास नहीं है। इसी कारण तो अब तक का दृष्टिकोण एकदेशीय रहा है, जिसमें केवल समर्थों, नरपुंगवों और राजाओं के कार्यों का ही संगठन रहा है। इतिहास जनता बनाती है, परन्तु अभाग्यवश पूर्व के इतिहासांकन में उसका स्थान नहीं। राजनीतिक इतिहास का दिग्दर्शन करानेवाला इतिहास पाक्षिक है। इतिहास में सामाजिक प्रयासों का अधिकाधिक समावेश होना चाहिए। सच्चा इतिहासकार ऐसा कुछ नहीं लिखेगा जो निराधार है, ऐसा कुछ नहीं छोड़ेगा जो वक्तव्य है—नामूलं लिख्यते किंचन्नानपेक्षितमुच्यते।

भारत का इतिहास यथार्थतः अभी नहीं लिखा जा सका। जितने प्रयास अब तक हुए हैं, या हो रहे हैं, वे सारे राजकुलीय'—dynastic—हैं। अधिक से अधिक वे जनता की एक-प्रति-लक्ष वस्तुस्थिति प्रकाशित करते हैं। सही इतिहास के लिए हमें अपने काव्यों, नाटकों और अन्य साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण करना होगा, स्मृतियों आदि से मनुष्य के अधिकार संकलित करने होंगे। 'दाय' के अधिकारों का निगमन, व्याप्ति और निष्कर्ष द्वारा ऐतिहासिक अर्थ बिठाना होगा। लेखक को यह कहते संकोच नहीं होता कि प्रस्तुत ग्रन्थ भी कई कारणों से उसी दोषपूर्ण परम्परा में प्रणयित है, यद्यपि इसकी वैज्ञानिकता अपेक्षाकृत उदार है।

प्राचीन भारत का इतिहास

खंड १

पहला परिच्छेद

भारतीय इतिहास की सामग्री

इतिहास का अभाव

प्राचीन भारतीय साहित्य, जिसका निर्माण विशेषतः संस्कृत भाषा और उससे संबद्ध पालि और अन्य प्राकृतों में हुआ है, एक विस्तृत सागर है। उस रत्नाकर से अनन्त रत्न उपलब्ध हुए हैं। परन्तु एक विशिष्ट प्रकार का रत्न, जो हम अन्य रत्नाकरों में पाते हैं, वहाँ उपलब्ध न हो सका। वह है इतिहास-रत्न। ऐसा तो नहीं है कि इतिहासपरक ग्रन्थों का सर्वथा अभाव ही हो; परन्तु जैसा इतिहास हम आज चाहते हैं वैसा प्राचीन काल में प्रस्तुत हमें नहीं मिलता। पर इससे यह न समझना चाहिए कि भारत में इतिहास लिखने का कभी प्रयास न किया गया। किया जरूर गया और फलस्वरूप इतिहास-पुराणसंबंधी अनेक ग्रन्थ आज उपलब्ध भी हैं, परन्तु इतना सही है कि उन इतिहासों का दृष्टिकोण वह नहीं रहा है जो आज का है अथवा जो प्राचीन काल में पाश्चात्य देशों के इतिहासकारों का रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मणों, बौद्धों और जैनों की अनन्त साहित्य-निधि में एक भी ऐसा इतिहास-ग्रंथ नहीं है, जो लिवी के Book of Kings, टैसीटस के Annals अथवा हेरोदोतस् की Histories के समकक्ष रखा जा सके; परन्तु इस बात को भी न भूलना चाहिए कि पुराणों का संकलन बहुत प्राचीन है। उनका प्रारंभ वेदों के समय के पूर्व तक जाता है और उनका उल्लेख अथर्ववेद तक में मिलता है। उस वेद का वक्तव्य इस प्रकार है—"इतिहासस्य च वै स पुराणस्य गाथानां नाराशंसीनां स प्रियं धाम भवति य एवं वेद।"[१] इन पुराणों का भी एक 'मूल' पुराण था जिसका संवर्धन और संपादन समय-समय पर होता आया है और ऐतिहासिक युग में जिसका बृहत्संपादन उस समर्थ इतिहासकार ने किया जिसका नाम भारतीय संस्कृति में प्रतिनिधि-स्वरूप जीवित रहेगा। वह है यशस्वी व्यास—कृष्ण-द्वैपायन व्यास। व्यास काल के परिगणन से मानव-जगत् के प्रथम इतिहासकार हैं, संभवतः पन्द्रहवीं शती ई० पू० के मध्य के।

---

१ अथर्ववेद, १५, ६, १२.

भारत के लिए यह कुछ कम गौरव की बात नहीं है कि जब संसार कबीले बाँधकर रोटी और चरागाहों की खोज में दर-बदर फिर रहा था, सभ्यता के उस उषकाल में तब यह देश अपने इतिहास के अनेक देदीप्यमान युग समाप्त कर चुका था और उसका प्रातःस्मरण करने के लिए ब्रह्मचारी-सदृश वह व्यास आसन मार बैठे थे। ईसा से पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व इतिहास को इतिहास की भाँति और पुराण को सर्गादि-संयुत पुराण की भाँति प्रस्तुत करनेवाले इतिहासकर और इतिहास-संपादक को उत्पन्न करने का श्रेय भारत को ही मिला—और यदि सच पूछें तो इतिहास 'करनेवाले' व्यास को उत्पन्न करने का नहीं, वरन् उसके सम्पादकमात्र को उत्पन्न करने का। इतिहास के अनेक प्रशस्त युग तो कब के बीत चुके थे और उनकी घटनाएँ किसी-न-किसी रूप में लिखी अथवा कही भी जा चुकी थीं; क्योंकि व्यास तो संपादक-मात्र थे जिनका कार्य था प्रस्तुत 'मूल' पुराण की समाप्त शृंखला में इतिहास की उन कड़ियों को जोड़ना, जो उसके निर्माण के बाद प्रस्तुत हुईं, और उस विस्तृत अनिबद्ध इतिहास-साहित्य को संकलित करना जिसका धारावाहिक रूप उस 'मूल' से इतर साहित्य में भी जहाँ-तहाँ उपलब्ध था। यह क्रमबद्ध संपादन-कार्य उस प्रारंभिक काल के लिए यथार्थतः असाधारण था।

इतिहास का दृष्टिकोण

भारतीय अतीत का वैभव वीर-कार्यों से भरा था। उस लम्बे युग में पराक्रमी वीरों के विक्रम कई रूप में प्रगट हुए और उनके अनेक प्रख्यात कुल इस प्राचीन धरा पर उठते-गिरते रहे; परन्तु इतना जरूर है कि उनका इतिहास क्रमबद्ध, विशेषकर तिथि-क्रमबद्ध प्रस्तुत न हो सका। इतना और भी निश्चित है कि चाहे यह भारतीयों के दृष्टिकोण का दोष रहा हो, चाहे उन सम्प्रदायों की इतिहास के प्रति अश्रद्धा जिन्होंने साधारणतया भारत की जनता को एक लम्बे काल तक आध्यात्मिक विषयों की ओर लगाकर भौतिक तथा दैनिक घटनाओं से उदासीन रखा। आज दिन प्राचीन भारतीय इतिहास पर धारावाहिक रूप से आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इतिहास प्रस्तुत करनेवाले जिज्ञासु के लिए लिवी और हेरोदोतस् के ग्रन्थों के-से ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। अल्बरूनी तो यहाँ तक कहता है—"हिन्दू ऐतिहासिक क्रम पर विशेष ध्यान नहीं देते। तिथिपरक सिलसिले की तो वे परवाह ही नहीं करते। जब जोर देकर उनसे उस क्रम के विषय में पूछा जाता है और वे उत्तर देने में असमर्थ होते हैं, तब वे सदा इधर-उधर की कहने लगते हैं।" इस मुसलमान विद्वान् के वक्तव्य में सचाई काफी मात्रा में है; परन्तु जिन कारणों पर उसने अपना यह विचार स्थिर किया है, उनपर उसने विचार नहीं किया। उसे सोचना चाहिए था कि जिनसे उसने उन इतिहासपरक पौराणिक जटिलताओं को पूछकर सुलझाना चाहा, वे इतिहासकारों के प्रतिनिधि नहीं, उनकी सन्तान थे और यह निस्संदेह सत्य है कि इतिहासकार की संतान सदा इतिहासकार नहीं होती। भला हजारों वर्ष पूर्व घटी और उतनी पुरानी लिखी घटनाओं का समाधान दसवीं सदी के अल्बरूनी के समकालीन भारतीय क्योंकर कर सकते थे, जब रही-सही ऐतिहासिक सामग्री भी लुप्त हो चुकी थी और भारतीय मस्तिष्क की प्राचीन प्रखरता पर मैल जम चुकी थी? यदि सोलहवीं सदी के ग्रीकों या इतालियनों से कोई उनके होमरकालीन अथवा सीजरकालीन पूर्वजों का इतिहास पूछता, तो उसे कहाँ तक सही उत्तर मिल

सकता—यह कहना न होगा। फिर एक बात और है। अल्बरूनी या अन्य विद्वान् जो पौराणिक इतिहास-निर्माण की पद्धति पर आक्षेप करते हैं, उन्हें दो बातों का ध्यान तो अवश्य रखना चाहिये। एक तो यह कि प्राचीन काल में किसी देश में पूरा-पूरा इतिहासकारों का कार्य वैज्ञानिक नहीं रहा, जब तक कि वे समसामयिक राजकुलों का वर्णन न करते रहे हों। स्वयं लिवी के 'एनाल्स' में ऐतिहासिक गुत्थियाँ कुछ कम नहीं हैं और हेरोदोतस् तो काल्पनिक क्षेत्र में अपना सानी ही नहीं रखता। ईरान के दरबार में रहकर उसकी ऐतिहासिक प्रतिभा और भी जगमगा उठी थी। उसने भारत के 'दो पूँछों वाले सिंह' देखे थे और हिमालय की जमीन से सोना खोद-खोदकर पर्वत की भाँति उसका ढेर लगानेवाली 'लोमड़ी की ऊँचाई की चींटियाँ'। इस प्रकार इस ऐतिहासिक कल्पना-क्षेत्र में हेरोदोतस् अर्वाचीन हॉलवेल का प्रबल पूर्वज था। दूसरी बात जो उन विद्वानों को ध्यान में रखनी चाहिए, वह है जीवन तथा उसके उपकरणों के प्रति भारतीय इतिहास का दृष्टिकोण। भारतीय संस्कृति विशेषकर धर्मप्राण रही है, इसलिये सारे जीव्य साधन तथा वस्य उपकरण धर्मसंज्ञक और धर्मांगीय ही प्रायः बन सके। इसका फल यह हुआ कि साधारण नित्यप्रति के जीवन में भी धर्म का एक स्रोत बह चला। 'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्' की परम्परा ने प्रत्येक सूझ और सृष्टि में धार्मिक अथवा लोकोत्तर उपादेयता को खोजा, उसे सिरजा। यहाँ तक कि मानव-मनोरंजन का विशिष्ट उपकरण कला तक स्वतन्त्र न रह सकी—'धर्म की चेरी' बन गयी। और बनती क्यों न? भारत में उसका प्रारम्भ भी प्रायः धर्म की ही कोख में हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि धर्म के पंडों ने भी इस भौतिक उदासीनता को बढ़ाने में भरपूर सहायता दी; क्योंकि ऐसा करने में उनके स्वार्थ का संचय और वर्धन होता था। कला और साहित्य के औचित्य की सीमाएँ उन्होंने मानव-कल्याण की उपादेयता और उसकी ऊँची-नीची मात्राओं से बाँधी। यही दृष्टिकोण था, जिसने इतिहास को भारत में पौराणिक ढाँचा दिया अथवा आधुनिक ऐतिहासिकों की राय में उसे विकृत कर दिया। फल यह हुआ कि भारत का इतिहास दृष्टांतपरक बन गया। इतिहास के सम्बन्ध में भी उन्होंने उसी तर्क का प्रयोग किया। यदि समाज अपने इतिहास की घटनाओं से, अपने शिष्टों और पतितों से, वीरों और कायरों से कुछ सीख-भूल न सका तब उस इतिहास से लाभ क्या? ऐसा दृष्टिकोण होने के कारण दृष्टांतपरक इतिहास-पुराण की रचना स्वाभाविक ही थी। पुराणकारों ने घटनाक्रम (sequence of events) तो अवश्य कायम रखा; परन्तु उन्होंने तिथि की अनिवार्य सत्ता की जड़ काट दी, उसे सर्वथा उठा ही दिया। उनसे यदि कोई पूछता कि तुम्हारे इतिहास में तिथि की विशिष्ट परम्परा क्यों नहीं है, तो शायद वे उत्तर में पूछते कि अनन्त काल की निर्बंध धारा को कौन बाँध सकता है? और उसका लाभ ही क्या होगा? यदि एक विशेष घटना के बाद खरबों वर्ष बीत जायँ, और निस्सन्देह काल की अनन्त महिमा से बीत ही जायँगे, तो उस घटना की तिथि का क्या कुछ अर्थ होगा? यदि समय की एक अत्यन्त लंबी अवधि के बाद कहा जाय—"अठत्तर पद्म, सत्तर नील, पचपन खरब, पचास अरब, तेरह करोड़, अट्ठासी लाख, बीस हजार, चार सौ अस्सी वर्ष हुए जब पंजाब में नहुष् नाम का राजा राज करता था।" तो इसका अर्थ इसके सिवा कुछ नहीं होगा कि

"बहुत प्राचीन काल की बात है जब पंजाब में नहुष् नाम का राजा राज करता था।" मनुष्य का मस्तिष्क काल की तिथिपरक अनन्त संख्याओं में ही उलझ जायगा—नहुष् तक पहुँच भी न पायगा। इसीलिये पुराणों ने दूसरी परिपाटी से इतिहास को व्यक्त किया, जो इतिहास के जिज्ञासु को नहुष् तक पहुँचानेवाली है। हालाँकि उन्होंने इन तिथिपरक संख्याओं को सर्वथा छोड़ भी न दिया, वरन् उन्हें उन्होंने अन्य कालपरक 'मन्वन्तर' आदि की संज्ञाएँ देकर सरल और आशुधार्य कर दिया। उनके सामने चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन का चर-विभाग इतना महत्त्वपूर्ण न रहा, जितनी 'राम-राज्य' की सुख-शान्ति। इसी कारण उन्होंने चन्द्रगुप्त से बहुत पूर्व होनेवाले राम को हमें उस राजा की अपेक्षा सन्निकट कर दिया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार का इतिहास दृष्टान्तपरक होकर वीरपूजा की गाथा उपस्थित करता है और पुराणों की वस्तुतः यही प्रवृत्ति रही है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इतिहास की आधुनिक 'वैज्ञानिक' परिभाषा के अनुसार पुराण या 'इतिहास' इतिहास नहीं है यद्यपि वे इतिहास की सामग्री अवश्य उपस्थित करते हैं।

१. साहित्यिक सामग्री

भारतीय इतिहास की सामग्री दो भागों में विभक्त हो सकती है—साहित्यिक और पुरातत्त्व-सम्बन्धी, जो देशी-विदेशी दोनों हैं। यद्यपि आधुनिक परिभाषा के अनुसार भारतवर्ष में कभी प्राचीन काल में इतिहास प्रस्तुत नहीं किया गया, तथापि इससे यह न समझना चाहिए कि उसके अतीत के सम्बन्ध में साहित्य सुरक्षित नहीं है। यह अवश्य है कि सामग्री पूरी-पूरी उपलब्ध नहीं है और जो है भी, उसका पूरा-पूरा प्रयोग करने में दिक्कतें हैं। परन्तु

इतिहासेतर साहित्य से उपलब्ध सामग्री

निस्संदेह ऐतिहासिक सामग्री है और उसका उचित प्रयोग करने से भारतीय इतिहास की अनेकांगीय रूप-रेखा अवश्य हमारे सामने खड़ी हो सकेगी। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, भारत का प्राचीनतम साहित्य पूर्णतः धर्म-संबंधी है। लगभग २०० वर्षों के अथक परिश्रम और अद्भुत धैर्य से विद्वान् इस साहित्य से भी इतिहास की इकाइयाँ प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। उदाहरणतः वेदों से भारत के प्राचीन इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ा है; विशेषकर ऋग्वेद से तो आर्यों के भारत के प्रसार, आपस के युद्ध, अनार्य, 'दासों' और 'दस्युओं' से उनके निरंतर संघर्ष तथा उनके सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संगठन की विशिष्ट मात्रा में जानकारी हुई है। इसी प्रकार अथर्ववेद से तत्कालीन संस्कृति और विद्याओं का ज्ञान होता है। 'ऐतरेय', 'शतपथ' और 'तैत्तिरीय' आदि ब्राह्मणों, और 'बृहदारण्यक' तथा 'छान्दोग्य' आदि उपनिषदों से भी प्रचुर ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है। ऐसे ही बौद्धों के 'पिटक', 'निकाय' और 'जातकों' तथा जैनों के 'कल्पसूत्र', 'उत्तराजमयनसूत्र' आदि साहित्य-ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र ऐतिहासिक सामग्री बिखरी पड़ी है जिसका संकलन, संपादन और निष्कर्ष प्रचुर रूप से उपादेय होगा। आधुनिक ऐतिहासिक खोज ने प्रमाणित कर दिया है कि ज्योतिष ग्रंथ 'गार्गी-संहिता',[1] पाणिनि

---

1. देखिए, J. B. O. R. S. में डा० काशीप्रसाद जायसवाल के लेख।

की 'अष्टाध्यायी' के व्याकरण-सूत्र, पतञ्जलि के 'महाभाष्य' और कालिदास[1] तथा भास के काव्य और नाटकों के इतिहासेतर साहित्य से भी ऐतिहासिक इमारत की नींव की ईंटें प्रस्तुत की जा सकती हैं। परन्तु अवश्य इन ग्रंथों से अधिक महत्त्वपूर्ण वे हैं जो इतिहासपरक हैं।

ऐतिहासिक साहित्य भी किसी-न-किसी रूप में भारतवर्ष में रहा है यद्यपि उसका उद्देश्य बहुत अंशों में वीरपूजा ही रहा है। 'रामायण' और 'महाभारत' नामक दो वीरकाव्य इस क्षेत्र में हिन्दुओं के स्तुत्य प्रयास हैं। ये दोनों काव्य, जिस काल में और जिस काल के सम्बन्ध में लिखे गये, उन दोनों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक सामग्री उपस्थित करते हैं। विशेषकर धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में तो ये तत्कालिक समाज के दर्पण-से हैं; परन्तु जब इतिहासकार शुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं अथवा राजनीतिक संस्थाओं की खोज में इनके पृष्ठ उलटता है तब उसे निराश होना पड़ता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उनमें राजनीतिक सामग्री और संस्थाओं का सर्वथा अभाव है; क्योंकि उन्होंने कई बातों के सम्बन्ध में निस्सन्देह हमारा ज्ञान-वर्धन किया है। उदाहरणार्थ, रामायण से तत्कालीन 'पौर-जानपदों' और महाभारत से 'सुधर्मा' और 'देवसभा' का हमें जो ज्ञान हुआ है, उससे पता चलता है कि राजा किस सीमा तक स्वेच्छाचारी था और कहाँ तक उसके प्रभाव और कार्य की सीमाएँ इन राजनीतिक संस्थाओं तथा प्रजा-प्रतिनिधित्व द्वारा परिमित थीं। परन्तु, इन राजनीतिक कथाओं का न तो कोई सिलसिला है, न कोई तरतीब। तिथिपरक तो वे बिलकुल ही नहीं हैं और न उनके दिए अनंकीय पदजन्य तिथिक्रमों का कोई अर्थ ही निकलता है। चूँकि ये तिथिक्रम कथा के स्रोत में बहते मिलते हैं, इनका तात्पर्य नहीं के बराबर सिद्ध होता है। रामायण और महाभारत काव्यों के 'इतिहास'-उल्लेख के बाद ही 'पुराणों' की गणना की जाती है। इन पुराणों की संख्या परम्परया अट्ठारह है। इनका 'सूत' लोमहर्षण अथवा उनके पुत्र 'सौति' उग्र-श्रवस ने पाठ किया था—ऐसा उल्लेख मिलता है। पुराणों में पाँच प्रकार के विषयों का वर्णन सिद्धान्ततः इस प्रकार है—(१) सर्ग, (२) प्रतिसर्ग, (३) वंश, (४) मन्वन्तर और (५) वंशानुचरित। 'सर्ग' प्रारंभिक अथवा बीज सृष्टि को कहते हैं और 'प्रतिसर्ग' उस सृष्टि को जो विश्व-प्रलय के बाद होती है—एक प्रलय से दूसरे प्रलय के बीच। 'वंशों' में देवताओं और ऋषियों के वंश-वृक्षों का वर्णन है और 'मन्वन्तरों' में कल्प के महायुगों का जिनमें से प्रत्येक में मनुष्य का पिता एक मनु होता है। इसी प्रकार 'वंशानुचरित' पुराणों के वे अंग हैं जिनमें राजवंशों की तालिकाएँ दी हुई हैं और राजनीतिक घटनाओं और कथाओं के वर्णन हैं। इनमें से अन्तिम प्रकरण ही इतिहासपरक होने के कारण ऐतिहासिकों के ध्यान के विषय हैं; परन्तु अभाग्यवश ये 'वंशानुचरित' भी सब पुराणों में नहीं मिलते और इनकी चर्चा केवल 'मत्स्य', 'वायु', 'विष्णु', 'ब्रह्माण्ड', 'भागवत' और 'भविष्य' पुराणों में हुई है। इन पुराणों के अधिकांश इसी कारण व्यर्थ और निष्प्रयोजन हो जाते हैं। जो कुछ है, वह भी शुद्ध ऐतिहासिक और तिथि-

ऐतिहासिक साहित्य

---

१. देखिए, भगवतशरण उपाध्याय: India In Kalidasa; डा० अविनाश-चन्द्र दास: Rigvedic Culture और Rigvedic India। इनमें क्रमशः कालिदास और ऋग्वेदकालीन इतिहास के निर्माण का प्रयत्न किया गया है।

क्रम के दृष्टिकोण से स्वल्प है। फिर वह स्वल्प भी इस प्रकार उलझा हुआ है कि उसको सुलझाना साधारण कार्य नहीं है। कहीं तो इन 'वंशानुचरितों' में समसामयिक राजकुलों का वर्णन अनुक्रमिक रूप से हुआ है, कहीं कई बिलकुल ही छोड़ दिये गये हैं। इन छोड़े हुए राजकुलों में वे विदेशी राजवंश—हिन्दू-ग्रीक, हिन्दू-पार्थव, कुषाण आदि हैं, जिन्होंने एक लंबे काल तक भारतवर्ष के कितने ही प्रांतों पर राज किया था। इनमें कुषाण तो सर्वथा हिन्दू अथवा बौद्ध हो गये थे। उनके सिक्कों पर बुद्ध अथवा शिव की प्रतिकृतियाँ मिलती हैं। परन्तु इन कुलों का वर्णन पुराणों में नहीं मिलता। ऊपर इतिहास के प्रति जिस भारतीय दृष्टिकोण पर विचार कर आये हैं, वास्तव में वह जब तब राष्ट्रीय रूप धारणकर संकुचित भी हो जाता है और उससे ऐतिहासिक सत्य पर आवरण भी चढ़ जाता है। उस स्थिति में अपनी विजयों के विस्तार और पराजयों की प्रच्छन्नता की नीति को प्रश्रय मिलता है। यह कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है कि सारे संस्कृत साहित्य में कहीं उस ग्रीक आँधी का जिक्र नहीं मिलता, जो ३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने पंजाब में चला दी थी और जिसने वहाँ के राज्यों को डाँवाँडोल कर दिया था। पुराणों में कहीं उसका हवाला तक नहीं मिलता। गुप्तकालीन कवि विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', जो राजनीतिक पटुता से अनुप्राणित होने से नाट्य जगत् में अपना सानी नहीं रखता, सिकन्दर के आक्रमण के शीघ्र बाद की भारतीय राजनीतिक परिस्थिति का उद्घाटन करता है; परन्तु इस भीषण राष्ट्रीय पराजय के सम्बन्ध में वह भी सर्वथा मूक है। वह पौरव, जिसने सिकन्दर के दाँत खट्टे कर दिये थे, संभवतः मुद्राराक्षस के पात्रों में से एक है। परन्तु, शीघ्र-पूर्व घटी उस विशाल राजनीतिक घटना के सम्बन्ध में उस नाटक में एक तिरछा हवाला भी नहीं मिलता। पुराणों में साधारणतया विदेशी कुलों अथवा उनके आक्रमणों का उल्लेख नहीं मिलता। गार्गी-संहिता के 'युगपुराण' नामक स्कन्ध में अवश्य हिन्दू-बाख्त्री (यवन) राजा धर्ममीत (दिमित, देमित्रियस) की मगध-विजय का वर्णन है। परन्तु अपने साहित्य में वह वर्णन प्रायः अकेला ही है। पुराणों में तिथियों का तो बहुधा अभाव है ही (यद्यपि स्थान-स्थान पर पूरे राजकुल का तिथि-संख्यक जोड़ दे दिया गया है), व्यक्तिगत राजाओं के नाम में भी जहाँ-तहाँ अशुद्धियाँ हैं। इसके प्रमाण में आंध्र राजाओं की तालिका रखी जा सकती है। इन दोषों के रहते भी पुराणों की प्रामाणिकता बहुत अंशों में स्वीकार करनी पड़ेगी और उनके ऋण से हम मुक्त नहीं हो सकते। इनका उपयोग विशेषकर तब बड़ा श्रेयस्कर सिद्ध होता है जब किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख ग्रीक अथवा रोमक इतिहासों अथवा शिलास्तंभ मुद्रालेखों में मिलता है जिसका वर्णन पुराणों में है। यद्यपि इसमें भी सन्देह नहीं कि कभी-कभी पौराणिक वर्णनों की स्वच्छन्द शैली इस प्रसंग में कठिनाइयाँ भी खड़ी कर देती है। तथापि पुराणों का स्थान इस क्षेत्र में सर्वोच्च है। यहाँ उस प्रकार के राजकीय जीवनचरितों का उल्लेख कर देना भी युक्तियुक्त होगा, जो भारतीय इतिहास के निर्माण में काफी सहायक सिद्ध होते हैं, और यद्यपि वे भी वीरपूजा-परक ही हैं तथापि प्रशस्त्यात्मक होते हुए भी वे बड़े काम के हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—बाणभट्ट का 'हर्षचरित्र', वाक्पतिराज का 'गउडवहो', पद्मगुप्त (परिमल) का 'नवसाहसांकचरित', बिल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित', सन्ध्याकर नन्दी का 'रामचरित', कल्हण और जोनराज की 'राजतरंगिणी', हेमचन्द्र का 'द्वयाश्रयकाव्य' तथा 'कुमारपालचरित', जयानक (जयरथ)

का 'पृथ्वीराजविजय', सोमेश्वर की 'कीर्तिकौमुदी', अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन', जयसिंहसूरि का 'हंमीरमदमर्दन', मेरुतुंग का 'प्रबन्धचिन्तामणि', राजशेखर का 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध', चन्द्रप्रभसूरि का 'प्रभावकचरित', गंगादेवी का 'कंपरायचरितम्' (मधुराविजयम्), जयसिंहसूरि, चरित्रसुन्दर-गणि तथा जिनमंडनोपाध्याय के भिन्न-भिन्न तीन 'कुमारपाल-चरित', जिनहर्षगणि का 'वस्तुपाल-चरित', नयचन्द्रसूरि का 'हम्मीर महाकाव्य', आनन्दभट्ट का 'बल्लाल-चरित', गंगाधर पण्डित का 'मण्डलीक महाकाव्य', राजनाथ का 'अच्युतराजाभ्युदयकाव्य' और 'मूषकवंशम्' आदि।[1] ऊपर के ग्रंथ अधिकतर काव्यात्मक हैं, जिनमें ऐतिहासिक सामग्री बहुधा अलंकारों में दब गयी है। इनमें से कल्हण की 'राजतरंगिणी' इतिहास के निकट पहुँचती है। इसमें ऐतिहासिक वृत्तान्त कथा-वाहिक रूप में प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों, राज्य-शासनों और प्रशस्तियों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसकी रचना ११४८ ईस्वी में प्रारंभ हुई थी। अपने निकटपूर्व के सम्बन्ध में तो कल्हण के वर्णन काफी सत्यता रखते हैं; परन्तु और प्राचीन काल के वर्णनों में उसकी प्रवृत्ति भी पौराणिक हो गयी है। उन तामिल ग्रन्थों की गणना भी इन्हीं ग्रन्थों की पंक्ति में करनी होगी जिनसे भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। वे हैं—'नन्दिक्कलम्बकम्', ओट्टक्कूत्तन् का 'कुलोत्तुंगण-पिल्लैत्तमिल,' जयगोण्डार का 'कलिंगत्तुप्परणि', 'राजराज-शोलन-उला', 'चोलवंश चरितम्' आदि। इसी शृंखला में सिंहल के दो इतिहास—'दीपवंश' (चतुर्थ शती ईस्वी का) और 'महावंश' (छठी शती ईस्वी का)—भी आते हैं। इनसे बौद्ध धर्म के इतिहास को समझने और सुलझाने में बड़ी सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त भारतीय इतिहास के कितने ही राज्यों के सम्बन्ध में भी इनके वक्तव्य प्रामाण्य माने गये हैं। अनेक बार पौराणिक वृत्तान्त के संदिग्ध स्थलों की गुत्थियाँ विद्वानों ने इन सैंहलक इतिहास-गन्थों की सहायता से सुलझायी हैं।

ऊपर वर्णित अनैतिहासिक देशी साहित्य के अतिरिक्त विदेशी साहित्य से भी भारतीय इतिहास के अनेक पृष्ठ निर्मित किये गये हैं। बहुमूल्य सामग्री उन यात्रियों के वृत्तान्तों से उपलब्ध हुई है जिन्होंने स्वयं अपनी यात्रा में भारत में रहकर या उसके संबंध में दूसरों से सुनकर लिखा है। इनमें यूनान, रोम, चीन, तिब्बत, अरब आदि अनेक देशों के यात्री शामिल हैं। विदेशियों में सबसे प्राचीन हेरोदोतस् है जिसका उल्लेख ऊपर कर आये हैं। उसने ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती के हखमनी साम्राज्य और उत्तर-पश्चिमी भारत के पारस्परिक सम्बन्ध पर लिखा है। इसी प्रकार अनेक यूनानी और रोमक लेखकों ने सिकन्दर के पंजाब और सिन्ध पर किये आक्रमण की बात लिखी है। वे हैं—क्विन्तस् कर्तियस, दियोदोरस् सिकुलस्, एरियन, प्लूतार्च, आदि। इनके लेखों की उपादेयता इसी बात से सिद्ध हो जाती है कि यदि उनके वृत्तान्त हमें उपलब्ध न होते तो हम उस प्रबल यूनानी आक्रमण के सम्बन्ध में कुछ भी न जान पाते, क्योंकि देशी लेखकों ने उसका कहीं संकेत भी नहीं किया है। इसी प्रकार मेगास्थनीज की 'इंडिका' भी भारत की संस्थाओं, भूगोल और उसकी पैदावारों के विषय में बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत करती है। इसका यूनानी लेखक सीरिया के सम्राट् सिल्यूकस निकेटर का चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में चौथी शती ई० पू० में राजदूत था। उसकी 'इण्डिका' पूरी तो उपलब्ध नहीं, परन्तु उसके

विदेशी लेखक

१ देखिए, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की 'भारतीय लिपिमाला' भूमिका, पृष्ठ १

खण्ड जहाँ-तहाँ एरियन, एप्पियन, स्त्राबो, जस्तिन आदि विदेशी इतिहासकारों की पुस्तकों में उद्धृत मिलते हैं। 'इरिथ्रियन-सागर का पेरिप्लस' (Periplus of the Erythrean sea) किसी अज्ञातनामा यूनानी द्वारा प्रथम शती ईस्वी में लिखी पुस्तक है जिससे पूर्वी देशों—विशेषकर भारत—के व्यावसायिक आयात-निर्यात के विषय में बहुत सामग्री मिलती है। मिस्र देश के राजा तालेमी की लिखी 'ज्यॉग्रफी' (भूगोल) भी इस विषय में पर्याप्त उपादेय है।

भारतीय इतिहास के निर्माण में ग्रीक और रोमक ग्रंथों की ही भाँति चीनी साहित्य से भी पर्याप्त सहायता मिलती है। इसमें उन प्राचीन मध्य एशिया की शक्तिशाली जातियों की गतिविधि पर अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे भारत के इतिहास पर पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा था। इस संबंध में चीनी यात्री फाह्यान (३६६-४१४ ई०),[1] युएन-च्वंग (६२६-४५ ई०),[2] ई-त्सिंग (लगभग ६७३-९५ ई०) आदि जो भारत में ज्ञानार्जन और बौद्ध-पुनीत-स्थलों के दर्शन के निमित्त आये थे, भारत के सम्बंध में बड़े-बड़े यात्रा-ग्रन्थ छोड़ गये हैं, जो यहाँ के इतिहास-भूगोल और समाज-धर्म पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। इस प्रसंग में तिब्बती लामा तारानाथ के लिखे ग्रंथ 'दुल्वा' और 'तंग्युर' भी बड़े काम के हैं।

इसी प्रकार मुसलमान लेखकों ने भी अपने ग्रंथों में भारतीय इतिहास के लिए सामग्री प्रस्तुत की है। उनके अध्ययन से विदित होता है कि किस प्रकार धीरे-धीरे इस्लाम की सेनाओं ने भारत विजय की और कैसे यहाँ की राजनीतिक परिस्थिति ने एक प्रबल प्रश्न खड़ा कर दिया। इन्हीं मुसलमान लेखकों में अल्बरूनी भी था, जो संस्कृत और गणित का पण्डित और सर्वतोमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। महमूद के आक्रमण के साथ वह भारत में आया और १०३० ई० में उसने 'तहकीक-ए-हिन्द' लिखा, जिसमें भारत और उसमें बसनेवाली जातियों पर उसने अनन्त सामग्री भर दी है। उससे भी पूर्व के कुछ मुसलमान इतिहासकार हैं, जैसे अल् बिलादुरी, सुलेमान और अल् मसऊदी। इनमें से सुलेमान ने 'सिल्सिलात-उल्-तवारीख' और अल् मसऊदी ने 'मुरूज-उल्-जहाब' लिखी। इनके अतिरिक्त मुस्लिम ग्रन्थ कुछ और हैं, जैसे हसन निजामी का 'ताज-उल मआसिर' मीर खोंद का 'रौजत-उस-सफा', खोंद मीर का 'हबीब-उस-सियर', फरिश्ता का 'तारीख-ए-फरिश्ता', निजामुद्दीन का 'तबकात-ए-अकबरी', मिनहाजुद्दीन का 'तारीख-ए-यमीनी', 'तबकात-ए-नसीरी', अलउतबी इब्न-उल-अथिर का 'अल्-तारीख-उल्-कामिल' आदि। इस प्रकार के अनेक अन्य ग्रन्थ मुसलमान इतिहासकारों ने लिखे जिनमें से अधिकतर आज भी प्राप्त हैं। इनकी सामग्री भी भारतीय इतिहास के क्षेत्र में बड़े काम की साबित हुई है।

इन विदेशियों के ग्रन्थ भारतीय राजनीतिक घटनाओं, समाज, आचार, भूगोल, धर्म आदि पर तो प्रचुर प्रकाश डालते ही हैं, साथ ही उनकी विशेष उपादेयता इस बात में है कि वे भारत के इतिहास में तिथिसंबंधी पहेलियों को ऐतिहासिक 'समकालीनता' (Synchronism) स्थापित करके बहुत कुछ सुलझा देते हैं। इस प्रसंग में यूनानी लेखकों द्वारा प्रतिष्ठित 'सैन्ड्रोकोत्तस' का 'चंद्रगुप्त' मौर्य के साथ 'एक-व्यक्तित्व' भारतीय तिथि-क्रम की शिलाभित्ति है।

---

१ देखिए, 'फो-क्वो-की'।

२ देखिए, 'सि-यु-की'।

२. पुरातत्त्व की सामग्री

ऊपर हमने साहित्यिक सामग्री पर विचार किया—ऐतिहासिक-अनैतिहासिक, देशी-विदेशी साहित्य पर। नीचे अब पुरातत्त्व की देशी-विदेशी सामग्री पर विचार करेंगे। जहाँ साहित्यिक लेख मौन अथवा अस्पष्ट हैं, वहाँ पुरातत्त्व-संबंधी लेख हमारी सहायता करते हैं। हजारों अभिलेख—शिला, स्तंभ, ताम्रादि पर खुदे—जमीन से निकले हैं, जो पाँचवीं-छठी शती ई० पू० तक के हैं और हजारों अभी पुराविदों के फावड़ों की आशा में जमीन के नीचे दबे पड़े हैं। देश के प्राचीन टीलों के खुद जाने के बाद भारत के इतिहास पर निस्सन्देह ऐतिहासिक सामग्री की बाढ़-सी आ जायगी। ये पुरातत्त्व-संबंधी लेख शिलाओं, मूर्तियों, स्तंभों, चौकोर पत्थरों, धातु-पत्तरों, गुहा-भित्तियों आदि पर खुदे मिलते हैं और इनकी भाषा कई प्रकार की है—जैसे संस्कृत, पाली, मिश्रित, प्राकृत, तामिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़ आदि। इनमें से अनेक तो साहित्य की सुन्दर रचनाएँ हैं जो गद्य, काव्य अथवा चम्पू-शैली में हैं। अधिकतर लेख 'ब्राह्मी' लिपि—देवनागरी और उत्तर-भारत की अन्य लिपियों की जननी—में खुदे हैं, जो बायीं से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। परन्तु बहुतेरे लेख 'खरोष्ठी' लिपि में भी उत्कीर्ण हैं, जो अरबी अक्षरों की भाँति दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी और जो प्राचीन काल में उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के आसपास प्रचलित थी। ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का ज्ञान पुरातात्विक खोज का एक आश्चर्य है और उस खोज की कहानी अत्यन्त मनोरंजक है। अशोक के स्तंभों पर खुदी ब्राह्मी को विचक्षण चीनी यात्री उस प्राचीन काल में भी न पढ़ सका था। उसने उसे देवताओं का लेख कहा। फिर आधुनिक पुराविदों द्वारा उसका पढ़ा जाना एक अद्भुत चमत्कार है, जो अनेक विद्वानों के अनवरत अध्यवसाय, धैर्य और सूझ से प्राप्त हुआ है। इन अभिलेखों के उद्देश्य प्रायः विविध हैं—जैसे सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत दान, किसी महान् घटना का स्मारक अथवा विजय की प्रशस्ति। सम्राट् अशोक के आचार-संबंधी घोषणा-लेख एक विशिष्ट वर्ग के हैं। लेखों के विषय अनेकधा हैं। उनमें से कितने ही तो पत्थर पर खुदे संस्कृत के समूचे नाटक (धार और अजमेर में) और संगीत-विषयक नियम (कुडिमियामलै में, जो पुडुकोट्टा राज में है) हैं। इन लेखों की उपादेयता अद्भुत है। भारतीय इतिहास की तिथियाँ निर्धारित करने में और साहित्यिक अथवा अन्य स्थलों से प्राप्त सामग्री की सत्यता स्थिर करने और उन्हें पूरा करने में हमें इन अभिलेखों से आश्चर्यजनक सहायता मिली है। इन लेखों की शक्ति और उपादेयता का पता तब लगता है जब हम देखते हैं कि इनकी अनुपस्थिति में खारवेल और समुद्रगुप्त के-से महान् सम्राट् भी अंधकार में खो जाते। दोनों की दिग्विजयों और वैयक्तिक गुणों का पता क्रमशः हाथीगुम्फा और प्रयाग के शिला और स्तंभ-लेखों से चलता है। इसी प्रकार अभिलेखों के अभाव में मध्यकालीन हिंदू राजकुलों के ज्ञान का सर्वथा लोप ही हो जाता। अनेक बार तो विदेशी शिलालेखों से भी भारतीय इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ा है। एशियामाइनर स्थित 'बोगज-कोई' के लेख में 'मित्र', 'नासत्यों' आदि ऋग्वैदिक देवताओं का निर्देश है जिससे आर्यों के आक्रमणों और गति-विधि पर प्रकाश पड़ता है। सम्राट् दारा के पारसपुर (पर्सिपोलिस) और नक्श-ए-रुस्तम के लेखों से ईरान और भारत के

अभिलेख

पारस्परिक संबंध का पता चलता है। इसी प्रकार दूसरे लेखों से भारत और सुदूरपूर्व के प्राचीन-कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और औपनिवेशिक संबंध का पूरा पता चलता है। भारतीय इतिहास के निर्माण में अभिलेखों की अनेक प्रकार से सहायता ली गयी है और नित्यप्रति ली जा रही है।

लेखों की भाँति सिक्के भी बड़े काम के हैं। उन्हीं की तरह इनसे भी साहित्य से उपलब्ध सामग्री की परिपुष्टि हुई है। कई बार इनसे उस सामग्री की सचाई-झुठाई का पता चला है। प्राचीन

मुद्राएँ

सिक्के, जो हमें प्राप्त हैं, कई प्रकार के हैं। अधिकतर वे सोने, चाँदी, ताँबे, और मिश्रित धातुओं के बने हैं। उनके ऊपर भी लेख अथवा कई प्रकार के चिह्न छपे हुए हैं। जिन सिक्कों पर तारीख छपी है, वे तो भारतीय तिथि-क्रम के लिए बड़े ही महत्त्व के हैं। इनके अतिरिक्त बगैर तारीखवाले सिक्के भी काफी कीमती हैं। उनकी बनावट, तौल, धातु आदि से बहुत कुछ जाना जा सकता है। भारत में राज करनेवाले कितने ही विदेशी राजकुलों का पता तो केवल इन्हीं सिक्कों से चला है। यदि ये न होते तो उनके विषय में कुछ जानना असंभव हो जाता। इन राजकुलों में हिन्द-शक, हिन्द-बाख्त्री और हिन्द-पार्थव प्रमुख हैं। इनके संबंध में मिलिन्द (मिनान्डर) को छोड़कर—भारतीय साहित्य प्रायः मौन है। प्राचीन भारत के गणराज्यों पर भी सिक्कों ने बड़ा प्रकाश डाला है, इसी प्रकार कितने ही राजाओं की धार्मिक प्रवृत्तियों (जैसे कनिष्क) और उनके व्यक्तिगत गुणों (जैसे समुद्रगुप्त) के सम्बन्ध में भी इनसे काफी जानकारी हासिल हुई है। सिक्कों की धातु की शुद्धता उस काल की आर्थिक अवस्था प्रकट करती है और उनके प्राप्ति-स्थान से प्रायः उनके चलन के क्षेत्र और शासन की सीमाओं का पता चलता है। परन्तु उन सिक्कों के चलन से राज्य की सीमाओं का निर्धारण बड़ी सतर्कता से करनी चाहिए; क्योंकि अनेक बार ये सिक्के स्थान-विशेष में शासन के कारण नहीं, व्यापार के सिलसिले से जा पहुँचे हैं। उदाहरणतः दक्षिण-भारत में जो बहुत-से रोमक सिक्के मिलते हैं, उनसे यह निष्कर्ष निकालना बड़ी भूल होगी कि उस भाग में रोमक साम्राज्य फैला हुआ था या वहाँ किसी प्रकार का उसका राजनीतिक प्रभुत्व था। ये सिक्के दक्षिण-भारत में उसके बन्दरगाहों से होकर सामुद्रिक व्यवसाय के जरिये पहुँचे थे। यह बात बड़ी सरलता से प्रमाणित हो जायगी यदि हम रोमक इतिहासकार प्लिनी के उस विलापमय उद्गार पर दृष्टिपात करें जिसमें भारतीय मलमल, मोती, गरम मसालों आदि के बदले भारत की ओर रोम से सुवर्ण की धारा बहने की बात कही गयी है।

मुद्राओं और लेखों की ही भाँति स्मारक-भग्नावशेषों से भी भारतीय इतिहास के निर्माण पर बड़ा प्रकाश पड़ा है। इनमें से अधिकतर मन्दिर, स्तूप और विहार हैं। इनसे राजनीतिक दशा का ज्ञान तो नहीं होता, परन्तु साधारण जनता और अभिजात वर्ग के धार्मिक विचारों तथा कला

स्मारक भग्नावशेष

और वस्तु के विषय में इनसे काफी जानकारी होती है। विदेशों में जो भारतीय वस्तु-शैली पर निर्मित इमारतें मिली हैं, उनसे भारतीय संस्कृति का गौरव सिद्ध होता है। जावा द्वीप में दीन पठार के शैव मन्दिरों और बोरो-बोदुर तथा प्रम्बनम् (मध्य जावा) की मन्दिर-भित्तियों पर उत्कीर्ण कथाओं का प्रसार सिद्ध करता है कि भारतीय वास्तु-विशारदों और तक्षकों की कला की उनपर गहरी छाप है। इसी प्रकार कम्बुज (कम्बोडिया) के अंगकोर-वाट और अंगकोर-थाम के भग्नावशेषों से भी वहाँ की भारतीय संस्कृति की सत्ता सिद्ध

है। इनसे यह बात सरलता से प्रमाणित हो जाती है कि उन द्वीपों में कभी भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे और वहाँ उन्होंने अपनी संस्कृति तथा कला का विस्तार किया था। १ तिथि-क्रमों के संबंध में भी इन स्मारक-भग्नावशेषों की महत्ता नगण्य नहीं समझी जा सकती; क्योंकि पुराविदों ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि इनके गहरे अध्ययन से किस प्रकार काल-निर्णय-संबंधी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। साहित्य का मूर्ति-निर्माण अथवा वास्तु-भास्कर्य से नित्य का संबंध रहा है, वह इस कारण कि दोनों ही का आरंभ जन-साधारण की प्रवृत्तियों में होता है। एक विशेष काल में एक ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ कला और साहित्य दोनों में पायी जाती हैं। स्वयं इस वास्तु-विज्ञान के विषय में भी एक विशिष्ट बात यह है कि चूँकि एक प्रकार की इमारतों की बनावट एक खास युग में हुई है, निस्सन्देह इनके स्तरों का भले प्रकार अध्ययन करने से युग-विशेषों का हमें ज्ञान होगा और इस प्रकार उनकी निर्माण-तिथि का ज्ञान होने से उनके निर्माता-राजाओं के समय का पता चलेगा जिससे भारतीय इतिहास के तिथि-क्रम पर भी निश्चय प्रकाश पड़ेगा। इनके सिवा इनकी मूर्त्तियों आदि पर प्रायः तारीखें भी खुदी होती हैं। अजन्ता के भीत्ति-चित्रों और प्रतिमाओं से इस विषय में काफी जानकारी प्राप्त हुई है पुराविदों के फावड़ों ने दक्षिणी पंजाब और सिन्ध के टीलों से एक नई सैन्धव सभ्यता के भग्नावशेष। खोद निकाले हैं जिससे भारतीय इतिहास का प्रारंभ सहास्त्रब्दियों पूर्व चला गया है—वैदिक सभ्यता के आरंभ से प्रायः हजार वर्ष पूर्व।

प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण के लिए यही सामग्री सहायक होती है। आधुनिक इतिहास की सामग्री से इसकी तुलना करने से ज्ञात होता है कि हमारी यह सामग्री इतिहास-निर्माण के लिए अल्प तो है ही, साथ ही जिस काल के प्रसार में इस सामग्री के आँकड़े बैठाने हैं, उसका विस्तार बड़ा है। इसी कारण इस सामग्री का प्रयोग भी आसान नहीं। इसको यथास्थान रखने में वास्तु-विशारद की मेधा की आवश्यकता है, जो अपनी आवश्यकता के अनुसार इसकी ईंटों को उचित स्थान पर जोड़ता है। प्रायः तिथि के अभाव में इस सामग्री पर विचार और इसका उपयोग अत्यन्त कठिन हो गया है। इस इतिहास की पहेलियों को अनेक संवतों के प्रयोग ने और उलझा दिया है। बीसों संवत् समय-समय पर भारत के विभिन्न प्रान्तों में चलते रहे

निष्कर्ष

जिनका संबंध आज के प्रचलित संवत् अथवा सन्-ईस्वी से स्थापित करना बहुधा कठिन और अनेक बार असम्भव हो जाता है। इन सब कठिनाइयों का अतिक्रमण करके ही, पूर्व-पर के उनके स्थानों को निश्चित करके ही हम भारतीय इतिहास की अनवच्छिन्न शृंखला का निर्माण कर सकेंगे। यहाँ हमें इस बात का भी पूरा ध्यान रखना होगा कि उत्तर-भारत हमारे इतिहास का विशिष्ट प्रांगण रहा है। यहीं विशाल साम्राज्य उठते-गिरते रहे हैं। यहीं सामुद्रिक लहरों की भाँति वे उठे हैं; यहीं उन्हीं की तरह वे टूट-टूटकर बिखर गये हैं। महात्वाकांक्षी चक्रवर्ती सम्राटों ने जब-तब विंध्याचल की ओर दृष्टि डाली है; परंतु समग्र

---

१ देखिए, डा० रमेशचन्द्र मजूमदार (१) Ancient Indian colonies in the Far East; (२) Suvarnadvipa डा० बी० आर चटर्जी Indian cultural Influence in Combodia; India and Java, एच० जी० क्यू० वेल्स : Towards Angkor.

भारत की यह विस्तृत भूमि कभी एकछत्र के नीचे नहीं आयी—कभी एक नरेश द्वारा शासित नहीं हुई। मौर्यों के शासन-काल में भी दक्षिण-भारत का सुदूर छोर उनके शासन के बाहर ही पड़ा रहा। इस देश का शासन पहली बार एकछत्र के नीचे ब्रिटिश राज की स्थापना के बाद आया है, फिर भी जब तक कि शासन के रूप में देशी रियासतों की स्वतंत्र सत्ता कायम है, भारत की शासन-एकता संदिग्ध ही मानी जायगी। प्राचीन भारत में यह राजनीतिक एकता का अभाव उसके इतिहास की एक विशेष दुर्बलता रही है, यद्यपि उसकी भौगोलिक और सांस्कृतिक एकता साधारणतया सिद्ध है।[1] इसी कारण धर्म, कला और साहित्य के क्षेत्रों से कहीं अधिक हमारा ध्यान राजवंशीय युद्धों और शासन-विस्तार की महत्त्वाकांक्षाओं की ओर आकर्षित होता है।

भारतीय सांस्कृतिक और राजनीतिक एकता से विषय में भी यहाँ एक बात कह देनी आवश्यक होगी। यदि हम सांस्कृतिक एकता पर विचार करें, तो हमें मालूम होगा कि आज की भारतीय संस्कृति वास्तव में विविध और विभिन्न सांस्कृतियों के संघर्ष से बनी हुई है और इसके अनेक सामाजिक स्तर एक दूसरे से आकांक्षाओं, जातियों और धर्म में भिन्न हैं। कालान्तर में भारत पर अनेक जातियों के जो निरंतर आक्रमण होते रहे हैं, उन्होंने इस संस्कृति पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। इन विविध संस्कृतियों के सामंजस्य और एकीकरण के लिए इसी कारण कबीर, नानक आदि के अनेक प्रबंध हुए हैं; परंतु आज भी भारतीय जनता का बहुमुखी स्रोत स्पष्ट है। मुसलमान, ईसाई, पारसी कुछ अंशों में जातीय, कुछ में सांस्कृतिक और सर्वांश में अपनी धार्मिक पृथकता घोषित करते हैं। भारत के अनेक प्रांत अपने अधिवासियों की जातीय भिन्नता के कारण ही बने हैं। साधारणतया आज के प्रांत राजनीतिक हैं और ब्रिटिश राज्य की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार बनते गये हैं। जैसे-जैसे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में भारत के प्रदेश आते गये वैसे-वैसे इन प्रांतों का निर्माण होता गया और अंत में हम आज इस परिस्थिति पर पहुँचे कि वर्त्तमान प्रांतों की पृथक् प्रांतीयता न तो स्वतंत्र जातीयता पर निर्भर कर सकी, न धार्मिक अथवा सांस्कृतिक एकता पर, न भाषा के सिद्धांत पर। यदि आज हम प्रांतों का विभाजन भाषा आदि के सही सिद्धांत पर करें, तो मद्रास के एक सूबे में आंध्र, तामिल, मलयाली और कन्नड, चारों को ठूँस रखने की आवश्यकता न होगी, और न बम्बई में महाराष्ट्र और गुजरात को। भाषा और संस्कृति का ध्यान रखते हुए यदि हम भारत का फिर से विभाजन करें तो उसके प्रांतों की गणना इस प्रकार होगी—(१) बलूचिस्तान, (२) पठानिस्तान, (३) सिंध, (४) पश्चिमी पंजाब, (५) मध्य-पंजाब, (६) हिंदुस्तान, (७) राजस्थान, (८) गुजरात, (९) महाराष्ट्र, (१०) कर्नाटक, (११) आंध्र, (१२) केरल, (१३) तामिलनाड, (१४) उड़ीसा, (१५) बंगाल, (१६) आसाम और (१७) बिहार। इस देश की विविधता के साथ ही, यह मानना पड़ेगा, इसकी भौगोलिक एकता भी प्रतिष्ठित है।

भारत की विविधता

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. डा० विन्सेन्ट ए० स्मिथ : Early History of India
२. डा० रमाशंकर त्रिपाठी : History of Ancient India
३. सचाऊ, अल्बरूनी का भारत
४. मम गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, भारतीय प्राचीन लिपिमाला

[1] डा० राधाकुमुद मुकर्जी : Fundamental Unity of India

दूसरा परिच्छेद

आर्यों से पूर्व का भारत

सिन्धु-काँठे की सभ्यता के साथ-साथ भारत के वास्तविक इतिहास-काल का आरम्भ होता है। फिर भी कुछ अवशिष्ट चिह्नों से उस सभ्यता के पूर्व के भारतीयों का भी आभास मिलता है। नीचे के पृष्ठों में उनका यथासम्भव वर्णन करेंगे।

१. पूर्व-पाषाण-काल

भारतीय मनुष्य की आदिम अवस्था का ज्ञान अंधकार में है। फिर भी मानव-विज्ञान की सहायता से तत्कालीन जीवन और रहन-सहन का अनुसन्धान किया गया है। उससे पता चलता है कि प्रारम्भ में मनुष्य नितान्त बर्बर था—अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ। अनेक मंजिलें तय करता हुआ आधुनिक सभ्यता के प्रकाश में वह सहस्राब्दियों के बाद पहुँचा है। जहाँ तक पता चलता है, भारत के प्राचीनतम निवासी 'पूर्व प्रस्तर-युगीय' मनुष्य थे। उस युग को मानव-विज्ञानवेत्ता पूर्व-पाषाण-काल कहते हैं। वे एक प्रकार की बर्बर जाति के थे, जो पेड़ों के नीचे और पहाड़ों की गुफाओं में रहते थे। मद्रास प्रांत में करनूल जिले की कुछ गुहाएँ पूर्व-पाषाण-कालीन मनुष्यों के वासस्थान मानी जाती हैं।[1] इन बर्बरों का जीवन अज्ञान से आच्छादित था। गृह-निर्माण का ज्ञान तो उन्हें नहीं ही था, वे कृषि भी नहीं जानते थे। वे मिट्टी के बर्तन नहीं बना सकते थे। उन्हें धातुओं का ज्ञान भी न था। वे आखेट करके या जंगल में अपने आप उगनेवाले कन्द-मूल-फल खाकर अपना पेट पालते थे। उन्हें शायद अग्नि का भी ज्ञान न था। शान्ति और युद्ध में वन्य और जल के हिंसक जन्तुओं से रक्षा के साधन, उनके अस्त्र-शस्त्र, छिले-रगड़े पत्थर के और अक्सर भद्दे होते थे। पूर्व-पाषाणयुगीय मनुष्य के हरबे दस भागों में विभाजित किये गये हैं—परशु, बाण-फलक, भल्ल, खुदाई के हथियार, फेंकने के बड़े-बड़े गोल पत्थर, काटनेवाले हथियार, छुरियाँ, छिलनेवाले हरबे, भीतरी पत्थर की चीजें (Cores), पत्थर के हथौड़े, और सम्भवत: चकमक पत्थर।[2] इनके सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि ये सारे हथियार एक विशेष प्रकार के पत्थर 'क्वर्टजाइट' के बने हुए हैं। परन्तु जहाँ इस जाति का पत्थर उन्हें न मिलता था, वहाँ वे दूसरे पत्थर का प्रयोग भी करते थे। दकन के कुछ स्थानों और दक्षिण-भारत के मद्रास, कुड़पा तथा चिंगलपुट के जिलों से इन हथियारों के अनेक ढेर मिले हैं।[3] ये हथियार पत्थर के अतिरिक्त हड्डी और

---

१. देखिए, वी० रंगाचार्य की Pre-Musalman India, खंड १, पृष्ठ ४८।

२. वही, पृ० ५२-५३

३. Catalogue of Pre-Historic Antiquities in the Government museum, (मद्रास, १९०१); Notes on the Ages and Distribution of Indian Pre-Historic Antiquities,(मद्रास, १९१६); पंचानन मिश्र : Pre-Historic India (कलकत्ता, १९२३); ए० सी० लोगन : Old Chipped Stones of India (कलकत्ता, १९०६); पी० टी० एस० ऐयंगर : The Stone Age in India ; वी० रंगाचार्य : Pre-Musalman India; आदि।

लकड़ी के भी बनते थे; परन्तु शीघ्र-नश्य होने के कारण वे अब नहीं मिलते। वे प्रारम्भिक मनुष्य अपने मृतकों की समाधि नहीं बनाते थे। उनके मृतक शायद जानवरों और पक्षियों द्वारा खाये जाने के लिए छोड़ दिये जाते थे। पूर्व-पाषाण-काल का मनुष्य केवल भारत की भूमि पर ही अवतरित न हुआ, पृथ्वी के अनेक भागों में उसका आवास था। यूरोप और एशिया के अनेक खण्डों में उसने अपने बर्बर इतिहास का निर्माण किया। भारतीय इतिहास में मानव-सभ्यता के विकास की यह पहली मंजिल थी।

२. उत्तर-पाषाण-काल

कालान्तर में भारतीय मनुष्य ने और देशों के आदिम मनुष्यों की भाँति ही अपने विकास की दूसरी मंजिल तय की। प्राचीन शैली के भद्दे हथियारों के साथ-साथ उन्होंने सुन्दर हथियार बनाये। उन्होंने अपने हथियारों को रगड़कर चिकना किया और उनपर एक प्रकार की पालिश की। धीरे-धीरे इन मनुष्यों की आवश्यकताएँ बढ़ीं और उनकी पूर्ति के अर्थ उन्होंने अनेक प्रयास किये। इस प्रयास में आदिम मनुष्य ने अपनी प्रखर बुद्धि का परिचय दिया। उसने अनेक प्रकार के हरबे-हथियार बनाये, जो चिकने, कलापूर्ण और सुन्दर थे। उत्तर-पाषाणकालीन मनुष्य सभ्यता के प्रकाश की ओर बढ़ चुके थे और निरन्तर बढ़ते जा रहे थे। अपने रहने के लिए प्राकृतिक गुहाओं के अतिरिक्त उन्होंने फूस के झोपड़े बनाये। गीली मिट्टी से पोतकर उन्हें वे बरसात में निवास के योग्य भी बना लेते थे। अग्नि का ज्ञान उन्हें हो चुका था। अपना भोजन वे राँधकर खाने लगे थे। साधारणतया आखेट करके और मछली मारकर वे अपनी जीविका चलाते थे। वे मवेशियों के ढोर रखने और खेती करके फसलें भी उगाने लगे थे। उनका भोजन बहुत साधारण था—शिकार में मारे पशुओं के मांस, मछली, जंगली पैदावार, तरकारियाँ, दूध, शहद, अन्न आदि। फिर भी इनके वस्त्र अभी नहीं के बराबर थे। अब भी वे पत्तों, वल्कलों और जानवरों की छाल से ही अपने तन ढकते थे; परंतु उनका तन ढकने लगना ही कुछ साधारण बात न थी। ज्ञान-वृक्ष के स्वादु-फल अब तक उन्होंने खा लिये थे और अपनी नग्नता से वे आप लज्जित होने लगे थे। मिट्टी के बर्तन पहले तो वे हाथ से ही बनाते रहे; फिर बाद में उन्होंने कुम्हार के चाक का निर्माण किया और बर्तनों के बनाने में वे उसका प्रयोग करने लगे। बर्तन सादे और चित्रित दोनों ही प्रकार के होते थे। चित्रित भाण्ड के ऊपर फूल-पत्तों की शकलें बनी होती थीं। गाड़ी के गोल पहिए शायद इसी काल के मनुष्य ने ईजाद किये। यह आविष्कार निस्संदेह असाधारण रहा होगा, जब मनुष्य ने पहले-पहल जाना कि जमीन की चिपटी सतह पर गोल पहिया ही दौड़ सकता है। ये उत्तर-पाषाणकालीन मनुष्य अपने अस्त्र-शस्त्र तो कठिन प्रस्तर के बनाते थे, परंतु उनके गृह-कार्य के हथियार अनेक अन्य पदार्थों से बने और विविध रंगों से रँगे होते थे। पूर्व-पाषाणकालीन मनुष्यों की भाँति ये अपने मृतकों को हिंस्र पशुओं और पक्षियों के सामने फेंक न देते थे, वरन् उनको दफनाते और उनपर समाधियाँ खड़ी करते थे। मिर्जापुर जिले में प्रागैतिहासिक युग के कितने ही मानव-अस्थि-पञ्जर मिले हैं। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि उस काल में मृतकों को जलाने की प्रथा अज्ञात थी। कितने ही ऐसे कलश उपलब्ध हुए हैं, जिनमें

मृतकों के भस्म रखे हुए थे। इससे पता चलता है कि मृतक जलाए भी जाते थे। उत्तर-पाषाणकालीन मनुष्य संभवतः वृक्षों और पत्थरों में रहनेवाले काल्पनिक देवताओं की पूजा करते थे। उनकी तृप्ति वे रक्तमय यज्ञों और भोज्य तथा पेय वस्तुओं से करते थे। विन्ध्य पर्वत की अनेक गुहाओं में कटोरी के आकार के चिह्न और रंगीन रेखाचित्र बने हैं जिनसे इन मनुष्यों की कलात्मिका प्रवृत्तियों का हमें ज्ञान होता है। ऊपर के विवरण से प्रमाणित है कि इस पाषाण-युग के पूर्व और उत्तर उभय कालों के बीच सदियों का अन्तर पड़ा होगा। यह अंतर इतना काफी था कि कुछ विद्वानों ने तो इस उत्तर-पाषाण-युग को इसके पूर्व-युग का उत्तराधिकारी ही नहीं माना है। परन्तु चूँकि हमारे आँकड़े प्रचुर नहीं हैं, इस विषय में हम कोई मत पूर्णतः निश्चित नहीं कर सकते। फिर भी इतना निस्सन्देह निश्चित है कि उत्तरकालीन पाषाण-युग एक विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ था। उस काल की वस्तुएँ देश भर में बिखरी पड़ी हैं, विशेषकर मद्रास प्रान्त के बेल्लारी, सालेम, करनूल और अन्य जिलों में।

३. धातु-काल

उत्तर-पाषाणकालीन मनुष्य ने शताब्दियों बाद धातुओं का प्रयोग जाना। सबसे पहले शायद उसे सोना मिला ; परन्तु सोने का प्रयोग उसने केवल आभूषण के अर्थ किया। उसके हरबे-हथियार अधिक कठिन धातुओं से बनते थे। प्रागैतिहासिक काल के अनेक स्थलों से जो अनन्त सामग्री मिली है, उससे ज्ञात होता है कि दक्षिण-भारत में लोहे ने सीधा पत्थर का स्थान ले लिया था; परन्तु उत्तर-भारत में परशु, तलवारें, भाले, कटारें आदि पहले तो ताँबे की बनीं, फिर लोहे की। इस प्रकार के ताँबे के ढेर के ढेर हथियार सारे उत्तरी भारत में हुगली से सिन्धु नद और हिमालय से कानपुर के जिले तक पाये गये हैं। जिन कालों में लोहे और ताँबे का व्यवहार साधारणतया होने लगा, उन्हें क्रमशः लौहयुग और ताम्रयुग कहते हैं। दूसरे देशों में उत्तर-पाषाण-युग और लौहयुग के बीच एक पीतल का युग भी रहा है। परन्तु भारतवर्ष में सिन्धु को छोड़कर और कहीं इस युग का पता नहीं चलता। पीतल ताँबे और टिन (बंग) के मिश्रण से बना एक धातु है। इसमें ताँबे के नौ और टिन का एक हिस्सा होता है। पीतल ताँबे से कठिन धातु है और अस्त्र-शस्त्र के लिए यह ताँबे से कहीं अच्छा होता है। परन्तु भारत में प्राचीन मनुष्य ने इसका प्रयोग बड़े पैमाने में नहीं किया। जबलपुर में इस धातु के बने जो थोड़े हरबे मिले हैं, वे पुरातत्वविदों की राय में संभवतः विदेशों से आये थे। दक्षिण-भारत के मसानों में जो कटोरे, प्लेट आदि मिले हैं, वे वास्तव में तत्कालीन ऐश्वर्य की वस्तुएँ थे। साधारण इस्तेमाल की चीजों के लिए पीतल का प्रयोग शायद कभी नहीं किया गया। उत्तर-पाषाण-काल में ही धातुओं का प्रयोग शुरू हो गया था जिसे द्रविड़सभ्यता ने प्रश्रय दिया और बढ़ाया।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. रंगाचार्य : Pre-Musalman India
२. पंचानन मिश्र : Pre-historic India
३. ऐयंगर : The Stone Age in India

तीसरा परिच्छेद

ताम्रयुग की सैन्धव सभ्यता

पाषाण-काल के अन्त और धातु-काल के आरंभ में जिस जीवन का प्रादुर्भाव हुआ, वह सुसंस्कृत था। उस सभ्यता के निर्माता द्रविड़ थे। द्रविड़ संभवतः भारत की प्राचीनतम सभ्य जाति के थे। अभाग्यवश उनके मूल-निवास का हमें ज्ञान नहीं है और इस संबंध में काफी अटकल लगाये गये हैं; परन्तु अभी तक कोई निश्चित मत स्थिर नहीं हो सका है। विद्वानों का एक समुदाय कहता है कि द्रविड़ भारत के ही प्राचीन निवासियों की सन्तान हैं, जो कालान्तर में सभ्यता की ऊँची चोटी पर जा चढ़े। परन्तु अन्य विद्वान् इसके विरोध में उन्हें बाहर से आयी हुई जाति मानते हैं। वे तिब्बत के पठार अथवा तुरानियों के देश मध्य-एशिया को उनका आदिम निवास घोषित करते हैं। साधारणतया द्रविड़ों का मूल-स्थान पश्चिमी एशिया माना जाता है। सुमेर तथा द्रविड़ आचारों और अन्य व्यावहारिक नियमों में जो कुछ समानता मिली है, उससे भी इस विश्वास को कुछ पुष्टि मिलती है। इस संबंध में बलूचिस्तान के उस 'भाषा-द्वीप' का हवाला दिया जाता है जहाँ चतुर्दिक् के विजाती और विदेशी भाषाओं के बीच भी 'ब्राहूई' बोली जाती है, यह 'ब्राहूई' एक द्राविड़ भाषा है। इससे यह विश्वास होता है कि हिन्दुस्तान की ओर इन पहाड़ी दर्रों से होकर बढ़नेवाली द्रविड़ों की जो मुख्य शाखा थी, उसके कुछ अंश वहाँ रास्ते में ही रुककर बस गये थे और आधुनिक 'ब्राहूई' भाषा-भाषी उन्हीं की सन्तान हैं। यह विचार युक्ति-संगत जचता है यद्यपि संभावना इस बात की भी हो सकती है कि 'ब्राहूई' बोलनेवाली एक द्रविड़ शाखा भारत से किन्हीं कारणों से बाहर निकल गयी हो। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि द्रविड़ 'भूमध्यसागरीय' जाति के हैं।[1] द्रविड़ आरंभ में चाहे जो रहे हों, कम-से-कम यह तो स्पष्ट है कि दक्षिण और उत्तर-भारत, दोनों की अबादी में उनकी संख्या विशिष्ट थी। द्रविड़-भाषाएँ दक्षिण की बोलियों में आज भी प्रमुख हैं। द्राविड़ भाषाओं की विशेषताएँ वैदिक और काव्य-संस्कृत, प्राकृतों, प्राचीन बोलियों, अपभ्रंशादि तथा उनसे निकली उत्तर-भारत की अनेक आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों में मिलती हैं।[2]

द्रविड़

द्रविड़ों की संस्कृति काफी ऊँचे स्तर पर पहुँच चुकी थी। द्रविड़ लोग धातुओं का प्रयोग भली भाँति जानते थे और उनके मिट्टी के बर्तन उत्तर-पाषाण-काल के बर्तनों से कहीं अधिक परिष्कृत और सुन्दर होते थे। वे कृषि भले प्रकार जानते थे। फसलें उगाने में वे सिंचाई का उपयोग करते थे। संसार की सभ्यता में संभवतः वे पहली जाति थे जिन्होंने सिंचाई के लिए नदियों पर बाँध बाँधे। उन्होंने रहने के सुन्दर घर और कोट (किले) बनाये। उनके रहने के गाँव थे, जिनका शासन छोटे-छोटे मुखिया करते थे। द्रविड़-समाज 'कुछ अंश तक

१ जे केन्नेडी : JRAS., १८९८; पृ. २४९, २६१.

२ Cambridge History of India, खंड १, पृ. ४२.

मातृसत्ताक' था और उसका धर्म साधारणतया 'तमपूर्ण' और 'घृणोत्पादक'।[1] वे मातृदेवियों और अनन्त देवात्माओं की पूजा करते थे। इस पूजा में नरबलि तथा जननेन्द्रियों का स्तवन भी होता था। संभवतः, द्रविड़ और ऋग्वैदिक 'दास' और 'दस्यु' एक ही जाति के थे।

सैन्धव सभ्यता

सैन्धव सभ्यता भारतीय सभ्यता का उषाकाल है। इस सभ्यता की अभिप्राप्ति ने भारतीय इतिहास को सहस्राब्दियों पूर्व ठेल दिया है। इस सभ्यता के खंडहर अधिकतर सिन्धुनद के काँठे में मिले हैं। इस कारण हम इसे 'सैन्धव सभ्यता' कहेंगे। पंजाब के माण्टगुमरी जिले के हड़प्पा और सिन्ध (कन्हूदेड़ो, झूकारदेड़ो), बलूचिस्तान (जैसे केलात रियासत के नाल) आदि के टीलों से पुरातत्व-संबंधी जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, उनसे पता चलता है कि ऋग्वैदिक काल से सदियों पहले सिन्धुनद की तलहटी में एक विस्तृत सभ्यता का केन्द्र था जहाँ जीवन इठलाता था, जनस्रोत बहता था। इन स्थलों से उपलब्ध आँकड़ों से पता चलता है कि वहाँ की सभ्यता तत्कालीन जगत् की चोटी पर विराजमान थी और जो कई अंशों में मेसोपोतामिया, एलाम और मिस्र की तत्कालीन सभ्यताओं से आगे बढ़ी हुई थी। इस सभ्यता के युग को 'ताँबे का युग' कहते हैं, जिसमें ताँबे और पीतल के हरबे-हथियारों और अन्य वस्तुओं के साथ-साथ पत्थर के अस्त्र-शस्त्रों का भी निर्माण होता रहा। उस प्राचीन काल की झलक के लिए हमें मोहेनजो-देड़ो के भग्नावशेषों पर विचार करना होगा जो अन्य स्थानों पर पायी गयी चीजों से मिलती-जुलती हैं।[2] इन स्थानों पर प्राप्त वस्तुओं से संदिष्ट सभ्यता का चित्र कुछ धुँधला अवश्य है, पर उसकी रूप-रेखा काफी पुष्ट है।

ताम्र-युग

मोहेनजो-देड़ो को वहाँ के निवासी सदियों से इस नाम से ही जानते हैं। मोहेन-जो-देड़ो का अर्थ है—'शवों की ढेरी'। वहाँ के रहनेवालों को क्या पता था कि मोहेनजो-देड़ो वास्तव में शवों की ढेरी है और उसके टीले एक अद्भुत सभ्यता के पर्यवसान पर समाधि की भाँति खड़े हैं। कुछ आश्चर्य नहीं कि यह नाम उस सभ्यता के निधन के कुछ ही बाद उस स्थान को दिया गया हो और परम्परया उसका वह नाम भाषा के बदलते रूपों से होता हुआ आज भी उसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो। किस कारण इसका ध्वंस हुआ, इसकी आज कल्पना करना कठिन है। भूकम्प, बाढ़, सिन्धुनद की धारा का बदल जाना, जल-वायु का परिवर्तन, विदेशी भयानक आक्रमण—इनमें से कोई या अनेक इस सभ्यता के विनाश और लोप के कारण हो सकते हैं। परन्तु उन खुदाइयों से, जो पानी के स्तर तक पहुँच गयी हैं, यह पता चलता है कि इस स्थल में आबादी सदियों तक कायम रही। मोहेनजो-देड़ो कभी संपन्न-

मोहेनजो-देड़ो के भग्नावशेष

---

१ एल. डी. बार्नेट : Antiquities of India. पृष्ठ ४.

२ सर जान मार्शल : Mohenjo-daro and the Indus Civilization; काशीनाथ एन० दीक्षित : Pre-historic Civilization of the Indus Valley; नरेन्द्रनाथ ला : Indian Historical Quarterly, मार्च, १९३२, पृष्ठ १२१-६४; डा० मेके : The Indian Civilization; आ० सर्वे का मेम्वायर, अंक० ४१ और ४८.

समृद्ध नगर था, जो वास्तु-विशारदों द्वारा 'प्लान' करके निर्मित हुआ था। उसमें राजमार्ग और वीथियाँ, चौड़ी सड़कें और गलियाँ, थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक दूसरी को काटती थीं। इस नगर का निर्माण निस्सन्देह पूर्व-निर्मित नक्शे के अनुसार हुआ था। इसके साधारण, किन्तु गौरवशाली भवन सड़कों के दोनों ओर सुन्दर कतारों में खड़े थे। पत्थर न मिल सकने के कारण उनका निर्माण पकाई ईंटों से हुआ था और उनकी दीवारों की ईंटें काली मिट्टी या मिट्टी और मारटर के गारे से जोड़ी गयी थीं। भोंडी और धूप में पकाई ईंटें नींव और छतों में लगाई जाती थीं जहाँ हवा-पानी उन्हें विशेष क्षति नहीं पहुँचा सकते थे। पकाई ईंटों का उपयोग प्राचीन काल में शायद केवल इसी सभ्यता में हुआ था, अन्यत्र नहीं। इन भवनों में से अनेक में कोठे-पर-कोठे बने थे और उन तक पहुँचने के लिए सुन्दर सोपान-मार्ग (सीढ़ियाँ, जीना) निर्मित थे। उन भवनों में वायु और प्रकाश के लिए खिड़कियाँ बनी थीं। अधिकतर घरों में स्नानागार और ईंटों के बने गोल कुएँ थे। नगर की नालियों (ड्रेनों) का प्रबन्ध अद्भुत था। नगर की छोटी नालियाँ बड़ी नालियों में मिलती थीं और अन्त में उन विशाल आदमकद ड्रेनों से होकर शहर के बाहर गिरती थीं, जो दर्शकों को आश्चर्य में डाल देती हैं। इसकी महत्ता तब और भी बढ़ जाती है जब हम यह सोचते हैं कि प्लान बनाकर नगर बनाने की प्रथा बिलकुल आधुनिक है, यद्यपि आज के भी बसाये अनेक शहरों में सब जगह अभी मोरियों का प्रबंध नहीं हो सका है। अस्तु। कूड़े डालने के ऊँचे बर्तनों से जान पड़ता है कि उस नगर में सड़कों आदि की सफाई पर खूब ध्यान दिया जाता था। निष्कर्ष यह है कि नागरिक सुखी और समृद्ध थे और साधारण घर भी आराम के साधनों से पूरित थे। बड़ी इमारतें संभवतः जन-साधारण की सामूहिक संपत्ति थीं। उनमें से एक, जो मध्यकालीन सभ्यता का लंबा-चौड़ा स्तम्भयुक्त हाल है, देवालय प्रतीत होता है, यद्यपि उसमें प्रतिमाएँ नहीं पायी गयीं।

भवन

मोहेनजो-देड़ो की इमारतों में सबसे विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण एक विस्तृत (स्नान-) तालाब है। यह ईंटों का बना है, जो ३९ फीट लंबा, २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा है। इसकी दीवारें मजबूत हैं और इसमें उतरने के लिए अनेक सोपान-मार्ग बने हैं। इसके चारों ओर गैलरी, बरामदे और कमरों का एक लम्बा सिलसिला है। समीप के ईंटों के बने दो कुओं से तालाब के नलों को भर दिया जाता था और गँदला हो जाने पर वह जल बड़ी प्रणालिकाओं से बाहर निकाल दिया जाता था। इसके जल को बाहर निकालनेवाली छः फीट ऊँची प्रणाली वास्तव में उस प्राचीन युग के लिए विशिष्ट गौरव की बात है और हमारे लिए आश्चर्य की। इस तालाब से सम्बद्ध एक हम्माम है जिसमें शायद स्नान के लिए गरम पानी का प्रबन्ध रहता था।

तालाब

मोहेनजो-देड़ो और हड़प्पा के-से विशाल नगरों का होना ही इस बात को सिद्ध करता है कि उन नगरों की भारी आबादी के लिए प्रचुर भोज्य सामग्री की आवश्यकता रही होगी और वह वहाँ काफी मात्रा में उपलब्ध थी। सिन्धु-तट के निवासी खेती से अनेक प्रकार के अन्न पैदा करते थे। उनमें गेहूँ और जौ मुख्य थे। इनके नमूने वहाँ की खुदाईमें प्राप्त हुए हैं। पता नहीं कि उस समय तक हल का

कृषि

आविष्कार हो चुका था या जमीन किसी और बर्बर तरीके से खोदी जाती थी। विद्वानों का मत है कि सिन्ध में तब पानी खूब बरसता था। मोहेन जो-देड़ो में नालियों का प्रबन्ध और पकाई ईंटों का इमारतों के खुले भाग में प्रयोग भी इस मत को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार वृष्टि के जल और पास बहती सिन्धु नदी से सिंचाई का काम भली भाँति चल जाता होगा। सिन्धु के अतिरिक्त मिहरान भी उधर होकर बहती थी। यह नदी ईसा की चौदहवीं सदी में सूख गयी।

भोजन-वसन और आभूषण

इस सभ्यता में भोजन की काफी सुविधा थी यद्यपि वस्त्रों के सम्बन्ध में हमारे आँकड़े थोड़े और अस्पष्ट हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि इस सभ्यता के निवासी भोजन में अन्नका व्यवहार करते थे। गेहूँ और जौ के कुछ नमूने भी वहाँ पाये गये हैं। इस सभ्यता के नागरिकों का आहार अन्न और मांस दोनों ही थे। सूअर, गाय, भेंड़ और दूसरे जानवरों के मांस के साथ-साथ अंडे और मछलियाँ भी खायी जाती थीं। यह मृतकों के श्राद्ध-दानों, जले घोंघों और हड्डियों से प्रमाणित है। तरकारियों और फलों का भी व्यवहार होता था। पायी गयी खजूर (छुहारे) की गुठलियों से जाना जाता है कि सूखे मेवों का भी थोड़ा-बहुत व्यवहार था। उस सभ्यता में बैलों और साँड़ों की बहुतायत थी। इसलिए वहाँ गायों का होना और उनके दूध का पेय की भाँति प्रयुक्त होना सहज ही संभव है।

वहाँ के निवासियों की वैयक्तिक विभिन्नताओं की ही भाँति उनकी वेश-भूषा भी अनेकधा रही होगी। एक पुरुष-मूर्ति के शरीर पर लम्बी शाल पायी गयी है जिसे वह बायें कन्धे के ऊपर और दाहिनी भुजा के नीचे से फेंककर पहने हुए है। कुछ नंगी प्रतिमाएँ भी मिली हैं; परन्तु इससे यह कभी न समझना चाहिए कि सिन्धु-काँठे की सभ्यता में नग्न रहने की प्रथा भी प्रचलित थी। इन नग्न प्रतिमाओं का व्यवहार स्वभावतः धर्मपरक था। जान पड़ता है, गर्मी और सर्दी दोनों ऋतुओं के अनुकूल सूती और ऊनी कपड़े तैयार किये जाते थे। रूई हल्के कपड़ों के लिए प्रयुक्त होती थी। सूती कपड़े का एक टुकड़ा एक चाँदी के कलश से चिपका हुआ मिला है। विशेषज्ञों ने बतलाया है कि आज के ही खादी से मिलता-जुलता वह कपड़ा था। गरम कपड़ों के लिए ऊन काम में लाया जाता था। काफी बड़ी संख्या में सूत लपेटनेवाली 'नरियाँ' मिली हैं जिससे विदित होता है कि मोहेन जो-देड़ो के घर-घर में सूत कातने की प्रथा प्रचलित थी। धनी और गरीब सबके यहाँ सूत काता जाता था। अन्तर केवल इतना था कि जहाँ धनी अपनी 'नरियाँ' कीमती पदार्थों के बनाते थे, दरिद्र मिट्टी और हड्डी आदि के।

सिन्धु तक के निवासियों में आभूषण पहनने की भी खूब चलन थी। स्त्री-पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। हार, कान के अनेक आभूषण, पैरों के कड़े और मनकों की मेखलाएँ नर और नारी दोनों ही पहनते थे। अन्तर केवल इतना था कि धनाढ्य अपने भूषण सोने-चाँदी, हाथीदाँत और अन्य बहुमूल्य पत्थरों—जैसे लाल, पन्ना, मूँगा आदि के बनवाते थे और गरीब ताँबे, हड्डी, मिट्टी आदि के।

खेती करनेवाले जन सहज ही जानवरों को पालते हैं। उनसे उनके कृषि-कर्म में अनेक सुविधाएँ मिलती हैं। सैन्धव सभ्यता के निवासी भी पालतू जानवरों का व्यवहार

करते थे। तब के जाने हुए जानवर—घरेलू और जंगली—दो भागों में बाँटे जा सकते हैं।

पशु

पालतू जानवरों में से साँड़, भेड़, सूअर, भैंस और हाथी की हड्डियाँ इस सभ्यता की खुदाइयों में प्राप्त हुई हैं। वैसे तो घोड़े और कुत्ते की हड्डियाँ भी मिली हैं; परन्तु जमीन की सतह के नीचे ही। इससे जान पड़ता है कि घोड़े और कुत्ते उस सभ्यता के पशु न होकर बाद की सभ्यता के थे। जंगली जानवरों में से गैंडे, भैंसे, बन्दर, बाघ, भालू, खरगोश आदि उनके जाने हुए थे। इनके रेखा-चित्र साँचों, मुद्राओं (मुहरों) और ताम्रपत्रों पर उत्कीर्ण हैं।

सिन्धु की तलहटी में पत्थर का सर्वथा अभाव था। दरवाजे के बाजू, चक्की, ओखल, मूर्तियों आदि के लिए पत्थर अन्य स्थानों से लाया जाता था। वहाँ के निवासी

पत्थर और धातु

जिन धातुओं को जानते और जिनका प्रयोग करते थे, वे बहुत न थीं। अपनी विविध आवश्यकताओं के लिए वे सुवर्ण, रजत (चाँदी), ताम्र, बंग (टिन) और राँगे का प्रयोग करते थे। मोहेन-जो देड़ो के प्राचीनतम (निम्नतम) स्तर से ही जो पीतल मिला है, उससे जान पड़ता है कि उसके निवासी निस्सन्देह पीतल का प्रयोग जानते और करते थे। साथ ही वहाँ लोहा न मिलने के कारण यह भी सिद्ध है कि उन्हें लोहे का प्रयोग विदित न था।

अस्त्र-शस्त्रों के क्षेत्र में ताँबे और पीतल ने अब पत्थर का स्थान ले लिया था। इस समय अधिकतर इन धातुओं के बने तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रों का व्यवहार होता था। गदा,

अस्त्र-शस्त्र

परशु, कटार, भाले, धनुष-बाण और पत्थर फेंकनेवाले फन्दों का लोग युद्ध में प्रयोग करते थे। इनका प्रयोग आखेट के-से आक्रमण-प्रधान अवसरों पर भी होता था। परन्तु स्वरक्षा के साधन, जैसे ढाल, कवच और शिरस्त्राण शायद अभी तक अनजाने थे। तलवार के प्रयोग की संभावना कम ही मालूम होती है; क्योंकि उपलब्ध शस्त्रों में उसका अभाव है।

अस्त्र-शस्त्रों की भाँति ही गार्हस्थ्य क्षेत्र में भी बर्तन आदि के लिए अब पत्थर की जगह ताँबे और पीतल का भी इस्तेमाल होने लगा था। परन्तु प्रायः वे मिट्टी के ही बनते

बर्तन-भाँडे

थे। अनन्त संख्या में कटोरे-कटोरियाँ, थालियाँ-रिकाबियाँ, कलश, भाण्ड, सुराहियाँ वगैरह पत्थर और मिट्टी की मिली हैं जिनकी शकलें अनेक प्रकार की हैं। बर्तन साधारणतया कुम्हार के चक्के पर बनाये जाते थे। फिर उन्हें चित्रित करते और कभी-कभी ग्लेज करके चमकाते भी थे। पत्थर का प्रयोग तौल के

तौल के बटखरे और खिलौने

बटखरों और खेल के साधनों के बनाने में भी होता था। तौल के बटखरों की संख्या प्रचुर है। स्लेट-पत्थर के बने छोटे बटखरे तिकोने हैं और बड़े 'कोणक' (ऊपर कोनवाले) हैं। पुरातत्ववेत्ताओं का निश्चय है कि सिन्धु-काँठे के बटखरे एलाम और मेसोपोतामिया के बटखरों से तौल की सचाई और एकरूपता में कहीं अधिक सही हैं। एक विशेष बात यह है कि वैदिक आर्यों की ही भाँति सिन्धु-काँठे की सभ्यता में बसनेवाली जातियों का भी प्रिय खेल पाँसा था। पत्थर के ही पाँसे भी बनते थे। ये पाँसे भी बड़ी संख्या में मोहेनजो-देड़ो से प्राप्त हुए हैं।

सयानों के मनोरंजन के इस साधन के अतिरिक्त उस सभ्यता में बच्चों के खिलौने भी खूब बनते थे। मिट्टी के पक्षी, पशु, पुरुष, स्त्री, गाड़ी, झुनझुने आदि अत्यन्त बड़ी संख्या में वहाँ की खुदाइयों में मिले हैं। इन खिलौनों की विविधता प्रचुर और स्पष्ट है और इनसे तत्सामयिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

कला

मोहेन जो-देड़ो आदि की खुदाई में उपलब्ध वस्तुओं को देखने से जान पड़ता है कि वहाँ के निवासियों ने कला में बड़ी उन्नति कर ली थी। चित्रित भाण्ड और कलश उन्हें अत्यन्त प्रिय थे। अत्यन्त सुन्दर भाण्ड-चित्रण और रंगसाजी की कुछ वस्तुएँ मिली हैं, जो किसी सभ्यता के लिए गौरव का कारण हो सकती हैं। फिर पत्थर और पीतल की चौतरफा कोरी हुई मूर्तियाँ अत्यन्त कौशल का प्रतीक हैं और वे शारीरिक गठन की विशिष्ट जानकारी उपस्थित करती हैं। एक नर्तक की मूर्ति अत्यन्त अद्भुत है। नर्तक दाहिने पैर पर खड़ा है और बायाँ पैर सामने की ओर उठाये हुए है। इस अभिप्राय (मॉडल) में ऐसी गति है, जो ऐतिहासिक काल की मूर्तिकला में सर्वथा दुष्प्राप्य है। सबसे महत्त्वपूर्ण अंकन और रेखा-चित्रण छोटी-बड़ी मुहरों पर है। इनमें पशुओं का चित्रण, विशेषकर साँड़ का, तो प्रतिकृति में आश्चर्यजनक आदर्श उपस्थित करता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सिन्धु-काँठे के निवासी रेखा और वर्ग की चातुरी में अपने प्रतीक आप थे और अवयव रेखांकन की कुशलता में वे अपना सानी नहीं रखते थे। आश्चर्य है कि सभ्यता के आरंभ में ही तक्षण और रेखांकन में इतनी सिद्धि किस प्रकार सैन्धवों को प्राप्त हो गयी।

लेखन-कला

इन रेखांकित मुहरों पर एक प्रकार के लेख खुदे हुए हैं जिनसे प्रमाणित है कि सैन्धव सभ्यता के निवासी लेखन-शैली से अभिज्ञ थे। इतने प्राचीन काल में लेखन-कला का ज्ञान कोई साधारण बात नहीं है। पत्थर अथवा मिट्टी के फलक पर कोई क्रमबद्ध लेख तो नहीं मिला है, फिर भी छोटी-बड़ी मुहरों की एक बड़ी संख्या उपलब्ध हुई है जिनपर गैंडे, साँड़ आदि की अद्भुत आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। उनके लेख बहुत कुछ उनकी तरह हैं, जो प्राचीन एलाम, सुमेर, मिनोआ और मिस्र के हैं। परन्तु सिन्धु-काँठे के ये लेख अब तक पढ़े न जा सके। इन्होंने विद्वानों के सामने एक कठिन पहेली उपस्थित कर दी है। साधारणतया विश्वास यह है कि ये लेख एक प्रकार के चित्र-लेख से निकले हैं जिसमें प्रत्येक चिह्न शब्दविशेष या वस्तु को प्रगट करता है। इस प्रकार के ३९६ चिह्नों की एक तालिका प्रस्तुत की गयी है। इस लेखन के प्रायः पिछले काल में कुछ ऐसी संकेत-मात्राओं का प्रयोग हुआ है, जो शायद स्वर-चिह्न हों। कुछ विद्वानों का मत है कि मुहरों की लिखावट पहली पंक्ति में दाहिनी ओर से बायीं ओर को है; फिर दूसरी में बायीं ओर से दाहिनी ओर को। इसी प्रकार क्रमशः यह बदलती गयी है। फादर हेरास आदि विद्वान् इस लिखावट और इसकी भाषा को द्रविड़ और कुछ अन्य इसे ब्राह्मी की पूर्ववर्ती आर्य-लिपि और भाषा मानते हैं। परन्तु इसके आर्य और ब्राह्मी की पूर्ववर्ती लिपि होने के कोई प्रमाण नहीं हैं। यह मत निश्चित-सा हो चला है कि यह सभ्यता आर्येतर और

द्रविड़ थी, जो भारत में आर्यों के आने के काफी पूर्व जीवित थी। इसपर हम फिर विचार करेंगे। संभवतः सैन्धव सभ्यता की यह लिपि अधिक काल तक जीवित न रह सकी।

सैन्धव सभ्यता के धर्म के विषय में हमें थोड़ा-बहुत ज्ञान है। यह ज्ञान वहाँ की मुहरों, ताम्रपत्रों और धातु, पाषाण तथा मिट्टी की मूर्तियों से ही प्राप्त हुआ है। इन मूर्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण मातृ-देवी अथवा प्रकृति-देवी है। अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में प्रकृति (पश्चात् काल की शक्ति), पृथिवी और अनेक ग्राम-देवताओं की पूजा प्रचलित है। मातृ-देवी की पूजा फारस से लेकर ग्रीस के निकट ईजियन सागर तक के सभी देशों के प्राचीन निवासियों में प्रचलित थी। इस संप्रदाय के पनपने के लिए भारतीय मिट्टी प्रचुर उर्वरा सिद्ध हुई। इसी से बाद की शक्ति-पूजा अपनी अनेकधा क्रियाओं के साथ जन्मी और धीरे-धीरे विकसित हुई। एक विशेष प्रकार की मुहर मिली है जिसपर किसी पुरुष देवता की त्रिमुखी लाक्षणिक मूर्ति खुदी है। यह देवता योग-मुद्रा में बैठा है और इसके दोनों ओर पशुओं की आकृतियाँ बनी हैं। यह ऐतिहासिक शिव का पूर्व-रूप है और उसे हम प्रारंभिक 'पशुपति' कह सकते हैं। यदि यह अनुमान सही है, तो शैव धर्म संसार के सभी जाने हुए धर्मों से प्राचीन सिद्ध होगा। सिन्धु-काँठे की सभ्यता में जननेन्द्रियों की पूजा भी प्रचलित थी, जैसा की उपलब्ध लिङ्ग और योनि-प्रतिमाओं से प्रमाणित होता है। इस प्रकार की बीसों पाषाण वस्तुएँ उपलब्ध हुई हैं। इसी प्रकार कुछ मुहरों पर अंकित चित्रों से सिद्ध होता है कि उस समय वृक्ष-पूजा और पशु-पूजा भी अनजानी न थी। आधुनिक हिन्दू-धर्म के साधारण जन-विश्वास में अनेक इस प्रकार के स्थल हैं, जो मोहेनजो-देड़ो की सभ्यता के समानान्तर हैं और जिनके अब तक जीवित रहने से भारतीय संस्कृति की सहस्राब्दियों तक अटूट शृंखला का विस्तार सिद्ध है।

धर्म

मोहेनजो-देड़ो और हड़प्पा, दोनों स्थानों की उपलब्ध सामग्री से विदित होता है कि मृतक-क्रिया के संभवतः तीन प्रकार थे—(१) पूर्ण समाधि (गाड़ना), (२) शव को पहले पशु-पक्षियों के भोजनार्थ डाल देना, फिर उसको दफनाना और (३) भस्मीकृत शव को दफनाना। भस्म, अस्थि और कोयले से भरे समाधि-कलशों से प्रमाणित होता है कि सिन्धु-सभ्यता के विशिष्ट काल-प्रसार में यह तीसरी प्रकार की शव-क्रिया प्रचलित थी। मोहेनजो-देड़ो की सड़कों और गलियों में, कमरों और घरों में बीसों अस्थिपञ्जर मिले हैं। परन्तु वहाँ कब्रगाह का कहीं नामोनिशान नहीं है। परन्तु हड़प्पा में टीलों के पास ही एक समाधि-श्मशान मिला है। हड़प्पा के संबंध में एक विचित्र बात और यह है कि वहाँ के समाधि-कलशों पर एक विशेष प्रकार के वनस्पति और पशु-डिजाइन चित्रित मिले हैं।

मृतक-क्रिया

ऊपर सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं के संबंध में कुछ संकेत किया जा चुका है। यहाँ फिर उनकी सभ्यता के अध्ययन के बाद उनपर कुछ विचार कर लेना उचित होगा। अस्थिपञ्जरों के अध्ययन से पता चलता है कि हड़प्पा और मोहेनजो-देड़ो की आबादी

मिश्रित थी। परन्तु इन मूर्ति-मस्तकादि के प्रमाणों पर विचार बड़ी सतर्कता से होना चाहिए; क्योंकि कलाकार आखिर मानवतत्त्ववेत्ता न थे। फिर मानव-मस्तकों की उपलब्ध संख्या भी अत्यन्त अल्प है, जिससे किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। सिन्धु-सभ्यता की आबादी में कम-से-कम चार जातियाँ शामिल थीं; परन्तु इनमें से सैन्धव सभ्यता की वास्तविक निर्मात्री कौन थी—यह कहना कठिन है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विद्वानों के मत भी इस संबंध में विभिन्न हैं। कहा जाता है कि ऋग्वैदिक आर्यों के समकालीन द्रविड़ थे जिन्हें आर्यों ने नष्ट कर दिया। कुछ लोग आर्यों को ही इस सभ्यता के निर्माता मानते हैं; परन्तु उपलब्ध प्रमाण इस निष्कर्ष के विरुद्ध हैं। आश्चर्य की बात यह है, की प्राप्त अस्थि-पञ्जरों और मुहरों पर उत्खचित रूपांकनों में अश्व तथा श्वान के पञ्जरों अथवा आकृतियों का सर्वथा अभाव है। एकाध उनके अस्थि-पञ्जर जो मिले भी हैं, वे बिल्कुल ऊपर के स्तरों पर हैं जिससे उनका इस सभ्यता के निर्माताओं से संबंध जोड़ना नितान्त अयुक्तियुक्त होगा। उनका ऊपर की सतह पर मिलना इसके विरोध में यह प्रमाणित करता है कि ये दोनों उस जाति के थे जिसने इस सभ्यता के निर्माताओं का विध्वंस कर दिया। अश्व और श्वान आर्यों के सतत अनुचर थे, यह ऋग्वेद से प्रमाणित है। यदि आर्यों के सन्निकट के मानवेतर प्राणियों के नाम पूछे जायँ, तो स्वभावतः अश्व और श्वान के नाम निकल पड़ेंगे। इससे जान पड़ता है कि आर्य इस सभ्यता के निर्माता नहीं, संहर्ता थे। कुछ विद्वान् इस सभ्यता के निर्माताओं को सुमेर-निवासियों की जाति से भी प्रसूत मानते हैं और इस विषय में वे सुमेर, एलाम और सिन्धु-तलहटी की सभ्यताओं की बहुल-समता का हवाला देते हैं। हाँला कि इन सभ्यताओं की स्वकीय विभिन्नताएँ भी कुछ कम नहीं हैं, फिर भी शारीरिक विशेषताओं पर अवलंबित सांस्कृतिक प्रमाण और तर्क साधारणतया दुर्बल होते हैं। इस कारण इन प्रमाणों के आधार पर हम कोई इस संबंध में अन्तिम निर्णय नहीं कर सकते। हमें इस बात को भी न भूलना चाहिए कि सुमेर और सिन्धु-सभ्यता की समानताएँ सैन्धव जाति के सुमेरजनित होने के विरुद्ध प्रमाण उपस्थित करती हैं। भाण्ड और नालियाँ-संबंधी जो समानताएँ हैं, वे निस्सन्देह सुमेर के निचले स्तरों और सिन्धु-सभ्यता के उपरले स्तरों से उपलब्ध सामग्री की हैं जिससे सुमेर की प्राचीन सभ्यता सिन्धु की पश्चात्कालिक सभ्यता की समकालीन ठहरती है। इससे सुमेरी सभ्यता के सैन्धव सभ्यता से पश्चात्कालीन होने के कारण सिन्धु-सभ्यता के निर्माताओं का सुमेर-जातीय होने की बात कट जाती है। इन सब प्रमाणों पर सर्वतः विचार करने से केवल एक बात साधारणतया प्रतिष्ठित होती है—वह यह कि इस सभ्यता के निर्माता द्रविड़ थे और इनका नाश संभवतः आर्यों ने किया। जब तक प्रबल प्रमाण इस सिद्धान्त के विरोध में नहीं मिलते तब तक इस निष्कर्ष को प्रधानता देनी ही होगी।

सिन्धु-सभ्यता के निर्माता

ऊपर बताए सिन्धु-काँठे के स्थानों के अतिरिक्त इस सभ्यता का विस्तार दक्षिण-पंजाब और बलूचिस्तान में भी था, अनेक टीले अभी पुराविदों के फावड़ों की प्रतीक्षा में खड़े हैं। गंगा के काँठे में इस सभ्यता के चिह्न अभी तक नहीं मिले। बाद के भारतीय सांस्कृतिक और राजनीतिक इतिहास में गंगावती के इस भूखण्ड ने विशेष भाग लिया था। अब प्रश्न यह

है कि सिन्धु-सभ्यता का मूल कहाँ था ? क्या भारतीय भूमि पर यह एक स्वतंत्र सांस्कृतिक विकास था अथवा इसका विकास एलाम, मेसोपोतामिया और अन्य पश्चिमी सभ्यताओं के संपर्क और प्रभाव से हुआ ? इन प्रश्नों का उत्तर ऐतिहासिक ज्ञान की इस सीमा पर नहीं दिया जा सकता। इसी प्रकार इस सभ्यता के विस्तार-काल की भी निश्चित अवधि नहीं दी जा सकती, उसका अटकलमात्र लगाया जा सकता है। पता नहीं, यह सभ्यता कब तक जीवित रही, परन्तु मोहेनजो-देड़ो के भवनों और अनेक स्तरों से जान पड़ता है कि इसका जीवन काफी लंबा रहा होगा। जल-मग्न स्तरों को छोड़कर विद्वानों ने इस सभ्यता के सात स्तर—तीन पिछले काल के, तीन मध्यकाल के और एक अत्यन्त प्राचीन काल का—आँके हैं। प्रत्येक स्तर की सभ्यता का दौरान संभवतः ५०० वर्ष रहा होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। इस अन्दाज से सिन्धु-सभ्यता का प्रसारकाल लगभग ३२५० ई० पू० से २७५० ई० पू० तक रहा होगा। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि इस सभ्यता का आरंभ और पहले रखना होगा; क्योंकि नागरिक सभ्यता होने के कारण इसका विकास शताब्दियों तक होता रहा होगा। इसके अतिरिक्त मोहेनजो-देड़ो और एलाम-सभ्यताओं की वस्तुओं में जो एक आंतरिक एकता और समता है, वह साधारण नहीं ; काफी गहरी है। संभवतः मोहेन-जो-देड़ो की सभ्यता सुमेर की प्राचीनतम सभ्यता और एलाम और मेसोपोतामिया की जलप्रलय पूर्व की सभ्यता समकालीन हैं। ऊपर जो इस सैन्धव सभ्यता का पिछला छोर विद्वानों ने २७५० ई० पू० के आसपास रखा है, वह आर्यों के भारत के आक्रमण-काल के सन्निकट है।

सैन्धव-सभ्यता का समय

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. सर जान मार्शल : Mohenjo-daro and the Indus Civilization (तीन भागों में).

२ काशीनाथ दीक्षित : Pre-historic Civilization of the Indus Valley (मद्रास, १९३९)

३. डा० मैके : The Indus Civilization पुरातत्व-विभाग का मेम्वायर, अंक-४१ और ४८ (१९४०)

४. डा० जी० आर० हण्टर : Script of Harappa and Mohenjo-daro १९३४.

५. एच० हेरास : Story of Two Mohenjo-daro Signs—JBORS. खण्ड २, अंक १,

६. एल० ए० वाडेल : The Indo-Sumerian Seals Deciphered, (लन्दन, १९२५)

७. डा० राधाकुमुद मुकर्जी : Hindu Civilization.

८. डा० रमाशंकर त्रिपाठी : History of Ancient India

चौथा परिच्छेद

आर्यों का भारत में प्रवेश

प्रागैतिहासिक गोधूलि के बाद आर्यों का सूर्य भारतीय गगन में उदित हुआ। फिर वैदिक संस्कृति का बालारुण क्षितिज से धीरे-धीरे ऊपर उठा और उसके तेज से भारत में एक नई मानवता सजीव हुई। उस संस्कृति के प्रवर्त्तक कौन थे और जगत के किस आधार से उठकर वे भारतीय क्षितिज से आ लगे, यह निश्चित रूप से कहना अभी कठिन ही नहीं असम्भव है। इस प्रकार के प्रश्नों की भारतीय इतिहास में आँधी-सी उठ खड़ी हुई है और इनपर मत भी अनेक हो गये हैं। कुछ भारतीय विद्वान् पुराणों के एकाध सन्देहास्पद अनुवृत्तों के आधार पर यह विश्वास करते हैं कि आर्य भारत-भूमि के आदि निवासी थे; उनका मूलस्थान बाहर कहीं न था; वे इसी देश में उत्पन्न हुए; यहीं से अपनी संस्कृति का अन्य देशों में भी उन्होंने विस्तार किया। परन्तु इस तर्क की विशेष साख नहीं है। अनेक त्रुटियों के कारण यह मत ग्राह्य न हो सका। यह बात ऐतिहासिकों को सहज मान्य है कि प्राचीन काल में जाति की जाति और कबीले के कबीले अपनी ढोरें लिए अपने भोजन और उनके चरागाहों की खोज में फिरते रहे हैं। कृषि में अनभ्यस्त जातियों का खानाबदोश हो जाना स्वभावसिद्ध है। भोजन की सुविधाओं का अन्त हो जाने पर जातियाँ ऐसे देश की ओर बढ़ती हैं जहाँ इन सुविधाओं की प्रचुरता है। इन समृद्धियों से सम्पन्न देश से निष्क्रमण के प्रमाण इतिहास में सर्वथा अप्राप्य हैं। अतः यह विश्वास कि आर्य भारत की शस्य-श्यामला भूमि को छोड़कर अन्य देशों में जाते युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। और उस काल जन-संख्या कम और जीवन-संबंधी सुविधाएँ अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण इस तर्क की शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाती है। फिर इसके विरोध में पश्चात्कालीन इतिहास में हम शक, हूण, गुर्जर, मुसलमान आदि जातियों का बाहर से ही आकर भारत में बसना देखते हैं। इस कारण हमें आर्यों का मूलनिवास भारत के बाहर ही कहीं ढूँढ़ना होगा।

बालगंगाधर तिलक का मत है कि आर्यों का मूलस्थान भारतवर्ष न होकर उत्तरी ध्रुव का कटिबन्ध था। कुछ विद्वानों ने वह स्थान बह्लीक (बाख्त्री) और कुछ ने पामीरों में निश्चित किया। परन्तु साधारणतया आज जो मत ऐतिहासिकों को मान्य है, वह यह है कि भारतीय और 'जेन्दावेस्ता' में उल्लिखित ईरानी आर्य प्राचीन 'हिन्दू-जर्मन' अथवा 'हिन्दू-यूरोपीय' जाति अर्थात् 'वाइरोज' की एक विशिष्ट शाखा थे। गाइल्स साहब ने सिद्ध कर दिया है[1] कि प्रायः सभी प्राचीन आर्य भाषाओं में 'वीरस्' (वाइरोज—wiros) शब्द का प्रयोग 'पुरुष' के अर्थ में हुआ है। मूल जाति की इस शाखा के पूर्वाभिमुख प्रसार के पहले सबका निवास एक ही केन्द्र में था। वहाँ वे चिरकाल से बसे हुए थे। यह केन्द्र अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से आँका है। मैक्समूलर की राय में आर्यों का आदिम निवास मध्य-एशिया में था। बेन्फे उस स्थान को कृष्ण सागर के उत्तर का प्रशस्त यूरोपीय मैदान ठहराते हैं। गाइगर की राय में वह स्थान मध्य और पश्चिमी जर्मनी था। इसी प्रकार गाइल्स ने उसे ऑस्ट्रिया,

१. Cambridge History of India, खण्ड १, पृष्ठ ६६,

हंगरी और बोहेमिया की सम्मिलित भूमि ठहरायी। पारस्परिक विरोध, भोजन के परिमाण की न्यूनता और जनसंख्या की वृद्धि के कारण कालान्तर में आर्य-शाखाएँ अपना मूलस्थान छोड़ नए हरे-भरे प्रदेशों की खोज में निकल पड़ीं। इस मत की पुष्टि में एक विशिष्ट आधार प्रस्तुत किया जाता है। वह है—ऋग्वेद, जेन्दावेस्ता और यूरोपीय जातियों में बोली जानेवाली 'हिन्दू-जर्मन' भाषाओं में अनेकरूपेण सन्निकट समानता। इस भाषा-सम्बन्धी एकता के अतिरिक्त इन भाषा-भाषियों की संस्कृतियाँ और प्राणियों तथा वनस्पतियों की समानता भी इस ओर संकेत करती है, यद्यपि इन समानताओं के प्रमाण जिस सामग्री पर अवलंबित हैं, वे थोड़े ही हैं। परन्तु उपलब्ध[1] साधनों से इस मत की पुष्टि प्रचुर होती है। निश्चय, भाषा और सांस्कृतिक समानताएँ रक्त की एकता सिद्ध नहीं करतीं; क्योंकि एक जाति उन्हें दूसरी से सीख सकती है। पास-पास रहनेवाली विभिन्न जातियों में इस प्रकार के आदान-प्रदान प्रायः होते रहते हैं। मानव-जाति के अध्ययन से जिस विज्ञान की अभिसृष्टि हुई है, उस 'एन्थ्रोपालोजी' की खोजों से भी इस विषय पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। इनसे केवल इतना प्रमाणित हो सकता है कि भारत की एक विशेष जाति कतिपय यूरोपीय जातियों से कई बातों में मिलती है। अतः यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतीय नसों में यूरोपीय रक्त प्रवाहित हो रहा है, यह सिद्ध है कि किसी न किसी समय भारतीय आर्यों का पाश्चात्य आर्यों के पूर्वजों से निकट-संपर्क था।

वेद

आर्यों के प्राचीन आदरणीय ग्रंथ 'वेद' हैं। 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से बनता है जिसका अर्थ है 'जानना'—ज्ञान। वेद का अधिकांश पद्य में है। एक-एक पद्य को ऋचा कहते हैं। इनमें कुछ गेय हैं जिन्हें 'साम' कहते हैं। गद्य-भाग के एक-एक अंग को 'यजुष्' कहते हैं। ऋचाओं को 'मन्त्र' भी कहते हैं और उनके द्रष्टा अथवा रचयिताओं को 'ऋषि'[2]। मन्त्र पहले अनिबद्ध और फुटकल साहित्य के अंश थे। भिन्न-भिन्न ऋषि-कुलों में उनका संग्रह होता गया। इन संग्रहों का लाक्षणिक नाम पड़ा 'संहिता' और ऋचाओं, सामों और यजुओं की संहिताओं के नाम पड़े क्रमशः ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद। प्राचीन ख्यातों के अनुसार महाभारतकालीन कृष्ण द्वैपायन व्यास नामक मुनि ने अपने समय तक के बने मन्त्रों को एकत्र कर उनका विषयानुसार विभाजन किया और ऊपर कही हुई तीन संहिताएँ प्रस्तुत कीं। इनको 'त्रयी' कहते हैं। इन तीनों में सामवेद ऋग्वेद का तिहाई है और उसके अनेक मन्त्र ऋग्वेद के हैं। यजुर्वेद चालीस अध्यायों में संकलित है और सामवेद से भी छोटा है। 'त्रयी' से बचे हुए मन्त्रों को, जो विषयानुसार इनसे भिन्न थे और जिनका संबंध अधिकतर मोहन-उच्चाटन-मारणादि उपचारों से था, मुनिवर ने 'अथर्वसंहिता' में ग्रथित किया। इन संहिताओं में प्रमुख ऋग्वेद है; इससे उसका विशेष वर्णन अनिवार्य है।

---

१. वही, परिच्छेद ३, पृष्ठ ६४-७६

२. ऋषियो मन्त्रद्रष्टारः

ऋग्वेद

आर्यों का प्राचीनतम और पवित्रतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है। साधारणतया इसे प्रथम मानव ग्रन्थ कहते हैं यद्यपि जब से असुरों के प्राचीन महाकाव्य 'गिल्गमिश' की उपलब्धि हुई है, तब से यह धारणा दुर्बल होती जा रही है। ऋग्वेद १०२८ सूक्तों का एक संकलन है जिसमें ग्यारह 'बालखिल्य'—सूक्त भी सम्मिलित हैं। 'सूक्त' का अर्थ है 'अच्छी उक्ति'। प्रत्येक सूक्त में तीन-चार से लेकर सौ तक मन्त्र हैं। ऋग्वेद दस 'मण्डलों' में विभक्त है। ये सभी सूक्त एक ही काल के नहीं हैं। कुछ एक समय के हैं, कुछ दूसरे के, कुछ तीसरे के। उनके रचयिता विविध ऋषि हैं, और चूँकि उनके काल और उनकी पीढ़ियाँ भिन्न-भिन्न हैं, उनकी कृतियाँ भी भिन्न-भिन्न समय की हैं।[1] हिन्दू जनता वेद को अपौरुषेय और ईश्वरकृत मानती है।[2] परन्तु ऐतिहासिक तर्क ऐसी किसी वस्तु की कल्पना नहीं करता। वैदिक सूक्त जिस प्रकार अनेक कालों में अनेक ऋषियों द्वारा प्रणीत हुए हैं, उसी प्रकार उन ऋषियों की प्रतिभा के अनुरूप ही उनका साहित्यिक सौन्दर्य भी बन जाना स्वाभाविक है। इन सूक्तों के कर्त्ता पुरुष-ऋषियों के अलावा स्त्री-ऋषि भी हैं। कुछ को छोड़कर अधिकतर सूक्त देवताओं की स्तुति में कहे गये हैं। और देवता स्वयं प्रकृति के अवयव हैं, जैसे सूर्य, वायु, अग्नि आदि। इतना निश्चित है कि ऋषि इन सूर्यादि के स्थूलरूप की नहीं, वरन् उनके अन्तर में स्थित, केन्द्रीभूत शक्तियों की उपासना करते हैं। आध्यात्मिक और पार्थिव मूर्तियों के अर्थ वे इन देवताओं से प्रार्थना करते हैं। इन स्तुतियों से भी तत्कालीन समाज पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि उनमें परिगणित आवश्यकताओं अथवा कष्टों से सामाजिक निष्कर्ष कुछ निकल जाता है। परन्तु उस समय के समाज का विशेष परिचय हमें उन स्तुति-सूक्तों में नहीं मिलता। ऋग्वेद में कुछ ऐसे सूक्त भी हैं, जिनमें तत्कालीन युद्धों और मानव-आचार-विचारों का वर्णन मिलता है। कुछ सूक्तों में दानवीरों के त्याग और दान-विसर्जन का उल्लेख है। ऐसे सूक्त यथार्थ में तत्कालीन समाज के दर्पण हैं। उनसे प्राप्य सामग्री अल्प अवश्य है परन्तु है वह निश्चय उपादेय। अन्य ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में उस सुदूर के इतिहास की इकाइयों के रूप में उसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

ऋग्वेद की भौगोलिक परिधि

ऋग्वेद-से धार्मिक ग्रंथ से यह आशा तो सहज ही नहीं की जा सकती कि उसमें भौगोलिक सामग्री का प्राचुर्य हो; परन्तु जिस प्रकार उसमें से निष्कर्ष द्वारा ऐतिहासिक सामग्री का चयन किया गया है, उसी प्रकार उससे कुछ भौगोलिक ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है। स्वयं ऋग्वेद में आर्यों के भारत-प्रवेश की तिथि के सम्बन्ध में कोई स्मृति सुरक्षित नहीं और न उसमें उनके प्रवेश-द्वार अथवा मार्ग का ही निर्देश है। फिर भी उसमें आए कुछ संकेतों से जान पड़ता

१ ऋग्वेद के पहले ही मंत्र में 'पूर्व' और 'नूतन' ऋषियों का उल्लेख है। इस सम्बन्ध में श्री विन्तरनित्स का विचार है कि ऋग्वैदिक साहित्य के स्तरों में शताब्दियों का अन्तर है। ऋग्वेद के पाठ को शुद्ध रखने के लिए अनेक युक्तियाँ की गयीं। पदपाठ, क्रमपाठ, घनपाठ, जटापाठ, अनुक्रमणी आदि उनमें से कुछ थीं।

२ न हि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि।

है कि आर्यों के विस्तार का भौगोलिक क्षितिज अफग़ानिस्तान से गंगा के काँठे तक ही सीमित था। ऋग्वेद में अफग़ानिस्तान की नदियों का उल्लेख मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि किसी समय आर्यों का निवास उनके काँठों में अवश्य था। इन नदियों के नाम हैं—कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रुमु (कुर्रम) और गोमती (गोमल)। सिन्धु-नद के विस्तृत स्रोत का अनेकधा उल्लेख है। उसकी पाँच सहायक नदियों के नाम भी ऋग्वेद में इस प्रकार मिलते हैं—वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चिनाब), परुष्णी (इरावती, रावी), विपाशा (बियास) और शुतुद्रि (सतलज)। दृषद्वती और सरस्वती, जिनके बीच बसकर पश्चात्काल में ब्रह्मावर्त पवित्र कहलाया, का भी ऋषियों ने स्तवन किया है। विशेषकर सरस्वती की प्रशस्ति में तो कितने ही मंत्र गाए गए हैं। उनके तटपर अनुष्ठित अनेक यज्ञों का आर्ष कवियों ने वर्णन किया है। यह सरस्वती अब थानेश्वर की मरुभूमि में खो गयी है। इन नदियों के वर्णन से जान पड़ता है कि आर्य लोगों की सत्ता और निवास का विस्तार उन सारे प्रदेशों में हो चुका था जिनकी भूमि ये नदियाँ अपने स्रोतों से सींचती थीं। इसी उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में इन सूक्तों के अधिकतर भाग भी संभवतः रचे गये।[1] गंगा और यमुना का उल्लेख केवल दो-तीन बार इन सूक्तों में हुआ है। जिससे कुछ लोग यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यद्यपि आर्य लोग गंगा-यमुना के द्वाब की ओर बढ़ चुके थे, उस भूमि से वे अधिकतर अपरिचित ही थे। यह स्वीकार करना कठिन है। पुराणों में जो वंश-तालिकाएँ दी हुई हैं, उनमें से कई राजा ऋग्वेद के भी हैं। परन्तु पुराणों में इन राजाओं की जो राजधानियाँ या राज्य-विस्तार दिए गए हैं, उनमें से अनेक कुल गंगा के दक्षिण में राज कर रहे थे। स्वयं ऋग्वैदिक आर्यों का यशस्वी नेता सुदास इक्ष्वाकुवंशीय राजा दशरथ के समकालीन और संभवतः उनके फूफा थे। दशरथ के पिता अज का विवाह स्वयंवर की रीति से विदर्भ के राजा भोज की भगिनी से हुआ था। भोज के पूर्वजों ने नर्मदा के दक्षिण विदर्भ (आधुनिक बरार) को जीतकर वहाँ अपना राज्य कायम किया था। इससे लगभग ऋग्वैदिक काल में ही आर्यों का प्रसार नर्मदा के दक्षिण तक हो गया जान पड़ता है। इसके विरोध में संभवतः एक यही बात कही जा सकती है कि विदर्भादि राजाओं की राजधानियों के नाम जो पुराणों ने दिए हैं, ऋग्वेद में क्यों नहीं मिलते। परन्तु, यथार्थतः, उल्लेख का अभाव वस्तुविशेष का अभाव (Argumentum ad Absentio) नहीं सिद्ध करता। इसलिए इस मत को स्वीकार करना कठिन है कि ऋग्वेद के समय में आर्यों का संबंध गंगा-यमुना-द्वाब के पूर्व के प्रान्तों से न था। कुछ विद्वानों ने साथ ही यह भी कहा है कि चूँकि ऋग्वेद में हिमालय का उल्लेख हुआ है और विन्ध्याचल का नहीं और चूँकि बंगाल के धान और व्याघ्र का वर्णन भी उसमें नहीं मिलता—सिद्ध है कि आर्य लोग पूर्व की ओर अभी तक न बढ़ सके थे। परन्तु इस प्रकार के प्रमाणों और युक्तियों में शक्ति नहीं होती। अप्रासंगिक होने के कारण बहुत-सी बातें ग्रंथ में छूट सकती हैं। पंजाब में नमक का पर्वत है; परन्तु नमक का प्रयोग नित्य होने पर भी उसका उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलता। इससे यह निष्कर्ष नहीं

---

1 उषा के प्रति गाए गए सूक्त पंजाब के प्रातराकाश का स्मरण करते हैं।

निकाला जा सकता कि आर्य उस समय पंजाब में नहीं थे।[1] फिर यह कहना भी कि तब के आर्यों को पूरब के व्याघ्रों का ज्ञान न था, युक्ति के रूप में कमजोर है। मुगल-चित्रों में जहाँगीर आगरे के पास के जंगलों में ही व्याघ्र का शिकार करता दिखाया गया है। यानी सोलहवीं-सत्रहवीं सदी में जब भारत की जन-संख्या लगभग सोलह करोड़ हो गयी थी और मनुष्य की बढ़ती आबादी ने जंगलों को काट डाला था तब भी (मध्य—) उत्तर-भारत में व्याघ्र मिलते थे। फिर उस समय से प्रायः चार हजार वर्ष पूर्व जब आबादी बहुत कम थी और देश बुनियादी जंगलों से ढका हुआ था, क्या पंजाब और उसके पूर्ववर्ती वनप्रान्त में शेर न दहाड़ते होंगे? अतः इस प्रकार की युक्तियाँ निस्सन्देह दुर्बल हैं।

राजनीतिक संघर्ष और संगठन

ऋग्वैदिक आर्य कई 'जनों' में विभक्त थे। उनमें मुख्य 'पञ्चजन' थे। उनके नाम थे—अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वस और पुरु। ये सरस्वती के दोनों तटों पर रहते थे। इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, शृंजय, क्रिवि और अन्य गौण जनों का भी उल्लेख मिलता है। चूँकि ये जन कालान्तर में पृथक्-पृथक् टोलियों में आये थे और इनके निवासस्थल भी भिन्न-भिन्न थे; अतः इनका पारस्परिक जीवन काफी संघर्षमय था। चूँकि आर्य बाहर से इस देश में आये थे यह तो स्वाभाविक था कि उनका एतद्देशीय अनार्यों से संघर्ष हो; परन्तु स्वयं उनके आभ्यन्तरिक द्वेष भी कम न थे। और आर्यों के बीच भी परस्पर युद्ध चला करते थे। ऋग्वेद की प्रमुख राजनीतिक घटनाओं में से एक वह महायुद्ध है, जो परुष्णी के तट पर हुआ था और जिसमें भरतों के राजा सुदास ने महर्षि विश्वामित्र के मन्त्र से लड़नेवाले दस राजाओं के संघ को हराया था। इस विजय के उपलक्ष्य में सुदास के कुलगुरु वसिष्ठ ने प्रशंसासूक्त गाये। हमें इस बात का ज्ञान नहीं कि इस विजय के बाद राजा सुदास ने अपने विजित प्रान्तों को साम्राज्य में संगठित किया या नहीं। पंचजनों और सीमाप्रान्त के अलिनों, पक्थों (आधुनिक पख्तुन अथवा पठान), शिवों, भलानसों और विषणियों के संघ को जीतने के पश्चात् अपनी पूर्वी सीमा पर भी सुदास को एक संकट का सामना करना पड़ा। पूर्व की ओर बसनेवाले अनार्य 'भेद' की नायकता में सुदास के ऊपर चढ़ आये; परन्तु उसने यमुना के किनारे उन्हें धूलि-धूसरित कर दिया। भेद यशस्वी और असाधारण योद्धा था—तीन अनार्य जातियों—अज, शिग्रु और यक्षु का नेता। ऋग्वेद में अन्य अनार्य जातियों का भी उल्लेख हुआ है। सिम्यु, पिशाच और किकट उनमें से तीन हैं। भेद के अतिरिक्त अनार्यों के अन्य नेता भी थे, जिनमें प्रमुख थे—चुमुरि, धुनि और सम्बर। आर्य लोग पारस्परिक युद्ध से कहीं अधिक भयानक संघर्ष इन अनार्य जातियों के साथ बहुत काल तक करते रहे। आर्य-अनार्यों को 'दस्यु' और 'दास' कहते थे। इनके साथ उनकी नित्य की शत्रुता थी। यह स्वाभाविक था; क्योंकि आर्य और इनकी सभ्यता में बहुत अंतर था और आर्य विदेशी, विजातीय और विधर्मी आक्रमणकारी थे। आर्य ऊँचे, गौरवर्ण के थे, अनार्य नाटे, कृष्णवर्ण के। दस्युओं की नाक चिपटी होने के कारण

---

१ डा० रमाशंकर त्रिपाठी : History of Ancient India

उनके आर्यविजेता उन्हें 'अनासाः' कहते थे। वैदिक देवताओं को न पूजने के कारण आर्य उन्हें 'अदेवयु', अन्य धर्म के माननेवाले (अन्यव्रत) और यज्ञ तथा अन्य वैदिक क्रियाओं को न करने के कारण 'अयज्वन्', 'अकर्मन' कहते थे। अनार्य जब तब वैदिक देवताओं को अपविघ्न भी कर देते थे इससे उनकी संज्ञा 'देवपीयु' भी थी। अनार्य शिवलिङ्ग के आकार का कोई पूजन करते थे जिससे आर्य उन्हें 'शिश्नदेवाः' कहते थे। इस प्रकार के लिङ्ग-पूजन के प्रमाण द्राविड़ सिन्धु-सभ्यता में अनन्त संख्या में प्राप्त हुए हैं। अनार्यों की भाषा आर्यों की समझ में नहीं आती थी इससे अनार्य 'मृध्रवाक्' कहलाते थे। इन प्रमाणों से जान पड़ता है कि ऋग्वेद में जिन अनार्य और दस्यु जातियों का उल्लेख हुआ है, वे द्रविड़ थीं; जो भारत के उन प्रान्तों में बसी थीं जिनको आर्य उनसे छीनना चाहते थे। दस्यु स्वदेश और पशुधन के लिए जी तोड़कर लड़े परन्तु जब आर्यों ने अपनी शक्ति से उनके दुर्गों और पुरों का ध्वंस कर दिया तब उनकी शक्ति क्षीण हो गयी और पराजित हो इधर-उधर के वनों और पार्वतीय उपत्यकाओं में उन्होंने आश्रय किया। आज भी उनके वंशधर भारत के विभिन्न जांगल प्रदेशों में बसे हुए हैं। गोंड, खाँड, कोल, भील, संथाल, ओराँव, मुण्ड आदि उनमें से ही कुछ हैं। अनार्यों में से जो भाग न सके, वे आर्यों के गुलाम हो गये। उनकी संज्ञा 'दास' हुई। इन्हीं दासों ने अधिकतर आर्यों की वर्ण-व्यवस्था के निम्नतम—अर्थात् शूद्र—स्तर का निर्माण किया।

वैदिक राष्ट्र की शक्ति उसके राजनीतिक और सामाजिक संगठन पर टिकी थी। किसी देश में सद्यःआगत अल्प संख्यक विदेशी विजेता की शक्ति सदा अपने संगठन पर ही निर्भर करती है। आर्यों का संगठन प्रचुर प्रशंसनीय था। उनके राष्ट्र का आधार 'गृह' या 'कुल' था। कई कुलों के संबद्ध का एक 'ग्राम' बनता था। ग्रामों का समूह 'विश' और विशों का 'जन' कहलाता था। जन का मुखिया 'राजा' कहलाता था और उसका पद ऋग्वैदिक काल तक प्रायः वंशागत बन चुका था। ऋग्वेद में एक ही राजकुल के कई पुत्रानुक्रमिक राजाओं का वर्णन मिलता है, जैसे वध्र्यश्व, दिवोदास, पिजवन, सुदास आदि का। 'विश'[1] या साधारण जनता राजा को चुनती थी। राजा युद्धों में अपने जन का नेतृत्व और शान्ति में रक्षा करता था। इसके बदले प्रजा उसे उपहृत करती थी। राष्ट्र की रक्षा के लिए शायद उस समय किसी कर या टैक्स का प्रबन्ध न था। शान्ति के समय राजा न्यायादि का प्रबन्ध और पार्थिव विभूतियों के निमित्त यज्ञ करता था। सेना का अध्यक्ष 'सेनानी' और ग्राम का 'ग्रामणी' कहलाता था। इनके अतिरिक्त 'पुरोहित' भी राजपरिवार का एक महान् पदाधिकारी था। उपहार में पाये धन आदि के बदले वह मन्त्रों से राजा के युद्धानुष्ठानों और अन्य कार्यों में सफलता की कामना करता था। राजा किसी रूप में स्वेच्छाचारी न था। उसकी शक्ति और इच्छा पर नियन्त्रण रखने के लिए 'सभा' और 'समिति' नाम की दो संस्थाएँ कायम थीं। इनमें सभा प्रभावशाली जन-वृद्धों और समिति सारी जनता द्वारा निर्मित थी। सभा और

---

१. 'वैश्य' इस विश शब्द से ही बना है। 'वैश्य' आरंभ में शायद साधारण जनता का द्योतक था। 'वेश्या' का उद्भव भी इसी शब्द से है जिसका प्राथमिक अर्थ था 'विशभोग्या', विशों की।

समिति की व्यवस्था और निर्माण के रूप निश्चित नहीं हैं। कीथ साहब के मतानुसार समिति 'जन' के कार्यों को सम्पन्न करनेवाली संस्था थी और सभा वह स्थान था, जहाँ सामाजिक उत्सव और समिति की बैठक होती थी।[1]

राज्य उस समय साधारणतया छोटे-छोटे थे; परन्तु युद्धों और दस्यु-भय के कारण एक शक्तिशाली राजा की अध्यक्षता में जब-तब लोग संगठित होते थे। इसी कारण कुछ बड़े-बड़े राज्यों की स्थापना भी हो चली थी। सुदास ने ही एक छोटे-मोटे साम्राज्य का पूर्व में सूत्रपात कर दिया था।

सामाजिक अवस्था

ऋग्वैदिक काल में गार्हस्थ्य का आरंभ हो चुका था और विवाह एक स्वाभाविक पद्धति बन चुका था जो अनिवार्य और अटूट समझी जाने लगी थी। साधारण जनता में एकपत्नी-विवाह की प्रथा नियमित रूप से बरती जाती थी, यद्यपि समाज के श्रीमानों में बहुविवाह भी सर्वथा अनजाना न था। हाँ, बहुपत्नी-विवाह के विरोध में बहुपतिक और बाल-विवाह अभी अवश्य अनजाने थे। अपना पति चुनने में नारी को काफी स्वतंत्रता थी।[2] विवाह के पश्चात् पत्नी पति की रक्षा और देखभाल में रहती थी। समाज में उसका स्थान आज से कहीं गौरवपूर्ण और अधिकार-युक्त था। गृह के सभी कार्यों में उसकी सत्ता का बोलबाला था और वह यज्ञानुष्ठानों और अन्य उत्सवों में भाग लेती थी। ऐसे अवसरों पर नारियाँ अच्छे से अच्छे वस्त्राभरण धारण करती थीं। स्त्रियों को तब अन्तःपुर में बन्द करके नहीं रखते थे। वे बाहर आ-जा सकती थीं। पुरुषों की भाँति ही उनकी शिक्षा का भी प्रबन्ध होता था। अपाला, विश्ववारा, घोषा और लोपामुद्रा की-सी कितनी ही नारियाँ मन्त्रद्रष्टा होकर ऋषिपद पा चुकी थीं। उनका आचार साधारणतया अनिन्द्य था यद्यपि जब-तब उसमें विघ्न पड़ जाता था। परन्तु ऐसी घटनाएँ अपवादस्वरूप थीं।

पति और पत्नी के अतिरिक्त परिवार में जिन सम्बन्धियों का निवास था, वे थे—माता-पिता, भ्राता-भगिनी, पुत्र-पुत्री आदि। साधारणतया उनमें परस्पर मेल रहता था। आपस में एक दूसरे के प्रति त्याग, सेवा और सहायता के भाव रहते थे, फिर भी समय-समय पर भूमि, पशु, आभूषणादि के लिए अनबन अवश्य हो जाती होगी। ऐसी दशा में वैमनस्य और कुव्यवहार स्वाभाविक होता होगा, जिससे कुल और उसकी सम्पत्ति विभक्त हो जाती होगी।

वस्त्राभरण और प्रसाधन

ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों से ज्ञात होता है कि लोग तब एक अधोवस्त्र (नीवी), दूसरा संभवतः उत्तरीय और तीसरा शाल धारण करते थे। कपड़े ऊन के बनते थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि लोग गर्मियों में भी ऊन ही पहनते थे। हम ऊपर देख चुके हैं कि सिन्धु-काँठे की द्राविड़ सभ्यता में कपास की रूई की बनी खादी का भी उपयोग होता

१. Cambridge History of India, खण्ड १, पृ० ९६

२. देखिए—भगवतशरण उपाध्याय : Women in Rigveda, 2nd edtion, काशी, १९४१; डा० अलतेकर : The Position of Women in Hindu Civilisation, काशी, १९३८.

था। धनी लोगों के वस्त्र भाँति-भाँति के रंगों से रँगे होते थे। सोने के तारों से उनपर सुईकारी का काम भी किया होता था। लोग कई प्रकार के आभूषण भी धारण करते थे। उनमें कुण्डल, हार, केयूर, मणिबन्ध आदि मुख्य थे।। तेल डालकर बालों को वे कंघे से काढ़ते थे। नारियाँ अनेक वेणियाँ धारण करती थीं। बहुत-से पुरुष भी अपने केशों का जूड़ा-सा बनाकर सिर पर धारण करते थे। आर्य छुरे से दाढ़ी बनाना जानते थे परन्तु श्मश्रु धारण करना आम रीति थी।

आहार-विहार और पेय

ऋग्वैदिक आर्यों के आहार अन्न और मांस दोनों ही थे। जौ और अनुमानतः गेहूँ उनके खाद्य थे। उनका जीवन कृषि-प्रधान होने से, सम्भव है, वे और भी फसलें उगा लेते हों। परन्तु इस बात का पूरा प्रमाण नहीं मिलता कि वे आटे का प्रयोग किस प्रकार करते थे। रोटी और तवे के लिए संस्कृत—काव्य और वैदिक दोनों—में शायद कोई शब्द नहीं है। उनके आहार में फलों और तरकारियों का भी बाहुल्य था। भोजन का प्रमुख अंश दूध था। इसका प्रयोग घी, दही आदि के रूप में प्रचुर होता था। इसी प्रकार मधु भी उनके भोजन का एक अंश था। मांस उनके आहार का एक विशिष्ट अंग था। भेड़-बकरी का मांस अधिकता से खाया जाता था। मांस आर्य लोग अपने देवताओं की पूजा में भी व्यवहृत करते थे। यज्ञों में देव-पूजन से अवशिष्ट मांस ऋत्विज और यजमान दोनों का ही भक्ष्य था। उत्सवों में और अतिथियों के स्वागत के अवसर पर भोजन के निमित्त गाय का बछड़ा मारा जाता था। 'अतिथिग्व' इसी कारण उसकी संज्ञा हो गयी थी। परन्तु अपनी उपादेयता के कारण शीघ्र ही गाय की संज्ञा 'अघ्न्या' हो गयी। ऋषियों ने उसकी स्तुति में गीत गाये और उसका बध निषिद्ध हो गया।

दूध और जल के अतिरिक्त आर्यों का एक पेय सुरा भी था। आर्य आसवपायी थे। धार्मिक अवसरों पर 'सोम' का पान आवश्यक और विशिष्ट माना जाता था। आर्यों का प्रमुख देवता स्वयं इन्द्र सोम पीकर रणक्षेत्र में शत्रुओं का संहार करता है। ऋग्वेद का एक पूरा मण्डल—नवाँ—सोम की प्रशंसा में ही कहा गया है। परन्तु सोम की वल्ली पहचानना आज अत्यन्त कठिन है। कुछ लोगों ने इसे भाँग माना है; परन्तु यह मत भी अन्तिम नहीं माना जा सकता। धार्मिक अवसरों के अतिरिक्त अन्य अवसरों पर साधारणतया अन्न से टपकाई हुई सुरा व्यवहृत होती थी। ऋषि लोग जब-तब इसके मादक द्रव्यों के कारण इसका व्यवहार वर्जित करते थे; क्योंकि इस मादकता का फल कभी-कभी समाज में अनाचार उत्पन्न करता था।

जीवन सादा, प्रसन्न और सुखी था। उत्सवों और मेलों का उत्साहपूर्वक अनुष्ठान होता था। उनमें गान और नृत्य का प्रचुर समावेश था और पुरुष और नारियाँ दोनों ही उनमें समान रूप से भाग लेते थे। वाद्यों में दुन्दुभि, मृदंग, वीणा (कर्करी) और बाँसुरी मुख्य थे। इसी संगीत से संभवतः सामगान का विकास हुआ। रथ-धावन और अश्व-धावन पुरुषों के विहार के साधन थे; परन्तु अक्षों द्वारा द्यूतक्रीड़ा आर्यों को विशेष प्रिय थी। धन-जन का ह्रास करनेवाला होने पर भी द्यूत लोगों को परमप्रिय था और

सभास्थल जुआरियों से भरा रहता था। ऋग्वेद में द्यूत के संबंध में एक करुण सूक्त[1] कहा गया है जिसमें एक जुआरी दाँव पर अपनी पत्नी रखकर उसे हार गया है। इस द्यूत ने आर्यों के जीवन को अनेक बार दुःखमय बना डाला, फिर भी इसके मोह को वे दूर न कर सके।

आर्थिक जीवन

पेशे

भारत में आने के बाद आर्यों को निरन्तर युद्ध करने पड़े थे। उनकी प्रचुरता इस प्रकार बढ़ गयी थी कि समान शत्रुओं से संघर्ष जारी रखने और भूमि जीतने के अर्थ तथा अपनी रक्षा के लिए उन्हें योद्धाओं का एक विशेष वर्ग ही बनाना पड़ा। यही वर्ग आगे चलकर 'राजन्य' अथवा क्षत्रिय कहलाया। युद्ध आर्य जाति का बड़े काल तक एक मुख्य पेशा बना रहा। आर्य घोड़ों और अश्वरथों पर बैठकर अथवा पैदल लड़ते थे। शत्रु के अस्त्रों से रक्षा के लिए वे कवच और धातु के बने शिरस्त्राण धारण करते थे। उनके मुख्य अस्त्र-शस्त्र थे—धनुष्-बाण, भाले-बर्छे, परशु और असि तथा पत्थर फेंकनेवाले जाल। युद्ध करते समय आर्य लोग रणघोष करते और दुन्दुभी बजाते थे।

पशुपालन और कृषि

उनके प्रधान पेशों में से पशु-पालन भी एक था। उनकी समृद्धि उनके गाय-बैलों की संख्या पर निर्भर होती थी। इसी कारण उसे जोड़ने में वे सदा तत्पर रहते थे। उनके गृह-पशु गाय-बैल, अश्व, भेड़, बकरे, कुत्ते और गर्दभ थे। उनकी दूसरी वृत्ति खेती थी। आर्यों में खेती का पेशा बहुत प्राचीन जान पड़ता है; क्योंकि खेती के अर्थ में कृषि धातु का प्रयोग संस्कृत और ईरानी भाषाओं में समान रूप से हुआ है। साँड़ या बैल हल को खींचते थे। हल का फाल खेत में हराई (सीता) उठाता था। खेतों की सिंचाई नालियों द्वारा हराईयों में पानी पहुँचाकर की जाती थी। कूपों और नदियों से जल निकालकर इस काम में लाया जाता था। जौ, शायद गेहूँ, तिल आदि बोये जाते थे। पक जाने पर इन्हें काटते और ओसाते थे। पश्चात्, इनकी राशि बनाकर बखारों में रखते थे। भूमि परिवार की संपत्ति थी; परन्तु वह बहुत कम खरीदी-बेची जाती थी। दाय और विजय से अथवा वन काटकर भूमि पायी जा सकती थी। विजित भूमि सारे 'जन' में बँट जाती थी।

अन्य पेशे

आर्य भोजन और मन-बहलाव दोनों के लिए आखेट करते थे। पक्षी और वन्य पशु जालों और पाशों से पकड़े जाते थे। उन्हें प्रायः वे धनुष्-बाण से भी मारते थे। मृग, सिंह और अन्य जन्तुओं को पकड़ने के लिए वे गहरे गढ़े भी खोदते थे। मछली मारने के संबंध में कोई उल्लेख नहीं मिलता। कुछ विद्वानों का मत है कि आर्यों का नाविक जीवन नदियों तक ही सीमित था और लंगर और पालों के अभाव में उनकी समुद्र-यात्रा संभव न थी। इस पक्ष को स्वीकार करना कठिन है। पहले तो लंगर और पालों का उल्लेख न मिलने से यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पास लंगर और पाल थे ही नहीं। फिर वरुण के संबंध में कही गयी अनेक ऋग्वैदिक ऋचाओं से सामुद्रिक यात्रा की स्पष्ट ध्वनि निकलती है।

---

1 ऋग्वेद, १, १६४, ४६

सिक्कों का तब चलन न था। कुछ विद्वान् 'निष्क' को तत्कालीन सिक्का मानते हैं; परन्तु यह सिक्का नहीं जान पड़ता। यह एक प्रकार का हुमेल या हलका (necklace) था जिसे मरुत अपने गले में धारण करते थे। परन्तु सिक्के के अभाव में जैसे आजकल भी आभूषण अथवा स्वर्ण उसकी जगह आवश्यकता-विशेष से बर्ते जाते हैं, संभव है, यह आभूषण भी कभी-कभी सिक्के का काम दे देता हो। कम से कम इसका प्रयोग 'खण्डनी' (ransom) के लिए तो अवश्य होता था। सिक्कों का प्रचलन न होने के कारण व्यापार वस्तुओं के अदल-बदल से होता था। गाय इस संबंध में एक इकाई-सी बर्ती जाती थी। व्यापार में सौदा हो जाने पर भी कभी-कभी झगड़ा हो जाता था, परन्तु साधारणतया क्रय-विक्रय एक बार में ही संपन्न हो जाने के प्रमाण मिलते हैं।

व्यापार

जीवन सादा होने के कारण आवश्यकताएँ कम थीं, जो प्रायः ग्राम में ही पूरी हो जाती थीं। परन्तु इस बात के भी प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि व्यापार की कतिपय वस्तुओं पर एकाधिपत्य की प्रथा चल पड़ी थी। वैदिक समाज में बढ़ई या रथकार एक महत्त्व का व्यक्ति था, क्योंकि वह युद्ध और धावन के अर्थ रथ का निर्माण करता था। वही लकड़ी गढ़ता, जोड़ता और चक्के बनाता था। उसके कौशल की समता सूक्त रचने की चातुरी से दी गयी है। उसके अतिरिक्त समाज में धातुकार्य में दक्ष कलावंत भी थे, जो अस्त्र-शस्त्र, हल के फाल, घरेलू बर्तन आदि बनाते थे। धातु का सामान्य नाम ऋग्वेद में 'अयस्' मिलता है। अयस् का तात्पर्य ताँबा, पीतल और लोहा तीनों से हो सकता है। परन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि आर्य लोहे का प्रयोग न जानते थे और उनके लोहार (कर्म्मार) भी सिंध-काँठे की ताम्रयुगीय द्राविड़ सभ्यता के लोहारों की भाँति केवल ताँबे-पीतल की वस्तुएँ ही प्रस्तुत करते थे। श्रीमानों की आवश्यकताओं के निमित्त सुनार सुवर्ण के आभूषण बनाते थे। चर्म्मकार का भी उल्लेख मिलता है, जिसका कार्य चमड़े को रगड़कर चिकना करना, उन्हें रँगना और उससे धनुष की रस्सी वगैरह बनाना था। चमड़े का काम निम्न-कोटि का नहीं समझा जाता था। इसी प्रकार ऊन, सन, क्षौम आदि का कपड़ा बुनने का काम भी बुरा नहीं समझा जाता था। स्त्रियाँ अधिकतर सीने-पिरोने, घास और तृण की चटाई बुनने, कपड़ा तैयार करने और दूध दुहने के कार्य करती थीं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि ऋग्वैदिक काल में इनमें से कोई पेशा नीच नहीं समझा जाता था और इन कामों को समाज के लब्ध-प्रतिष्ठ व्यक्ति अपनी वृत्ति के साधन बनाते थे। सूत, कर्म्मार आदि की प्रतिष्ठा तो प्रायः गाँव के मुखिया ग्रामणी की-सी थी।

धर्म अत्यन्त सरल था, यद्यपि उसमें देवी-देवताओं की प्रचुरता थी। उनकी संख्या बड़ी थी। देवताओं की अनेकता स्वाभाविक थी, क्योंकि इस धर्म को पुजारियों और पुरोहितों की मेधा ने शताब्दियों तक विकसित किया था। इनमें अधिकतर प्राकृतिक शक्तियाँ थीं जिनसे प्रारंभिक मनुष्य या तो भयभीत हो गया था या उपकृत हुआ था। ऋग्वेद के देवता तीन दलों में बाँटे जा सकते हैं—(१) पार्थिव, जैसे पृथ्वी, सोम, अग्नि ; (२) अन्तरिक्ष के देव, जैसे इन्द्र, वायु, मरुत, पर्जन्य ; (३) स्वर्गीय देव, जैसे वरुण, द्यौस्, सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषन् और विष्णु। इनमें से अन्त के पाँच

धर्म

किसी न किसी रूप में सूर्य से संबंध रखते हैं। ऋग्वेद के इन देवताओं में वरुण का स्थान अति उच्च है। उसके स्तवन में सुन्दर मंत्र कहे गये हैं। वह आकाश का देवता है और उसका संपर्क 'ऋत' से है। वरुण के बाद इन्द्र का स्थान है। परन्तु शीघ्र ही वह वरुण से गौरव में बढ़ जाता है। वह वज्रधारी है। उसकी स्तुति में सैकड़ों सूक्त संकलित हैं। वह वृष्टि से पृथ्वी की शुष्कता दूर करता है। जैसे-जैसे आर्य लोग सरस्वती-समीपवर्ती प्रदेश की ओर बढ़े, जहाँ बादलों की गरज और बिजली की चमक एक नित्य सत्य है, वैसे ही वैसे उस युद्धप्रिय इन्द्र का गौरव भी बढ़ चला। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि देवताओं में किसी प्रकार के उच्च और निम्न-स्तर कायम होने लगे थे। ऋषियों ने समय-समय पर आवश्यकता और प्रसंगानुसार प्रायः प्रत्येक देवता को अद्वितीय गौरव दिया है। ऋग्वेद में श्रद्धा, मन्यु आदि अमूर्त भावों को भी देवता का पद दिया गया है। देवियों में उषा प्रधान है। उसके प्रति ऋग्वेद के सर्वश्रेष्ठ सूक्त गाए गए हैं। उसमें कुछ गौण देवताओं का भी उल्लेख मिलता है। उनमें से कुछ ऋभु और अप्सराएँ हैं। अदिति और इन्द्राणी देवियों में विशेष आदर के पात्र हैं। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए मन्त्रों द्वारा आर्य उनसे प्रार्थना करते और दूध, घी, अन्न, मांस आदि के हव्य द्वारा यज्ञ करते थे। यजमान द्वारा यज्ञों का अनुष्ठान सुख-समृद्धि के लिए अनिवार्य था। ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में एक देवता की अन्यों के साथ एकता स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया है और कई बार उनको युगलरूप (जैसे द्यावा-पृथ्वी) भी दिया गया है। एक स्थल पर तो यहाँ तक उक्ति मिलती है कि सारे देवता एक ही हैं, केवल ऋषि उन्हें अनेकधा बखानते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥[1]

सिन्धु-काँठे और ऋग्वैदिक संस्कृतियों की तुलना

ऋग्वैदिक संस्कृति और मोहेन-जो-देड़ो आदि की द्राविड़ संस्कृति में महान् अन्तर था, जो केवल बाह्य नहीं वरन् बुनियादी और आन्तरिक था। आर्यों के धन उनके धनुष-बाण थे और उनका घर था घोड़े की पीठ। इनसे ऊपर उनका सुलझा हुआ मस्तिष्क था। हमारे पास ऐसे प्रमाण नहीं हैं जिनसे हम यह अन्दाज लगा सकें कि आर्यों और द्रविड़ों की मेधा में कौन-सी अधिक तीक्ष्ण और बलवती थी; परन्तु ऋग्वेद उपलब्ध होने के कारण यह बात तो बहुत ही स्पष्ट है कि आर्यों का निसर्ग-प्रेम और उससे प्रसूत काव्य की शक्ति तत्कालीन सभ्यता में अद्वितीय थी, पर उषा के प्रति कही गयी कुछ ऋचाएँ तो आज भी विश्व के साहित्य में भावों की कोमलता में अपना सानी नहीं रखतीं; ऐसे ही वरुण के स्तवन में गायी गायीं ऋचाएँ भी शक्ति और गुरुता में अतुलनीय हैं। परन्तु अपने साधारण नित्य के जीवन में अवश्य आर्य लोग द्रविड़ों के जीवन के सामने नगण्य और साधारण थे। मोहेनजो-देड़ो के द्रविड़ नागरिक थे, आर्य ग्रामीण। आर्य मिट्टी, बाँस और फूस के झोपड़ों में रहते थे और सैन्धव नगर की आलीशान इमारतों में

[1] ऋग्वेद १, १६४, ४६।

जहाँ के दोमंजिले पकाई ईंट के मकानों में स्नानागार और कुएँ होते थे। सैन्धवों के नगर में कृत्रिम पानी से भरे और खाली कर दिये जानेवाले बड़े-बड़े सार्वजनिक स्नान-सरोवर थे और नगर के गन्दे जल को निकालने के लिए ढके आदमकद नाले थे। ऋग्वैदिक आर्यों द्वारा प्रयुक्त धातुओं में थे सुवर्ण, ताम्र अथवा पीतल और संभवतः लौह। सैन्धवों की सभ्यता ने इस अन्दाज के लिए प्रमाण बहुत तो न छोड़े, परन्तु जो कुछ वहाँ की खुदाइयों में मिला है उससे पता चलता है कि वहाँ के लोगों को लोहे का ज्ञान तो न था, लेकिन वे सोना और अधिकतर चाँदी व्यवहार में लाते थे। उनके बर्तन नव-प्रस्तर-युग के लोगों की भाँति पत्थर के और ताँबे और पीतल के बने होते थे। आर्यों और द्रविड़ों दोनों के अस्त्र-शस्त्र प्रायः समान थे; परन्तु आर्यों के शिरस्त्राण और वर्म शायद द्रविड़-सभ्यता में न थे। कम-से-कम उन हजारों वस्तुओं में जो हमें सैन्धव सभ्यता की खुदाई से उपलब्ध हुई हैं, इनका अवशेष सर्वथा अप्राप्य है। मोहेनजो-देड़ो में वृषभ विशिष्ट था, परन्तु आर्यों में गाय की मुख्यता थी। अश्व, जो सैन्धव द्रविड़ों का अनजाना था, आर्यों का नित्य-सहचर था। ऋग्वेद के देवता प्राकृतिक और उदात्त थे, सैन्धवों के अधिकतर लिङ्गपरक। लेखनकला सैन्धव सभ्यता की जानी हुई थी। वहाँ से हजारों मुद्रांक मिले हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वे लोग लिखना जानते थे। विद्वानों की राय है कि ऋग्वैदिक आर्य लिखना नहीं जानते थे। ऊपर के सांस्कृतिक अंतर से यह भी सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक और सैन्धव संस्कृतियों में बुनियादी भेद थे और दोनों के सर्जन लोग भिन्न-भिन्न जातियाँ थीं—आर्य और द्रविड़।

परिशिष्ट

ऋग्वेद का काल

संसार के साहित्य में शायद ही कोई प्रसंग हो जिसके तिथि-निर्णय के संबंध में इतने विरोधी मत हों जितने ऋग्वेद की तिथि के संबंध में हैं। लगभग २५,००० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक इसका समय आँका गया है। इस गणना में हमने उनके विचार छोड़ दिए हैं, जो ऋग्वेद को अपौरुषेय मानते और उसकी तिथि का विचार ही नहीं उठाते अथवा जो उसकी निर्माण-तिथि को आज से लाखों वर्ष पूर्व रखते हैं। जो लोग यह समय अत्यन्त प्राचीन काल में रखने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें दो-तीन बातें न भूलनी चाहिये। एकतो यह कि अत्यन्त प्राचीन काल में (जैसे लाखों वर्ष अथवा २५,००० ई० पू०) स्वयं मनुष्य और उसकी सभ्यता विकास के किस स्तर पर थी। बहुत संभव तो यह है कि उस सदूर अतीत में मानव-सभ्यता का कोई रूप ही न रहा हो। शायद तब अभी मानवता को उस अग्नि तक का ज्ञान न रहा हो जो ऋग्वेद में देवताओं का पुरोहित है और जो आर्यों के धर्म का आधार रहा है। दूसरे, जो लोग पृथ्वी के स्तर-विज्ञान या चट्टानों की छानबीन से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि आर्यों का निवास पंजाब में था, और पंजाब ही उत्तर-भारत

में एक सूखा स्थल भी था बाकी सारी भूमि जलमग्न थी,[1] वे इस सम्बन्ध में दो गहरी भूलें करते हैं। पहले तो उक्त भूमि की जलमग्न अवस्था ही कल्पनातीत पूर्वकाल में होगी; दूसरे, यदि यह मान भी लें कि यह प्रदेश जलमग्न था, तो गंगा, यमुना और सरयू-सी पूर्ववर्ती नदियों का उल्लेख ऋग्वेद में क्योंकर हो सका? फिर ऋग्वेद को भाषा की दृष्टि से भी हम अत्यन्त दूर अथवा अत्यन्त निकट काल में नहीं रख सकते। २५,००० ई० पू० तो पता नहीं, मनुष्य बोलता भी था या नहीं। फिर इतनी दूर और आज की भाषाओं में जो अन्तर होना चाहिए, वह ऋग्वेद और पश्चात्कालीन उपनिषद् अथवा काव्य की भाषाओं में नहीं मिलता। इस विकास का एक अद्भुत सिलसला हमें उपलब्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ सहस्राब्दियों के अन्तर पर बहुत अप्रगतिशील भाषा तक में प्रचुर अन्तर पड़ जाता है। यही कारण है कि संस्कृत और प्राकृतों में लगभग एक सहस्र वर्षों में इतना अन्तर पड़ गया है कि फलतः भारतवर्ष में प्रादेशिक भाषाओं का जन्म हुआ। इसका अर्थ यह है कि केवल हिन्दी आदिप्रान्तीय भाषाएँ जाननेवाला संस्कृत नहीं समझ सकता। यह केवल डेढ़ हजार की भाषा-प्रगति का प्रभाव है। फिर यदि ऋग्वेद की भाषा लगभग २५,००० ई० पू० की मानें तो ब्राह्मणों, उपनिषदों और काव्यों की भाषा तक पहुँचने पर उसका रूप इतना बदल जाना चाहिए था कि मनुष्य की वह कल्पना में भी न आ सके। फिर ऋग्वेद के कालाङ्कण में उसके इस भाषा-संबंधी पेंच पर विचार करते समय अनेक अभारतीय आर्य भाषाओं पर भी विचार करना पड़ेगा। ग्रीक, रोमन और त्यूतन भाषाएँ आर्य भाषाएँ हैं और इनके बोलनेवालों के पूर्वज प्राचीन आर्यों के मूल स्थान से अभि-निष्क्रमण कर अन्यत्र जा बसे थे। इनकी अपनी प्राचीन प्रादेशिक भाषाओं का आरंभकाल और कुछ के सम्बन्ध में तो उनके मूल स्थान के विच्छेद की तिथि भी प्रायः अनुमानतः ज्ञात है। यदि ऋग्वेद का समय २५,००० ई० पू० के लगभग रखें तो उनका मूल स्थान से विच्छेद-काल प्रायः ३०००० के आस-पास रखना होगा; क्योंकि ऋग्वेद का निर्माण चूँकि भारतवर्ष में हुआ, उसके निर्माण-काल के पूर्व ही ये अन्य यूरोपीय आर्य अपने प्रदेशों में जा बसे थे। परन्तु अन्य आँकड़ों से प्राप्त उनके स्वदेश में जा बसने की तिथि इतनी पास है—लगभग १२०० ई० पू० से २००० ई० पू० तक—कि वह हमारी गणना में एक महान् असंगति और संकट उपस्थित कर देगी। उदाहरणार्थ हम ग्रीक आर्यों को ले लें। ये लोग ग्रीस में लगभग १५०० ई० पू० अथवा अत्यन्त ढीले आँकड़ों के अनुसार २००० ई० पू० के आस-पास बसे। अब यदि इनका सम्बन्ध उसके पूर्व भारतीय आर्यों से था और भारत से ही ये लोग बाहर गए तो उस दशा में उनकी प्राचीन ग्रीक भाषा अथवा होमर की भाषा ऋग्वेद और उपनिषदादि की भाषाओं के बीच की एक मंजिल होनी चाहिए। और उस दशा में ऋग्वेद और ईलियद की भाषाओं में उपनिषदों की भाषाओं से अधिक समानता होनी चाहिए जो नहीं है। केवल ग्रीक पढ़ा हुआ व्यक्ति ऋग्वेद का एक शब्द नहीं समझ सकता और न संस्कृत पढ़ा हुआ ग्रीक ही समझ सकता है, परन्तु उपनिषत् की भाषा जाननेवाले के संबंध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद और उपनिषदों की भाषाओं में केवल पूर्व और पश्चात्कालीनता का

---

१. अविनाशचन्द्र दास : Rigvedic India-

अन्तर है, धातु-शब्दादि प्रायः दोनों में समान हैं। एक बात और। यदि थोड़ी देर के लिए ऋग्वेद का काल लगभग २५,००० ई० पू० मान भी लें तो एक और जटिल समस्या खड़ी हो जाती है। पुराणों में राजवंशों की तालिकाएँ दी हुई हैं। इनके राजन्य अधिकतर वेदों के समकालीन अथवा उनसे कुछ प्राचीन हैं, और चूँकि पुराणकार इनके प्रदेशों और राज्यों को पूर्वी नदियों के काँठों में रखते हैं, उस दशा में हमें उन्हें जलमग्न प्रदेशों में रखना होगा। फिर इन तालिकाओं में दी हुई पीढ़ियों के जीवन-जोड़ (१६ वर्षों से २० वर्षों तक) से भी कुल प्राचीनता ३००० ई० पू० के समीप ही शेष हो जायगी। एक दिक्कत और यह है कि मध्य-पूर्व एशिया में बसनेवाली असुर-सुमेर प्रदेशों और सिन्धुकाँठे की प्राचीन द्रविड़ सभ्यता की खुदाइयों के आश्चर्यजनक आँकड़ों का समावेश इस सिद्धान्त में बिलकुल ही नहीं है। और ये आँकड़े युक्ति का एक नया ही संसार खड़ा करते हैं। यथास्थान हम उनपर विचार करेंगे।

ज्योतिष-सम्बन्धी भी एक विचार है जिसके प्रवर्त्तक बालगंगाधर तिलक और जैकोबी हैं। इनमें से पहले महोदय ने ऋग्वेद का काल लगभग ४५०० वर्ष ई० पू० और दूसरे ने लगभग ६००० ई० पू० रखा है। पर दोनों विद्वानोंकी सम्मतियों में एक बुनियादी कमजोरी है। वह यह कि ऋग्वेद के जिन मंत्रों पर यह ज्योतिष-सम्बन्धी गणना की गयी है उनका अर्थ सन्दिग्ध है। ज्योतिष की गणना गणित पर अवलम्बित होती है। इसलिए जिन आँकड़ों पर गणना की जाय, उन्हें स्वयं शिला की भाँति अचल और दिन की भाँति सत्य होना चाहिए। यहाँ इन मंत्रों के भाव अत्यन्त सन्दिग्ध और फलतः द्व्यार्थक हो गये हैं। अतः यह गणना कल्पनात्मिका सिद्ध होगी।

२०० ई० पू० वाले मत पर तो विचार करना ही व्यर्थ है; क्योंकि छठी शती ई० पू० होनेवाले बुद्ध आदि ऋग्वेद और उसके बाद के भी वैदिक साहित्य की प्राचीनता स्वीकार करते हैं। उस समय तक तो काव्य साहित्य तक के अनेक रत्न प्रस्तुत किए जा चुके थे। तब तक सिकन्दर का आक्रमण हो चुका था। मौर्य-साम्राज्य की नींव डाली जा चुकी थी, बल्कि उसकी गति भी अब तक अधोमुखी हो चली थी।

अब रह गया मैक्समूलर का मत जो ऋग्वेद का समय लगभल १२००--१००० ई० पू० में रखता है। परन्तु इस निर्णय पर पहुँचने के लिए जिस साहित्यिक क्रम का उन्होंने सहारा लिया है, वह काल-क्रम और भाषा-विकास दोनों दृष्टिकोण से दुर्बल पड़ जाता है।

विन्तरनित्स ने ऋग्वैदिक साहित्य का प्रारम्भ २५०० ई० पू० के लगभग माना है। यह तिथि सत्य के निकटतम प्रतीत होती है, केवल यह उससे कुछ नीची है। यदि विन्तरनित्स के 'भारतीय भाषाओं का इतिहास' का दूसरा संस्करण डाक्टर बूलो द्वारा मध्य-पूर्व एशिया की खुदाई के बाद निकलता तो संभव था कि वह विद्वान् इस समय को उससे भी पूर्व ३००० ई० पू० के लगभग रखता। यह ३००० ई० पू० का समय हो यथार्थतः ऋग्वेद के प्रारम्भिक मंत्रों का निर्माणकाल जान पड़ता है और उसे मानने में प्रस्तुत मतों के विरुद्ध किसी प्रकार की अड़चन नहीं पड़ती। जिन प्रमाणों के आधा पर यह तिथि यहाँ निश्चित की गयी है; वे नीचे

दिए जाते हैं। इनमें से कई नए हैं जिनका संबंध मध्य-पूर्व एशिया की पुरातत्त्व-संबंधी खुदाई और एशियमाइनर के बोगजकोई नामक स्थान से प्राप्त लेखों से है।

(१) ह्यूगो विंक्लर ने सन् १९०७ ई० में एशियामाइनर के बोगजकोई नामक स्थान में खत्ती राज-संबंधी कुछ ईंटें खोज निकालीं। इनपर चौदहवीं शती ई० पू० के आरम्भ में खुदे लेखों में खत्ती और मितनी[1] जातियों के संघर्ष के फलस्वरूप जो सन्धि हुई, उसका हवाला दिया गया है और उस सन्धि के साक्षी-स्वरूप कुछ देवताओं—मित्र, वरुण, इन्द्र, नासत्यौ (अश्विनीकुमार)—के नाम आए हैं। ये नाम वहाँ कैसे पहुँचे, इसमें मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों (मेयर और गाइल्स) का मत है कि ये भारतीय आर्यों के पूर्वकालिक ईरानी आर्यों के देवता हैं। परन्तु यह संभव नहीं, क्योंकि 'ज़ेन्दावेस्ता' में जिस रूप में इन देवताओं के नाम उल्लिखित मिलते हैं, ये वैसे न होकर ठीक ऋग्वैदिक नामों के अक्षरशः अनुकूल हैं। ऋग्वेद के पाठ को शुद्ध रखने के लिए जिन आठ तरह के—पद, घन, जटा आदि पाठों की व्यवस्था की गयी है, उन्हीं में से एक के अनुरूप बोगजकोई के इन देवताओं के नाम हैं, जैसे 'मि-इत्-त्र, व-अर्-रू-उण', आदि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन देवताओं का ज्ञान खत्ती और मितनी जातियों को आर्यों के पूर्वाभिमुख प्रसार के समय नहीं, वरन् तब हुआ जब पंजाब में ऋग्वेद के मन्त्रों का निर्माण हो चुका था और इस संबंध में विद्वान् प्रायः एक मत हैं कि ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र भारतवर्ष में ही बने। अतः यह सीधा निष्कर्ष है कि ऋग्वैदिक आर्य भारतवर्ष में बहुत काल तक बस चुके थे, तब उनकी एक (अथवा अधिक) शाखा उत्तर-पश्चिम की ओर निकल गयी और उसने विजातियों के बीच अपने देवताओं की पूजा प्रचलित की। यहाँ यह विचार कर लेना युक्तिसंगत है कि यह समय कब रहा होगा। उपनिवेश-निर्माण के हेतु भारतीय आर्यों का निष्क्रमण इतिहास में अत्यन्त बाद का है—शायद गुप्तकाल के आसपास, जब हिन्द महासागर के द्वीप-समूह भारत के उपनिवेश बने। उससे पूर्व ईसा से पूर्व की शताब्दियों में केवल एक उदाहरण—कुमार विजय द्वारा सिंहल का—मिलता है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन काल में केवल दो अवसर ऐसे उपलब्ध हैं जब इस प्रकार के प्रयास किए गए होंगे। इनमें से एक तो ऋग्वेद में वर्णित 'दाशराज्ञ' युद्ध से सम्बद्ध है। पुराणों का कथन है कि इस युद्ध के बाद द्रुह्यु उत्तर की ओर चले गये और वहाँ जाकर वे 'म्लेच्छों पर राज करने लगे। फिर महाभारत के समय में भी भारतीय आर्यों की शक्ति अतुलनीय हो गयी थी जब उनके चरणों में प्रायः सारा भारत लोटता था और उनसे मैत्री करने के लिए दूर-दूर के राजा उत्सुक रहते थे। इसका विवरण महाभारत में बड़े विस्तार से मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय भीमार्जुन आदि ने भारतेतर देशों की विजय की थी और उत्तर में अपने उपनिवेश बसाये थे। महाभारत की तिथि,

---

[1] खत्ती और मितनी दोनों आर्य थे। बोग़ज़कोई लेख के समकालीन तेल-एल-अमरना के लेखों में मितनी राजाओं के संस्कृत नाम मिले हैं। उनमें से कुछ हैं अर्त्तमम (आर्त्ततम), तुस्रत्त (दशरथ) आदि। बाबुल के खत्ती राजाओं में से कुछ के नाम हैं—सुरियस, (सूर्य), मर्यतस (मरुत)।

जो सबसे वैज्ञानिक कही जा सकती है और जिसका निश्चय हम महाभारत के प्रसंग में करेंगे, १४५० ई० पू० के लगभग है। इस समय हम कार्यवशात् इस तिथि को मान लेते हैं। अब यदि महाभारत-युद्ध १४५० ई० पू० के लगभग हुआ, तो उससे कुछ ही पूर्व एशिया-माइनर के आसपासवाले ये आर्य-उपनिवेश बने होंगे। बोगजकोई के लेख इसके कुछ ही बाद के हैं। इससे यह भी कहा जा सकता है कि आर्यों की कोई और शाखा इससे भी पूर्व वहाँ गयी। इससे यह प्रमाणित हो जायगा कि यदि १४५० ई० पू० से ही पहले आर्यों की यह शाखा वहाँ जा पहुँची (यह शाखा संभवतः उन्हीं द्रुह्युओं की रही होगी जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं) तो अवश्य आर्यों के भारत में बाहर से आकर सर्वप्रथम बसने और फिर बाहर लौटकर उपनिवेश बनाने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लगी होंगी। इस प्रमाण से ऋग्वेद के मन्त्रों के निर्माण का प्रारम्भ लगभग ३००० ई० पू० के ठहरता है।

(२) पुराणों में जिन राजवंशों की तालिका दी हुई है, उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि उनके कितने ही नाम वैदिक साहित्य के ब्राह्मणों, उपनिषदों और वेदों तक में मिल जाते हैं। फिर पश्चात्कालीन राजन्यकुलों के ऊपरी छोर तो कहीं न कहीं जा ही मिलेंगे। यदि पिता-पुत्र के क्रम से कुलों का विकसित होना निश्चित है और जब बाद के मौर्यादि वंशों के संबंध में पुराण सही माने गये हैं तब भारत-युद्ध के पूर्व के राजकुलों के संबंध में सही क्यों न होंगे, विशेषकर जब ये पुराण अत्यन्त प्राचीन अनुश्रुतियों से ग्रथित एक 'मूल' पुराण (वेद की संहिताओं के आनुश्रुतिक निर्माता महाभारतकालीन कृष्ण द्वैपायन व्यास रचित 'पुराण संहिता'—'पुराण-वेद'—'इतिहास-वेद') के आधार पर बने हैं और जब इतिहास-पुराण का अस्तित्व न केवल ब्राह्मण-उपनिषदों में वरन् स्वयं 'अथर्ववेद' तक में निर्दिष्ट है ? फिर इतनी लम्बी तालिकाएँ मनगढन्त कैसे हो सकती हैं, जब उन श्रृङ्खलाओं की अनेक कड़ियाँ (राजा) उपनिषदों और ब्राह्मणों में आए उपाख्यान-नायकों के जीवन से मिल जाती हैं ? यह भी न भूलना चाहिए कि इन प्राचीन राजाओं के नाम वैदिक संस्कृत में हैं, जो बाद के नामों से पूर्वतया भिन्न हैं—ध्वनि और पदनिर्माण दोनों में। यही कारण है कि जब-जब आधुनिक हिन्दू राजाओं ने अपना कुल प्राचीन सिद्ध करने के लिए वैदिक समयानुवर्ती अपने पूर्वज गढ़े हैं, तब-तब उनका प्रयास हास्यास्पद हो उठा है; क्योंकि ये नाम साधारण संस्कृतमात्र के रह सके, वैदिक संस्कृत के नहीं। यहाँ पर तात्पर्य पुराणों में दिए राज-वंश-वृक्षों के उन भागों से है, जो महाभारत-युद्ध (अर्थात्, १४५० ई० पू०) से पूर्वकाल के हैं। उनकी पीढ़ियाँ मिलाने पर हम इस काल से लगभग पन्द्रह-सोलह सौ वर्ष पूर्व पहुँच जाते हैं। प्रायः यही अनुपात ब्राह्मणों और उपनिषदों में आयी गुरुपरम्परा की पीढ़ियों को जोड़ने से भी प्राप्त होता है। ये पीढ़ियाँ लगभग ५०-६० की हैं और यदि प्रत्येक पीढ़ी का काल पचीस वर्ष (जो यद्यपि अधिक है) मानें, तो उनका कुल जोड़ (६० × २५ = १५००) पन्द्रह शताब्दियों तक जा पहुँचेगा। ये कुल महाभारत-पूर्व के हैं; इसलिए ऋग्वेद का समय फिर ३००० ई० पू० के लगभग जा पहुँचा।

(३) ऋग्वेद कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा संहिता के रूप में संग्रहीत हुआ, व्यास महाभारतकालीन व्यक्ति थे। यदि उनके संकलन का समय १४५० ई० पू० के लगभग माना

जाय, तो ऋग्वेद के अन्तिम मन्त्रों की रचना का समय उससे पूर्व ही रखना होगा। अन्तिम मन्त्रों से तात्पर्य उन मन्त्रों से है जिनमें महाभारत-युद्ध से कुछ ही पूर्व होनेवाले देवापि और शन्तनु-सरीखे व्यक्तियों के नाम भी आए हैं। इस प्रकार इस बृहत् संहिता के प्राचीनतम स्तर आसानी से लगभग १५०० वर्ष पूर्व रखे जा सकते हैं और तब उनका आरंभ ३००० ई० पूर्व के लगभग रखना होगा।

(४) प्रायः सभी विद्वान् इस बात को मानते हैं कि आर्यों द्वारा दक्षिण भारत की विजय ७०० ई० पू० के लगभग ही हो गयी होगी, क्योंकि बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र दक्षिण में ही बने और उनका समय उस काल के कुछ ही बाद माना जाता है। परन्तु वास्तव में दक्षिण-विजय का समय और पूर्व रखना होगा। जिन विद्वानों ने ७०० ई० पू० के लगभग यह विजय मानी है, उन्होंने साहित्य के प्रमाण पर ध्यान नहीं दिया है। यथार्थ में उन्हें इस संबंध में महाभारत-पूर्व के पौराणिक राजवंश-वृक्ष का ऐतरेय ब्राह्मण आदि के अनुवृत्त से मिलान करके मत स्थिर करना चाहिए था। यह विचार कि ब्राह्मण-काल में आर्य कुरु-पंचाल जनपद से आगे पूर्व की ओर नहीं बढ़ सके थे, अत्यंत भ्रमपूर्ण है और उसे अब छोड़ देना चाहिए। कुरु-पंचाल जनपद निस्सन्देह वैदिक संस्कृति का केन्द्र था। परन्तु इससे यह किसी प्रकार नहीं सिद्ध होता कि आर्य इस काल में बहुत पूर्व नहीं बढ़ सके थे। सांस्कृतिक केन्द्र विद्वानों को बहुधा धोखे में डालते हैं। वास्तव में कुरु-पंचाल में सरस्वती और दृषद्वती, गंगा और यमुना-सी पवित्र नदियों के बहने के कारण वह जनपद आर्यों के अवध, मध्यभारत और उत्तर-दक्षिण-भारत की विजय के कई शताब्दियों बाद तक वैदिक संस्कृति का केन्द्र बना रहा। यथार्थतः इस दक्षिण-विजय का समय दो सहस्र ई० पू० के आस-पास रखना होगा, क्योंकि, जैसा ऋग्वेद के स्तरों से ही ज्ञात है, यदि इतने लम्बे काल में आर्य केवल अफगानिस्तान और पंजाब के ही कुछ भागों तक बढ़ सके तो अवश्य दक्षिण तक पहुँचने और बीच के १,२३,००० वर्गमील भूखण्ड जीतने में लगभग पन्द्रह शताब्दियाँ लग ही गयी होंगी, विशेषकर जब प्रत्येक इंच भूमि के लिए उन्हें द्रविड़ों से लोहा लेना पड़ा था और जब वे स्वयं परस्पर भी लड़ रहे थे। इस कारण आसानी से दक्षिण-विजय का समय लगभग २००० ई० पू० के रखा जा सकता है। एक प्रमाण और लें। पुराणों का महाभारत-पूर्व राजवंशक्रम मिलाने से पता चलता है कि आर्यों का परस्पर संघर्ष, जिसमें सरयू के तट पर राजा चित्ररथ ने अपने प्राण खोये, लगभग २००० ई० पू० के हुआ। चित्ररथ के पिता ने गया के विष्णुपद और (संयुक्त प्रान्त के) बाँदा जिले के कालिंजर की पहाड़ियों पर इन्द्र के लिए यज्ञ किया था। इससे यह प्रमाणित है कि आर्य राजाओं ने २००० ई० पू० से पहले ही पूर्वी संयुक्त प्रान्त, अवध और बिहार को जीत लिया होगा। जबलपुर के चतुर्दिक् का चेदि जनपद यादव-वंशानुक्रम के अनुसार लगभग दस पीढ़ी (यथार्थतः राज्यकाल) बाद जीता गया। इस प्रकार इस घटना का काल लगभग २१५० ई० पू० होगा। चैद्य वंश के राजा कशु की प्रशस्ति ऋग्वेद के आठवें मण्डल में गायी गयी है। पौराणिक ख्यातों के अनुसार यह चेदि जनपद पहले-पहल यादव-वंश की एक कनिष्ठ शाखा में होनेवाले राजा चिदि द्वारा महाभारत-युद्ध से पचास पीढ़ी अर्थात् लगभग

७५० वर्ष पूर्व जीता गया। अतः यह घटना लगभग २१५० ई० पू० में घटी। इस प्रकार आर्यों का भारत-प्रवेश ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

काशी-राजवंश के अध्ययन से जान पड़ता है कि आर्यों के शासन में काशी प्रायः २६०० ई० पू० के आसपास ही आ चुकी थी। पौराणिक और पश्चात्कालीन वैदिक साहित्य के अनुवृत्त से जान पड़ता है कि राजा दिवोदास के राज्य-काल के बाद ही क्षेमक नामक दैत्य ने काशी को उजाड़ डाला था। इससे यह सिद्ध है कि काशी कुछ समय के लिए आर्यों के हाथ से निकल गई थी। ऐतरेय ब्राह्मण से विदित होता है कि विदर्भ (बरार) देश का राजा भीम राजा सहदेव का समकालीन था। सहदेव दाशराज्ञ-युद्ध से चार पीढ़ी बाद अर्थात् लगभग १८५० ई० पू० में विद्यमान था। इस प्रकार उत्तरी दक्षिण की विजय राजा भीम से पूर्व ही हो चुकी होगी। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार यह घटना लगभग पचीस पीढ़ी पूर्व प्रायः बाईसवीं शती ई० पू० में घटी। अतः जब वैदिक और पौराणिक अनुश्रुतियों के सम्मिलित प्रमाणानुसार विदर्भ की विजय लगभग बाईसवीं शती ई० पू० में ही हो गयी, तब ऋग्वेद का प्रारंभिक काल ३००० ई० पू० के आस-पास तो रखना ही होगा।

(५) ऋग्वेद की तिथि निश्चित करने में एक और प्रमाण सहायक है, वह है संस्कृत साहित्य का क्रमिक विकास। इस प्रमाण का सर्व-प्रथम मैक्समूलर ने प्रयोग किया; परन्तु उनकी गणना में जो साहित्य-स्तर बाँटे गए, उनका काल-प्रसार अत्यन्त अल्प रखा गया। इस गणना की संकीर्णता का प्रतिवाद ह्विट्नी और विन्तरनित्स आदि ने बलपूर्वक किया है। परन्तु मैक्समूलर की सूझ को ही आधार बनाते हुए और उसकी संकीर्णता से बचते हुए हम ऋग्वेद का काल-निर्णय वैज्ञानिक रीति से कर सकते हैं। यह युक्ति इस प्रकार है—बौद्धों और जैनों ने न केवल उपनिषदों तक के वैदिक साहित्य का, वरन् वेदाङ्गों तक का निर्देश किया है। बुद्ध और महावीर छठी शती ई० पू० के हैं और जैनों के तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तो उनसे पहले संभवतः सातवीं शती ई० पू० के। इस प्रकार सातवीं शती ई० पूर्व तक सारा वैदिक साहित्य प्रस्तुत किया जा चुका था और इस बात का प्रमाण मिलता है कि इनसे भी पूर्व कुछ ऐसे ही वेद-विरोधी धर्म-प्रवर्त्तक थे जिन्होंने वैदिक विश्वास और उस धर्म का विरोध किया था। लगभग इसी समय यास्क ने ऋग्वेद की लुप्त परंपरा से खोए वेदार्थ के पुनरुद्धार के लिए प्राचीन निघंटुओं के आधार पर अपने 'निरुक्त', 'निघण्टु' रचे। यास्क के समय या उसके भी काफी पहले वेद मंत्रों का अर्थ दुरूह हो चुका था, जिससे उसके निरुक्त की आवश्यकता पड़ी और प्राचीन निघण्टुकारों में से एक, जिनको यास्क उद्धृत करते हैं, कहता है कि वेद निरर्थक हैं। इस प्रकार यास्क से पूर्व ही वेदों की अर्थ-परम्परा विलुप्त हो चुकी थी। ओल्डेनबर्ग ने यथार्थ प्रमाणित कर दिया है कि प्राथमिक उपनिषदों और प्राथमिक बौद्ध साहित्य में कितनी शताब्दियों का अन्तर पड़ा होगा। उपनिषत्काल को सर राधाकृष्णन ने लगभग ११०० ई० पू० और प्रोफेसर रानाडे ने लगभग १२०० ई० पू० रखा है। औपनिषदिक विचारों का यह क्रियात्मक काल १२०० ई० पू० और ६०० ई० पू० के बीच रखना होगा। ब्राह्मणों में भी गुरुओं की अनेक पीढ़ियाँ दी हुई हैं। ये ब्राह्मण कुछ तो यज्ञ-क्रियाओं के रूप स्थिर करने और कुछ अंश में ऋग्वेद के प्राचीन मन्त्रों की व्याख्या के निमित्त रखे गए। अतः

१५०० ई० पू० के पहले ऋग्वेद के प्राचीन स्तर निर्मित हो चुके थे जिनकी व्याख्या के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी। निश्चय तब उन मन्त्रों के भावलोप में कुछ शताब्दियाँ बीती होंगी और ऋग्वेद के प्राचीन स्तरों और ब्राह्मण, ग्रन्थों के निर्माण (प्रायः १६०० ई० पू०) में सदियों का अन्तर पड़ा होगा। फिर ब्राह्मणों के पूर्व अथर्ववेद का संकलन और निर्माण हो चुका होगा, क्योंकि इसके संहिताकार भी महर्षि व्यास ही हैं। यदि अथर्ववेद के प्राचीन स्तरों का निर्माण-काल प्राथमिक ब्राह्मण-काल से केवल चार सौ वर्ष ही पूर्व मानें तो हम अथर्ववेद के प्राचीन भागों को लगभग २००० ई० पू० में रख सकते हैं। हम यहाँ अथर्ववेद के उन मन्त्रों को छोड़ देते हैं, जो ऋग्वेद से उसमें लिए हुए हैं। इस बात को न भूलना चाहिए कि अथर्ववेद की गणना बहुत काल तक वेदों में न थी और तब उनकी संख्या केवल तीन थी जिस कारण वे 'त्रयी' कहलाए। अतएव अथर्ववेद और 'त्रयी' के कालों में इतने का अन्तर होना चाहिए जितने में त्रयी की संज्ञा भुलाकर अथर्ववेद को भी वेदों की संख्या में गिन लिया गया हो। इस रूप में ऋग्वेद के प्राचीनतम स्तरों को ३००० ई० पू० के लगभग रखना कुछ अनुचित न होगा।

(६) भाषासम्बन्धी सिद्धान्त का निरूपण हम ऊपर कर आए हैं। यहाँ बस इतना कह देना पर्याप्त होगा कि भाषा और साहित्य का जो क्रम-संबंधी एक ओर ईरानी-आर्यों की धर्म-पुस्तक 'ज़ेन्दावेस्ता' और ऋग्वेद में और दूसरी ओर ऋग्वेद और ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, वेदाङ्ग, सूत्र और इतिहास पुराण आदि भारतीय संस्कृति में हैं, उसको देखते हुए हम ऋग्वेद का समय न तो कल्पनातीत पूर्व और न सन्निकट पश्चात्काल में ही रख सकते हैं। अतः उसे बीच में ही, ३००० ई० पू० से उतरते हुए, कहीं रखना होगा।

(७) ऋग्वेद कविविशेषकृत ग्रन्थ नहीं; संकलित 'संहिता' है और इस संहिता की अनुक्रमणियों में सूक्तों के द्रष्टा ऋषियों के नाम दिए हुए हैं। ये ऋषि मानवदेहधारी पुरुष और नारी थे। उनकी वंशानुक्रमिक बृहत्संख्या एक लंबे काल-प्रसार को निर्दिष्ट करती है। ये ऋषि बहुधा विशिष्ट ऋषिकुलों के थे जिनका पारस्परिक संबन्ध प्रायः पिता-पुत्र का था। इसी कारण ब्राह्मणों और उपनिषदों की गुरुपरम्परा की तालिकाएँ उनका यह संबन्ध घोषित करती है। ये तालिकाएँ पुराणों में दिए महाभारत-पूर्व के राजकुलों से प्रायः संबन्ध रखती हैं। ब्राह्मणों और उपनिषदों के कितने ही गुरु इन पौराणिक राजकुलों के भी गुरु हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के स्तर भिन्न-भिन्न समय में निर्मित हुए हैं। उनके प्रति हम आरंभ में संकेत कर आए हैं। ये स्तर इतनी बड़ी संहिता में लगभग पन्द्रह शताब्दियों में बने होंगे और चूँकि इस संहिता का सम्पादन १४५० ई० पू० के लगभग व्यास ने किया, ऋग्वेद के स्तरों का निर्माण तब तक समाप्त हो चुका होगा। उसके अन्तिम मन्त्रों की रचना १४५० ई० पू० के लगभग ही समाप्त हुई होगी; क्योंकि एक मन्त्र में कौरव-पण्डवों के निकट पूर्वज राजा शन्तनु और उसके ऋत्विज् बन्धु देवापि का उल्लेख हुआ है। अतः यदि ऋग्वेद के प्रारंभिक मन्त्रों का रचनाकाल पन्द्रह शती पूर्व लगभग ३००० ई० पू० रखें तो अयुक्तियुक्त न होगा।

(८) अन्तिम और काफी सशक्त प्रमाण इस संबंध में वह सामग्री है जो सिन्धु के

मोहिनजो-देड़ो और पंजाब के हड़प्पा तथा मध्यपूर्व एशिया की पुरातत्व-संबंधी खुदाई से प्राप्त हुई है। आर्यों के भारत में आने और ऋग्वेद की रचना के समय पर उस खोज का महान् प्रभाव पड़ सकता है। हम उसपर नीचे विचार करते हैं—

विद्वान् प्रायः इस बात में सहमत हैं कि सिन्धु-काँठे की सभ्यता द्राविड़ थी। इस निर्णय में सबसे बड़ा सबूत यह है कि मोहेनजो-देड़ो की सहस्रों मुहरों और अन्य स्मारक अवशेषों में एक भी 'अश्व' से संबंध रखनेवाला नहीं है। स्वयं गैंडे के चित्र को उत्कीर्ण करनेवाले लगभग तीन सौ मुद्रांक उपलब्ध हुए हैं और वृषभ को उत्कीर्ण करनेवाले भी अनेक हैं। यदि यह सभ्यता आर्यों की होती तो उनके सतत अनुचर, दुःख-सुख और यज्ञों के साथी घोड़े का उसमें न होना असम्भव था। फिर जो मानव-आकृतियाँ, मिट्टी या प्रस्तरमिश्रित मिलती हैं, वे स्पष्टतः अनार्य हैं। इस सभ्यता का प्रसार-काल लगभग ३२५० ई० पू० और २७५० ई०पू० के बीच रखा गया है। यह सभ्यता कैसे नष्ट हो गयी? सिन्धु-घाटी की सभ्यता-संबंधी अपने ग्रन्थ में सर जान मार्शल ने मोहेनजो-देड़ो के घरों की कुछ तस्वीरें दी हैं। इनके निचले कमरों में से कइयों में मनुष्यों के अस्थिपञ्जर, कटे हाथ-पाँव, मस्तक आदि बिखरे हैं। अवश्य यह कथा किसी मानव-आक्रमण का उपसंहार है। पैने शस्त्रों से ही वे जीवन-काल में काटे गए हैं। संभवतः आक्रमण से बचने के लिए वे भागे थे। परन्तु आक्रमणकारियों ने उन्हें ढूँढ़ कर मार डाला। ये आक्रमणकारी कौन थे? हमने अनेक साधनों द्वारा जो ऋग्वेद का निर्माण-काल और आर्यों का प्रवेश-काल स्थिर किया है, वह ३००० ई० पू० के लगभग है। फिर संभवतः वे आर्य ही थे जिन्होंने ३००० ई० पू० के समीप भारत में प्रवेश कर दो-तीन सौ वर्षों तक निरन्तर लड़ाई के बाद २७०० ई० पू० के लगभग द्रविड़ों की यह अद्भुत नागरिक सभ्यता नष्ट कर दी। ऋग्वेद से विदित होता है कि आर्यों को उन अनार्यों से लड़ना पड़ा था जो कृष्णकाय, 'अनासः', 'दास' और 'दास्यु' थे। इनके सेनापति दस और शूर थे। भारत में द्रविड़ों के अतिरिक्त ये और कौन हो सकते थे? उन द्रविड़ों का निवास-स्थान पंजाब और सिन्धु का काँठा था जिन्हें आर्यों को अपने निवास के लिए जीतना पड़ा। इन दुर्द्धर्ष सामरिकों पर विजय पाने और इनके विशाल दुर्गों को तोड़ने के लिए आर्यों को ऋग्वेद में अपने वीर देवता इन्द्र से अहर्निश प्रार्थना करनी पड़ी। आर्यों ने द्रविड़ों का और इन्द्र ने उनके लौह-दुर्गों का अपने वज्र से ध्वंस किया। मिट्टी के बने मकानों में रहनेवाले आर्यों को मोहेनजो-देड़ो आदि के पकाई ईंटों के घर अवश्य लोहे के-से लगे होंगे। अतः आर्यों ने ही द्रविड़ों की यह सभ्यता नष्ट की; क्योंकि आर्यों के भारत-प्रवेश और मोहेनजो-देड़ो-सभ्यता के अन्त के छोर प्रायः मिले हुए हैं। एक बात और है। जिन कमरों का ऊपर निर्देश किया गया है, उन्हीं में से एक में (ऐसा सर जान मार्शल द्वारा प्रस्तुत चित्रों में से एक से जान पड़ता है) छोटे अस्थि-पञ्जरों के बीच एक विशालकाय अस्थि-पञ्जर भी पड़ा है, जो संभवतः किसी आर्य का है। द्रविड़ों से लड़ता हुआ शायद वह आर्य वहीं मारा गया होगा। चित्र में एक आधुनिक पंजाबी कुली भी दिखाया गया है। यह अस्थि-पञ्जर उस जीवित कुली से भी बड़ा है।

सुमेर (उर प्रदेश) की वह सभ्यता, जिसके अवशेष दक्षिण ईरान में मिले हैं,

द्रविड़ सभ्यता से बहुत मिलते हैं। उस सभ्यता ने बहुत कुछ मोहेनजो-देड़ो की सभ्यता से पाया था—ऐसा सभी विद्वान् मानते हैं। कुछ विद्वानों ने सुमेरवालों को भी द्रविड़ इसी कारण कहा है। संभव है, यह निर्णय सही न हो। परन्तु कम-से-कम इतना निस्सन्देह सत्य है कि सुमेरवाले आर्य न थे और वे अपने उत्तर-पश्चिम के महा पराक्रमी असुरों के शत्रु थे। सुमेर-सभ्यता से असुरों का संघर्ष करीब तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में आरंभ हुआ और धीरे-धीरे असुरों ने उस सभ्यता का भी नाश कर उसपर अपना साम्राज्य खड़ा किया। यह कुछ कम कुतूहलजनक बात नहीं है कि लगभग इसी समय आर्यों ने सुमेर सभ्यता से संबंध रखनेवाली मोहेनजो-देड़ो की द्राविड़ सभ्यता की कमर तोड़ दी। क्या आर्यों और द्रविड़ों में वही संबंध था, जो सुमेर और असुर सभ्यतावालों में था—अर्थात् विजित और विजेता का? संभवतः ऋग्वेद के प्राचीनतम मंत्रों में प्रायः ग्यारह स्थलों में असुरों का अविरोधी वर्णन है। असुर पराक्रम के प्रतीक समझे गए थे; इसी कारण असुर शब्द वरुण और इन्द्र का विशेषण बना। संभव है, यह पराक्रम असुरों द्वारा सुमेर सभ्यता के विनष्ट होने पर उन्हें प्राप्त हुआ हो। फिर जब उन्हीं असुरों से आर्यों का संघर्ष प्रारंभ हुआ तब आर्यों ने अपने ऋग्वेद के बाद के मन्त्रों में उन्हें विरोधी रूप में दर्शा कर राक्षस कहा। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि प्राचीन असुरों से आर्यों का बहुत दिनों तक संघर्ष चलता रहा जिससे दोनों टूट गये। असुरों से लड़नेवाले मध्य एशिया के आर्य पन्द्रवीं शतीई० पू० के हत्ती, मितनी आदि थे, जो संभवतः द्रुह्यु राजन्यों के वंशधर थे जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। संभव है, असुर भी बाद में आनेवाले आर्यों के ही एक दल हों और भूमि के लिए उनमें परस्पर समय-समय पर युद्ध होता रहा हो। निष्क्रमण की एक लहर का दूसरी से टकराना स्वाभाविक और सामान्य है। यह बात पौराणिक साहित्य की एक साधारण कथा है कि देव और असुर एक ही पिता के पुत्र थे—कश्यप की सपत्नियों से उत्पन्न। दैत्य दिति से हुए और आदित्य अदिति से। अदिति से आदित्यों का प्रादुर्भाव स्वयं ऋग्वेद घोषित करता है। दैत्य असुर थे और आदित्य देव (आर्य)।

इस प्रकार ऋग्वेद का रचना-काल लगभग ३००० ई० पू० और १४५० ई० पू० के बीच ठहरता है। आर्यों के भारत में बाहर से आने की बात मान ही लेनी पड़ेगी; क्योंकि वीर जाति घोड़ों के रहते हुए चुप नहीं बैठ सकती जब कि पश्चिम से बराबर हमले हो रहे थे और पंजाब से सुमेर तक एक विरोधी सभ्यता सजग थी। चप्पे-चप्पे जमीन के लिए जातियाँ लड़ीं, मरीं और खो गयीं।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. दास : Rigvedic India
२. तिलक : Arctic Home in the Vedas
३. टेलर : The Origin of the Aryans
४. Cambridge History of India
५. त्रिपाठी : History of India
६. दास : Rigvedic Culture
७. उपाध्याय : Women in Rigveda
८. ब्लिस्बोल्ड : Religion of the Rigveda

पाँचवाँ परिच्छेद

उत्तर-वैदिक काल

उत्तर-वैदिक काल का विस्तार ऋग्वैदिक काल के अन्त और बौद्ध तथा जैन धर्मों के आरंभ-काल के बीच है—लगभग १४०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक। इस समय तक प्राचीन उपनिषदों की रचना संभवतः समाप्त हो चुकी थी। इस काल में यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के अतिरिक्ति ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थादि भी निर्मित हुए। ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदों से संबद्ध हैं। उनका प्रयोजन मुख्यतः यज्ञ-क्रियाओं के पद्धति-विधानों से है। इनमें से मुख्य ब्राह्मण हैं—'एतरेय', 'शतपथ', 'पञ्चविंश' और 'गोपथ'। कितने ही स्थल जो वेदों में गुह्य और अस्पष्ट हैं, वे इनमें कथा-रूप में स्पष्ट कर दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त ये ब्राह्मण-वर्ण के निजी ग्रंथ भी हैं, उनके पेशे के कुंजी-ग्रंथ

साहित्य

आरण्यक ब्राह्मणों के ही अन्तिम भाग हैं। इनका ज्ञान वन के एकान्त वातावरण में ही दिया जा सकता था। गुरु और शिष्य दोनों की देने और लेने की एकनिष्ठा और उस ज्ञान का गांभीर्य गहन वन की निर्जनता में ही सार्थक था। 'ऐतरेय', 'कौषीतकी' और 'तैत्तिरीय' आरण्यक इन्हीं नामों के ब्राह्मणों के साथ संबद्ध हैं। ब्राह्मणों ने तो यज्ञपरक कर्मकाण्ड दिए, परन्तु उपनिषदों के द्वारा भारतीय चिन्तन का रूप निखरा। भारतीय अध्यात्म का ठीक प्रारंभ इन्हीं उपनिषदों से होता है। उपनिषदों ने यज्ञों का प्रबल विरोध किया; उसी परम्परा में महावीर और बुद्ध भी जन्मे और पनपे। उपनिषदों के ज्ञान का सार हुआ परमात्मा में व्यक्तिगत आत्मा (जीव) का विलीन होना। जैसे 'ब्राह्मण' ब्राह्मणों के अपने ग्रंथ थे 'उपनिषत्' क्षत्रियों के अपने थे। उनके ज्ञानी अश्वपति, जैवलि, अजातशत्रु, जनक से राजन्य थे। 'छान्दोग्य' और 'बृहदारण्यक' के अतिरिक्त दस उपनिषद् प्रधान हैं। वे हैं—'ऐतरेय', 'कौषीतकी', 'तैत्तिरीय', 'कठ', 'श्वेताश्वतर', ईश', 'केन', 'प्रश्न', 'मुण्डक' और माण्डूक्य'।

ऊपर निर्दिष्ट ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उत्तर-वैदिक काल में आर्य लोगों की सत्ता भारत के सुदूरपूर्व और दक्षिण के प्रदेशों में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। संभवतः सारा देश उनका उपनिवेश-सा हो चुका था। पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ने के कारण वे प्रदेश आर्यों को संभवतः प्रिय हो गए थे और उनके प्राचीन निवेश अब दृष्ट्यतीत होने के कारण अप्रिय। उत्तर-पश्चिमी प्रदेश को अब अपने नए निवास की तुलना में वे अपावन गिनने लगे थे। आर्य संस्कृति का केन्द्र ऋग्वैदिक भूमि से पूर्व की ओर उतरकर कुरुक्षेत्र हो गया था। गंगा-यमुना का अन्तर्वेद (द्वाब) अथवा मध्यदेश अब विशिष्ट था जहाँ आर्यों की नई संस्कृति फूल-फल चली। कोशल (अवध), काशी और विदेह (उत्तर-बिहार) पूर्व के नवीन आर्य-केन्द्र हो गए। दक्षिण के आन्ध्रों, बंगाल के पुंड्रों, उड़ीसा और मध्य प्रांत के शबरों तथा दक्षिण-पश्चिम के पुलिन्दों के नाम पहली बार हम पढ़ते हैं। विदर्भ का उल्लेख भी

भौगोलिक आधार

ऐतरेय और जैमिनीय ब्राह्मणों में पहली बार मिलता है। उपनिषद्ज्ञान के चार प्रमुख केन्द्र केकय, कुरु-पञ्चाल, काशी और विदेह हैं जहाँ राजन्य (क्षत्रिय) अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु काशी और जनक विदेह उपदेश करते हैं।

साहित्य और दर्शन का चिन्तन तथा आध्यात्मिक ज्ञान का मनन तभी संभव था जब आर्यों को प्राचीन युद्धों से अवकाश मिल गया। ऐसा नहीं कि युद्ध सर्वथा बन्द ही हो गया

संघर्षावसान

हो, परन्तु प्राचीन शत्रुओं के आर्य-जनस्थानों से हट जाने पर संघर्ष की समस्या बहुत कुछ समाप्त हो गई और लोग शांतिकाल की वृत्तियों में लग गए। स्वयं राजा लोग सेनाओं के व्यूह छोड़ विद्वानों की परिषदों के अग्रणी हो चुके थे। बड़े नगरों का निर्माण हो चुका था जहाँ आर्य शान्त नागरिक का जीवनयापन करने लगे। इन्हीं नगरों में पंचालों का कम्पिल्य और कुरुओं का आसन्दीवन्त भी थे। कौशाम्बी और काशी इस समय ख्याति की मूर्द्धा पर अभिषिक्त थे।

ऋग्वेद के प्राचीन जनों की अवस्था में भी प्रचुर परिवर्त्तन हो चुका था। भरतों की शक्ति अब क्षीण हो गई थी। उनका नाम, जो कभी शत्रुओं में भय और मित्रों में मान का संचार करता था, अब कम सुन पड़ता था। उनका स्थान अब कुरुओं ने ले लिया था। उनकी शक्ति कुरु पांचालों में बँट गई थी। पंचाल कुरुओं के पड़ोसी थे और शक्ति में उनके सहचर, राष्ट्रमीत। संभवतः भरतों और पुरुओं के 'जन' कुरुओं में मिलकर खो गए थे।

जनों का नया रूप

पांचालों के नाम की व्युत्पत्ति से ज्ञान होता है कि उनका 'जन' कई जनों के सम्मिश्रण से बना था; संभवतः पाँच 'जनों' के। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पाञ्चाल पूर्वकाल में 'क्रिवि' कहलाते थे। इससे जान पड़ता है कि पञ्चालों के पाँच जनों में एक 'क्रिवि' भी थे। अनुद्रुह्यु और तुर्वषों का उल्लेख वैदिक साहित्य में इस समय से पहले ही बन्द हो जाता है। संभव है, ये सारे जन भी इन्हीं पंचालों में मिल गए हों। इनमें द्रुह्युओं के संबंध में तो पौराणिक उल्लेख है कि दाशराज्ञ-युद्ध के बाद वे भारतवर्ष के बाहर उत्तर-पश्चिम की ओर चले गए और वहाँ जाकर वे 'म्लेच्छों' पर राज करने लगे। इस समय के वैदिक ग्रंथ कुरु-पांचालों को सदाचार, शील और वाक् में आदर्श मानते हैं। उनके राजा राजाओं में प्रतीक हैं, उनके ब्राह्मण विद्या और ज्ञान में दक्ष एवं अग्रणी हैं। कुरु-पांचाल उचित ऋतु में दिग्विजय-यात्रा करते हैं और अपने यज्ञों का अनुष्ठान विधिवत् करते हैं[1]। उनके पड़ोसी थे मध्यदेश में बसे यमुनातट के 'शल्व', 'वश' और 'उशीनर'। परन्तु संस्कृति और आर्य-शक्ति के प्रसार में उनका हाथ विशेष नहीं दीखता। सृञ्जय कुरुओं से संपर्क रखते-से जान पड़ते हैं। किसी समय में सृञ्जयों और कुरुओं के समान पुरोहित थे। इनके अतिरिक्त इस समय के जनों में मत्स्य भी थे, जिनका निवास जयपुर और अलवर के चतुर्दिक् था।[2]

राजनीतिक परिस्थिति

इन जनों की अनेक शाखाओं के एक में मिलने का सबसे विशिष्ट फल यह हुआ कि आर्यों की शक्ति अभूतपूर्व रूप से बढ़ी। ऋग्वेद के समय में राज्यों की सीमाएँ अत्यन्त छोटी

---

१. शतपथ ब्राह्मण, तीन, २, ३, १५; देखिए—Cambridge History of India, खण्ड १, पृ० ११८-१९।

२. विमल चरण ला—Ancient Mid-Indian Kshatriya Tribes.

थीं, परन्तु अब उनका प्रसार दूर-दूर तक हो गया था। अब राजनीतिक संकेतों में सम्राट्, सार्वभौम और चक्रवर्ती संज्ञाओं का पहली बार उल्लेख होकर उनका प्राधान्य हो चला। सम्राट्, सार्वभौम और चक्रवर्ती के आदर्शों को पूरा करने के लिए राजा उस काल में वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध आदि यज्ञों का अनुष्ठान करने लगे। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मणों में ऐसे राजाओं का उल्लेख मिलता है जिन्होंने ऐन्द्रमहाभिषेक के साथ-साथ ही अश्वमेध का भी अनुष्ठान किया। इनमें से कुछ के नाम हैं—(कोशल के) पर, शतानीक सत्राजित और पुरुकुत्स ऐक्ष्वाकु। जैसे-जैसे इन राज्यों की समृद्धि और सीमाएँ बढ़ती गईं वैसे ही वैसे उनके विरुद में भी अन्तर पड़ता गया। राजा साधारण भूपति था, परन्तु प्रशस्त राज्याधिपतियों के क्रमिक विरुद थे—अधिराज, राजाधिराज, सम्राट्, विराट्, एकराट् और सार्वभौम। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि इन साम्राज्यों का विस्तार सचमुच ही आधुनिक साम्राज्यों की भाँति बड़ा था।

साम्राज्यों का आरम्भ

राज्यों के विस्तार के साथ ही साथ उनके केन्द्रस्थ राजाओं का गौरव भी बढ़ा। समय-समय के उनके विजयों ने भी उनकी समृद्धि और शक्ति को बढ़ाया। यज्ञों की परंपरा के साथ ही उनके आडंबर भी बढ़े। साथ ही यजमान की दान-शक्ति की प्रशंसा भी बढ़ने लगी। राजा के पुरोहित और विजित दोनों ने दो प्रकार से उसकी शक्ति की प्रशंसा और आराधना की। राजा की संज्ञा में इन्द्रत्व का आधान हुआ और उसके अनेक विरुदों में इस वीर और पराक्रमी देवराज की विभूति प्रतिबिंबित होने लगी। राजपद का ऐश्वर्य बढ़ते सभासदों की संख्या में दृष्टिगोचर होने लगा। राज्याभिषेक अब एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवसर और अनुष्ठान माना जाने लगा। अथर्ववेद के कुछ मंत्र इस अवसर पर अति शक्तिदायक समझे जाने लगे और उनका विशेष रूप से गायन होने लगा। ऐतरेय ब्राह्मण ने इस अवसर की क्रियाओं का विशेष विस्तार से वर्णन किया है। अभिषेक करनेवाले व्यक्तियों का दायरा ऋग्वैदिक काल में बहुत छोटा था। परन्तु अब उन थोड़े-से 'रत्नियों' के स्थान पर एक बड़ी परिषत् का निर्माण हुआ। राजा का अभिषेक अब पुरोहित, राजन्य (क्षत्रियों का प्रतिनिधि), महिषी (पटरानी), सूत (पुराणकार, कथाकार), सेनानी (सेनापति), ग्रामणी (गाँव का मुखिया), भागदुघ (कर उगाहनेवाला), क्षत्री (प्रतीहार), संग्रहितृ (कोषाध्यक्ष), अक्षवाप (द्यूताध्यक्ष) आदि कराने लगे। यद्यपि राजपद कुलागत हो जाने के कारण उसमें देवत्व का आधान किया जाने लगा था, परन्तु राजा के अभिषेक में इतने विविध राष्ट्रांगों के प्रतिनिधि स्वरूप भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का भाग लेना इस बात को भी सिद्ध करता है कि तब का राजा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता था। राजा जब कभी युद्ध में जाता था तब वह स्वभावतः अपनी सेना का संचालन करता था; परन्तु उसकी राज्य-सीमाओं और उसके गौरव के विस्तार के साथ ही जो एक दरबार की सृष्टि हुई, उसमें एक सेनानी का भी पद बना। जब और प्राचीन काल में राजा का स्थान साधारण राजन्य और रत्नियों से ऊँचा न था तब वह अनेक पद भी स्वयं निबाहता था; परन्तु उसके प्रताप और गौरव की वृद्धि के साथ ही साथ कम से कम कार्य करने का भी सुख मिला। इसी कारण अब वह साधारण राजा की भाँति सैन्य-संचालन भी न कर

राजा

सका। यह पद अब उसकी ओर से सेनानी को मिला, परन्तु दण्ड अब भी राजा के ही हाथ में रहा। अभी न्यायधीश की तरह के किसी पद का आरंभ नहीं हुआ था। राजा स्वयं ही अपराधों का विचारक था और अपराधियों को दण्ड देकर वह राष्ट्र और धर्म की रक्षा करता था। भूमि पर भी उसका स्वत्व भरपूर था और उसके किसी भाग को अपनी प्रसन्नता से जिसे चाहता वह दे सकता था। इस कार्य से राजा की शक्ति और भी बढ़ गयी थी। प्रचीनकालीन 'सभा' और 'समिति' की शक्ति बहुत ही क्षीण हो गयी थी; परन्तु निस्सन्देह इन दोनों संस्थाओं का सर्वथा लोप नहीं हो गया था क्योंकि अथर्ववेद में दोनों का उल्लेख मिलता है। वहाँ वे दोनों प्रजापति की 'दुहिताएँ' कही गयी हैं—"सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने" (७, १२)। इस काल में सभा न्यायालय का कार्य भी करने लगी थी। अथर्ववेद में समिति के प्रति भी अनेक संकेत आये हैं जिसका काम राजा का निर्वाचन करना था— "ध्रुवाय वे समितिः कल्पतामिह" (६,८८,३); "नास्मै समिति: कल्पते" (५,१६,१५)। फिर भी राजा की बढ़ती हुई व्यक्तिगत शक्ति के कारण इन संस्थाओं का ह्रास अवश्य हो गया होगा। यही कारण है कि हम उनके विषय में फिर नहीं पढ़ते। फिर भी जनमत समय-समय पर अपनी शक्ति का प्रयोग करता ही था। अपने राजा से असंतुष्ट होकर दुष्टऋतु को उसकी प्रजा ने एक बार राजच्युत करके देश से निकाल दिया था। उसे उसके स्थपति चक्र ने पुनः प्रतिष्ठित किया।

उत्तर-वैदिक काल का पूर्वार्द्ध, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यज्ञों और क्रियाओं का है और उसका उत्तरार्द्ध उनसे विरक्ति और चिन्तन का। जो साहित्य हमें उपलब्ध है, उसमें इतिहास की न्यूनता इतनी स्पष्ट है कि हम तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति के संबंध में सर्वथा अनभिज्ञ हैं। ऐतिहासिक वृत्तान्त थोड़ा-बहुत हमें इस क्रियात्मक साहित्य और इतिहास-पुराणों से उपलब्ध है। तात्कालिक राजनीतिक क्षेत्र में कुरु प्रमुख थे और पञ्चाल उनके मित्र और सहयोगी। परीक्षित नाम के एक कौरव सम्राट् का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। यह

कुरु

राजा यथार्थतः 'महान्' के रूप में उस वेद में वर्णित है। उसके शासन में प्रजा सुखी और संतुष्ट थी और देश में दूध और मधु का स्रोत प्रवाहित होता था। उसका राज्य प्रायः आधुनिक थानेश्वर, दिल्ली और उपरले द्वाब पर फैला हुआ था। उसकी राजधानी आसन्दीवन्त थी, जो बाद में हस्तिनापुर कहलायी। दूसरा महान् राजा जनमेजय हुआ। ब्राह्मणों के अनुसार वह महान् विजेता था और उसने तक्षशिला तक का सारा प्रदेश जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। महाभारत में लिखा है कि जनमेजय कभी-कभी तक्षशिला में अपना दरबार करता था और वहाँ सूताग्रणी वैशम्पायन से कौरव-पाण्डवों के युद्ध का वृत्तांत सुनता था। उसने एक सर्पयज्ञ और दो अश्वमेध किये। जनमेजय और ब्राह्मणों में जो संघर्ष चल रहा था वह अश्वमेधों में से एक के अवसर पर बढ़कर अत्यन्त उग्र हो गया। जनमेजय के तीन भाइयों—भीमसेन, उग्रसेन और श्रुतसेन—ने ब्राह्मणों को यज्ञविध्वंसक समझकर उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतार दिया। जनमेजय ने बचे हुए ब्राह्मण-नेताओं को देशनिकाला दे दिया। इस ब्रह्म-वध के प्रायश्चित्त में जनमेजय के भाइयों को अश्वमेध करने पड़े। यह परशुराम के बाद ब्राह्मण-क्षत्रियों के बीच

पहला-वर्ग-संघर्ष था। जनमेजय के उत्तराधिकारियों के संबंध में हमें कोई विस्तृत उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी इस बात का निर्देश मिलता है कि राज्य उपल-वर्षण, टिड्डियों आदि ईतियों के उपद्रव से विशेष संकट में पड़ गया और जनमेजय के कुछ पीढ़ी बाद निचक्षु के समय हस्तिनापुर बाढ़ से बह गया। निचक्षु ने तब हस्तिनापुर छोड़ यमुना के तट पर कौशाम्बी नगरी बसा उसे अपनी राजधानी बनायी। यह कौशाम्बी पश्चात्काल में खूब प्रसिद्ध हुई और आज उसके भग्नावशेष इलाहाबाद जिले में उस शहर से लगभग ३० मील पश्चिम कोसम इनाम, कोसम खिराज, गढ़वा आदि गाँवों में फैले हुए हैं।

पंचालों के विषय में हमारी जानकारी और भी कम है। वे कुरुओं के समीप ही पूर्व में बसे थे। पंचालों में भी अनेक दिग्विजयी सम्राट् हुए। उनके कुछ अश्वमेधों का हवाला मिलता है और अश्वमेध उस समय एक विशिष्ट राजनीतिक शक्ति और सत्ता का द्योतक था। महाभारत में पंचालों के राजा द्रुपद का वर्णन है। उसकी पुत्री पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी थी। उसका पुत्र धृष्टद्युम्न कौरव-पाण्डव-युद्ध के महारथियों में से एक था।

पंचाल

पश्चत्, उत्तरकाल में पंचालों का एक दूसरा राजा प्रवाहण जैवलि अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ। यह उपनिषदों में विद्या का महान् संरक्षक कहा गया है। इसकी पंचाल-परिषत् उच्च कोटि के ज्ञान-विनिमय का एक विशिष्ट आखाड़ा थी जिसके चिन्तनों में राजा स्वयं भाग लेता था। उपनिषत्काल के अग्रणी आध्यात्मिक चिन्तकों में प्रवाहण जैवलि का स्थान बहुत ऊँचा था। तत्कालीन दार्शनिक चिन्तनों के केन्द्र इस प्रकार की परिषदें ही थीं जहाँ व्याख्यान और वाद-संघर्ष द्वारा सत्य की खोज की जाती और दर्शन की काया रची जाती थी। समय-समय पर इनमें दुर्दान्त तार्किक और दार्शनिक भाग लेते थे। पंचाल जनपद की राजधानी काम्पिल्य थी और इस जनपद-राज्य का विस्तार फर्रुखाबाद के जिले और रुहेलखण्ड के कुछ अंश पर था।

कुरु-पंचालों का राजनीतिक और बौद्धिक साम्राज्य कुछ काल तक बना रहा। फिर पूर्व के विदेह भारत के आध्यात्मिक आकाश में चमके। विदेह का प्रसार प्रायः उन प्रदेशों पर था, जो आज तिरहुत (तीरभुक्ति) के अन्तर्गत उत्तर-बिहार में गिने जाते हैं। विदेह की राजधानी मिथिला थी। मिथिला का उल्लेख वैदिक साहित्य में तो नहीं मिलता, परन्तु बाद की अनुश्रुति और पौराणिक तथा काव्य-साहित्य में उसका अधिकाधिक वर्णन मिलता है। यह स्थान प्रकृतितः कोशल के पश्चात् आर्य-संस्कृति में आया होगा। शतपथ ब्राह्मण में विदेघमाथव की जो कथा दी हुई है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है। विदेघमाथव अपने पुरोहित गौतम राहुगण को लेकर सरस्वती-तटवर्ती प्रदेश से सदानीरा (गंडक) को पार कर विदेह पहुँचा। सदानीरा कोशल की पूर्वी सीमा थी। सदानीरा के पूर्ववर्ती प्रदेशों में वैश्वानर अग्नि

विदेह

नहीं प्रज्वलित होता था। इसका तात्पर्य यह है कि वहाँ इस काल के पूर्व वैदिक याग-क्रियादि नहीं अनुष्ठित होते थे। वे प्रदेश अभी आर्यसंस्कृति के बाहर थे। विदेह घराने का सबसे बड़ा सम्राट् जनक था। आधुनिक नगर जनकपुर के नाम में उसकी स्मृति आज भी सुरक्षित है। अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि और अजातशत्रु

की भाँति जनक भी उपनिषत्काल में बौद्धिक आन्दोलन और दार्शनिक अध्यात्म का विशिष्ट नेता हुआ, संभवतः समकालीन नेताओं में अग्रणी। वह कुरुओं की राजधानी हस्तिनापुर की जल-समाधि के कुछ ही बाद हुआ। उसका दरबार उपनिषत्काल की दार्शनिक परिषदों में प्रमुख था। जनक तत्कालीन ब्राह्मण-ऋषियों का भी गुरु था और उपनिषत्काल के सर्वोज्ज्वल नक्षत्र याज्ञवल्क्य के विख्यात व्याख्यान उसी के दरबार में होते थे। जनक इतना संगरहित था कि कहा जाता था कि अपना एक पैर वह सिंहासन पर रखता था, दूसरा वन में। वह सम्राट् था और उसकी शक्ति और ख्याति ने उसके पड़ोसी काशिराज अजातशत्रु के हृदय में ईर्ष्या जाग्रत कर दी थी। जनक स्वयं याज्ञवल्क्य का भी याग-प्रक्रियाओं में गुरु रह चुका था। अन्य तत्कालीन दार्शनिक और ऋषि भी जनक के दरबार में सम्मिलित होते थे। संभवतः इनमें उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय, सत्यकाम जाबाल, दृप्त बालाकि आदि भी भाग लेते थे।

विदेह का पश्चिमी पड़ोसी काशी का ब्रह्मदत्त-कुल था। इन ब्रह्मदत्तों का अनेकधा उल्लेख बौद्धों की जातक-कथाओं में मिलता है। इनके बाद उपनिषत्काल में काशी में जिस कुल का राज था, उसमें अजातशत्रु ने अच्छी प्रसिद्धि पायी। उपनिषदों के राजन्य चिन्तकों के अग्रणी नेताओं में इसका भी नाम आता है। यह भी ज्ञान और विद्या का पुजारी, वर्धक और संरक्षक था। कुछ विद्वान् भ्रमवश इसे विदेहकुल का समझते हैं। परन्तु विदेह की जिस शाखा का काशी में आरोप हुआ, वह कुल इससे और जनक-विदेह दोनों से भिन्न था। जिस सीरध्वज जनक (विदेह जनक से भिन्न) की कन्या से प्राचीन काल में रामायण में राम के विवाह का उल्लेख मिलता है, वह कुल संभवतः भरतों के पूर्वज चंद्रवंशी राजा पुरुरवा से प्रादुर्भूत हुआ था।

काशी

पंचाल के पूर्व और विदेह के पश्चिम कोशल था। इसका विस्तार अवध पर और उसके इर्द गिर्द था। जलजातूकर्ण्य नामक ऋत्विज् किसी समय विदेह, काशी और कोशल तीनों का पुरोहित था जिससे जान पड़ता है कि इन तीनों राज्यों में किसी न किसी प्रकार का संबंध था। संभव है, यह संबंध केवल सांस्कृतिक रहा हो। कोशल इक्ष्वाकु राजकुल के शासन में था। सदानीरा लाँघने के पहले बहुत काल तक कोशल आर्य-सभ्यता की पूर्वी सीमा थी। इस जनपद-राज्य की प्राचीन राजधानी सरयूतट पर बसी अयोध्या थी, जो रामायण-घटना-काल में रामचन्द्र की राजधानी भी रह चुकी थी। बुद्ध के समय कोशल की राजधानी अयोध्या से हटकर आधुनिक गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर सहेथ महेथ (श्रावस्ती) हो गयी थी। पुराणों में इक्ष्वाकु से लेकर बुद्धकालीन प्रसेनजित् तक का वंशक्रम दिया हुआ है और वैदिक साहित्य में भी इस कुल के अनेक राजाओं के नाम पाये जाते हैं।

कोशल

ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों में तत्कालीन राजशक्तियों के नाम आये हैं। नीचे उनका संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। गन्धार का जनपद सिन्धुनद के दोनों तटों पर फैला हुआ था। तक्षशिला (जिला रावलपिंडी में) और पुष्करावती (पेशावर जिले में वर्तमान चरसद्दा) इसके दो मुख्य नगर थे। केकय नामक की पहाड़ियों के इर्द-गिर्द गन्धार और विपाशा

(व्यास) नदी के बीच बसा था। यहाँ के राजा अश्वपति कैकेय का जिक्र ऊपर किया जा चुका है। मद्रों का राज्य मध्य-पंजाब में स्यालकोट और आसपास के जिलों में फैला हुआ था। महाभारत के नकुल और सहदेव की माता माद्री यहीं की थी। अलवर, जयपुर और भरतपुर के विस्तार पर मत्स्यों का राज था। इसी प्रकार मध्यदेश में उशीनरों का राज्य था। इन राज्यों में सुख और समृद्धि थी और इनकी प्रजा शांतिपूर्वक अपनी वृत्तियों का अनुसरण करती थी। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि अश्वपति कैकेय ने अपने राज्य से चोरों, मद्यपों और कृपणों को निर्वासित कर दिया और वहाँ एक भी अशिक्षित व्यक्ति न था—

कैकय, मद्र, मत्स्य, उशीनर

"न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्नस्वैरी स्वैरिणी कुतः॥" ५,११

इस कथन में अत्युक्ति हो सकती है, परन्तु जिस जनपद का राजा दार्शनिकों का नेता हो और जिसे ऐसी लगन हो कि उसके शासन में अविद्वान् न रह जायँ, वह निःसन्देह अशिक्षा को बहुत अंशों में दूर कर सकता है।

मगध और अंग (वर्तमान पटना और भागलपुर तथा मुंगेर के जिले) इस युग में भी अपावन ही गिने जाते थे। अथर्ववेद के एक मंत्र में ज्वर को इन प्रदेशों के अनार्य निवासियों की ओर प्रेरित किया गया है। मगध के रहनेवालों को 'व्रात्य' भी कहा गया है। व्रात्य उन्हें कहते थे जो आर्य संस्कृति से बाहर हों और विरोधी संस्कृति में रहते हों। व्रात्यस्तोम नामक एक अनुष्ठान से इन्हें आर्य संस्कृति में भी दीक्षित किया जाता था। पर साधारणतया वे अनार्य थे, ब्राह्मणों और ब्राह्मण-धर्म के विरोधी। इन मागधों को असंस्कृत—अगम भाषा बोलनेवाले—कहा गया है।

मगध और अंग

सामाजिक परिस्थिति

देश में विविध सांस्कृतिक और दार्शनिक आन्दोलनों,राजनीतिक विजयों तथा सुविस्तृत आर्यीकरण और अनार्यों से नित्य बढ़ते हुए संपर्क के कारण आर्यों की सामाजिक अवस्था में परिवर्तन होना स्वाभाविक और अनिवार्य था। और ये परिवर्तन प्रचुर मात्रा में हुए भी। ऋग्वेद के आर्य अब केवल कर्मानुसारी वर्णों में विभक्त न थे। अब उनके अनेक सामाजिक वर्ग हो गये थे। स्वयं ऋग्वेद के एक अन्त्य 'पुरुष'-सूक्त में चातुर्वर्ण्य का उल्लेख हो गया है, जिसमें ब्राह्मण ब्रह्म के मुख से, राजन्य बाहुओं से, वैश्य जघनों से और शूद्र पदों से प्रादुर्भूत माने गये हैं—

वर्ण-व्यवस्था

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरूतस्तद्यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥"

ऋ० १०,९०,१२ ; यजु० वाज ३१,११

उत्तरकालीन वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था अधिक स्पष्ट हो गयी और उसके अंग रूढ्यात्मक बन गये। आरंभ में तो विशेष वर्गीकरण आर्य और दासों के जात्यन्तर के कारण हुआ, परन्तु धीरे-धीरे जब इस व्यवस्था से श्रम-विभाजन के कारण वर्णानुयायियों को स्पष्ट

लाभ होने लगा, तब लोग इसे अधिकाधिक अपनाने लगे और इनके बीच की रेखाएँ अधिक गहरी और स्पष्ट होती गयीं। ब्राह्मण राजन्यों के कर्तव्यों के प्रति अबोध हो गये और क्षत्रियों ने केवल शस्त्र को अपनी वृत्ति का साधन बनाया। वैश्यों को पशुपालन, कृषि और व्यवसाय से अन्य वर्गों के पेशों की ओर देखने की छुट्टी ही न थी और शूद्र तो अधिकतर अनार्य होने के कारण आर्यों की अनेक सुविधाओं से वंचित थे ही, इस हेतु स्वभावतः इन श्रेणियों के रूप स्थूलतया स्पष्ट होते गये। वर्ण-विशेष वृत्ति की सरलता, आर्यों के नित्य के युद्ध, जीवन और राजनीति की बढ़ती हुई पेचीदगियाँ धीरे-धीरे आर्यों को स्पष्ट वर्गों में विभक्त करने लगीं और कालान्तर में उनके पेशे कुलागत बनते गये। उस क्रम से जो ज्ञान और यज्ञ-क्रियाओं के पंडित थे, वे ऋत्विज् बने और यज्ञादि कराने तथा तत्संबंधी दक्षिणा लेने के कारण ब्राह्मण कहलाये। जो आर्यों की विजयों के लिए युद्ध करते और लोहे से लोहा बजाते थे, देश की रक्षा करते और भूमि के स्वामी थे, वे राजनीतिक दावेदार क्षत्रिय हुए। बचा हुआ जन-समुदाय-व्यवसायी, कृषक, पशुपालक आदि अनन्त 'विश'—वैश्य कहलाये। इन तीनों वर्गों की सेवा और अन्य शारीरिक श्रम के लिए जो दास, दस्यु और अनार्यों की परिधि से लिए गये, उनकी संज्ञा शूद्र हुई। फिर भी इस काल की द्वेषात्मक रूढ़िवादी वर्ण-व्यवस्था अभी सर्वथा अनजानी थी। अभी तक एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आवागमन कुछ हद तक जारी था और परस्पर विवाह-संबंध भी साधारण बात थी। ब्रह्मर्षि च्यवन ने क्षत्रिय शर्याति की पुत्री सुकन्या से विवाह किया। विदेह के जनक, काशी के अजातशत्रु, पंचाल के प्रवाहण जैवलि और केकय के अश्वपति ने, जो सब राजन्य थे, ब्राह्मणोचित दर्शन चिन्तन को अपनाया। इसी प्रकार राजा शन्तनु के भाई देवापि ने, सिंहासन से वंचित होने पर, पौरोहित्य में दक्षता प्राप्त कर, शन्तनु के यज्ञ कराये। इतना जरूर है कि यह आदान-प्रदान संभवतः केवल ब्राह्मण और क्षत्रियों में ही सीमित रहा; क्योंकि किसी वैश्य को हम ब्राह्मण या क्षत्रिय होते नहीं सुनते। फिर धीरे-धीरे ब्राह्मण-क्षत्रियों के भी पारस्परिक आदान-प्रदान बन्द हो गये। 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' [1] विवाहों से उत्पन्न शिशुओं को किसी न किसी हद तक संकर माना जाने लगा और उनके अपने वर्ग अथवा वर्ण बन गये जिनके प्रति आर्यों की कुछ विशेष श्रद्धा न रह गयी। इनके साथ जब और कारणों का जोर भी आ मिला तब वर्ण अलग-अलग और साफ-साफ उठ खड़े हुए। उनकी अपनी-अपनी रूढ़ियाँ, अपने-अपने आचार-विचार, वृत्ति-प्रवृत्ति, नियम-उपनियम, विधि-विधान बन गये जिसकी वजह से परस्पर आवाह-विवाह, खान-पान, सभी वर्जित हो गये।

आर्यों ने वर्णों के अतिरिक्त अपने जीवन को 'आश्रमों' में भी बाँटा, जिससे उसके किसी अंग के विकास की अवहेलना न हो। ये आश्रम चार थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और संन्यास। ब्रह्मचारी गुरुकुल में बसकर वेदाध्ययन करता था। दूसरे आश्रम में वह विवाह करके प्रविष्ट होता और गृहस्थ कहलाता था। गृहस्थाश्रम अन्य सारे आश्रमों की शिलाभित्ति था, क्योंकि सभी का जीवन गृहस्थ के दान पर ही निर्भर था। गृहस्थ धनोपार्जन

---

१ 'अनुलोम' उच्च वर्ण के पुरुष और निम्न वर्ण की स्त्री के विवाह को कहते थे और 'प्रतिलोम' निम्नवर्ण के पुरुष और उच्चवर्ण की स्त्री के विवाह की।

करता और समाज का पालन करता था। तीसरे, वाणप्रस्थाश्रम में उसे मुनियों का जीवन बिताना होता था और चतुर्थ आश्रम में संसार छोड़ उससे विरक्त हो जाने की आशा की जाती थी। प्रत्येक आश्रम के अपने-अपने कठोर नियम थे और इसी कठोरता के कारण ये 'आश्रम' कहलाते थे। इस आश्रम-जीवन से परिष्कृत आर्यों के आदर्श को जर्मन विद्वान् ड्यूसन ने अत्यन्त सराहा है। उसका कहना है कि मानव जाति के इतिहास में विचारों और जीवन के आदर्श की यह ऊँचाई और कहीं नहीं है। यह कहना साधारणतया कठिन है कि वास्तविक जीवन में आश्रमों का आचरण कहाँ तक बरता जाता था।

आश्रम धर्म

शूद्रों और स्त्रियों का सहवर्गीकरण हमने अपनी स्वतंत्र राय से नहीं किया है। दोनों के अधिकार और कष्ट समान हैं और बाद के सूत्रकारों ने दोनों को अधिकार के विचार से बहुधा एक साथ ही रखा है। बाद के तुलसीदास का नारी और शूद्र का एकत्रीकरण लोगों को शायद खलता है, परन्तु इस संबंध में उस महाकवि ने केवल प्राचीन परिपाटी का अनुसरण किया था।

शूद्र और स्त्रियाँ

प्राचीन वैदिक काल में शूद्रों का वर्ग स्पष्टतया समाज का एक भिन्नांग था। हम जब उस समाज को चार वर्णों में विभक्त कर शूद्रों को निम्नतम श्रेणी में रखते हैं तब हरगिज इस विचार से नहीं कि वे आर्यों के अंग थे। वास्तव में आर्यों के तीन ही वर्ण थे जिन्हें यज्ञादि करने और वेदादि पढ़ने का अधिकार था। शूद्रों को ये अधिकार प्राप्त न थे। वे अपवित्र समझे जाते थे। उत्तर वैदिक काल में आर्यों का शूद्र स्त्रियों से विवाह अथवा व्यवहार निषिद्ध और निन्द्य था। संभवतः शूद्र स्वाधिकारतया भूमि के स्वामी भी न हो सकते थे। ऐतरेय ब्राह्मण तो एक स्थल पर यहाँ तक कहता है—"शूद्र अन्यों के भृत्य हैं और यथेच्छा से रखे और निकाले जा सकते हैं। उनका वध तक संभव है।"

पूर्व-वैदिक काल में स्त्रियों का जो उच्च स्थान था, वह उत्तर-वैदिक काल में सुरक्षित न रह सका और उनकी अवस्था धीरे-धीरे गिरती गयी। इसमें सन्देह नहीं कि गार्गी-वाचक्नवी और मैत्रेयी के उदाहरण से यह सिद्ध है कि स्त्रियों को शिक्षा दी जाती थी। परन्तु संभव है, यह समाज की साधारण अवस्था न हो। आखिर मैत्रेयी औपनिषादिकों में अग्रगण्य महर्षि याज्ञवल्क्य की पत्नी थीं और गार्गी विदेह जनक की सभा की सभ्या। स्वयं याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी कात्यायनी न तो प्रगल्भा है, न प्रत्युत्पन्नमतिका। जान पड़ता है, फिर भी, स्त्रियों को ज्ञानार्जन में कोई रुकावट न थी और अनेक नारियाँ व्यक्तिगत रूप से बौद्धिक वृत्ति में काफी ऊँचा उठ जाती थीं। जनक विदेह के समय में शिष्ट दार्शनिक स्त्रियों का एक दल प्रस्तुत हो गया था, जिन्हें 'ब्रह्मवादिनी' कहते थे। गार्गी इन्हीं ब्रह्मवादिनियों में से एक थी जिसने अन्य दार्शनिकों की भाँति महर्षि याज्ञवल्क्य को जनक की सभा में शास्त्रार्थ के लिए ललकारा था। संभवतः स्त्रियों के व्यावहारिक (कानूनी) अधिकार सीमित थे और वे चल अथवा अचल संपत्ति की स्वामिनी शायद न हो सकती थीं। उनका थोड़ा-बहुत जो कुछ अर्जन होता, कदाचित्, उनके पिता, पति या पुत्र को मिलता। ब्राह्मण

काल में कन्या का जन्म अभाग्य का लक्षण समझा जाता था। राजाओं और अन्य संपन्न श्रीमानों का बहुपत्नी-विवाह भी शायद स्त्रियों के सीमित अधिकार का एक उदाहरण है।

आहार-विहार

लोगों के वस्त्राभूषण प्रायः वही थे, जो कभी ऋग्वैदिक काल में आर्यों के रह चुके थे। फिर भी मांस-भक्षण और सुरापान, जो ऋग्वैदिक काल में साधारणतया जायज माने जाते थे, अथर्ववेद में निषिद्ध हो चुके थे। उस वेद में उनका व्यवहार पाप कहा गया है। यह शायद उस दार्शनिक आन्दोलन का फल था, जो यज्ञों के विरोध और अहिंसा के पक्ष में अब चल पड़ा था।

लेखन-कला

उत्तर-वैदिक काल में लेखन-कला जानी जा चुकी थी। प्रमाणों के अभाव में ऋग्वैदिक काल में लेखन-कला के ज्ञान के संबंध में जो संदेह उठते हैं, उनका इस काल में शमन हो जाता है। बूहलर साहब के मतानुसार लेखन-विधि नवीं शती ई० पू० के आस-पास भरतीयों ने विदेशी सौदागरों से सीखी। इस मत का खण्डन पूर्णतया विद्वानों ने किया है। परन्तु यह निर्धारित करना कि किस शताब्दी में भारत की आर्य सभ्यता में लेखन-कला का आरंभ हुआ कठिन है। वैसे सैन्धव सभ्यता में लेखन साधारण था, यह सर्वसम्मत है। परन्तु यह भी संभव नहीं जान पड़ता कि मोहनजो-देड़ो की लेख-शैली से ही उत्तर-वैदिककालीन लेखन-प्रणाली विकसित हुई हो। वास्तव में इसपर विचार ठीक प्रकार से तभी किया जा सकता है जब वह सैन्धव लेखमाला पढ़ी जा सके। अभी इतना कह देना अयुक्तियुक्त न होगा कि इस काल में लिखने की प्रथा चल पड़ी थी और ब्राह्मणों-उपनिषदों के अनेक वक्तव्यों से यह प्रमाणित है कि लोग उससे अनभिज्ञ न थे।

आर्थिक जीवन

वृत्ति और पेशे

इस समय के समाज का मुख्य पेशा कृषि थी। इस काल में दूर-दूर तक के जंगल काटकर खेत बनाये गये। कर्षण की विधि में भी बहुत कुछ विकास और परिवर्तन हुआ। हल (सीर) के माप और रूप में भी बड़ा परिवर्तन किया गया। यह आश्चर्य की बात है कि बाद के काल में इतने बृहदाकार हल कर्षण में प्रयुक्त न हुए, जितने उत्तर-वैदिक काल में। कुछ हल तो इतने बड़े थे कि उन्हें चौबीस-चौबीस बैल तक खींचते थे। खाद की उपादेयता तत्कालीन कृषक को पूर्णतया ज्ञात थी और वह उससे अपने अन्नों की राशि को बढ़ाने में सर्वथा सहायता लेता था। अपनी-अपनी ऋतु में जौ, गेहूँ, चावल (व्रीहि), दाल और तिल सभी बोये-काटे जाते थे। भारतवर्ष का इतना विस्तृत मैदान, जिसमें पंचनद और गंगा-यमुना अपनी उपजाऊ मिट्टी भारती थीं, कृषि के लिए अद्वितीय था। इसीलिए आर्य जाति का एक बड़ा समुदाय उसे अपना पेशा बनाकर उसी में लग गया। कृषि से देश समृद्ध और सुखी हो गया और इस समृद्धि के कारण अनेक अन्य पेशे और रोजगार उठ खड़े हुए। सूत, व्याध, जलोपजीवी, गोप, कर्षक, रथकार, सुवर्णकार, पेटिका-निर्माता, रजक, रज्जुकार, रंगसाज, जुलाहे, रसोइए, कुम्हार, लोहार, नर्तक, गायक, कलाबाज, महावत और इस प्रकार के अन्य अनेक पेशेवर

उठ खड़े हुए। इसी काल में फलित-ज्योतिष-गणक और नाई भी प्रचुर रूप से देख पड़ने लगे। वैद्य और भिषक् भी अपना पेशा करने लगे; परन्तु अभाग्यवश किसी अज्ञात कारण से उनका काम छोटी नजर से देखा जाने लगा। स्त्रियाँ प्रायः रंगसाजी, सुईकारी और टोकरी आदि बुनने का काम करने लगीं।

इस काल में भारत में बड़ी प्रचुरता से धातुओं का ज्ञान बढ़ा। ऋग्वेद में अधिकतर हिरण्य (सुवर्ण) और सन्दिग्धार्थवाची अयस् का ही हवाला मिलता है; परन्तु उत्तर-वैदिक काल में सीसा, टिन (त्रपु), रजत, हिरण्य, लोहित, अयस् (ताँबा) और श्याम अयस् (लोहा) का भी ज्ञान हो गया विदित होता है। सुवर्ण और रजत के आभूषण और बर्तन बनते थे। सुवर्ण नदियों की तलहटी, भूमि के भीतर से या कच्चे मिलावट के सोने को गलाकर निकाला जाता था। अभी तक शायद सिक्के का पूरा चलन नहीं हुआ था।

अर्थ-व्यवसाय आदि

परन्तु इसका आरम्भ भली प्रकार हो चला था। शतमान नाम का एक प्रकार का सिक्का चलता था, जिसका तौल सौ कृषाल अथवा गुंज के दानों के बराबर था। प्राचीन काल के विनिमय के माप 'गाय' का स्थान अब ये शतमान नामक सिक्के ले रहे थे।

धर्म और दर्शन

उत्तर-वैदिक काल के धार्मिक विश्वास प्रायः वे ही थे, जो पूर्व-वैदिक काल के थे। ऋग्वेद के ही देवता इस काल में भी पूजे जाते थे। अन्तर केवल इतना थे कि जो पहले प्रधान थे, वे अब प्रधान न रहे और जो कभी गौण थे, वे महान् बन गये। प्रजापति, जो ब्राह्मण ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान रखते हैं, जन-साधारण के देवता कभी नहीं हो पाते। रुद्र और विष्णु की आराधना सर्वत्र होने लगी थी। यह विष्णु ऋग्वेद के मन्त्रों में सूर्य का एक रूपमात्र है और वहाँ उसकी पूजा की प्रधानता नहीं है। वही अवस्था रुद्र की पूजा की है। परन्तु इस काल में रुद्र का पद सर्वप्रधान था। रुद्र की संज्ञा अब 'महादेव' हो गयी और उसे तब से बराबर 'शिव' कल्याणकारी कहने लगे थे। मोहेन-जो-दड़ो की एक मुहर पर पशुपति की मूर्ति खुदी हुई है। सम्भवतः उत्तर-वैदिक काल का रुद्र-शिव मोहेन-जो-दड़ो का पशुपति महादेव है।

यद्यपि इस काल के ब्राह्मणपरक धर्म में देवताओं का पूर्ववत् बाहुल्य रहा, फिर भी धर्म के रूप में उपनिषदों के आध्यात्मिक चिन्तन के कारण बहुत अन्तर पड़ गया था। जब आर्य भारत के द्वार पर नवागतों की भाँति इस देश की कमनीय मूर्ति को निहार रहे थे, उस पूर्व काल में यहाँ के निसर्ग की शक्तियों में उन्होंने देवत्व की प्रतिष्ठा कर उनका गौरव गाया। परन्तु जब यहाँ स्थायी रूप से बस जाने पर उनको प्रकृति पूर्ववत् आकृष्ट नहीं करने लगी, तब ऋग्वेद के ऋक्निर्माण की परम्परा लुप्त हो गयी और धीरे-धीरे उन ऋचाओं और मंत्रों का अर्थ भी ज्ञानातीत हो गया। उन मंत्रों के सच्चे-झूठे अर्थ का ज्ञान उन्हीं ब्राह्मणकुलों की सम्पत्ति हो गया, जहाँ ऋग्वेद की शाखा संचित और संरक्षित मानी गयी। इस अवस्था में उन ब्राह्मणों का दबदबा बढ़ा; क्योंकि जब सचमुच ही मंत्रों का अर्थ लुप्त या दुरूह हो गया,

तब ये ही उस अर्थ के जानकार माने गये। सहज ही इनका गौरव स्वर्गीय देवताओं का-सा हो गया और इन्होंने उस परम्परा की नींव डाली, जो पश्चात् काल में इन्हें 'भूदेव' कहने लगी। फिर तो इन्होंने यज्ञों के अनुष्ठान में बेतरह पेंच डाले, अनन्त विधि-क्रियाओं का मनमाना प्रसार किया। उनमें रहस्यमय भाव और भेदों का सृजन किया और अनेक पुण्यों के आधार कायम किये। यज्ञों की संख्या बढ़ गयी, उनका परिमाण भी बढ़ गया। इनकी अवधि कुछ दिनों से लेकर सौ-सौ वर्षों तक की कर दी गयी। बीसियों पुरोहित अपने सहायकों के साथ यज्ञ-मंडप में विधि-क्रियाओं की देख-रेख करने लगे। होतृ, उद्गातृ, अध्वर्यु और ब्रह्मन् उनमें मुख्य थे। धर्म-भीरु जनता उन पेचीदगियों को क्या समझती, जिनमें से एक में भी किंचिन्मात्र त्रुटि से उसके लिए अनन्त पारलौकिक दण्ड-यन्त्रणाओं का विधान था? उसने अपने को पूर्णतया ब्राह्मणों के हाथ में डाल दिया और इस सतत जागरूक कर्म-काण्डी दल ने उनका भार अपने हाथ में ले लिया। जनता अपना धन पानी की भाँति इन यज्ञों के अनुष्ठान में बहाने लगी और यज्ञों को ब्राह्मणों ने वह बृहत् रूप दिया कि यजमान को और किसी काम की फुरसत ही न मिलती।

परन्तु शीघ्र ही धर्म के क्षेत्र में एक दूसरे दल की बड़ी सतर्क और साहसी बुद्धि जगी। संभवतः श्रीमानों अथवा चिन्ताशील राजाओं को ये अत्यन्त व्ययजन्य यज्ञ बहुत काल तक रुचिकर न रहे होंगे। उधर ब्राह्मणों के क्रियात्मक यज्ञों के हाथ में कर लेने के कारण वैदिक अध्यात्म की परम्परा भी रिक्त पड़ गयी होगी। उन राजन्यों को, जिनके पास काफी समय था और चिन्तन की प्रवृत्ति थी, उस परम्परा का उद्धार करने की इच्छा सम्भवतः फिर हुई और तब से उपनिषदों का ज्ञान रूप धारण करने लगा। इसी कारण उस बौद्धिक आन्दोलन के अग्रणी जनक विदेह, अजातशत्रु, प्रवाहण जैवलि और अश्वपति कैकेय सरीखे राजन्य हुए। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि तत्कालीन चिन्तन में ब्राह्मणों का हाथ न था। उसी काल में उद्दालक आरुणि, श्वेतकेतु, आरुणेय, सत्यकेतु जाबाल, दृप्त बालाकि और याज्ञवल्क्य आदि हुए थे। याज्ञवल्क्य तो उस समय सर्वमान्य और सर्वप्रधान आचार्य और दार्शनिक था। इन सभी महापुरुषों ने व्यर्थ के प्राणवध के विरुद्ध आवाज उठायी। मुण्डक उपनिषद् (१, २, ७) में तो क्रियात्मक यज्ञकर्ताओं को मूर्ख तक कहा गया है। बृहदारण्यक तो यज्ञ करनेवालों को देवताओं के पशु कहता है। उपनिषत्काल के चिन्तकों ने ज्ञान को प्रधान कहा। उन्होंने छान्दोग्य और बृहदारण्यक जैसे उपनिषदों का ग्रथन किया और बाद के दर्शन, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और पूर्व तथा उत्तर मीमांसा की नींव डाली। आत्मा और परमात्मा की विशद गवेषणा की परिपाटी का यही आरम्भ था। सृष्टि का अर्थ, आत्मा का रूप जानने के उन्होंने प्रयत्न किये और उस एक ब्रह्म का प्रतिपादन किया, जो उपनिषद्विद्या का प्राण है। उन्होंने घोषणा की कि सत्य ज्ञान ही मोक्ष का साधन है और आत्मा का परमात्मा में लय हो जाना ही उस मोक्ष का स्वरूप है। उस वेदान्त का प्रसिद्ध नारा उन्होंने 'तत् त्वं असि' में रक्खा। इस सिद्धान्त की रीढ़ थी आत्मा के पुनर्जन्म का सिद्धान्त और कर्म-सिद्धान्त का निरूपण। इन्होंने अपने उपदेशों में कहा कि जब तक ज्ञान से कर्मों का दहन नहीं हो जाता, तब तक जन्म-मरण के बन्धन नित्य सिद्ध होंगे। उपनिषदों को वेदान्त भी कहते हैं।

उपनिषत्काल के इस बौद्धिक आन्दोलन का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर हुआ। वेदों का भी उचित रूप से मनन करने के लिए व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्दस् और ज्योतिष नामक वेदांगों का आविर्भाव हुआ। इनका उद्देश्य वेदार्थ का उद्घाटन करना था। इनमें से विशिष्ट वे ग्रन्थ हैं, जो व्याकरण, निरुक्त आदि के सम्बन्ध में लिखे गये हैं। इनमें यास्क का 'निरुक्त' बड़ा ही विशिष्ट ग्रन्थ है, जिसमें लगभग छठीं सातवीं शताब्दी ई० पू० के शब्दार्थ पर गवेषणा और गद्यात्मक विचार हैं। इसमें शब्दों की व्याख्या भी है। इसी काल में उन व्याकरण के सूत्रग्रन्थों का आरम्भ भी हुआ, जिनके विशिष्ट उदाहरण पाँचवी शती ई० पू० के वैयाकरण पाणिनि ने व्याकरण के अंकुश से शिष्ट-भाषित संस्कृत को एक विशेष मर्यादा और रूप दिया है। यास्क के बाद ही उन धर्म, श्रौत और गृह्यसूत्रों की परम्परा चली, जिन्होंने कुल, जाति और धर्म के सम्बन्ध में विविध नियम रचे और जिनके आधार पर पश्चात्काल के धर्म-शास्त्र भी बहुत अंशों में रचे गये। इन ग्रन्थों की शैली सूत्रों की थीं, जिनकी एक मात्रा बचाने में सूत्रकार को पुत्रोत्पत्ति का सुख प्राप्त होता था। इनकी भाषा सहज ही दुरूह थी।

इस आन्दोलन का फल

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. दत्त : The Aryanisation of India
२. रंगाचार्य : Pre-Musalman India
३. Cambridge History of India
४. मूकर्जी : Hindu Civilization

छठा परिच्छेद

सूत्र-धर्मशास्त्र-काल

१. सूत्र-साहित्य

सूत्र-पद्धति का प्रारम्भ विशेष कारणवश हुआ। उस समय रटकर याद करने की विधि थी। वेदों को बिना लिखे केवल सुनकर ही याद किया जाता था। इस कारण उनका नाम 'श्रुति' पड़ गया। याद करनेवाली यह परिपाटी केवल वेदों तक ही सीमित न रह सकी अन्य ग्रन्थों और विषयों तक भी बढ़ गयी। इधर यज्ञादि क्रियाओं और अन्य रहस्यमय साहित्य को भी याद करना पड़ता था, क्योंकि कर्मकाण्ड में उनकी नित्य आवश्यकता पड़ती थी। और चूँकि स्मरण करने में पद्यात्मक अथवा सूत्रात्मक विवरण सरल होता है, (परन्तु पद्य निबन्ध भी आखिर लंबा ही होता है) सूत्र और भी आसान सिद्ध हुए। इसीलिए लंबे नियम एक साथ जोड़ कर संक्षिप्त रूप में सूत्र रच लिये गये। सूत्र संकेत रूप में रचे गये, इसी से इनको समझने के लिए बड़े-बड़े भाष्यों की आवश्यकता पड़ी। सूत्र (सूत) की विशेषता उनके संक्षिप्त होने में थी। इनसे बड़ी आसानी से पाठ भी सुरक्षित रह सकते थे। इसी कारण इस काल में इनकी विशेषता रही

सूत्रों का समय और उनका रूप

और इन्हीं की शैली में अनेक ग्रन्थ रचे गये। साधारणतया सूत्र-काल ईसा से ७०० वर्ष पूर्व आरंभ होकर ईसा की दूसरी शती में समाप्त होता है [1]। संभव है इस काल के निचले छोर के सम्बन्ध में संदेह किया जाय, परन्तु इसमें कोई शक नहीं कि इसका आरंभ बौद्ध धर्म के प्रारंभ के साथ-साथ [2] अथवा उससे कुछ पूर्व ही हुआ।

पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में बड़ा अनैक्य है। कीथ साहब उसकी निचली अवधि तीन सौ ई० पू० रखते हैं। मैकडोनेल की राय में पाणिनि ५०० ई० पू० के शीघ्र ही बाद हुए। सर रामकृष्ण भण्डारकर इस तिथि को सातवीं शती ई० पू० के आरंभ में रखते हैं। परन्तु डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने प्राचीन भारतीय पुराण-इतिहास 'मञ्जुश्री-मूलकल्प' के आधार पर पाणिनि का जो समय निश्चित किया है वह है पाँचवीं शती ई० पू०। इस ग्रंथ के मूल के अनुसार पाणिनि मगध-सम्राट् महापद्मनन्द के समकालीन और उसकी सभा के सभ्य थे। यही तिथि संभवतः सही है। एक बात तो कम-से-कम सही है ही कि निरुक्तकार महर्षि यास्क पाणिनि से पहले हुए थे। उत्तर-पश्चिम के पठानों के देश यूसुफजई में एक गाँव था—शलातुर। महावैयाकरण पाणिनि वहीं के रहनेवाले थे और मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में आ बसे थे। उनका व्याकरण 'अष्टाध्यायी', अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से लिखा हुआ ग्रंथ, व्याकरण-साहित्य में एक प्रतीक है। पूर्णता और संक्षिप्तता में यह प्रमाणस्वरूप है। है तो यह केवल व्याकरण का ग्रंथ, परन्तु इसमें ऐतिहासिक सामग्री भी मिल जाती है। उसमें दक्षिण-भारत के प्रदेशों के नाम नहीं मिलते। इस कारण कुछ विद्वानों का मत है कि उस समय तक आर्यों को दक्षिण का ज्ञान न था। परन्तु यह विचार अत्यन्त अग्राह्य है, क्योंकि यदि पाणिनि के ही आसपास के बौधायन और आपस्तंब के सूत्र-ग्रंथ दक्षिण में ही लिखे गये तब यह कैसे संभव है कि आर्यों को अभी दक्षिण का ज्ञान न था? संभव है, सीमा प्रांत के रहनेवाले पाणिनि को उनका ज्ञान न रहा हो अथवा, जो अधिक संभव है, व्याकरण की आवश्यकताओं से इन दाक्षिणात्य देशों की परिसंख्या परे हो। 'अष्टाध्यायी' में पश्चिम में कच्छ, पूर्व में कलिंग और दक्षिण में अवन्ती के नाम मिलते हैं। विन्ध्य पर्वत के दक्षिण के देशों का उल्लेख नहीं मिलता। पाणिनि ने बाईस जनपदों के नाम गिनाये हैं। उनके साथ ही उनके निवासियों का भी उल्लेख है, जैसे गांधारी, मद्र, यौधेय, कोशल, वृजि आदि। अष्टाध्यायी में प्रांत, शहर और गाँव के निर्देश भी विषय, नगर, ग्राम आदि शब्दों में मिलते हैं। साधारणतया शासन राजतन्त्रीय था, परन्तु गणों और संघों के नाम भी आए हैं जिससे प्रमाणित है कि अनेक गणतंत्र (प्रजातंत्र) भी कायम थे। राजा राज्य के मामलों में सर्वोपरि था और उसके नीचे अनेक पार्षद (परिषद् के सदस्य), अध्यक्ष (विभागों के), व्यावहारिक (कानून के पदाधिकारी) और औपायिक आदि काम करते थे। इसी प्रकार शासन के अन्य अधिकारी युक्त आदि थे। तत्कालीन समाज की आर्थिक दशा का भी हमें इस अष्टाध्यायी से पता चलता है। जनसाधारण का सामान्य पेशा कृषि थी। इसके अतिरिक्त लोग नौकरी

पाणिनि

---

१ Cambridge History of India, खण्ड १, पृ. २२७.

२ India's Past, पृ. ५०.

(जानपदवृत्ति) भी करते थे। श्रमिक और आयुद्धजीवी भी थे। व्यवसाय (क्रय-विक्रय) काफी उन्नति पर था। ब्याज पर ऋण दिया जाता था। कपड़े की बुनाई, रंगसाजी, चर्मकार्य, आखेट, बढ़ईगिरि, कुम्हार का काम सभी होते थे। उस समय व्यापार-संघों (पूगों) का भी चलन था। इन विविध संगठनों और श्रमविभाजन का प्रभाव व्यवसायिक उन्नति पर खूब पड़ा। इनसे समृद्धि बढ़ी होगी और देश के कानून के प्रति आदर के भाव बढ़े होंगे।

पिछले परिच्छेद में वेदाध्ययन में सहायक जिन छ वेदाङ्गों के नाम गिनाये गये हैं, उनमें एक 'कल्प' भी है। कल्प धर्मसंबंधी सारे सूत्रों का समाहार है। इसके तीन वर्ग हैं—(१) श्रौत-सूत्र, (२) गृह्य-सूत्र और (३) धर्म-सूत्र। इनमें से श्रौत-सूत्रों का विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं। वे प्रधानतया वेदों के हवि और सोम-यज्ञों तथा अन्य धार्मिक विषयों से संपर्क रखते हैं। इस प्रकार वे प्रायः ब्राह्मण ग्रन्थों के ही उपसंहार थे। परन्तु, इतना स्मरण रखना चाहिए कि उन्हें कभी अपौरुषेय अथवा श्रुतिपरक नहीं माना गया। श्रौत-सूत्रों के बाद ही संभवतः उन गृह्य-सूत्रों की रचना हुई जिनका संपर्क गृह्यमेध और अन्य पूजानुष्ठानो तथा क्रियाओं से था, जो गृहस्थ के घर में होती थीं। विविध यज्ञों की वे क्रियाएँ, जो गृहस्थ के नित्य के जीवन से तात्पर्य रखती थीं, इन सूत्रों में पूर्णतया उल्लिखित हैं। इनमें गृहस्थ के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के सारे विधान दिये हुए हैं। गृह्य-सूत्रों में मनुष्य के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु तक के सारे संस्कारों का वर्णन है। इनमें से मुख्य संस्कार थे—पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, चूणाकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह (इसके आठ प्रकार थे—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच), पञ्चमहायज्ञ, विशिष्टतिथियों के अनुष्ठान और अन्त्येष्ठि। कौशिक-सूत्र में व्याधियों को दूर करने के मंत्र भी दिये हुए हैं। इस प्रकार इन गृह्य-सूत्रों से हमें तत्कालीन गृहस्थ की नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का ज्ञान होता है।

सूत्र-ग्रंथ और उनके विषय

श्रौत और गृह्य-सूत्र

धर्म-सूत्रों का संबंध गृह और कुल-धर्मों से इतना नहीं जितना समाज-धर्म से है। वे नित्य की सामाजिक रीतियों और प्रथाओं से संबंध रखते हैं। इन धर्म-सूत्रों में ही व्यवहार (कानून—दीवानी और फौजदारी) का आरंभ होता है। इतना जरूर है कि धर्म-सूत्रों में धर्म-परक विधान बनिस्बत सामाजिक के अधिक है। प्राचीनतम धर्म-सूत्रकार गौतम, बौधायन और आपस्तंब थे। इनमें गौतम का समय ५०० ई० पू० के बाद नहीं रखा जा सकता। बौधायन भी करीब-करीब इसी समय हुए। बूहलर का विचार है कि आपस्तंब ४०० ई० पू० के लगभग हुए। बौधायन और आपस्तंब दोनों दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। वशिष्ट भी इन्हीं सूत्रकारों में से थे जिनका समय गौतम के बाद था। आधुनिक मानव-धर्म-शास्त्र का आधार मानव-धर्म सूत्र भी कभी इन्हीं दिनों रचा गया, परन्तु अब वह उपलब्ध नहीं है।

धर्म-सूत्र

विविध धर्म-सूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समाज में अब तक वर्णाश्रम-धर्म ने पूरी तरह घर कर लिया था। सूत्रों में द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्त्तव्यों का विवरण दिया हुआ है। सूत्र कहते हैं कि द्विजों को चार आश्रमों का आश्रयी होना अनिवार्य है। इन आश्रमों का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। इनमें अन्त के दो

त्याग और यती जीवन के थे। वर्णों की पवित्रता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इसी कारण विवाह और खान-पान के संबंध में अत्यन्त सतर्कता रखी जाने लगी। एक वर्ण दूसरे के साथ विवाह, भोजनादि नहीं कर सकता था। निषिद्ध जनों से छुआछूत अथवा उच्छिष्ट भोजन वर्जित हो गया और जो इस आचार के विरुद्ध आचरण करता, उसे वर्णच्युत कर दिये जाने का भय रहता था। इन बातों के संबंध में नियम अत्यन्त कठोर हो गये, यद्यपि सूत्रकारों में परस्पर सर्वदा इन प्रसंगों पर मतैक्य नहीं है। इन सूत्रकारों में जो प्राचीनतर हैं, वे इन आचार-संबंधी नियमों में उतने कठोर नहीं हैं जितने बादवाले सूत्रकार। उदाहरणतः, गौतम को ब्राह्मण के द्विजमात्र (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) द्वारा परोसा भोजन खाने में आपत्ति नहीं है। वह तो आवश्यकतावश ब्राह्मण को शूद्र द्वारा दिया भोजन खाना भी अंगीकार करते हैं। उनके मत से ब्राह्मण नीच कुल में उत्पन्न कन्यारत्न का भी पाणिग्रहण कर सकता था यद्यपि उस शूद्रा का स्थान घर अथवा समाज में ब्राह्मणी और अन्य उच्चकुलोद्‌भवा सपत्नियों के नीचे था। उसकी संतति भी संकर और 'अनुलोमज' समझी जाती थी। समान गोत्र और माता की छः पीढ़ियों तक के संबंधी कुलों में विवाह वर्जित हो गया। परन्तु दाक्षिणात्य आज ही की तरह मातुल-कन्या से विवाह करते ही रहे। इससे जान पड़ता है कि धर्म-सूत्रों में अचार-नियमों में अन्तर अधिकतर स्थान-विशेष के अपने-अपने रिवाज और प्रथाओं के कारण ही पड़ गया। कुछ अंश तक धर्म सूत्रों का दृष्टिकोण संकुचित भी हो गया। उदाहरणतः, उन्होंने समुद्रयात्रा और विदेशी भाषाओं को पढ़ना निषिद्ध कर दिया।

वर्णाश्रम धर्म

धर्म-सूत्र केवल साधारण जनता के लिए ही आचार-विधायक नहीं हैं। उनमें राजा के कर्त्तव्यों का भी वर्णन है। आरंभ में धर्म-सूत्र की शक्ति अपरिमित रही होगी और उनके विधान स्वयं राजा न टाल सकते होंगे। इस प्रकार ये राजा की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश का काम भी करते होंगे। इन सूत्रों ने जो राजानुशासन किया है, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—अपराधियों और साहसिकों को दण्ड देना; सब प्रकार की ईतियों और आपत्तियों से प्रजा की रक्षा करना; श्रोत्रियों, विद्यार्थियों और व्याधिग्रस्तों को भोजनादि देना; भलों को पुरस्कृत करना; न्याय करना; युद्ध में वीरता से सेना का संचालन करना, आदि। राजा महल (वेश्म) में रहता था। यह वेश्म अथवा राजप्रासाद पुर (नगर) में बना होता था। सभाभवन में राज्याभिषेकादि और अन्य राजकार्य संपन्न होते थे। गाँव और नगर के शासन और प्रजा की रक्षा के लिए ईमानदार और योग्य व्यक्ति नियुक्त किये जाते थे। इनके संबंध में कानून कुछ कठोर थे। यदि ये ग्रामीणों और नागरिकों की रक्षा न कर सकते थे, तो उनके चुराये माल की कीमत इन्हें अपने पास से देनी पड़ती थी। इस कारण ये प्रजा की रक्षा में स्वभावतः सचेष्ट रहते होंगे।

धर्म-सूत्र और राजा

उपज के छठे भाग से लेकर दसवें भाग तक राजा कर लगाता था जिससे शासन और राजा का व्यक्तिगतखर्च चलता था। गौतम-धर्म-सूत्र के अनुसार राजा कारीगर या शिल्पी से महीने में एक दिन काम, सौदागरी की वस्तुओं पर २०वाँ भाग, पशुओं और सुवर्ण पर ५०वाँ भाग और

कर और कानून

कन्द-मूल, फल-फूल, औषधि, मधु, मांस, घास और इंधन पर आय का ६०वाँ भाग लेता था।

भारतीय शासन-विधान की एक मुख्य बात यह थी कि इसके व्यवहार (कानून) का उद्गम राजा न था। गौतम अपने धर्म-सूत्र (११, १६-२१) में कहते हैं कि व्यवहार का आधार श्रुति (वेद) थी अथवा वे ग्रन्थ थे जिसमें श्रुतियों की स्मृति और परम्परा सुरक्षित थी। यह भी कहा गया है कि न्याय का वितरण वेदों, धर्म-विधानों, वेदांगों, पुराणों, जनपदों के विशेष नियमों और रीति-रिवाजों, वर्ण और कुल-धर्मों (जहाँ वे धर्म-ग्रंथों के विरोध में नहीं पड़ते), कृषकों, सौदागरों, गोपों, व्याज चलानेवालों और शिल्पियों के व्यावहारिक नियमों के अनुसार होना चाहिए (गौतम-धर्म-सूत्र, १,१, २)। यह ध्यान देने की बात है कि वर्गों और श्रेणियों के नियमों का राजा आदर करता था और उनके व्यवहार के अनुकूल ही वह उनका शासन करता था। धर्म-सूत्र पैतृक संपत्ति के उत्तराधिकार और स्त्रियों की स्थिति पर भी प्रचुर प्रकाश डालते हैं। स्त्रियाँ अपने अधिकार से यज्ञ नहीं कर सकती थीं और न संपत्ति की स्वामिनी ही हो सकती थीं। एक बात जो कानून के संबंध में ध्यान देने की यह है कि सूत्रों के काल में न्याय का वितरण सबके लिए समान न था। व्यक्ति के वर्ण और पद-विशेष का भी तब ख्याल किया जाता था, विशेषकर दण्ड देने के संबंध में। समान अपराध के लिए शूद्र को शारीरिक दण्ड या भारी जुर्माना किया जाता था, परन्तु ब्राह्मण या तो बेदाग छूट जाता या उसपर साधारण जुर्माना होता था। इस असमानता का कारण शायद यह था कि ब्राह्मण ही दण्ड-विधान के निर्माता थे।

२—धर्म-शास्त्र-साहित्य

धर्म-शास्त्र वास्तव में विविध ब्राह्मण-चरणों के धर्म और व्यवहार के ऊपर दिए गये उपदेश हैं। श्लोक-पद्धति से लिखे हुए उनके मूल ही हिन्दू-व्यवहार (कानून) के उद्गम हैं; इसके अतिरिक्त तत्कालीन ब्राह्मणसंस्कृति और संस्थाओं पर ये धर्म-शास्त्र प्रचुर प्रकाश भी डालते हैं। इनमें मानव-धर्म-शास्त्र, विष्णु-धर्म-शास्त्र, याज्ञवल्क्यस्मृति और नारदस्मृति प्रधान हैं। मानव-धर्म शास्त्र दूसरी शताब्दी ई०पू० के लगभग का है। विष्णु-धर्म-शास्त्र यद्यपि सूत्र-शैली में लिखे होने से काफी पूर्व का होना चाहिए, परन्तु है वह मानव-धर्म-शास्त्र के बाद का ही, क्योंकि यह प्रायः मनु के ही शास्त्र पर अवलम्बित है। याज्ञवल्क्यस्मृति मिथिला प्रान्त में रचित ग्रंथ है। यह लगभग चौथी शताब्दी ईसवी में रचा गया है। नारदस्मृति का रचनाकाल प्रायः पाँचवीं सदी ईसवी है। इनके अतिरिक्त कुछ और छोटी-मोटी स्मृतियाँ भी हैं। फिर बाद के कुछ निबन्धों तथा मिताक्षरा और दायभाग के से भाष्यों के मत भी आर्षमतों की ही भाँति प्रामाणिक हो गये हैं। वास्तव में वे स्थान-विशेष की आवश्यकताओं और प्रथा आदि की विशेषताओं के कारण ही लिखे गये और इस प्रकार व्यवहार के अंग बन गये।

धर्म-सूत्रों की भाँति ही धर्म-शास्त्रों के समय भी वर्ण ही मुख्यतः समाज के आधार थे। वर्ण के ही विविध अंग भिन्न-भिन्न कर्तव्यों और अधिकारों से युक्त थे। मनु के अनुसार ब्राह्मणों के कर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना-कराना और दान देना और लेना था। क्षत्रियों का धर्म था शासन और प्रजा की रक्षा करना, ज्ञान और सत्य की वृद्धि में दान-व्यय

करना, यज्ञ करना, शास्त्रों का अध्ययन करना और निर्भय होकर युद्ध करना। इसी प्रकार वैश्यों के कर्म थे पशुपालन, यज्ञ-कर्म, कृषि, व्याज पर रुपये उधार देना और व्यापार। शूद्र ऊपर गिनाये द्विजातियों के सेवक थे और उनका काम उनकी सेवा करना तथा अन्य शारीरिक कार्य थे। धर्म-शास्त्रों में संकर वर्णों का भी उल्लेख है, जो अन्तर्वर्ण विवाहों और अनौरस कारणों से उत्पन्न होते थे। इनके अतिरिक्त समाज में निम्नश्रेणी के अछूत भी थे, जो मलेच्छ, चाडाल, श्वपच आदि कहलाते थे।

वर्णाश्रम-धर्म

धर्म-शास्त्रों में द्विजों के आश्रम-नियमों का भी विधान दिया हुआ है। इन चार आश्रमों में प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम था। यह अध्ययन का समय था। इसका आरम्भ उपनयन संस्कार के साथ होता था। इसके आरम्भ के विषय में कोई खास अवस्था निर्धारित नहीं है। अधिकतर यह समय बालक की बुद्धि, परिस्थिति और वर्ण पर निर्भर करता था। उपनीत बालक गुरुकुल में जाकर पितातुल्य गुरु से वेद, वेदांग और दर्शनादि पढ़ता था। उसके अध्यापकों में उपाध्याय और आचार्य भी होते थे। ब्रह्मचारी का जीवन तप और नियम से जकड़ा होता था। उसे श्रमपूर्वक पढ़ना, पूजा और अग्निहोत्र करना, भिक्षा करना और गुरु के लिए लकड़ी, जल आदि जुटाना पड़ता था। अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। विवाह करके वह गृहस्थ बन जाता था। गृहस्थ के तीन ऋण बताये गए हैं। वे हैं देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। इनसे गृहस्थ क्रमशः यज्ञ, अध्ययन और पुत्र उत्पन्न करके उऋण होता था। वह बाकी तीन आश्रमियों का जीवनाधार भी था। क्योंकि उनके भिक्षाटन का केन्द्र वही था। वाणप्रस्थ को घर-द्वार, धन-सम्पति सब छोड़कर वन की शरण लेनी पड़ती थी। वहाँ वह कन्द-मूल-फल के ऊपर निर्वाह करता था। उसके साथ उसकी स्त्री भी वन को जाती थी। संन्यासाश्रम में मनुष्य को संसार से सर्वथा नाता तोड़कर ध्यानादि और मोक्षसाधन के लिए तप और ज्ञानोपार्जन करना पड़ता था। भिक्षा से जो कुछ मिल जाता, उसे खाकर संन्यासी अपने को धर्म और सत्य की खोज में लगा देता था। इस प्रकार का जीवन धर्म-शास्त्रों ने द्विजों के लिए निश्चित किया था, परन्तु यह कहना कठिन है कि कहाँ तक इन नियमों का पालन होता था। साधारणतया संन्यास-आश्रम ब्राह्मणों के लिए ही था और शायद वे ही उस आश्रम में दीक्षित भी होते थे।

धर्म-शास्त्र स्त्रियों की तत्कालीन दशा पर भी प्रकाश डालते हैं। मनु ने तो सिद्धान्ततः उनका स्थान बहुत ऊँचा कर दिया है। वे कहते हैं कि जहाँ नारियों की पूजा होती है, वहाँ देवता रमण करते हैं और जहाँ उनके प्रति सम्मान का भाव नहीं होता, वहाँ सारी यज्ञादि क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं—

स्त्रियों की अवस्था

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वांतत्राफलाः क्रियाः॥"

(मनुस्मृति, ३, ५६)

मनु इस बात को पसन्द नहीं करते कि नारी अपने जीवन के किसी काल में भी स्वतंत्र होकर रहे। "कुमारावस्था में उसकी रक्षा पिता करता है, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में उसका पुत्र। उसका स्वतंत्र रहना किसी समय उचित नहीं"—

"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।"
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ॥ (वही, ६, ३)

एक स्थल पर तो मनु और भी कठोर हो जाते हैं और उन्होंने नारी को पुरुष को दूषण की ओर ले जानेवाली कहा है—

"स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।"
(वही, २, २१३)

इसी प्रकार उन्हें 'अस्थिर चित्तवाली' कहकर साक्षी होने से वंचित कर दिया गया है (वही, ८, ७७)। उनके विवाह की अवस्था भी मनु ने आठ या बारह साल की निर्धारित की है (वही, ६, ६४)। परन्तु कन्या के विक्रय के सम्बन्ध में उनके विचार परस्पर विरोधी से हैं (देखिए, ८, २०४ ; ३, ५१ ; ६, ५८)। पति पत्नी को त्याग सकता था, यदि वह वंध्या हो अथवा उसने केवल कन्याएँ उत्पन्न की हों (वही, ६, ५१) या व्यभिचारिणी हो। मनु विधवा-विवाह और नियोगप्रथा का विरोध करते हैं (६, ६५) परन्तु संतोष की बात यह है कि नारद दोनों की अनुमति देते हैं। स्त्री-धन के अतिरिक्त मनु इस बात के सम्बन्ध में मौन हैं कि विधवा अपने पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी हो सकती है या नहीं, यद्यपि वह यह स्वीकार करते हैं कि मा अपने संतानरहित पुत्र की सम्पत्ति पा सकती है (६, २१७)। नारद विधवा का पति की सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार नहीं करते। याज्ञवल्क्य विधवा को मृत पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी मानते हैं। सती-प्रथा को व्यावहारिक (कानूनी विधान) तो उस समय नहीं प्राप्त है, परन्तु पति की सम्पत्ति में विधवा का अधिकार न होने के कारण उसकी अवस्था अच्छी नहीं रही होगी। नारी यज्ञादि में शामिल होने का भी अधिकार न था। पर्दा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता और मनु कहते हैं, कोई स्त्री को बलपूर्वक नहीं रोक सकता (मनुस्मृति, ६, १०)। बाल-विवाह का तो एक विशेष कारण जान पड़ता है। मनुस्मृति की रचना सम्भवतः शुंगकालीन अर्थात् लगभग द्वितीय शताब्दी ई० पू० की है। तब ग्रीकों ने पाटलिपुत्र तक धावा मारा और सारे देश को आक्रान्त कर लिया था। कुछ ही बाद तो एक अनार्य विजेता ने पाटलिपुत्र में इतने पुरुषों का वध किया कि गर्गसंहिता के वर्णन के अनुसार बीस-बीस स्त्रियों को एक-एक पुरुष वरण करना पड़ा। ऐसी अवस्था में स्त्रियों की, विशेषकर बालिकाओं की रक्षा अत्यन्त कठिन हो गयी होगी। जान पड़ता है, इसी कारण 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' आदि का सिद्धान्त प्रचलित किया गया, जिससे बालिकाओं की रक्षा हो सके। साधारणतः पिता अपनी कन्या की रक्षा इतने त्याग के साथ नहीं कर सकता, जितना पति अपनी पत्नी की।

स्मृतियों के समय में राजा की सत्ता पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी। मनु राष्ट्र में राजा का पद अनिवार्य समझते हैं और उसकी अनुपस्थिति में अराजकता का भय करते हैं (मनुस्मृति, ७, ३)। राजा को राज्य का अधिकार ईश्वर-प्रदत्त समझा जाने लगा था और उसे देवताओं का प्रतिनिधि। मनु कहते हैं कि बालक होने पर भी राजा को मनुष्य

राष्ट्र

नहीं समझना चाहिए। वास्तव में वह एक महान् देवता है, जो मनुष्य के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुआ है।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

(मनुस्मृति, ७,८)

दूसरे स्थल पर मनु कहते हैं कि अपने प्रभाव के कारण वह अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, धर्मराज, कुबेर, वरुण और इन्द्र है (मनुस्मृति, ७, ७) । पर सिद्धान्ततः देवसिद्ध अधिकार रखने पर भी राजा स्वेच्छाचारी न था और न वह प्रजा को स्वार्थवश हानि ही पहुँचाता था । धर्माचरण के लिए ही वह दण्ड का उपयोग करता था । वह व्यवहार (कानून) की पहुँच के परे न था। कहा तो यहाँ तक गया है कि व्यवहार प्रमादी, कामी, क्रूर और अधार्मिक राजा को नष्ट कर देता है (वही, ७, २८) । मनु के अनुसार व्यवहार के उद्गम हैं—(१) वेद, (२) स्मृतियाँ, (३) सत्पुरुषों के आचार और (४) आत्मतुष्टि ।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ (वही, २, ६)

आत्मतुष्टि से यहाँ तात्पर्य प्रमाणों के रहते भी राजा के विश्वास (Sense o equity) से है। याज्ञवल्क्यस्मृति में इन आधारों के अतिरिक्त कुछ औरों को भी गिनाय है, जैसे, मन्त्रणा, परिषद् और विद्वानों के मत, राज-शासन, कर्त्तव्यानुकूल आवश्यकताएँ, संघों-पूगों आदि के नियम और स्थान-विशेष के रीति-रिवाज। मनु भी देश-धर्म, जाति-धर्म, कुल-धर्म, पाषण्ड (संप्रदाय), धर्म और गणों तथा शिल्प-संघों के नियमों को व्यवहा (कानून) स्थिर करने का अधिकार देते हैं (मनु०, १, ११८) ।

धर्मशास्त्र क्षत्रियेतर राजा को नहीं मानते; परन्तु हमें इतिहास से विदित है कि क्षत्रिय के अतिरिक्त अन्य वर्ण भी राजा हुए हैं। राजा चाहे जो भी हो, रहता वह शास्त्र नियमानुसार ही था । प्रजाहित में संलग्न राजा का जीवन कष्टप्रद था। राजकार्य वह अपने सात-आठ मंत्रियों की राय से चलाता था । जो कुछ उसका निश्चय अथवा आदेश होता था, वह लिखकर संपादन के लिए उचित विभागों या व्यक्तियों को भेज दिया जाता था। राजप्रासाद के पार्श्व में स्थित सभा-भवन में बैठकर वह वादी और प्रतिवादी के अभियोगादि सुनता और फैसला देता । जुरमाने, धार्मिक प्रायश्चित्त और अन्य दण्डनीय अपराधों की गुरुता के अनुसार तथा वर्ण और व्यक्ति के पदानुसार दण्ड का विधान करता था। अमात्यों के अतिरिक्त शासन में राजा के सहायक ऊँचे-नीचे और भी राजपुरुष थे, जैसे महामात्र, चरों से घिरे 'युक्त' और 'अन्य' पदाधिकारी । राष्ट्र के प्रधान विभाग थे—चर-विभाग, अर्थ विभाग, सैन्य-विभाग और दण्ड (न्याय)-विभाग। चर-विभाग की दृष्टि सर्वत्र और सबपर रहती थी । अर्थ-विभाग आय-व्यय के अतिरिक्त कोषादि और खानों पर भी निगरानी रखता था। खानों की खुदाई राष्ट्र के एकाधिकार के कारण शायद इसी विभाग के अन्तर्गत थी। सैन्य-विभाग का कार्य अन्तःशान्ति को कायम रखना और बाह्य शत्रुओं से लोहा लेना था। पुलिस-विभाग का कर्तव्य था अपराधियों को पकड़कर दण्ड देना और देश में शान्ति रखना। इस प्रकार दण्ड अथवा न्याय-विभाग जन-जन में न्याय वितरित करता और झगड़े तय करता था।

यहाँ राज्य के विभक्त भागों और केन्द्रीय अथवा स्थानीय शासन के संबंध में संक्षेप में कुछ कह देना युक्तियुक्त होगा। राष्ट्र (साम्राज्य), देश अथवा जनपदों, विषयों, नगरों या पुरों और ग्रामों में विभक्त था। नगर ऐसे शासक के हाथ में दिया जाता था, जो नागरिकों में भय, श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न कर सके। उसके हाथ में पुर के संभवतः सारे शासन-सूत्र सौंप दिये जाते थे, वह 'सर्वार्थ चिन्तक' (मनु०, ७, १२१) था। ग्राम का शासक 'ग्रामिक' था जिसकी सारी आवश्यकताएँ आहार, इंधन पेय आदि सभी ग्रामनिवासी पूरी करते थे। (मनु०, ७, ११८)। यही उसकी वृत्ति थी। ग्रामिक के ऊपर दस ग्रामों का शासक 'दशी' था, जो अपनी वृत्ति के लिए एक 'कुल' भूमि (अर्थात् दस हल यानी दस जोड़े बैलों से जोती जाने लायक जमीन) पाता था। बीस ग्रामों के शासक 'विंशेश' अथवा 'विंशी' पाँच कुल पाते थे। सौ ग्रामों के शासक 'शतेश' अथवा 'शताध्यक्ष' को एक पूरा गाँव और हजार गाँवों के शासक 'सहस्रपति' को एक पूरे नगर की आय वृत्यर्थ मिलती थी (मनु०, ७, ११५, ११८, ११९)। विष्णुस्मृति बीस गाँवों के शासक का उल्लेख नहीं करती।

धर्मशास्त्रों की गणना के अनुसार मुकदमेबाजी के अठारह कारण हैं—ऋण, अनधिकारी द्वारा वस्त्र-विक्रय, सीमा-निश्चय, कुल से पृथक् होने के समय संपत्ति का विभाजन, श्रम-शुल्क का न देना, साझा, व्यभिचार, आघात, निन्दा, चोरी, डाका आदि। इस प्रकार दीवानी और फौजदारी दोनों ही प्रकार के झगड़े थे। इनमें दीवानीवाले तो बहुधा मध्यस्थ और पंचायत से सुलह कर लिए जाते थे। चोरी के अपराधों को अपनी निर्दोषिता शपथ से या अग्न्यादि पर चलकर और कभी-कभी दोनों तरीकों से सिद्ध करनी पड़ती थी। मनु इस संबंध में केवल अग्नि और जल (मनु०, ८, ११४) का उल्लेख करते हैं। याज्ञवल्क्य और नारद के अनुसार इन दोनों के अतिरिक्त तीन तरीके और थे—तुला, हल के फाल और विष। बृहस्पति स्मृति में इस प्रकार के नौ तरीकों का वर्णन है। दण्ड साधारणतया कठोर थे। गाय हाँक ले जानेवाले की नाक काट ली जाती थी और जो दस 'कुंभ' से अधिक अन्न अथवा चाँदी या सोना चुराता था, उसको प्राणदण्ड दिया जाता था (वृ०, ८, ३२०-३२१)। किसी प्रकार के विद्रोह अथवा राजद्रोह की सजा प्राण-दण्ड थी। इसका अपराधी यदि ब्राह्मण हुआ तो वह केवल बहिष्कृत कर दिया जाता था और पैतृक संपत्ति में अधिकार खो बैठता था। मनु के अनुसार किसी पाप अथवा दोष के अपराधी ब्राह्मण को प्राण-दण्ड नहीं दिया जा सकता था। उसे केवल देशनिकाला ही हो सकता था (मनु०, ८,३८०)। परन्तु एक बात महत्त्व की है कि समान अपराध के लिए मनु ने जहाँ साधारण नागरिक को एक कार्षापण का दण्ड-विधान किया है, वहीं राजा के लिए एक हजार कार्षापणों का (वही, ८, ३३६)। इसका तात्पर्य यह है कि जो जितना ही शान, प्रतिष्ठा और प्रभाव का व्यक्ति हो, उसे अपराध की सजा उतनी ही कठोर झेलनी चाहिए। परन्तु ब्राह्मण इसमें अपवाद था।

न्याय और दण्ड

दीवानी कानून के मामलों में स्मृतियाँ व्यापार में साझा और व्यापार संबंधी ठेकों पर विचार करती हैं; परन्तु सूत्रों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों में उनका उल्लेख नहीं मिलता। मनु केवल एक प्रकार की धार्मिक सराकत की बात कहते हैं, जैसे एक ही यज्ञ में भाग लेनेवाले

ऋत्विजों की दक्षिणा के भाग आदि। परन्तु याज्ञवल्क्य व्यापार और कृषि में हिस्सेदारी की बात भी लिखते हैं (या०, २, २६५)। इसी प्रकार नारद और बृहस्पति भी अपनी स्मृतियों में उन भागों का वर्णन और उनका निर्णय करते हैं। धर्म-शास्त्रों से ज्ञात होता है कि ऋण दिए जाते थे और उनपर ऋणी के वर्ण के अनुसार १५ से ६० प्रतिशत तक व्याज लिया था। फिर भी व्याज अधिक लेना बुरा समझा जाता था। ब्राह्मण के लिए अधिक व्याज लेना तो अत्यन्त निन्द्य समझा जाता था और नारद तो ब्राह्मण का यह महाजनी व्यापार बिलकुल ही वर्जित करते हैं (नारदस्मृति, १, १११)। ऋण लौटाया न जा सकने पर शूद्र को उसके बदले महाजन का काम करना पड़ता था। कभी ऋण का द्रव्य लौटाने के लिए ऋणी के घर पर महाजन के अनशन करने का हवाला भी मिलता है।

कर-ग्रहण

शास्त्रों के मन्तव्यानुसार कर अल्प और सबपर बराबर होना चाहिए था। राजा के लिए उनमें विधान है कि वह प्रजा पर कर का भारी बोझ न डाले और न उसके लिए उसपर अत्याचार ही करे। महाभारत कहता है कि राजा को फूल से मधु लेने वाली मक्खी अथवा दूध पीनेवाले गाय के बछड़े-सा आचरण करना चाहिए (शान्तिपर्व, ८८, ४, ८)। मनु के अनुसार राजा को सौदागरों से सोना और पशु-व्यापार के लाभ का आधा तथा धान आदि कृषिजन्य उपज पर छठा, आठवाँ और बारहवाँ हिस्सा लेना चाहिए (मनु०, ७, १३०)। इसी प्रकार कन्द, मूल, फूल, ओषधि, गन्ध-द्रव्य, मधु, घी आदि पर लाभ का छठा भाग (वही, ७, १३१-३२) लेना और शिल्पियों तथा श्रमिकों से महीने में एक दिन काम कराना उचित है (वही, ७, १३८)। श्रोत्रियों से कर लेना वर्जित था (वही, ७, १३३)। इसी प्रकार अन्धे, बहरे, लँगड़े, वृद्ध और श्रोत्रियों की सहायता करनेवालों से भी कर लेना वर्जित था (वही, ७, ३९४)। आय और कर के अन्य साधन थे—चुंगी, घाटों के खेवे आदि।

पेशे और व्यापार

स्मृतियों में पेशों और व्यापार के फलस्वरूप जनता की आर्थिक अवस्था का भी उल्लेख मिलता है। उनसे निम्नलिखित पेशेवरों का होना प्रमाणित होता है—लुहार, सुनार, तेली, रंगसाज, दर्जी, धोबी, कुम्हार, जुलाहे, चमार, कलाल (शराब-चुलानेवाले), धनुष-बाण बनानेवाले, लकड़ी और धातुओं के शिल्पी आदि। इनके अतिरिक्त समाज में और भी अनेक प्रकार के वास्तु, भास्कर्य आदि में पारंगत शिल्पी थे। जन-साधारण का आम पेशा कृषि था। व्यापार भी विशेष रूप से किया जाता था। व्यापार, वस्तु-विनिमय अथवा सुवर्ण, रजत (रौप्य, माशक, धरण और शतमान), तथा ताम्र (कार्षापण) के सिक्कों के जरिए होता था (मनु०, ८, १३५, १३७)। राजा की ओर से वस्तुओं के मूल्य लगा लिए जाते थे और जो सौदागर मिलावट और तौल में कमी का दोषी ठहरता था, उसे दण्ड दिया जाता था। अकाल के समय अन्न को अथवा राज्य के एकाधिकार वाली चीजों को बाहर भेजना वर्जित था। उस समय दूर-दूर जानेवाले वणिक्पथ भी थे, व्यापार की वस्तुएँ नदियों पर नावों से और स्थल पर बैलगाड़ी तथा पशुवाहनों पर लादकर देश में सर्वत्र बिकने जाती थीं।

इस परिच्छेद के लिये साहित्य

१. Cambridge History of India
२. मूकर्जी : Hindu Civilization
३. राव : The Age of the Mahabharata
४. त्रिपाठी : History of Ancient India
५. कीथ : A History of Sanskrit Literature

सातवाँ परिच्छेद

इतिहास-काल

इतिहास-पुराण का उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। अथर्ववेद इतिहास-पुराणों का स्पष्ट हवाला देता है। यह हमें पता नहीं कि ये पुराण कौन-से हैं। पुराणों में एक आदि अथवा मूल पुराण के प्रति संकेत मिलता है। संभव है यह अथर्ववेदवाला निर्देश उसी आदि-पुराण से संबंध रखता हो। ब्राह्मणों में भी 'आख्यानों', 'गाथाओं' और 'नाराशंसियों' उल्लेख है। ये गाथाएँ गायकों द्वारा उपयुक्त अवसरों पर गाई जाती थीं। इन्हें विशेष देवप्रिय समझते थे। कालान्तर में ये ही आख्यान, गाथाएँ और जन-प्रशस्तियों से विकसित होकर विस्तृत ऐतिहासिक काव्यों के रूप में प्रस्तुत हुईं। इस प्रकार के दो महाकाव्य इस समय रामायण और महाभारत के नाम से उपलब्ध हैं। हमें आज ज्ञात नहीं कि इस प्रकार के और कितने महाकाव्य लिखे गये, जो काल के गाल में समा गये। जो उपलब्ध हैं, उनमें एक तो रामायण है जिसमें दशरथ के बेटे राम के चरित्र का वर्णन है, पर साथ ही केन्द्रीय घटना के अतिरिक्त इसमें अन्य कथाएँ भी सुरक्षित हैं। दूसरा, महाभारत, एक अत्यन्त बृहद्ग्रन्थ है, जिसमें भारत-युद्ध के अतिरिक्त कालान्तर में घटित अन्य सैकड़ों कथाएँ दी हुई हैं। इनमें नल-दमयन्ती, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि ऐतिहासिक उपाख्यान वर्णित हैं।

काव्य-साहित्य का आरम्भ

रामायण

रामायण में सूर्यवंश के अयोध्या के राजा दशरथ और राम की कथा सुन्दर काव्य में कही गई है। यह २४,००० श्लोकों में संबद्ध प्रबन्ध-काव्य 'आदि काव्य' कहलाता है और इसके रचयिता महर्षि वाल्मीकि माने जाते हैं। संक्षेप में इसकी कथा इस प्रकार है :—

अयोध्या के राजा दशरथ की तीन रानियाँ थीं—कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। कौशल्या से राम उत्पन्न हुए, सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न, और कैकेयी से भरत।[1]

---

[1] रामायण की कथा का सार अंश बौद्ध जातक-कथाओं के 'दशरथ-जातक' में भी मिलता है। दशरथ-जातक संभवतः रामायण से प्राचीन है। उसमें लिखा है कि राम, सीता और लक्ष्मण कौशल्या की कोख से उत्पन्न भाई-बहन थे। कैकेयी के अनुरोध से राजा

राम का विवाह जनक की कन्या सीता से हो जाने के बाद दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था में राम को युवराज बनाना चाहा। जब अभिषेक की सारी तैयारियाँ हो गयीं, तब कैकेयी ने अपनी दासी मंथरा के बहकाने से अपने दो पुराने संचित और दशरथ द्वारा स्वीकृत वर उनसे माँगे। वे थे भरत को राज और राम को बनवास। दशरथ को इन्हें स्वीकार करना पड़ा। राम सीता और लक्ष्मण को लेकर बन चले गये। इधर दशरथ पुत्र-वियोग में परलोक सिधारे। भरत जब अपने ननिहाल से बुलाए गये, तब उन्होंने राज्य स्वीकार न किया। राम को मना लाने की उन्होंने बड़ी चेष्टा की, परन्तु उनके न आने पर उनकी खड़ाऊँ सिंहासन पर रख उनके प्रतिनिधि-स्वरूप नगर के बाहर से वे प्रजा-पालन करने लगे। इधर राम की पत्नी सीता को रावण हर ले गया। राम सीता के वियोग में कलपते फिरे। फिर सुग्रीव से मित्रता कर हनुमान की सहायता से उन्होंने लंका पर चढ़ाई की और रावण को मारकर चौदह वर्ष की बनवास की अवधि को समाप्त कर सीता के साथ अयोध्या लौटे। फिर उनका राज्याभिषेक हुआ और वे राज्य करने लगे। रामायण में यह कथा बड़ी सुन्दरता और ओज से वर्णित है। इसके सारे पात्र अद्भुत क्षमता से चित्रित किए गए हैं। यह महाकाव्य आदर्श आचरणों का भाण्डार है।

कुछ विद्वानों की राय में समग्र रामायण एक व्यक्ति द्वारा रचित नहीं है। उनका कहना है कि कुछ छोटे-मोटे प्रक्षिप्त स्थलों के अतिरिक्त पहला और सातवाँ काण्ड निःसन्देह बाद में जोड़े गये, क्योंकि इन काण्डों का मेल औरों से नहीं बैठता, और राम को जो विष्णु का अवतार कहा गया है, वह दो से छः तक के काण्डों के विरोध में है: इनमें राम का चरित्र मनुष्य की तरह माना गया है। राम की मानवता से देवत्व-प्राप्ति में प्रचुर समय लगा होगा। इसमें सन्देह नहीं कि रामायण में कुछ स्थल प्रक्षिप्त हैं; परन्तु उस समय राम विष्णु के अवतार मान लिए गए थे इसमें भी सन्देह का स्थान नहीं। पाणिनि की अष्टाध्यायी कम-से-कम ई० पू० पाँचवीं सदी में प्रस्तुत हो गयी थी और उससे कृष्ण के तब तक अवतार हो जाने की बात सिद्ध हो जाती है। फिर राम उस समय तक अवतार न समझे जाते रहे हों, यह स्वीकार करने की बात नहीं है यद्यपि यह माना जा सकता है कि कृष्ण राम से पहले विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे। कुछ लोगों का कहना है कि पाटलिपुत्र का नाम रामायण में नहीं मिलता और बौद्धों के साकेत के स्थान पर अयोध्या का उल्लेख मिलता है इससे उसे बौद्ध धर्म के उत्थान से पूर्व का होना चाहिए। इससे भी कोई विशेष निष्कर्ष नहीं निकलता, क्योंकि यदि उसमें पाटलिपुत्र और साकेत का उल्लेख नहीं है तो स्वयं बुद्ध

की आज्ञा मान वे बन चले गये। वहाँ से लौट आने के बाद राम ने सीता को ब्याहा। जातक कहानियाँ छठी शती ई० पू० में बुद्ध द्वारा कही गयीं; इसलिए उनका निर्माण-काल कम-से-कम लगभग आठवीं शती ई० पू० होगा। किस प्रकार यह अनुश्रुति बनी, यह कहना कठिन है। यह भी निश्चित करना आसान नहीं कि रामायणवाली कथा सही है या दशरथ-जातक की।

का तो है। फिर चूँकि प्राचीन कहानी में अयोध्या का ही बराबर जिक्र आया है और पुराणों में भी सूर्यवंश की राजधानी अयोध्या ही मानी गई है, इसलिए उसका नाम सर्वत्र रामायण में आया है। इससे कुछ भी निश्चित नहीं होता यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उस ग्रंथ का निर्माण, कतिपय स्पष्ट प्रक्षेपकों को छोड़कर मूल का, ५०० ई० पू० से पूर्व ही हो चुका होगा और ये प्रक्षिप्त स्थल भी संभवतः दूसरी सदी ई० पू० से पहले ही जोड़े जा चुके होंगे।[1]

परन्तु रामायण की तिथि यदि किसी प्रकार स्थिर हो भी गयी तो वह केवल उसकी रचना की होगी। उसमें वर्णित घटनाओं और पात्रों का समय निश्चित करना फिर भी शेष रह जाएगा। पाश्चात्य विद्वानों में लासेन, वेबर मैकडोनल, जैकोबी आदि ने तो रामायण को केवल कपोलकल्पना माना है। उनकी राय में रामायण आर्यों की दक्षिण-विजय की रूपकात्मक कहानी है। रावण और राम का युद्ध ऋग्वेद के वृत्र और इन्द्र का युद्ध है। राम इन्द्र हैं और सीता खेत की हराई जहाँ से उनकी उत्पत्ति होती है, आदि। परन्तु यह निरा अयुक्तियुक्त है। पुराणों और अन्य ब्राह्मणादि ग्रन्थों में जो हमें वंशवृक्ष और अन्य निर्देश उपलब्ध हैं, उनमें प्रत्येक में उचित स्थल पर राम की पिता-पुत्रवत् स्थिति है। संस्कृत साहित्य के सहस्त्रों स्थलों पर राम का और उनके आदर्श राज्य का वर्णन मिलता है जिससे उनके ऐतिह्य में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

रामायण का ऐतिह्य

अवतार और देवत्व हटा देने के बाद भी उनका मानवरूप अक्षुण्ण रहता है जिससे उनका ईक्ष्वाकुवंशीय राजा की हैसियत से कोशल की राजधानी अयोध्या में राज करना सिद्ध है। पुराणों की तालिका के अनुसार महाभारत-युद्ध से उन्हें करीब तीन सौ वर्ष पूर्व होना चाहिए। महाभारत-युद्ध का समय संभवतः, जैसा नीचे प्रमाणित किया गया है, १४५० ई० पू० के लगभग है। इस गणना के अनुसार राम का समय १७५० ई० पू० के लगभग होना चाहिए।

महाभारत

महाभारत काव्य-साहित्य का सबसे बड़ा, करीब एक लाख श्लोकों का, ग्रंथ है जो इसी कारण 'शतसाहस्री-संहिता' कहलाता है। यह ग्रंथ अठारह पर्वों में विभक्त है और 'हरिवंश' पुराण भी इसी का एक भाग है। अनेक प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक कथाओं तथा आख्यायिकाओं के अतिरिक्त इसमें श्रीमद्भगवद्गीता के से पूरे-पूरे ग्रंथ तक जुड़े हुए हैं, जो इसके वास्तविक अंग तो नहीं हैं, परन्तु कथा प्रसंग से जिनका संबंध अवश्य कर दिया गया है। इस बृहत् संहिता के रचयिता वेदों के संहिताकार द्वैपायक व्यास कहे जाते हैं। परन्तु इस ग्रंथ की भिन्न-भिन्न शैलियों, भाषा और विविध प्रसंगों से प्रमाणित है कि यह संहिता वास्तव में संहिता है और एक व्यक्ति अथवा एक समय की रचना नहीं है। आरंभ में युद्ध-घटना मात्र पर संभवतः यह काव्य रहा होगा, जो कथाओं और आख्यायिकाओं के जोड़ से इतना बृहत् हो गया। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार भी किसी समय इसमें केवल

---

१ मैकडोनल : A History of Sanskrit Literature, पृ० ३०६, ३०९।

२४,०००श्लोक थे। तब इसे 'जय' कहते थे। जय से तब तात्पर्य 'यतो धर्मस्ततो जयः' अथवा धर्म-जय है जिसका अर्थ पाण्डवों की जय हो सकता है। 'जय' के बाद उसका नाम 'भारत' पड़ा, फिर अन्त में 'महाभारत'। ये नाम इस संहिता के उत्तरोत्तर संवर्द्धित रूप का बोध कराते हैं। आश्वलायन गृह्य-सूत्र के रचना काल में ही इसका कोई न कोई रूप खड़ा हो चुका था। उसका समय लगभग ४०० ई० पूर्व है। महाभारत का यह रूप 'जय' अथवा 'भारत' का रहा होगा, फिर गुप्तकाल (लगभग ५०० ई०) के एक भूमिदान-संबंधी लेख से सिद्ध होता है कि महाभारत का एक लक्ष श्लोकोंवाला वर्तमान रूप भी तब तक खड़ा हो चुका था। गुप्तकाल के अन्य लेखों में भी महाभारत के श्लोकों के उद्धरण या निर्देश मिलते हैं। इस प्रकार महाभारत का बीज-रूप में आरंभ पाँचवीं सदी ई० पू० से होकर वर्तमान ५०० ई० के भी पहले समाप्त हो चुका था।

महाभारत की कथा

महाभारत का युद्ध, जो कभी 'जय' का वर्णन-प्रसंग था, धृतराष्ट्र के सौ और पाण्डु के पाँच पुत्रों में राज्य के लिए हुआ था। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव और पाण्डु के पाण्डव कहलाये। विचित्रवीर्य की मृत्यु के बाद उनका कनिष्ठ पुत्र पाण्डु राजा हुआ। धृतराष्ट्र के बड़े होने पर भी अन्धे होने के कारण उन्हें गद्दी नहीं मिली। पाण्डु की अकाल मृत्यु के बाद धृतराष्ट्र ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली। पाण्डु के बड़े लड़के युधिष्ठिर बड़े सत्यवादी और योग्य थे। उनके गुणों के कारण उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। इसलिए धृतराष्ट्र ने उन्हें अपना युवराज बना लिया। इससे उसका लड़का दुर्योधन, जो स्वयं राजा होना चाहता था, अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और अनेक प्रकार के धूर्त्त आचरणों से उसने पाण्डवों को अपनी माँ कुन्ती के साथ बन जाने पर विवश किया। इधर-उधर घूमते हुए पाण्डव लोग पंचाल के राजा द्रुपद की राजधानी में पहुँचे जहाँ द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा था। ऊपर की घूमती हुई मछली को नीचे तेल में देखकर बाण से अर्जुन ने बेधा। फिर पाँचों भाइयों ने द्रौपदी से विवाह कर लिया। राजा द्रुपद के बीच में पड़ने से धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को हस्तिनापुर का राज दिया और पाण्डवों को इन्द्रप्रस्थ का। परन्तु फिर भी दुर्योधन ने उनको चैन न लेने दिया। पाण्डवों का बढ़ता हुआ ऐश्वर्य उससे देखा न गया और उसने छल से जुए में युधिष्ठिर से उनका सारा राज-पाट और उनकी पत्नी द्रौपदी तक जीत ली। साथ ही पाण्डवों को बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का एकान्तवास भी मिला। इसके बाद पाण्डवों ने फिर अपना हक माँगा, परन्तु दुर्योधन ने उसे ठुकरा दिया। वासुदेव ने बीच-बचाव कर परस्थिति सँभालनी चाही, परन्तु दुर्योधन के स्वार्थ के आगे कुछ भी न हो सका। फिर कौरव-पाण्डवों में युद्ध छिड़ गया और कुरुक्षेत्र का यह घनघोर युद्ध अठारह दिन चला जिसमें अगणित नर-हत्या हुई और भीष्म, द्रोण, दुर्योधनादि मारे गये। कृष्ण की सहायता से युद्ध जीतकर युधिष्ठिर ने कुछ काल तक शान्ति और गौरव से राज किया। फिर वे अर्जुन के प्रतापी पौत्र परीक्षित को राज देकर अपने भाइयों और द्रौपदी के साथ हिमालय की ओर चले गये।

महाभारत युद्ध की घटना के ऐतिह्य में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

युद्ध काफी बड़ा था और यद्यपि उसका कारण घरेलू था, उसमें भाग दूर-दूर के राजाओं ने लिया था। कुरुओं की शक्ति और उनका गौरव वेदों के समय से ही प्रतिष्ठित हो चुका था। पाण्डवों ने अपने राजसूय आदि यज्ञों से भी बड़ा यश प्राप्त कर लिया था। फिर तब के सबसे महान् व्यक्ति वासुदेव कृष्ण उस युद्ध में एक पक्ष के सहायक थे। इस कारण भी इस युद्ध का प्रभावशाली होना स्वाभाविक था। परीक्षित, जनमेजय और अन्य पाण्डवों के नाम अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं। इसलिए उनकी ऐतिहासिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता। साथ ही उनका समय भी काफी प्राचीन होना चाहिए, क्योंकि राजा परीक्षित का नामोल्लेख अथर्ववेद तक में हुआ है। स्वयं राजा शन्तनु का नाम ऋग्वेद में मिलता है।

महाभारत का ऐतिहासिक महत्व

इतिहास-काल की संस्कृति

रामायण-महाभारत-काल की संस्कृति जानने के लिए उन काव्यों में प्रचुर सामग्री विद्यमान है। उसीके आधार पर राजा और प्रजा की दशा आगे के पृष्ठों में दी जाती है। परन्तु यह भले प्रकार स्मरण रखना चाहिये कि चूँकि इन दोनों रचनाओं में अनेक-कालीन विविध स्तर हैं और चूँकि सर्व-प्रथम स्तर भी उसमें वर्णित ऐतिहासिक घटना के बहुत बाद प्रस्तुत हुआ था, इनकी सामग्री से संकलित इतिहास तत्कालीन नहीं हो सकता। वास्तव में वह विभिन्नकालीन होगा, और वह भी विविध रचना-काल से संपर्क रखेगा, घटना-काल से सुदूर। भ्रमवश यह न समझना चाहिये कि यह इतिहास रामायण-अथवा महाभारत-घटना-कालीन है।

इन काव्यों का राजा स्वेच्छाचारी नहीं था। उसकी स्वेच्छाचारिता पर उसके भाइयों, सभ्यों, मंत्रियों और प्रजा-प्रतिनिधियों आदि के मत अंकुश का काम करते थे। राजा का आचरण तत्कालीन संस्थाओं के अपने-अपने नियमों से भी बहुत कुछ सीमित था। ये संस्थाएँ थीं—कुल, जाति, श्रेणी और पूग। जाति से तात्पर्य वर्णों से था, श्रेणी का व्यावसायिक संघों से और पूग का जनवर्गों से। दुष्ट राजा सिंहासनच्युत कर दिया जाता था या 'पागल कुत्ते की तरह' मार दिया जाता था। राजा का उत्तराधिकारी भी अन्धा या अपांग होने से राज्याभिषिक्त नहीं हो सकता था। राजा स्वयं अर्थ-युक्त क्रियाओं से अभिषिक्त होता था। राज्यारोहण के समय उसे प्रजार्थ-साधक, प्रजा-रक्षक तथा अस्वेच्छाचारी होने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी और इस प्रतिज्ञा से च्युत होने पर उसका अधिकार व्यवहार (कानून) से उठ जाता था। शान्ति और युद्ध-काल में राजा प्रजा का नेता समझा जाता था। उससे यह आशा की जाती थी कि वह युद्ध-यात्रा मंत्रियों की राय और पुरोहित के आशीर्वचन से करे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कालान्तर में वह इनकी उपेक्षा कर अपने अन्य राष्ट्र-मित्रों के अनुसार आचरण करने लगा होगा। प्राचीन काल की 'सभा' की शक्ति बहुत हद तक अब सीमित हो चुकी थी। उससे केवल युद्ध-संबंधी प्रसंगों पर जब-तब राय ले ली जाती थी। राजा बड़े ऐश्वर्य और शान से रहता था। उसके दरबार में नर्तकियाँ नृत्य करती थीं और संदिग्ध

राजा

आचरणवाली स्त्रियाँ उसे घेरे रहती थीं। इनमें से कुछ समय-समय पर पत्नी का गौरव भी प्राप्त कर लेती थीं। राजा के विशिष्ट मनोरंजन थे—संगीत, द्यूत-क्रीड़ा, आखेट, पशु-युद्ध और मल्ल-युद्ध। अपने प्रासाद के ही एक भाग में वह अपना दरबार करता और न्याय-दण्डादि संपन्न करता था। वृद्धावस्था में अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दे वह प्रायः वाणप्रस्थ धारण कर लेता था। उसकी राजधानी परिखा और प्राकार से वेष्टित तथा रक्षित रहती थी। नगर के प्राचीरों में अनेक विशाल द्वार और बुर्जियाँ होती थीं। प्राकार के भीतर संगीत-शाला, प्रमदवन (आमोद-उपवन), राजप्रासाद, सभ्यों और मंत्रियों के महल तथा सौदागरों की पण्यवीथी (बाजार) और राजमार्ग होते थे। राजमार्ग पर रात्रि में प्रकाश जलते थे और उनकी धूल जल के छिड़काव से नम की जाती थी।

राजा मंत्रि-परिषद् की सहायता से राष्ट्र का शासन करता था। इस परिषद् में चार ब्राह्मणों, आठ क्षत्रियों, इक्कीस वैश्यों, तीन शूद्रों और एक सूतों के प्रतिनिधि बैठते थे।[1] प्रधानामात्य और मंत्री तथा सभ्य (सभा के सदस्य) सूक्ष्मदर्शी, विद्वान्, आशुबुद्धि, ईमानदार और नीतिकुशल होते थे। इस मंत्रि-परिषद् के अतिरिक्त राजा शासन में अपने अधीनस्थ सामन्तों, युवराज, कुल-मुख्यों और अन्य उच्चपदाधिकार-राजपुरुषों की सहायता लेता था। इन उच्चपदस्थ राजपुरुषों में निम्नलिखित मुख्य थे—पुरोहित, चमूपति (सेनापति), द्वारपाल (वह केवल साधारण मंत्री न था वरन् राजप्रासाद की रक्षक सेना का अध्यक्ष भी प्रतीत होता है), प्रदेष्टा (न्यायाधीश)' धर्माध्यक्ष (न्यायपति), दण्डपाल (पुलिस का अध्यक्ष), नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणकृत (कार्यों का विधायक), कारागाराधिकारी, दुर्गपाल, इत्यादि।

शासन

शासन का निम्नतम अंक ग्राम था। उसका मुखिया 'ग्रामणी' होता था। ग्राम अपने शासन में प्रायः स्वतंत्र होते थे और अपना प्रबन्ध आप करते थे। ग्रामणी ही की तरह दस गाँवों का शासक 'दशग्रामी', बीस का 'विंशतिप', सौ का 'शतग्रामी' और हजार का 'अधिपति' कहलाता था। इन अधिकारियों का कर्त्तव्य लगान उगाहना, अपराधियों को पकड़कर दण्ड दिलाना और अपने-अपने शासन के अन्तर्गत शान्ति कायम रखना था। इनमें नीचेवाले क्रम से ऊपरवालों के अधीन होते थे। नीचेवाला अपने से ऊपरवाले के प्रति अपने शासन के लिए उत्तरदायी था और इस प्रकार सभी अन्त में राजा के प्रति जवाबदेह होते थे।

सेना चार प्रकार की थी—गजदल, रथदल, हयदल और पदाति। इन चार अंगों से युक्त होने के कारण वह 'चतुरंगिणी' कहलाती थी। इसमें राजकुल तथा मुख्य राजन्य कुलों के श्रीमानों से लेकर साधारण सैनिक तक भर्ती होते थे। लड़ाई में धनुष-बाण, भाले-बर्छे, तलवार-परशु आदि अस्त्र-शस्त्र-प्रयुक्त होते थे। रक्षा के लिए कवच और शिरस्त्राणादि का उपयोग होता था। युद्ध में मरना गौरव की बात समझा जाता था। क्षत्रिय यश, स्वर्ग और राजा के लिए लड़ते थे। मरे हुए व्यक्तियों की विधवाओं को जीविकार्थ एक प्रकार की पेंशन दी जाती थी। जो लोग युद्ध में बन्दी होते थे

सेना

---

१ महाभारत, शान्तिपर्व, ८५, ७—११।

वे विजेता के प्रति कम-से-कम एक वर्ष तक दास का आचरण करते थे। कभी-कभी वे विशेष नियमों के पूरा होने पर मुक्त कर दिए जाते थे।

महाभारत का शान्ति पर्व (अध्याय १०७, श्लोक ६३२) गण-राज्यों का वर्णन करता है जिनमें अनेकाधिपत्य था और जहाँ का शासन प्रजा के अनेक प्रतिनिधि मिलकर संपन्न करते थे। इनकी शक्ति और समृद्धि अन्तर्युद्ध के अभाव, मन्त्र-गुप्ति, नेताओं के मतानुसरण और प्राचीन तथा नवीन व्यवहार (कानून), नियम और प्रतिष्ठित प्रथाओं के अनुकरण पर निर्भर थी। कभी-कभी अनेक गणों का समूह मिलकर अपना एक संघ स्थापित कर लेता था। शान्तिपर्व का ८१ वाँ अध्याय कृष्ण को इसी प्रकार के एक अन्धक-वृष्णि-संघ का प्रधान कहता है।

गण-राज्य

वर्ण-धर्म सर्वथा प्रतिष्ठित हो चुका था। ब्राह्मण और राजन्य समाज के विशिष्ट अंग थे। शूद्र नीच समझे जाते थे। उनका धर्म सेवा और दासता था। वे संपत्ति के अधिकारी नहीं हो सकते थे। स्त्रियों के अधिकार परिमित हो चुके थे। उनकी स्थिति निम्नतर हो चुकी थी। उनके वैदिक-काल के अधिकार परिमित होचुके थे। सती-धर्म का बोलबाला था। पुरुष अनेक स्त्रियों से विवाह करता था। नारियों में परदे की प्रथा प्रारंभ हो चुकी थी। फिर भी शायद स्वयंवर कीप्रथा कुछ अंश तक अभी जीवित थी।

जनता

जनता साधारणतया मिट्टी के दुर्गों के चतुर्दिक् गाँवों में रहती और पशुपालन तथ कृषि आदि करती थी। आपत्काल में, युद्ध अथवा शत्रु द्वारा पशु छीने जाने की आशंका होने पर इन दुर्गों के भीतर वे जा छिपते थे। ग्राम अधिकतर अपने शासन में स्वतंत्र थे, परन्तु राजा सबका रक्षक और शासक होने के अधिकार से उनमें न्याय वितरित करता और उनसे कर (लगान) वसूल करता था। कर आवश्यकतानुसार लगाए और प्रायः उपज (अन्नादि) के रूप में स्वीकार किए जाते थे। सौदागर और सार्थवाह नगरों में रहते थे। ये लोग व्यापार के सिलसिले में बाहर से बहुत-सा धन लाते और उसपर राजा को कर देते थे। नागरिक लोग अपने जुरमाने और कर संभवतः सिक्कों में देते थे। तोल के बटखरों के वजन पर निगाह रखने के लिए बाजार की भी काफी निगहबानी की जाती होगी। सौदागरों और शिल्पियों के संघों को प्रचुर अधिकार प्राप्त थे। वे काफी प्रभावशाली थे और राजा पुरोहितों के बाद उन्हीं के 'महाजनों' का सम्मान और आदर करता था। नगर के शासन में भी उनका हाथ था।

लोग प्रायः मांस खाते और शराब पीते थे। परन्तु उनका झुकाव शाकाहार भोजन की ओर अधिकतर होता जा रहा था। प्राचीन काल के मेधावी महापुरुषों के अहिंसा को परम धर्म (छान्दोग्य उपनिषत्, ३, १७, ४) कहकर उसका उपदेश करने के बाद ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक था।

प्राकृतिक शक्तियों की पूजा अब बन्द हो गयी थी। वैदिक देवताओं का स्थान ब्रह्मा,

विष्णु और शिव ने ले लिया था। अन्य कई नए देवता और सूर्य, गणेश, दुर्गा आदि अब पूजे जाने लगे थे। धर्म की संस्थापना और दुष्टों के दलन के लिए विष्णु का अवतार धारण करना एक साधारण जन-विश्वास हो गया था।

धर्म

इसके साथ ही आत्मा का आवागमन, जो, उपनिषदों का उपदेश था, एक सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया। महाकाव्यों से पता चलता है कि आधुनिक हिन्दू विश्वासों की परम्परा की नींव तभी पड़ गई थी।

परिशिष्ट

महाभारत की तिथि

महाभारत की युद्ध-घटना की तिथि पर मतभेद है। कुछ विद्वानों को तो महाभारत के ऐतिह्य पर भी सन्देह है, परन्तु सौभाग्यवश ऐसे विचारों की संख्या थोड़ी है। आर्यों में परस्पर युद्ध होते थे यह सत्य है। यह अनिवार्य भी था। भारतवर्ष में गाँव बसाकर बसने के पूर्व आर्यों का जीवन बहुत कुछ कबीलों का-सा था। उन्होंने स्वयं अपने को 'जन' कहा है जिसका सीधा-निकट अर्थ क़बीला (tribe) होगा। क़बीलों का आपस में लड़ना कुछ अजीब न था। इस प्रकार आर्य भी अधिकतर लड़ते रहते थे—अनार्यों से और परस्पर भी। स्वयं ऋग्वेद में एक विख्यात महासमर का उल्लेख है जिसमें दस पराक्रमी राजाओं ने अपने 'जनों' के साथ भाग लिया था, और फलतः जो 'दाशराज्ञ-युद्ध' कहलाया। पहले हम इस युद्ध का अनेक बार हवाला दे आए हैं। इस प्रकार के अनेक युद्ध हुए होंगे जिनमें कुछ का निर्देश हमें पिछले वैदिक और पौराणिक साहित्य में मिलता है। महाभारत का युद्ध भी इसी प्रकार का इन्हीं में से एक था, शायद अन्तिम। महाभारत की युद्ध-घटना पर सन्देह करना और उस युद्ध का विशद वर्णन, जो हमें महाभारत के इतिहास में उपलब्ध है, कल्पना-सिद्ध मानना स्वयं एक कष्ट-कल्पना है। आज भी जब कल्पना का साम्राज्य काव्य और कहानी-कला में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया है, कल्पित वस्तु-कथा का आधार सर्वथा भौतिक है, तब प्राचीन काल के उस स्थूल संघर्ष को कल्पना मानना नितान्त अयुक्तियुक्त होगा। महाभारत की नींव एक घोर नरसंहारक घटना पर टिकी है। इसकी सम्यता महाकवि होमर के महाकाव्यों की भौतिक सम्यता से कहीं बढ़कर है। पाश्चात्य विद्वान् अभी हाल तक उस होमर वर्णित विश्वविख्यात ट्रोजन-युद्ध को कल्पित मानते थे। यहाँ तक कि जब उस लगनशील पुरातत्त्ववेत्ता और मेधावी खनक श्लीमान (Schliemann) ने उत्साहवश अपनी खुदाइयों में सम्यता के एक स्तर को ट्राय का भग्नावशेष कहा, तब उसकी हँसी उड़ाई गयी। इङ्गलैण्ड, फ्रांस और स्वयं उसके देश जर्मनी में उसे हास्यास्पद बनाने के लिए लंबे-लंबे लेख लिखे गये। परन्तु जब उसके अध्यवसाय ने सचमुच ही ट्रोजन-युद्ध और ट्राय की सम्यता के कितने ही स्तर ढूँढ निकाले तब वे ही विद्वान् उसकी खोजों पर टूट पड़े और उसकी अधिकतर 'कल्पनाओं' को ही वैज्ञानिक इतिहास का श्रेय मिला। अभी हाल में ही

कुछ विद्वानों ने उस खुदाई में पाई गयी कुछ समाधियों को ट्रोजन-युद्ध में भाग लेनेवाले एकाइलिज् और अगामेम्नन-सरीखे विशिष्ट योद्धाओं की कब्र माना है। भारत में उस काल दफ़नाने की प्रथा न होने के कारण कर्ण-दुर्योधनादि की समाधियों की खोज और प्राप्ति की तो हमें आशा नहीं, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि साहित्य के स्तरों में समाहित इस महाभारतीय युद्ध-घटना की खोज की जाय तो उसके अनेक भग्नावशेष उपलब्ध होंगे। महाभारत-युद्ध के अनेक प्रधान पुरुष जैसे धृतराष्ट्र, विचित्रवीर्य आदि के नाम ब्राह्मणों और उपनिषदों में मिलते हैं। फिर इस युद्ध के विवरण और संकेत अनेक पुराणों, काव्यों और नाटकों में मिलते हैं। संस्कृत साहित्य और भारतीय अनुवृत्त महाभारत के निर्देशों से भरे पड़े हैं। उपनिषद् रूपी धेनु से दुही 'गीता' स्वयं उसी महाभारत-ग्रन्थ का एक खण्ड है, और उस युद्ध का प्रवेशक। अतः महाभारत की घटना में संदेह करना आज के महासमर के प्रति संदेह करने के समान अयुक्त है। पुराणों में प्राचीन राज-वंशों की जो तालिका दी हुई है, उसमें भी महाभारत के प्रमुख पात्रों के नाम आ जाते हैं, जो परस्पर विपक्षी और विविध वंशों के हैं। महाभारत का स्थान ऋग्वैदिक आर्यों के प्रसार के अन्तिम छोर में है और यह पूरी आर्य-शृंखला के नीचे पड़ता है। इसकी घटना के बाद ही उस काल का प्रारंभ होता है, जो अनुमित है। साहित्य-अनुमित काल का निम्नतम छोर तिथिपरक इतिहास के ऊर्ध्वतम छोर से प्रायः मिला रहता है। भारत के तिथिपरक इतिहास का प्रारंभ प्रायः गौतम बुद्ध के समय यानी छठी शताब्दी ई० पूर्व में है। इस प्रकार साहित्य-अनुमित काल का एक छोर ऊपर महाभरत-काल को छूता है और दूसरा छठी शती ई० पूर्व को।

इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह और है कि महाभारत-युद्ध की तिथि का ऋग्वेद की निर्माण-तिथि से घना संबंध है। स्वयं ऋग्वेद का निर्माण-काल निश्चित करने में महाभारत का काल-निर्णय अवश्य होगा। इसका मुख्य कारण यह है कि ऋग्वेद और अन्य वेदों को संहिता रूप में संपादित करनेवाले द्वैपायन व्यास महाभारत-कालीन व्यक्ति हैं, यद्यपि युद्ध-काल से वे कुछ पूर्व के हैं। फिर उनके समकालीन और उसी महाभारत के शीघ्र पूर्व के कुछ विख्यात व्यक्तियों के नाम ऋग्वेद में मिलते हैं। वे हैं कौरव-पाण्डवों के प्रपितामह भीष्म के पिता शन्तनु तथा उनके भाई देवापि। जब देवापि को राज्य न मिल सका तब वे अपने भाई राजा शन्तनु के ऋत्विक् हो गये। इन्हीं शन्तनु और देवापि के नाम हमें ऋग्वेद में मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वे मंत्र जिनमें ये नाम आए हैं, उसके अन्तिम मंत्रों में से हैं और समय की माप में वे महाभारत-युद्ध से लगभग पचास वर्ष पूर्व के बने हैं। अतः ऋग्वेद के अंतिम स्तर का निर्माण-काल और संपूर्ण ऋग्वेद और अन्य तीन वेदों का संहिता-संपादन-काल प्रायः एक है, अर्थात् महाभारत-युद्ध से लगभग ५० वर्ष पूर्व। अब देखें, महाभारत-युद्ध का समय क्या हो सकता है?

महाभारत-काल के संबंध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। कुछ लोगों ने इसे ३१०२ ई० पू० में रखा है और कुछ ने नवीं शताब्दी ई० पूर्व में। एक और तिथि १४०० ई० पू० के लगभग भी कुछ विद्वानों ने मानी है, जो प्रायः सही जान पड़ती है। अब तक जिन

प्रमाणों के आधार पर इन तिथियों पर विद्वान् पहुँचे हैं, वे अधिकतर साहित्य के अध्ययन पर अवलंबित हैं। परन्तु इधर हाल में जो मध्य एशिया में कुछ पुरातत्व-संबंधी खुदाई हुई है, उसका हवाला ये प्रमाण नहीं देते। नीचे यथा-संभव इस सामग्री का भी उपयोग किया जायेगा।

महाभारत की तिथि जिन प्रमाणों से ३१०२ ई० पू० के लगभग रखी जाती है, उनका आधार ज्योतिष-संबंधी अनुवृत्त है। महाभारत के कई स्थलों पर इस बात का उल्लेख मिलता है कि कलयुग का प्रारंभ इस युद्ध के अवसर पर ही होगा अथवा युधिष्ठिर के राज्याधिरोहण के समय या श्रीकृष्ण की मृत्यु के अनन्तर। इस कारण कुछ लोगों ने महाभारत-युद्ध का काल ई० सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व रखा है। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि कलियुग के आरंभ की तिथि ३१०१ ई० पू० पहले-पहल भारतीय ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने मानी। वराहमिहिर के पूर्व के ज्योतिर्विदों में कलियुग की इस प्रारंभिक तिथि के संबंध में कोई अनुश्रुति नहीं, यह कम मार्के की बात नहीं। वराहमिहिर ईसा बाद पाँचवीं शती अर्थात् गुप्तकाल में हुए। इसका तात्पर्य यह है कि कलियुग के आरंभ होने की यह तिथि अथवा महाभारत-युद्ध का समय यदि ३१०१-२ ई० पू० के लगभग मान लिया जाय तो इन दोनों तिथियों का अंकन पाँचवीं सदी ईस्वी में अर्थात् घटना के प्रायः ३५०० वर्षों के बाद पहले-पहल हुआ जब कि गणक स्वयं उस तिथि से शताब्दियों नहीं, वरन् सहस्राब्दियों दूर था। क्या कारण कि भारतीय ज्योतिषियों की अनुश्रुति में यह तिथि वराहमिहिर के पूर्व कहीं एक बार भी उल्लिखित नहीं हुई? अच्छा, अब जरा देखें कि स्वयं वराहमिहिर इस तिथि पर पहुँचे किस प्रकार। उनकी गणना कितनी भ्रान्तिमूलक है यह उसकी शैली से स्पष्ट हो जाएगा। वे कल्पना करते हैं कि महाभारत का युद्ध अवश्य किसी ऐसे काल में हुआ होगा जब ग्रहों और नक्षत्रों की दशा अमुक रही होगी, वरना इतने प्रलयंकर संहार का परिघटन संभव नहीं। ऐसा सोचकर उन्होंने अब ऐसी ग्रह-दशा पर विचार करना आरंभ किया और गिनते-गिनते एक ऐसी गणना पर वे पहुँचे जो वांछनीय थी। उसका समय से मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि वह काल ३१०१-२ का रहा होगा। इस कारण महाभारत का युद्ध भी तभी हुआ होगा। स्पष्ट है कि यह गणना भ्रमात्मिका है। प्रथम तो यही सिद्ध करना कठिन है कि महाभारत ऐसी घटना थी। यह प्रमाणित करना कठिन है कि महाभारत में इतने भी आदमी, अथवा उसके चतुर्थांश भी, मरे थे जितने सन् १९१४ के महासमर में (करीब ६००००००) अथवा सन् १९४२ की लड़ाई में मरे। उस समय की जन-संख्या भी इतनी थी, इसी में सन्देह हो सकता है, क्योंकि यह बात भूलने की नहीं कि अकबर के समय की जन-संख्या* जब साधारण अनुमान से प्राचीन काल की संख्या से कहीं अधिक बढ़ चुकी थी, कुल सोलह करोड़ के लगभग थी। फिर भी यदि इसे मान भी लें तो एक अजीब अन्योन्याश्रय-न्यास का सामना करना पड़ता है। किसी बात को प्रमाणित करने के लिए कल्पना की जा सकती है, की जाती है; परन्तु जब वह प्रमाणित हो जाती है तब वह कल्पना या तो स्वयं स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है या उसे अन्य प्रमाणों से सिद्ध करना पड़ता है। आरंभ में ही वराहमिहिर

ने घोड़े के सामने गाड़ी खड़ी कर दी। उनका कहना है कि ऐसे महत्त्व की घटना घटित होने के लिए अमुक ग्रहदशा अनिवार्य है। प्रकृति के नियमों में अपवाद नहीं हो सकता। यदि उसमें एक भी अपवाद हो जाय तो उसे प्राकृतिक नियम नहीं मान सकते। उदाहरणतः यदि किसी दिन सूर्य न निकले अथवा पश्चिम में निकल आवे तो 'सूर्य नित्य उदय होता है' या 'सूर्य पूर्व में उदय होता है' ये वाक्य प्राकृत उस अर्थ में नहीं माने जा सकते। इसी प्रकार यदि जीवों के अवश्य-मरण में एक भी अपवाद हो जाय तो मृत्यु प्राकृत-सत्य नहीं मानी जा सकती। यदि ऐसा है तो सन् १९४२ का महासमर भी जिसकी संहारकता और जिसका विस्तार महाभारत से कहीं बढ़कर रहा है, किसी ग्रह-दशा-विशेष का फल होना चाहिए। पर ऐसा है नहीं और न किसी वैज्ञानिक ज्योतिर्विद ने ऐसा सोचा ही। सो यह कल्पना कि महाभारत की युद्ध-घटना किसी ग्रह-दशा-विशेष के फल-स्वरूप हुई होगी, अत्यन्त दोषयुक्त है। फिर इस भ्रमभित्ति पर अपना आधार रखनेवाला निश्चय स्वयं भ्रमपूर्ण क्यों न होगा? इस प्रकार इस विश्वास का उत्तर भाग अर्थात् उस ग्रह-दशा की गणना नितान्त अयुक्तियुक्त होगी। अतः महाभारत की तिथि ३१०२ ई० पू० नहीं हो सकती। यहाँ यह कह देना उपादेय होगा कि पुराण एक स्वर से परीक्षित और नन्द के राज्यारोहण में केवल एक सहस्र वर्षों का अन्तर मानते हैं जिसके अनुसार यह युद्ध लगभग १४०० ई० पू० के आसपास होना चाहिए, क्योंकि नन्द का समय चौथी शती ई० पू० सब प्रमाणों से निश्चित और सर्वमान्य है। कोई कारण नहीं कि पुराणों के इस वक्तव्य को हटाकर वह भ्रमपूर्ण ३१०२ ई० पू० वाला सिद्धान्त माना जाय, जब पुराण हमारी ऐतिहासिक अनुश्रुतियों के आकर और रक्षक हैं। इतिहास की पौराणिक धारा अवश्यमेव ग्राह्य होनी चाहिए क्योंकि प्राचीन भारतीय इतिहास के वे एकमात्र संकलन हैं और उनका निर्देश स्वयं अथर्ववेद में हुआ है।[1]

इसी प्रकार महाभारत में युद्ध अथवा उससे संबद्ध अन्य घटनाओं के संबंध में आए नक्षत्रों और ग्रहों के स्थानादि ज्योतिर्विषयक सामग्री द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों से भी इस युद्ध का समय निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु जो लोग इस प्रकार की राय कायम करते हैं, उन्हें यह बात न भूलनी चाहिए कि इस मत पर उनके अनुकूल विचार करने के लिए वर्तमान महाभारत के पाठ पहले स्थिर करना अनिवार्य होगा। इसके अतिरिक्त एक बात और यह भी महत्त्व की है कि प्रस्तुत महाभारत की इस संबंध की सामग्री परस्परविरोधी है और उसपर विचार करने के पूर्व हमें कुछ को तो प्रक्षिप्त, कुछ को अतिरंजित आदि कहकर त्याग देना पड़ेगा। इस प्रकार की सामग्री पर मत-निर्धारण अत्यन्त असंतोषजनक होगा।

इसलिये इन कल्पनाओं को छोड़ महाभारत का समय निश्चित करने के लिए हमें अन्य अपेक्षाकृत विश्वस्त प्रमाणों का सहारा लेना पड़ेगा। वैदिक साहित्य में वर्णित गुरु-परम्परा और वंशावलियों से प्रादुर्भूत और महाभारत-युद्ध के पश्चात् तथा शैशुनाग-वंश के पूर्व होनेवाले राजाओं के संबंध में उपलब्ध सामग्री पर विचार करने से एक विशिष्ट मार्ग सूझेगा जिसपर चलकर महाभारत की तिथि पर पहुँचना कुछ सुकर होगा। उनमें से पहला

१ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य गाथानां नाराशंसीनां स प्रिय धाम भवति य एवं

यानी साहित्य की गुरु-वंशावली का आधार लेकर श्रीराय चौधरी ने महाभारत का काल ई० पूर्व नवीं शती के मध्य में रखा है।[१] परन्तु इस तिथि में भी एक दोष है। इस तिथि के संबंध में जिन प्रमाणों का विशेषकर सहारा लिया गया है, वे ये हैं :—

१. गौतम बुद्ध के समकालीन व्यक्तियों में आश्वलायन और शांखायन गृह्य-सूत्रों के रचयिता थे। इस कारण उनका समय प्रायः ५५० ई० पू० हुआ।

२ गृह्य-सूत्र के रचयिता शांखायन और शांखायन-आरण्यक के रचयिता गुणाख्य शांखायन संभवतः एक ही व्यक्ति हैं। यह गुणाख्य शांखायन कहोल कौषीतकि का शिष्य था। इस कारण इसका समय भी लगभग ५०० ई० पू० के हुआ।

३. यदि ये दोनों ग्रंथकार एक ही व्यक्ति न भी थे तो कम-से-कम गुणाख्य तो अवश्य छठी शती ई० पू० से पहले का नहीं हो सकता, क्योंकि उसने अपने आरण्यक में लौहित्य और पौष्कर आदि का उल्लेख किया है जो बुद्ध के समकालीन थे।

४. शांखायन आरण्यक से पता चलता है कि गुणाख्य का गुरु कहोल कौषीतकि स्वयं उद्दालक अरुणि का शिष्य था। यह उद्दालक राजा जनमेजय के पुरोहित तुर कावषेय से आठ-नौ पीढ़ी पीछे हुआ—ऐसा शतपथ ब्राह्मण की वंशतालिका से मालूम होता है। इस प्रकार परीक्षित बुद्ध के समय से केवल नौ पीढ़ी पूर्व ठहरता है। अतः महाभारत-युद्ध का समय नवीं शती ई० पूर्व का मध्य होना चाहिए।

ऊपर के प्रमाण स्वभावतः सिद्ध माने जा सकते थे यदि नं० २ और ३ में दिए गए प्रमाणों की कल्पनाएँ विवादास्पद न होकर सिद्ध हो सकतीं। यह अत्यन्त संदिग्ध है कि आरण्यक और गृह्य-सूत्र के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं। यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता। एक के रचयिता का नाम गुणाख्य और दूसरे ग्रंथकार का सुयश है। फिर बुद्ध के समकालीन लौहित्य और पौष्कर आदि का आरण्यक में आए उन्हीं नामों के व्यक्तियों के साथ एकीकरण भी अत्यन्त सन्देहयुक्त है। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि ये नाम व्यक्तिवाचक नहीं, उपाधिवाचक अथवा कुलवाचक हैं, और संभव है इनका प्रयोग उन व्यक्तियों तक ने किया हो जो समय की गणना में परस्पर शताब्दियों दूरस्थ हैं। जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण की वंश तालिका से विदित होता है कि लौहित्य नामक उपाधि के कम-से-कम बारह व्यक्ति हुए।[२] इस कारण यह स्थिर करने के लिए कि नवीं शती ई० पू० में महाभारत-युद्ध हुआ, इन प्रमाणों से अधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाणों की आवश्यकता होगी।

पार्जिटर ने भारत युद्ध का समय दसवीं शती ई० पू० माना है। पार्जिटर का सिद्धान्त जिन प्रमाणों पर अवलंबित है उनका संबंध है जनमेजय द्वितीय के प्रपौत्र अधिसीम कृष्ण और राजा नन्द के राज्यारोहण के बीच राज करनेवाले पौराणिक इतिवृत्त में वर्णित अनेक राजवंशों के राजाओं की संख्या पर निर्भर करनेवाली गणना से। पार्जिटर का विचार है कि इन दोनों घटनाओं के बीच छब्बीस राज्यकालों का अन्तर है। प्रत्येक राज्यकाल को

---

१ Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण, पृ० २७-२९

२ Ancient Indian Historical Tradition, पृष्ठ १८२।

१८ वर्षों का औसत देने से अधिसीम कृष्ण का समय लगभग ८५० ई० पू० में और पाण्डवों का एक शती और पूर्व ठहरता है।

यह सिद्धान्त भी पूर्णतया शुद्ध नहीं है, क्योंकि स्वयं पौराणिक सामग्री स्पष्ट और नितान्त शुद्ध नहीं। यह सन्दिग्ध है कि पूर्ववर्ती वंश (जिनका उल्लेख पुराण करते हैं) अधिसीम कृष्ण और नन्द के सारे अन्तर में केवल स्वयं फैले रहे और अन्य अनुल्लिखित राजाओं ने उस काल में राज नहीं किया। पुराण कहते हैं—

शतानि त्रीणि वर्षाणि षष्टिर्वर्ष शतानि तु।
शिशुनागा भविष्यन्ति राजानः क्षत्रबन्धवः॥
एतैः सार्द्धं भविष्यन्ति तावत्कालं नृपाः परे।
तुल्यकालं भविष्यन्ति सर्वे ह्येते महीक्षितः॥[1]

इस संदर्भ से स्पष्ट है कि 'एतैः सार्धम्' का सम्बन्ध पूर्व श्लोक के 'शिशुनागों' से है। अतः इस कथन के बाद आनेवाले विविध वंश शिशुनागों के ही समकालीन होंगे और स्पष्टतया फिर उनका राज्यकाल अधिसीम कृष्ण और नन्द के बीच के अन्तर को न भर सकेगा। परन्तु स्वयं यह निष्कर्ष भी शुद्ध नहीं क्योंकि समकालीन वंशों में ही अधिसीम कृष्ण के चौबीस पौर वंशजों का उल्लेख हुआ है जिनमें से कम-से-कम कुछ तो अवश्य शिशुनागों के पूर्ववर्ती रहे होंगे। इस प्रकार भारत-युद्ध के अनन्तर के वंशों के संबंध में पौराणिक इतिवृत्त कुछ उलझा-सा मालूम होता है। इसी कारण उस बीच की राज्य-काल संख्या भी शुद्ध नहीं प्रतीत होती। अतः इनके ऊपर निर्भर करते हुए भी हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते।

पौराणिक सूत महाभारत-युद्ध के बादवाले राजकुलों के सम्बन्ध में सही-सही वृत्तान्त तो नहीं याद रख सके, फिर भी वे इस युद्ध की तिथि को न भूले। पुराणों का वक्तव्य है कि परीक्षित के जन्म और राजा नन्द के राज्यारोहण के बीच हजार वर्षों का अन्तर है। यह पौराणिक अनुश्रुति, जो कई पुराणों में मिलती है, सच्ची है और इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं दीखता, न इसके विरोध में किसी ऐतिहासिक सिद्धान्त को ही क्षति पहुँचती है। यह भी सच है कि पुराण शीघ्र ही बाद जो राजा नन्द और आंध्रवंशीय राजा पुलोमा के अन्तर की बात कहते हैं, वह अशुद्ध है; परन्तु यह बात महत्वपूर्ण है कि अनुश्रुति किसी विख्यात घटना के संबंध में सही हो सकती है यद्यपि वही किसी अप्रसिद्ध घटना के संबंध में गलत। उदाहरणतः दूर के कैण्टन में चीनी लोग बुद्ध के निर्वाण की तिथि ६०५ वर्षों तक प्रायः सही-सही रख सके, फिर क्या कारण है कि भारतीय पौराणिक-सूत स्वदेश में ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना की तिथि-संबंधी अनुश्रुति ठीक-ठीक एक सहस्र वर्ष भी सुरक्षित न रख सके हो; अतः युक्तितः उनकी यह अनुश्रुति सही जान पड़ती है।

वैदिक साहित्य में सुरक्षित गुरु-शिष्य वंशावली से प्रमाणित हो जाता है कि महाभारत का युद्ध लगभग १४०० ई० पू० में हुआ। पौराणिक अनुश्रुति भी यही कहती

---

१ Dynasties of the Kali Age, पृष्ठ २२-२३।

है। वंशतालिकाएँ वस्तुतः ब्राह्मणों और उपनिषदों के विशिष्ट भाग हैं और यह बात बराबर स्मरण रखने की है कि ब्राह्मणों और उपनिषदों का साहित्य भी श्रुतिपरक समझा जाकर बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखा गया। गुरुपरम्पराओं में आए नाम कल्पित नहीं हो सकते—यह इस बात से सरलता से सिद्ध हो जाता है कि उनमें से अनेक नाम अनेक बार ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्र-ग्रन्थों में भी मिलते हैं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण के दसवें खण्ड में आए तेरह मानव गुरुओं में से सात का तो उसी ग्रन्थ में अनेक बार उल्लेख हुआ है और आठवें का नाम मैत्रायणीय संहिता में आया है। फिर शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक के कालान्तर में होनेवाले गुरुओं में से अनेक के नाम माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं में कुछ अन्तर के साथ मिल जाते हैं। वंश ब्राह्मणों में ५३ मानव गुरुओं का उल्लेख है। इनमें से प्रायः बीस के नाम अथवा पैतृक उपाधि और गोत्रनाम शतपथ और पंचविंश ब्राह्मण, जैमिनीय-उपनिषद्-ब्राह्मण, ऐतरेय आरण्यक, छान्दोग्य उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद्, शांखायन श्रौतसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र आदि में उल्लिखित हैं। इस कारण इस वंशतालिका को हमें प्रायः शुद्ध ही मानना पड़ेगा। यदि यह गुरु-परम्परा उन ग्रन्थकारों को बहुत प्राचीन काल तक ले जाना अभीष्ट होता, तो जैसा साधारणतः उन दिनों हुआ करता था, वे इस परम्परा के आदि में कुछ देवताओं के नाम भी जोड़ देते। ऐसी अवस्थाओं में साधारणतः यही पद्धति थी और यही सुकर भी था। उस परम्परा के बीच कुछ मिथ्या नाम गढ़कर क्यों डाले जाते? यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह वंशपरम्परा समकालीन और उत्तरकालीन गुरुओं के नाम जोड़कर काफी लंबी कर दी गई है। संभव है, इस प्रकार की उलझन जब-तब, परन्तु अत्यन्त थोड़े अवसरों पर, हो गई हो। फिर भी ऐसे प्रसंगों की संख्या निश्चय अत्यल्प है। इसका विशेष कारण यह था कि समकालीन कहीं उतरकालीनों के रूप में न लिख जायँ। यह बात आगे के परिशिष्टों से साफ सिद्ध हो जायगी। परिशिष्ट 'क' की ३७वीं पीढ़ी और परिशिष्ट 'ख' की २६वीं और ३२वीं पीढ़ियों में हमें समकालीन गुरुभाई-शिष्यों के नाम कोष्टों में दिए-से मिलते हैं। इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि गुरुशिष्यों की ये तालिकाएँ साधारणतया मौलिक, शुद्ध और विश्वस्त हैं। हाँ, कहीं-कहीं प्राचीनता घोषित करने के लिए अवश्य कुछ देवताओं के नाम जोड़ दिए गए हैं। परन्तु चूँकि ये नाम सदा तालिकाओं के आरंभ में आए हैं, उनकी मानव-परम्परा के नामों के संबंध में कोई दिक्कत नहीं होती, और इन मानव गुरुशिष्यों के नामों को अंगीकार करने में किसी प्रकार की वैज्ञानिक अड़चन नहीं पड़ती। उन्हें स्वीकार करने में भी आनाकानी नहीं होनी चाहिए।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में जो तालिका दी हुई है उसमें ४७ गुरुओं के नाम मिलते हैं। इनमें से पहले और दूसरे देवताओं के हैं। इस तालिका में तीसरा यानी प्रथम मानव गुरु का नाम तुरकावषेय है। इस प्रकार वह बृहदारण्यक उपनिषत्काल से ४५ पीढ़ी या कम से कम ४० पीढ़ी पूर्व है। यह उपनिषद् साधारणतया प्राग्बौद्धकालीन समझा जाता है। अतः यह प्रायः ५५० ई० पू० के बाद का किसी प्रकार भी नहीं हो सकता। गुरु-शिष्य-परम्परा की एक पीढ़ी लगभग २० वर्षों से ऊपर की ठहरती है। अतः तुरकावषेय ५५०

ई० पू० से लगभग ८०० वर्ष पूर्व हुए होंगे। अर्थात् उनका समय करीब-करीब चौदहवीं सदी ई० पू० का मध्यकाल रहा होगा। वैदिक और पौराणिक दोनों अनुश्रुतियों में केवल एक ही तुरकावषेय का हवाला है; वे किसी अन्य को नहीं जानते। ऐतरेय ब्राह्मण और भागवत की राय इस संबंध में सर्वथा एक है। वह यह कि तुरकावषेय अर्जुन के पौत्र जनमेजय के पुरोहितों में से एक थे। इस प्रकार यदि जनमेजय और तुरकावषेय का समय चौदहवीं शती ई० पू० का मध्यकाल ठहरता है तो महाभारत-युद्ध की तिथि लगभग १४०० ई० पू० के सिद्ध हुई। ठीक इसी तिथि के अनूकूल पौराणिक अनुश्रुति है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं।

इस निष्कर्ष को एक और प्रमाण भी पुष्ट करता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जनमेजय का एक और पुरोहित इन्द्रोत शौनक था (१३, ५, ३, ५)। इसी प्रकार इस इन्द्रोत शौनक का पुत्र दृति ऐन्द्रोत शौनक उसी जनमेजय के भतीजे अभिप्रतारिन् काक्षसेनि का पुरोहित था (पंचविंशब्राह्मण, १४, १, १२, १५)

अब ये दोनों गुरुवंश ब्राह्मण और जैमिनि-उपनिषद्-ब्राह्मण में दी हुई वंशतालिकाओं में अंकित हैं (३, ४०-४२) ये दोनों ही ग्रन्थ उन्हें ४०-४१ पीढ़ी अपने समय से पूर्व रखते हैं। स्वयं इनका समय लगभग ५५० ई० पू० के बाद नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है कि जनमेजय द्वितीय का समय १३५० ई० पू० के लगभग है, और महाभारत-युद्ध का प्रायः १४०० ई० पू० के।

इस प्रकार यदि तीन स्वतंत्र वंशतालिकाओं के अनुसार, जो श्रुतिपरक साहित्य में धार्मिक रूप से पूर्णतया सुरक्षित हैं, महाभारत-युद्ध का समय युक्तितः लगभग १४०० ई० पू० के सिद्ध होता है, तो हमें वह पौराणिक अनुश्रुति मानने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए जो साफ साफ कहती है कि परीक्षित के जन्म और राजा नन्द के राज्यारोहण का अन्तरकाल १०५० वर्षों का है? इस कारण १४०० ई० पू० के समीप ही महाभारत-युद्ध का समय मानना उचित होगा।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. त्रिपाठी : History of Ancient India
२. वैद्य : Epic India
३. मेहता : Pre-Buddhist India
४. पार्जिटर : Ancient Indian Historical Tradition
५. पार्जिटर : Dynasties of the Kali Age

खंड २

आठवाँ परिच्छेद

बुद्धकालीन भारत

१. बुद्ध-पूर्व

बौद्ध और जैन धर्मों का उत्थान सर्वथा नवीन न था। उपनिषत्काल अर्थात् नवीं शती ई० पू० में चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में क्षत्रियों का जो नेतृत्व शुरू हुआ था, बौद्ध और जैन-धर्म उसी धर्मान्दोलन की पराकाष्ठास्वरूप खड़े हुए। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के समय से ही उन दोनों धर्मों के साहित्य बनने लगे थे। तत्वतः ये साहित्य तो धार्मिक हैं, फिर भी उनके स्तरों में जब-तब धर्मेतर विषयों का भी समावेश हुआ है जिनके अनुशीलन से हमें तत्कालीन और अधिकतर उससे पूर्वकालीन इतिहास का पता मिलता है। इसी प्रसंग में हमें उस साहित्य में बुद्धपूर्व के उन 'षोडश महाजनपदों' का उल्लेख मिलता है जो लगभग सातवीं शताब्दी में प्रबल थे। ये जनपद बुद्धकालीन नहीं हो सकते; क्योंकि बौद्ध साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में इनका उल्लेख हुआ है। फिर बुद्ध-कालीन राज्यों के जो नाम हमें उपलब्ध हैं, और जिनका वर्णन हम यथास्थान करेंगे, वे इन 'जनपद राज्यों' से भिन्न हैं। षोडश महाजनपदों की तालिका बौद्धों के 'अंगुत्तर-निकाय'[१] और कुछ अन्तर के साथ 'महावस्तु' में भी दी हुई है। (जैनों के भगवती-सूत्र की तालिका और भी भिन्न है)। नीचे अंगुत्तर-निकायवाली तालिका दी जाती है। सोलह जनपद-राज्य इस प्रकार **हैं—**

जनपद-राज्य

१. **काशी**—इस महाजनपद की राजधानी काशी या वाराणसी थी। ब्रह्मदत्तों के राज्य में काशी खूब फूली-फली। जैनों के विख्यात तीर्थंकर पार्श्वनाथ के पिता अश्वसेन काशी के कदाचित् प्राचीनतम राजाओं में से थे। उपनिषत्काल के क्षत्रिय नेताओं में से एक, अजातशत्रु, यहीं का राजा था।

२. **कोशल**—इसकी राजधानी सावत्थी (श्रावस्ती) थी। अवध के गोंडा जिले में बहराइच और गोंडा की सरहद पर सहेठ-महेठ नामक गाँव में प्राचीन श्रावस्ती के भग्नाव-शेष खोद निकाले गये हैं। श्रावस्ती कोशल की बौद्धकालीन राजधानी थी परन्तु प्राचीनकाल में उसकी राजधानी साकेत और अयोध्या थी। कोशल और काशी के राज्य पड़ोसी होने के कारण 'प्रकृत्यमित्र' (स्वाभाविक शत्रु) थे और उनमें प्रायः युद्ध होता रहता था। अन्त में

१, १ २१३। ४, २५२, २५६, २६०।

कोशल के राजा कंस ने काशी को जीतकर कोशल में मिला लिया। इस कारण यह राजा पालि-ग्रंथों में 'बारानसिग्गहो' (बाराणसी को जीतनेवाला) की उपाधि से निरन्तर भूषित किया गया है। कम-से-कम इतना प्रमाणित है कि कोशल के राजा प्रसेनदि (प्रसेनजित) के पिता महाकोशल का काशी के ऊपर पूरा-पूरा अधिकार रहा।

३. अंग—यह बिहार प्रान्त के भागलपुर और मुंगेर जिलों का नाम था। इसकी राजधानी चम्पा थी। भागलपुर के एक मुहल्ले का नाम आज भी चम्पानगर है। ब्रह्मदत्त और अंग के कुछ अन्य राजाओं ने तत्कालीन मागधों को पराजित किया था। परन्तु अन्ततः मगध विजयी हुआ और अंग उसकी बढ़ती सीमाओं में खो गया।

४. मगध—आधुनिक पटना और गया जिलों का प्रसार कभी मगध था। मगध की प्राचीन राजधानी महाभारत-काल में गिरिव्रज थी। उसे बुद्धकालीन राजा बिंबिसार ने फिर से बसाया और राजगृह नाम दिया। प्राग्बौद्धकालीन मगध के राजाओं में बृहद्रथ और उसका पुत्र जरासन्ध महान हुए।

५. वज्जि—वज्जि भारत के संघ-राज्यों में से एक था। वहाँ का शासन गणतंत्र था। वज्जि आठ जातियों का एक शक्तिशाली संघ था और इसका वज्जि नाम उन्हीं में से एक के नाम पर पड़ा था। इन जातियों में लिच्छवि बड़े प्रसिद्ध और शक्तिशाली थे। विदेह और ज्ञात्रिक भी उन्हीं में से मुख्य थे। बौद्ध साहित्य में लिच्छवियों की ही भाँति वज्जि भी वैशाली के ही कहे गए हैं। वैशाली संभवतः वज्जि-संघ की राजधानी थी।

६. मल्ल—मल्ल पर्वती थे। इनका देश वज्जि-संघ के उत्तर में संभवतः पहाड़ों की ढाल पर था। मल्लों की दो शाखाएँ थीं जिनकी राजधानियाँ कुशीनारा और पावा थीं। प्राग्बौद्धकाल में मल्लों का राज्य राजतंत्र; था परन्तु बौद्धकाल में वही गणतंत्र हो गया।

७. चेदि—ये लोग प्राचीन साहित्य के चेदि जाति के थे। इनका राज्य यमुना के समीप बुन्देलखंड और उसके आसपास के इलाकों पर फैला हुआ था। इसकी राजधानी सुक्तिमती या सोत्थिवती नगरी थी।

८. वंश अथवा वत्स—वच्छों का देश अवन्ति के उत्तर-पूर्व में यमुना के किनारे फैला हुआ था। इसकी राजधानी कौशाम्बी (कोसम्बी) थी। इस नगर के भग्नावशेष इलाहाबाद से लगभग ३० मील पश्चिम कोसम इनाम, कोसम खिराज, गढ़वा आदि गाँवों में यमुना के तट पर फैले हुए हैं। महाभारत के पश्चात् बाढ़ से हस्तिनापुर के नष्ट हो जाने के बाद निचक्षु ने कौशाम्बी को बसाकर उसे कुरु राज्य की राजधानी बनाया। बुद्ध के समकालीन उदेन (उदयन) के पिता परंतप कुरुओं की इस भरत-शाखा के थे।

९. कुरु—कुरु देश दिल्ली के पड़ोस में था। इसके मुख्य नगर इन्दपत्त (इन्द्रप्रस्थ) और हत्थिनापुर (हस्तिनापुर) थे। कुरुओं की प्राचीन राजनीतिक महत्ता अब विलुप्त हो गयी थी। उनके स्थान पर अब अन्य शक्तियाँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं।

१०. पञ्चाल—पञ्चाल जनपद मोटे तौर से रुहेलखंड और मध्यवर्ती द्वाब के एक भाग पर फैला हुआ था। इस जनपद के दो भाग थे—उत्तर पञ्चाल और दक्षिण पञ्चाल। उनकी सीमा गंगा थी। उत्तर पञ्चाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण की कांपिल्य थी।

पञ्चालों के एक प्राचीन राजा दुम्मुख (दुर्मुख) ने संभवतः दूर दूर तक विजय की थी—ऐसा बौद्धग्रंथों से विदित होता है।

११. मच्छ अथवा मत्स्य—यमुना के पश्चिम और कुरुओं के दक्षिण के इलाकों पर मत्स्य राज करते थे। जैपुर-राज्य में वर्तमान बैराट प्राचीन काल में मत्स्यों की राजधानी विराटनगर था। महाभारतकाल में इसी विराटनगर में पाण्डवों के अज्ञातवास की ख्याति है।

१२. शूरसेन—शूरसेन जाति के नाम पर मथुरा के चतुर्दिक् इलाके का नाम शूरसेन पड़ा था। शूरसेन जनपद की राजधानी मथुरा थी। इनकी यादव-शाखा ने प्रचुर ऐतिहासिक ख्याति प्राप्त की।

१३. अस्सक—अस्सक दाक्षिणात्य थे। संस्कृत साहित्य में इन्हें अश्मक कहा गया है। अस्सकों का निवास गोदावरी तट पर कहीं था। पोतलि अथवा पोतन उनका मुख्य नगर था। वास्तव में बुद्ध के समय में वे यहाँ बसे थे, परन्तु अंगुतर-निकायवाली यह तालिका जब प्रस्तुत हुई तब उनका देश अभी उत्तर की ओर था, संभवतः अवन्ति और मथुरा के बीच।

१४. अवन्ति—अवन्ति पच्छिमी मालवा को कहते थे। इसकी राजधानी उज्जयिनी (उज्जैन) थी। इसके दक्षिणी भाग की राजधानी पृथक् थी—माहिस्सती अथवा माहिष्मती (वर्तमान मान्धाता)। माहिष्मती में प्राचीन काल में हैहयों का राज था जिनका राजा सहस्रबाहु अनेक पौराणिक ख्यातों का नायक है।

१५. गन्धार—आधुनिक अफगानिस्तान का दक्षिण-पूर्वी भाग तब गन्धार कहलाता था। तक्षशिला (रावलपिंडी जिले में) इसकी राजधानी थी। संभवतः इसी गन्धार-राज्य में काश्मीर भी शमिल था। /

१६. कम्बोज—यह जनपद पूर्व में गन्धार से लगा हुआ, संभवतः काश्मीर के उत्तर में था। कालिदास ने भी अपनी रघुदिग्विजय में इसे प्रायः वहीं रखा है। गन्धारों के साथ-साथ ही कम्बोजों का उल्लेख भी साहित्य और शिलालेखों में हुआ है। उनके मुख्य नगर राजपुर और द्वारका थे।

'अंगुत्तर-निकाय' वाली इस तालिका में अवन्ती के दक्षिण के देश अथवा पूर्व के उड़ीसा, बंगाल आदि का उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त इसमें काशी और अंग को स्वतंत्र कहा गया है। पश्चात्काल में काशी पहले कोशल में और अंग मगध में, फिर दोनों राज्य मगध की फैलती सीमाओं में समा गए।

२. अवैदिक-धर्मों का उत्थान

यह काल न केवल राजनीतिक प्रत्युत् अन्य क्षेत्रों में भी महत्त्व का था। छठी शती ईसवी पूर्व वास्तव में मानव-इतिहास में एक अपूर्व शताब्दी थी। इस युग में पृथ्वी पर एक असाधारण आध्यात्मिक लहर उठी थी। प्रायः इसी काल में ईरान में जरथुस्त्र अपनी धार्मिक शिक्षा का प्रचार कर रहा था। चीन में कनफ्यूशस भी तभी अपने उपदेश सुना

रहा था। तभी भारत में भी एक धार्मिक क्रान्ति का जन्म हुआ। कुछ ही पहले उपनिषदों के ज्ञान ने कर्मकाण्डपरक ब्राह्मण-अनुष्ठानों और रक्तिम यज्ञों के विरुद्ध बगावत का झंडा उठाया था। अब मगध में उस बगावत की पराकाष्ठा हुई जब दो नवीन धार्मिक स्रोत फूट पड़े। अन्तर दोनों बगावतों में इतना ही था कि पहली ईश्वर पर विश्वास कर ब्रह्म की उपासना करती थी, बाद के दोनों धर्म अवैदिक थे। ब्राह्मणों की वर्ण-श्लाघा और उनका अहंकार वैसे ही लोगों को अप्रिय हो चुका था, अब उन वेद-विरोधी चिन्तकों ने बने खेत में अपने प्रौढ़ क्रान्ति-बीज डाले। खेत शीघ्र लहलहा उठे। चिन्तक थे वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध। इनसे पहले ही, उपनिषत्काल से ही, अनेक चिन्तक अध्यात्म के दुरूह सिद्धान्तों का देश में उपदेश करते फिर रहे थे। आत्म-परमात्म-चिन्तन और आवागमन से जीव की मुक्ति उनकी खोज के प्रधान विषय थे। शरीर-चक्र से छुटकारे के लिए उनमें से किसी ने ज्ञान के प्रकाश का सहारा लिया, किसी ने अत्यन्त तप को सराहा। इस अध्यात्म-युग में अनेक संप्रदायों का जन्म हुआ। पालि-ग्रंथों से विदित होता है कि जब बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार आरंभ किया तब करीब ६२ संप्रदाय जीवित थे। उनमें आजीवक, जटिलक, मुण्ड-श्रावक, परिव्राजक, मागन्दिक, गोतमक, तेदण्डिक आदि थे। बुद्ध के अतिरिक्त उस काल के प्रबल आध्यात्मिक प्रचारक थे—पुराण-कस्सप, मक्खलि-गोसाल, निर्ग्रन्थ-ज्ञातिपुत्र, अजित-केशकम्बलिन्, पकुद्ध-कच्चायन, मोग्गलान और संजय-बेलट्ठपुत्र। जैन-ग्रंथों के अनुसार इन संप्रदायों की संख्या ३६३ थी। इनमें से अधिकतर काल के प्रभाव से नष्ट हो गये। केवल महावीर और बुद्ध द्वारा प्रवर्तित जैन और बौद्ध धर्म बच रहे, जो अब तक मनुष्य जाति के एक बड़े भाग को अपने उपदेशों से प्रभावित कर रहे हैं।

धार्मिक आन्दोलन

जैन-धर्म

जैन आचार्यों के अनुसार उनका धर्म अत्यन्त प्राचीन है। उनका कहना है कि २४ तीर्थंकरों ने समय-समय पर इस धर्म को अनुप्राणित किया और महावीर उनके अन्तिम तीर्थंकर थे। परन्तु इनमें से अन्तिम महावीर और उनसे पूर्व के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य सर्वथा अनैतिहासिक ही प्रतीत होते हैं। कम-से-कम उनका ऐतिह्य अत्यन्त तमाच्छादित और संदिग्ध है। संभवतः ईसा पूर्व आठवीं शती में पार्श्व जीवित थे। जैन-ग्रंथों के अनुसार पार्श्वनाथ क्षत्रिय थे—काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र। उन्होंने राजपरिच्छदों को छोड़ यति का बाना लिया और वे अपने चिन्तन के फल का उपदेश करने लगे। उनके उपदेश थे—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय और (४) परित्याग। पार्श्व के संप्रदाय का प्रचार उनके जीवन-काल में कितना हुआ, इसका हमें ज्ञान नहीं; परन्तु उनके बाद जिस व्यक्ति ने उनके सिद्धान्तों का प्रचार किया वे थे वर्धमान-महावीर। संभव है, दोनों प्रचारकों के बीच भी कुछ आचार्य हुए हों; परन्तु इस संबंध में हमारा ज्ञान स्वल्प है। जैन-धर्म को पार्श्व के लगभग २५० वर्ष बाद महावीर ने ही शक्ति प्रदान की और उसे दूर-दूर तक फैलाया।

पार्श्व

वर्धमान (महावीर) क्षत्रिय थे। उनका संबंध एक ओर तो लिच्छवियों के प्रख्यात क्षत्रिक-कुल से और दूसरी ओर राजगृह के मागध राजकुल से था। उनके पिता सिद्धार्थ ज्ञात्रिकों के मुख्य थे और उनकी माता त्रिशला लिच्छवियों के प्रतिनिधि—'राजा' चेटक की भगिनी थीं। इसी चेटक की कन्या राजा बिंबिसार को ब्याही थी जो संभवतः अजातशत्रु की जननी थी। वर्धमान का जन्म वैशाली के समीप कुण्डग्राम में हुआ था। इस प्रकार वर्धमान का संबंध तत्सामयिक विशिष्ट क्षात्र कुलों से था। इससे उनके प्रचार-कार्य में भी प्रचुर सुविधा मिली होगी। बचपन से ही उनका मन विरागी था। परन्तु विवाह करके कुछ काल तक उन्होंने गृहस्थ का जीवन व्यतीत किया। तीस वर्ष की अवस्था में वे प्रव्रजित हुए। कुछ समय तक इधर-उधर घूमने के पश्चात् उन्होंने घोर तप करना प्रारंभ किया। बारह वर्षों तक अत्यन्त कष्टसाध्य तप से उन्होंने अपने शरीर को जर्जर कर डाला। अन्त में उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ। आसक्ति, मोहादि के पाश और आवागमन की ग्रन्थि से छूटकर वे 'निर्ग्रन्थ' कहलाए। तृष्णा आदि शारीरिक विषयों को जीतने के कारण उनकी संज्ञा 'महावीर' और 'जिन' हुई। इस दूसरी 'जिन' संज्ञा से ही उनके अनुयायियों का 'जैन' नाम पड़ा। इस समय से लेकर लगभग तीस वर्षों तक महावीर निरंतर मगध, अंग, मिथिला और कोशल में अपने धर्म का प्रचार करते रहे। पार्श्व के चार उपदेशों के साथ उन्होंने अपना पाँचवाँ—अखण्ड ब्रह्मचर्य—जोड़ा। वे सब प्रकार से निर्ग्रन्थ थे। समाज के बन्धनों तक का उन्होंने विचार न किया और वस्त्रों को शृंखला मानकर उनका भी परित्याग कर दिया। वे निरंतर नग्न फिरते रहे। श्वेतांबर और दिगंबर संप्रदायों का पृथकत्व कुछ विद्वान् इसी काल से मानते हैं; परन्तु इस मत में सत्यता कम जान पड़ती है क्योंकि जैन संप्रदाय के अनुयायियों में मतभेद वास्तव में महावीर के कई शताब्दियों बाद पैदा हुआ, यथार्थतः तीसरी शती ईसा पूर्व में जब उत्तर-भारत में दुर्भिक्ष के कारण भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन दक्षिण भारत को जाकर फिर लौट आए। बहत्तर वर्ष की अवस्था तक अपने उपदेश करते हुए महावीर ने लगभग ईसा पूर्व ५२७ ई० पूर्व (५४६ ?) में अपना शरीर छोड़ा। उनके शरीर-त्याग की यह तिथि सर्वथा मान्य नहीं है।

महावीर

जैन वेदों को प्रमाण अथवा अपौरुषेय नहीं मानते। यज्ञों से भी, उनके मत में, कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः उन्होंने यज्ञों को घोर हिंसा का साधन माना और उनके विरुद्ध अपनी जोरदार आवाज उठाई और प्रचार किया। उनके विश्वास के अनुसार प्रत्येक वस्तु में, अणुमात्र तक में, चेतन जीव का निवास है। इसी कारण स्वभावतः उनकी अहिंसा का क्षेत्र काफी प्रशस्त हो गया। कभी-कभी तो इस अहिंसा का दुर्व्यवहार भी हुआ। इसने अजीब रूप धारण किया। बाद के इतिहास में उल्लेख मिलता है कि एक जैन राजा ने पशुहनन या वृक्ष की शाखा काटने के बदले मनुष्य को कठोर दण्ड दे दिया था। जैन लोग परमात्मा अथवा विश्व के उत्पादक और पालकस्वरूप किसी शक्ति को नहीं मानते। उनके मत से ईश्वर "जीव में ही निहित शक्तियों

जैन-सिद्धान्त

का उच्चतम, श्रेष्ठतम और पूर्ण व्यक्तीकरण है।" [1] जैन जीवन का ध्येय पार्थिव अस्तित्व के पाशों से छुटकारा पाना है। जीव के आवागमन उसके और शरीरी होने के कारण 'कार्मिक' है। जन्मान्तर के कर्मों से छुटकारा होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। कर्म मुक्ति के साधन त्रिरत्न हैं—सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यगाचरण। जैन लोगों में तप की बड़ी महिमा है। कायिक यातना और यौगिक क्रियाओं को वे बड़ा महत्त्व देते हैं। तप से हुई मृत्यु विजय का लक्षण मानी जाती है। अन्न छोड़कर मरना भी उनके यहाँ प्रशस्य है और जैन आचार्यों के जीवन-चरितों में इस आचरण का विशेष आदर किया गया है। जैनों का विश्वास है कि कायिक तप से आत्मा को शक्ति मिलती है और कामनाएँ दबी रहती हैं।

बौद्ध-धर्म

ब्राह्मण-धर्म के विरोध में जिन दो संप्रदायों का प्रवर्तन हुआ था, उनमें से एक का वर्णन तो ऊपर हो चुका है, दूसरा गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म था। जैन संप्रदाय की ही भाँति बौद्ध संप्रदाय भी एक महान् क्षत्रिय कुमार द्वारा ही प्रचलित हुआ। इसके प्रवर्तक का नाम था—बुद्ध। बुद्ध का कुल अथवा गोत्र नाम 'गोतम' और व्यक्ति नाम 'सिद्धार्थ' था—सिद्धार्थ गोतम। सिद्धार्थ के पिता कपिलवस्तु के प्रख्यात शाक्य-कुल के थे—शाक्यों के 'राजा' अथवा उनके गण-मुख्य। कोलियों की माया उनकी माता थीं। माया जब आसन्नप्रसवा हुई तब उन्होंने अपने पिता के घर जाने की इच्छा प्रगट की। परन्तु मार्ग में ही राप्ती के तट पर कपिलवस्तु के समीप लुम्बिनि वन (रुम्मिन्देई अथवा रूपंदेहि) में शालवृक्षों की छाया में सिद्धार्थ का जन्म हो गया। बौद्ध मूर्ति-तक्षकों ने बुद्ध के प्रजनन का प्रसंग बड़ा सुन्दर कोरा है। शालभंजिका की मुद्रा में माया शालवृक्ष की शाखा पकड़े खड़ी हैं, ठीक तभी सिद्धार्थ का जन्म हो जाता है। उत्पन्न होते ही वह सद्यःजात शिशु सात पग चलता है। पग-पग पर पुण्डरीक विकसित होता है। फिर शक्र (इन्द्र) उसे उठा लेते हैं। बचपन से ही सिद्धार्थ का चित्त विरक्त हो चला। ऐश्वर्य और विलास की वस्तुओं से उन्हें घृणा हो गयी और अत्यन्त दयावान होने के कारण किसी का तनिक कष्ट भी देख उनका मन दुख जाने लगा। पुत्र की यह दशा देख राजा शुद्धोदन ने उन्हें पूरा गृहस्थ बनाने का प्रयत्न किया। कम आयु में ही मातुल-कन्या यशोधरा (गोपा) से सिद्धार्थ का विवाह कर पिता ने एक सुन्दर प्रासाद का निर्माण कराया और उसमें सारे उद्दीपक तथा विलास के पदार्थ एकत्र कर दिये। परन्तु गौतम के चित्त पर इनका कोई प्रभाव न पड़ा। विषाद और मृत्यु के संसार में दुःख की व्यथा से द्रवित उस कुमार के मानस को विलास के उपनयन आकर्षित न कर सके। दुःखशमन के उपायों के नित्यचिन्तक उस गौतम ने गृहपरित्याग करना निश्चित ही कर लिया और अपनी आयु के उन्तीसवें वर्ष की एक रात घर छोड़ने की ठानी। परन्तु घर छोड़ने के अवसर पर ही आकर दासी ने पुत्र-जन्म की घोषणा की। एकाएक सिद्धार्थ के मुँह से निकल पड़ा 'राहुल!'

बुद्ध

---

[1] सर सर्वपल्ली राधाकृष्ण Indian Philosophy, प्रथम भाग, पृ० ३११

(विघ्न)। पुत्र निश्चय विघ्न सिद्ध हुआ। दासी ने 'राहुल' सुनकर उस नवजात शिशु के लिए पिता द्वारा दिया हुआ नाम समझा। शुद्धोदन ने उसे उसी नाम से पुकारा और उसी नाम से वह जगत् में विख्यात हुआ। परन्तु जग-कल्याण की कामनावाले उस कारुणिक को गृह-स्नेह अधिक काल तक नहीं बाँध सका। एक रात पुत्र राहुल और पत्नी गोपा को सोती छोड़ परिजन और धन-धान्य का परित्याग कर गोतम जन-कल्याण की खोज में निकल पड़े। उनके इस गृह-त्याग को 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं। पहले तो वे कुछ काल तक अपने समय के असाधारण आचार्य कुलपति आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त (रुद्रक रामपुत्र) के आश्रमों में दर्शन-सिद्धान्त पढ़ते रहे। परन्तु उनके सिद्धान्तों से उस सतत जागरूक का प्रश्न हल न हुआ, पूर्ववत् बना रहा। दुःख का परिहार क्या है—इसका उत्तर उन आचार्यों के पास न था। विफलाश गोतम राजगृह को छोड़ चले। राजमार्ग पर जाते उनके तेजोमय मुख-मण्डल को अपने प्रासाद-पृष्ठ से देख बिंबिसार ने उन्हें अपना राज्य प्रदान करना चाहा। परन्तु शाक्यों की महत्ता कुछ कम न थी, और न यशोधरा का स्वप्न-राज्य ही कुछ कम विस्तृत था। गोतम ने हँसकर बिंबिसार का प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया। राजा ने कहा—"महात्मन्, ज्ञान प्राप्त कर इधर भी आना और अपने सुख का कुछ अंश मुझे भी प्रदान करना।" गोतम खड़ी पहाड़ियाँ लाँघ गया के महाकान्तार में उतर गये। बोधगया के समीप उरुवेला में उन्होंने कठिन तप करना आरंभ किया। शरीर को असह्य कष्ट और तप से जर्जर कर डाला। उरुवेला की नर्तकियाँ उधर से नृत्य करती हुई निकलीं। उन्होंने गाया—वीणा के तारों को अत्यन्त ढीला न करो, नहीं वे न बजेंगे। वीणा के तारों को अधिक न खींचो, नहीं वे टूट जाएँगे। गोतम ने इससे मध्यम-मार्ग का उपदेश लिया। यही उनके धर्म की शिलाभित्ति बना। शीघ्र उन्हें ऐसा जान पड़ा कि कायिक-कष्ट व्यर्थ है। वृक्ष-देवता की पूजा के लिए लाई सुजाता की खीर खाकर वे पीपल के वृक्ष-तले जम बैठे—चिन्ता में लगे। पैंतीस वर्ष की अवस्था में आखिर एक रात ज्ञान का प्रकाश हुआ। उन्हें 'सम्बोधि' प्राप्त हुई। गोतम सम्यक् सम्बुद्ध हुए। अर्जित ज्ञान लिए पहले वे काशी के पास मृगदाव (सारनाथ) पहुँचे। जब उन्होंने तप छोड़ सुजाता की खीर खाई थी, तभी उन्हें पेटू कहकर पाँच ब्रह्मचारी तपस्वियों ने उनका साथ छोड़ दिया था। वे वहाँ से हटकर सारनाथ में रहने लगे थे। बुद्ध ने सर्वप्रथम उनको ही अपने धर्म में दीक्षित किया। इस पहले उपदेश को 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' कहते हैं जिस मुद्रा में बौद्ध तक्षकों ने बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ कोरी हैं। इस उपदेश का वही आधार है उरुवेला की नर्तकियों का वीणा-ज्ञान। बुद्ध ने कहा—"भिक्खुओ, मार्ग दो हैं—एक अत्यन्त तप का, दूसरा अत्यन्त विलास का—दोनों ही अश्रेयस्कर हैं। भिक्खुओ, एक तीसरा मार्ग है—तथागत का देखा—बीच का—मज्झिम-पटिपदा (मध्यम प्रतिपदा—मार्ग)—न अत्यन्त तप का, न अत्यन्त विलास का—कल्याण-कारी।" पैंतालीस वर्षों तक वह शाक्य-सिंह निरंतर मगध और पास के जनपदों में दहाड़ता रहा। अन्य आचार्यों से तो बुद्ध की प्रायः प्रत्येक बात भिन्न थी। परन्तु एक अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण बात जो उन्होंने की, वह थी अपने भाषणों में जन-भाषा—पाली—का प्रयोग। इससे ब्राह्मणों के दर्प पर भी कुछ कम कुठाराघात न हुआ। दर्शन और उपदेश की भाषा अब तक ब्राह्मणों की अपनी संस्कृत थी, अब उस अभिजात भाषा को छोड़ बुद्ध ने जनसमूह के कानों तक सीधा पहुँचने के लिए उनकी भाषा का आश्रय लिया। जिस प्रकार उनके उपदेश ब्राह्मण-धर्म के विद्रोही थे, उसी प्रकार इस जनपद-भाषा का प्रयोग भी अत्यन्त विद्रोहात्मक था—इस प्रथम भारतीय धार्मिक क्रान्तिकारी की पहली सूझ। बौद्ध धर्म के जनपरक होने में इस जनभाषा के प्रयोग का विशेष स्थान था। वक्ता और श्रोता में सीधा संबंध हो गया जिससे आत्मीयता स्थापित हो गयी। अपने सादे आचरण, कृपालु स्वभाव और निर्भीकता से बुद्ध ने अपने श्रोताओं के हृदय जीत लिये। राजा-रंक सभी उनके उपदेशामृत को सुनने और मनन करने लगे, सभी उनकी ओर श्रद्धा से झुके। कुछ ही दिनों में उनके अनुयायियों का 'संघ' प्रबल हो उठा। बौद्ध धर्म भारत में कभी दुर्बल, कभी सबल होता रहा; परन्तु संसार के जन-विश्वास में जो इसने घर किया, वह अभी तक बना है। भारत से उस धर्म का अधिकतर लोप हो चुका है, परन्तु संसार के अनेक देशों में असंख्य प्राणियों का वह आज भी जीवित धर्म है।

अस्सी वर्ष की आयु में बुद्ध ने कुशीनगर में अपना शरीर छोड़ा। कुशीनगर (बौद्ध ग्रन्थों का कुसीनारा) गोरखपुर जिले की वर्तमान कसिया है, जहाँ से बुद्ध की निर्वाण-शयन-मुद्रा में कोरी हुई विशाल मूर्ति मिली है। बुद्ध-निर्वाण की तिथि के विषय में विद्वानों का मतभेद है। इसे निश्चित रूप से स्थिर करना भी कठिन है। यद्यपि यह तिथि भारतीय तिथि-क्रम में एक अत्यन्त महत्त्व का प्रसंग है। इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने यह तिथि ई० पू० ४८६-८७ में और फ्लीट और गाइगर ने इसे ई० पू० ४८३ में रखा है। दोनों तिथियों में केवल तीन वर्षों का अन्तर है परन्तु ई० पू० ४८३ वाली तिथि ही ठीक जान पड़ती है। उपलब्ध सामग्री की पूरी तरह छान-बीन कर फ्लीट और गाइगर इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे। वास्तविक तिथि के निकटतम यही तिथि होनी चाहिए। वैसे कुछ विद्वानों ने बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि ई० पू० ५४३ में भी रखी है जिसे स्वीकार करने में साधारण आपत्ति नहीं।

निर्वाण-तिथि

बुद्ध के उपदेश अत्यन्त सरल थे। इसी कारण साधारण जनता उसे समझकर शीघ्र हृदयंगम कर लेती थी। तत्कालीन अन्य दार्शनिकों के सिद्धान्त अत्यन्त दुरूह और बुद्धिपरक थे; इस कारण वे आशुधार्य न थे। कुछ ही जन उन्हें समझ सकते थे। संस्कृत भाषा की दुरूहता उनके सिद्धान्तों की जटिलता को और बढ़ा देती थी। बुद्ध ने सुगम घरेलू बोली पाली का प्रयोग किया जिससे उनके सादे उपदेश शीघ्र देश में फैल चले।

बौद्ध सिद्धान्त

आत्मा और परमात्मा-संबंधी तर्कों की भी उन्होंने जड़ काट दी। उन्होंने कहा कि मनुष्य के चरित्र की उन्नति में उनका कोई स्थान नहीं। उन्होंने अपने विचारों में एक और विशिष्ट तरीके का प्रयोग किया। किसी बात का उत्तर वे केवल 'हाँ' या 'नहीं' से नहीं दिया करते थे। उन्होंने कहा कि ऐसा हो भी नहीं सकता। हम किसी विषय पर उसके भाग-भाग पर, विभाजन करके ही, विचार कर सकते

है। इस शैली को 'विभज्यावाद' कहते हैं। उनका कहना था कि सब कुछ अनित्य है (सब्बं अनिच्चं)। अपने समय के अन्य उपदेशकों की भाँति उन्होंने भी जन्म को दुःख माना, परन्तु दूसरे जहाँ इसे सिद्धान्त का विषय बनाकर रह जाते थे, बुद्ध में इस दुःख की गहराई घर कर लेती थी। दुखी जनों अथवा विषाद की छाया से उनका हृदय हिल जाता था। इस कारण दुःख के विश्लेषण और उसके प्रतिकार की ओर उनका विचार सबसे पहले गया। अहिंसा इसी कारण उनका विशिष्ट साधन हुई। दुःख के संबंध में उन्होंने चार 'आर्य सत्य' (चत्तारि-अरिय सच्चानि) कहे। ये चार आर्य सत्य थे—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय (दुःख का कारण), (३) दुःख-निरोध और (४) दुःख-निरोधगामिनी-प्रतिपदा (अर्थात् दुःख के निरोध का मार्ग)। दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध है और उसके निरोध का उपाय है। सब दुःखों का मूल 'तन्हा' (तृष्णा) है। तन्हा के विनाश से ही दुःख का निरोध संभव है। तन्हा बड़ी बलवती है। जन्मान्तरों में भी इसका प्रभाव रहता है। मृत्यु दुःख का अन्त नहीं करती क्योंकि तृष्णा आवागमन और उसके दुःख को जीवित रखती है। इस तन्हा को जीतना परमावश्यक है और इसे जीतने के लिए आष्टांगिक मार्ग पर चलना ही एकमात्र उपाय है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आष्टांगिक मार्ग निम्नलिखित हैं—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त (उचित कर्म), (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम (उचित प्रयत्न), (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। यही बुद्ध की देखी 'मज्झिम-प्रतिपदा (मध्यम प्रतिपदा)--मध्यम मार्ग थी। इस मज्झिम प्रतिपदा पर चलकर अप्रव्रजित गृहस्थ भी सिद्धिलाभ कर सकते थे। संघ में रहकर भिक्षु निर्वाणार्थ सयत्न होते थे। मनसा-वाचा-कर्मणा उन्हें पवित्र रहना होता था। आचार और विनय (discipline) 'निब्बान'—संप्राप्ति की शिलाभित्ति थे। बुद्ध ने आचरणीय आचार के दस रूप रखे और वे उनका सदा उपदेश करते रहे। दूसरे की वस्तु का लालच न करो, हिंसा मत करो, मद्य-पान मत करो, असत्य मत बोलो, व्यभिचार मत करो, नृत्य-गान से पृथक् रहो, पुष्प और अन्य सुगन्धित द्रव्यों आदि का सेवन न करो, असमय भोजन का परित्याग करो, सुखकर बिस्तर पर मत सोओ और द्रव्य मत स्वीकार करो। बुद्ध ने इस दशधा आचार पर विशेष जोर दिया और इनमें से प्रथम पाँच का आचरण उन्होंने गृहस्थ उपासकों के लिए आवश्यक और अनिवार्य बताया।

बुद्ध के उपदेशों की सादगी और सुकरता ने जग जीत लिया। अन्य आचार्यों की भाँति ज्ञान का कोई अंश उन्होंने दबा न रखा। सत्य के जो दर्शन उन्होंने किए थे, उसे वैसा का वैसा लोगों की अपनी बोली में आत्मीय की भाँति उन्होंने रखा। दार्शनिक तर्कों से भिक्षुओं को उन्होंने दूर रखा। उनपर विचार करना भी उन्होंने एक प्रकार से निषिद्ध कर दिया। और इन सबसे मुख्य बात थी उनकी उदारता। मनुष्यमात्र उनके उपदेशों को सुन और उनपर आचरण कर सकता था। वर्णों की शक्ति पर उन्होंने सबल प्रहार किया। धर्म वर्ण-विशेष का नहीं हो सकता—ऐसी उनकी घोषणा हुई, तद्वत् उनका आचरण था। ब्राह्मणों ने जिन दाँव-पेचों से अपने धर्म को वर्णपरक कर लिया

था, बुद्ध ने उनका आचरणतः विरोध किया। उनके धर्म और संघ में सब बिना किसी रोक के प्रवेश पा सकते थे। एक बार संघ में दाखिल हो जाने पर भिक्षुओं में परस्पर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखा जा सकता था। इस रूप में बौद्ध धर्म एक विश्व-धर्म-सा था। इसी से असंख्य गृहस्थ प्रव्रजित हो धर्म, बुद्ध और संघ की शरण में गये। इसी से लूट और लहू के नाम पर दौड़ पड़नेवाले मध्य एशिया के क्रूर विध्वंसक जातियाँ भी बौद्ध हो अहिंसा की उपासिका हो गयीं।

धर्मों पर तुलनात्मक दृष्टि

बौद्ध और जैन धर्मों में प्रचुर परिमाण में समानता है। इसका मुख्य कारण दोनों का ब्राह्मण-धर्म के वेदों का विरोधी होना और अहिंसा की प्रधानता है। दोनों की पारस्परिक समानता के कारण बहुत दिनों तक उन्हें एक दूसरे का अंग समझा गया था। परन्तु उनके इस प्रकार अविरोधी होने पर भी उनका वैषम्य उन्हें दो स्पष्ट धर्म घोषित करता है। पहले हम दोनों के समान दृष्टिकोणों पर विचार करेंगे फिर उनके पारस्परिक विरोधों पर।

समानताएँ

(१) दोनों ने वेदों को प्रमाण नहीं माना और उनकी प्रामाणिकता का विरोध किया। (२) यज्ञपरक कर्मकाण्डों का भी दोनों ने विरोध किया। ब्राह्मण-धर्म की विधिक्रियाएँ उन्हें असह्य थीं। (३) अहिंसा को दोनों ने सराहा। जैनों ने उस पर विशेष जोर दिया। यज्ञों में जो पशुबलि और रक्तपात होता था, उसका उन्होंने घृणापूर्वक विरोध किया। (४) दोनों का ईश्वर में अविश्वास था और उन्होंने उसपर विचार करना व्यर्थ समझा। (५) जन्म के कारण व्यक्ति की विशेषता मानने से उन्होंने इन्कार किया और अपने संघों, मठों और विहारों में दोनों ने विभिन्न वर्णावलंबियों को एक-सा स्थान दिया। (६) दोनों ने भावी जन्मों का आधार कर्मों को माना। (७) जन-विश्वासों को दोनों ने कायम रखा, इस कारण दोनों में ब्राह्मण-धर्म की भाँति अनन्त देवता और पुराण निर्मित हो गये।

विषमताएँ

इस प्रकार दोनों में प्रचुर साम्य तो अवश्य है, परन्तु उनकी पारस्परिक विषमताएँ भी थोड़ी नहीं हैं। उदाहरणतः (१) बौद्धों ने अनात्मवाद का प्रचार किया; परन्तु जैनों का विश्वास है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में जीव है। (२) बुद्ध ने अत्यन्त तप और अत्यन्त विलास के बीच के मार्ग को सराहा; परन्तु जैनों ने कायिक तप की अमित मर्यादा की। (३) जैनों में अहिंसा के प्रति बौद्धों से कहीं अधिक श्रद्धा है। (४) निर्वाण और मोक्ष-संबंधी विचार भी उनके असमान हैं। (५) जैन-धर्म के ग्रंथ अधिकतर संस्कृत या प्रकृत में लिखे गये; बौद्ध धर्म के अधिकतर पाली में। दोनों के उत्थान और आरंभिक प्रचार की सीमाएँ प्रायः समान होने के कारण उनकी पारस्परिक समानताएँ अनिवार्य थीं; परन्तु उनका वैषम्य भी इतना था कि उनमें समय-समय पर असहिष्णु स्पर्धा और ईर्ष्या की आग भी अनेक बार भड़क उठी।

जैन और बौद्ध दोनों धर्मों के विकास और प्रचार में भी भारी अन्तर पड़ा। बौद्ध धर्म धीरे-धीरे अपने गृहप्रदेश मगधादि से निकलकर भारत की सीमाओं पर कुछ काल तक जीवित रहा। फिर स्वदेश से निकलकर वह विदेशों में जा पहुँचा।

प्रचार

सिंहल, बरमा, स्याम, चीन, जापान, मध्य-एशिया के अनेक भाग, अनाम, कम्बोडिया आदि अनेक देश इसके धार्मिक शासन में आये। परन्तु जैन धर्म भारतवर्ष से बाहर न पहुँच सका। मगध से बाहर वह अवश्य निकल गया और अब वह दक्षिण राजपूताना, गुजरात आदि प्रदेशों में साँस ले रहा है। बौद्ध उपदेशों की सफलता के कारण उसकी सुकरता और आशुग्राहिता तथा उसके संरक्षक अशोक, कनिष्क और हर्ष के-से सम्राटों के प्रचारकार्य भी थे। पिछले दिनों में तो नालन्दा की विद्यापीठ ने विदेशों में प्रचारकार्य एक प्रकार से अपने हाथ में ले लिया। वहाँ विदेशी यात्री चीन आदि देशों से आकर बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करते और लौटकर स्वदेश में उनका प्रचार करते थे।

ह्रास के कारण

अनेक भारतीय भिक्षुओं ने भी विदेश में जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया। स्वदेश में जो बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ, उसके अनेक कारण थे। एक कारण ब्राह्मणों और ब्राह्मण-धर्मावलंबी राजाओं का विरोध था। शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट और अन्य हिन्दू आचार्यों का संघर्ष काफी घातक सिद्ध हुआ। परन्तु उसका प्रमुख कारण बौद्ध धर्म के अन्तर्गत अनेक संप्रदायों का फूट पड़ना और परस्पर विरोध का बढ़ जाना था। उनके मठ भी अनेक बार पाप और षड्यन्त्र के केन्द्र हो गये। फिर चूँकि अहिंसात्मक होने के कारण यह धर्म राजाओं को दिग्विजय करने में प्रोत्साहित न कर सका, राजा अधिकतर इससे उदासीन होते गये और तब अधिकतर जनता राजा के ही धर्म को स्वीकार करती थी। इसलिए राजा का विरोधी धर्म का अनुयायी होना बौद्ध धर्म के लिए घातक सिद्ध हुआ। मुसलमानों का आक्रमण भी इस ह्रास का एक प्रबल कारण बन गया। सहस्रों की संख्या में उन्होंने बौद्ध विहारों में भिक्षुओं को तलवार के घाट उतारा और उनकी मूर्तियों को तोड़ा। बौद्धों के जो पश्चात्कालीन अनेक संप्रदाय बने, उनमें मन्त्रयान, वज्रयान आदि अत्यन्त घृणित तरीकों को अपने अनुष्ठानों में व्यवहार करने लगे जिससे सवर्ण-हिन्दू उनसे अत्यन्त विरक्त हो गये। अन्ततः जब ब्राह्मणों ने बुद्ध को अवतार मानकर उन्हें अपने अवतारों की श्रेणी में रखा तब उनकी महिमा प्रायः नष्ट हो गयी क्योंकि राम और कृष्ण की श्रेणी में उनका स्थान नहीं के बराबर हो गया। गुप्तकाल में बननेवाले वर्तमान हिन्दू-धर्म का रूप बौद्ध धर्म के जनप्रिय रूप से अधिकतर मिल गया। तब के बौद्ध धर्म में भी हिन्दू देवी-देवताओं की भाँति अनन्त देवी-देवता हो गये, जो सामान्यतः वे ही थे। देवताओं की एकता जब सिद्ध हो गयी तब बुद्ध के भी हिन्दू अवतार घोषित कर दिए जाने पर बौद्धों के पास सिवा अपने अनीश्वरवादी दर्शन के और कुछ शेष न रहा, और दर्शन का महत्त्व विद्वान् स्वीकार करता है, साधारण जनता नहीं। धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म ने बौद्ध धर्म का स्वदेश में गला घोंट दिया जैसे वह 'आज नेपाल में घोंट रहा है।'

३. बुद्धकालीन सभ्यता

आर्थिक वृत्तान्त

बुद्धकालीन ग्रामों और नगरों पर प्राचीन बौद्ध साहित्य ने काफी प्रकाश डाला है। उनके संगठन और उद्योग-धंधों के विषय में बौद्ध जातकों, पिटकों और अन्य ग्रंथों में प्रचुर सामग्री सुरक्षित है। उनको देखने से विदित होता है कि आज ही की भाँति तब भी आबादी का अधिकांश गाँवों में ही रहता था। नदी-नाले अथवा बड़े तालाबों के तट पर अच्छे प्रकार से जल आदि की सुविधा का विचार करके ये ग्राम बसाये जाते थे। थोड़ी-सी जगह में ग्राम के सारे गृह सटे-सटे खड़े होते थे और बाहर उनके चारों ओर व्यक्तिगत खेत (ग्राम-क्षेत्र) होते थे। छोटे-बड़े अपनी-अपनी मिलकियत के अनुसार वे सार्वजनिक सीमाओं अथवा सिंचाई की नहरों से पृथक्-पृथक् बँटे होते थे। ग्राम के समीप के वनों (दाव अथवा दाय) पर गाँववालों का सामूहिक स्वत्व होता था। इसी प्रकार वातों अथवा चरागाहों पर भी मवेशियों को चराने का उनका समान अधिकार होता था। इन चरागाहों में मवेशी 'गोपालक' की देख-रेख में चरते थे। गोपालक वैतनिक और ग्राम-निवासियों का सार्वजनिक नौकर होता था।

ग्राम

भूमि के बड़े-बड़े स्वामी न थे। जमींदारी की प्रथा अभी अनजानी थी। छोटे-छोटे कृषक अपनी भूमि के जोतने-बोने आदि के स्वामी थे, जो अपनी लगान अथवा भूमि-कर बगैर किसी बिचवैये के सीधा राजा को देता था। परन्तु भूमि का स्वामी अपनी भूमि ग्राम-सभा की अनुमति बिना बेच अथवा रेहन नहीं कर सकता था। साधारणतया व्यवहार में इस प्रकार की अनुमति मिलने में कोई दिक्कत नहीं होती थी। कृषक अपनी भूमि बैलों की सहायता से आप जोतते थे या इस कार्य को मजूरों, कमकरों या दासों से कराते थे। बड़े-बड़े भूस्वामी तब नहीं थे। कृषक अपना कर उपज के छठे भाग से बारहवें भाग तक गाँव के मुखिया (ग्राम-भोजक) द्वारा राजा को प्रदान करते थे। ग्राम-भोजक गाँव का मुख्य व्यक्ति था, जो वहाँ के शासन की देख-रेख करता था। वह कभी तो 'मौल' (पुश्तैनी) पदाधिकारी होता था, कभी ग्राम-सभा द्वारा चुना जाता था। वह अपने शासन-कार्य में ग्राम-सभा से सब प्रकार की सहायता पाता था। शान्ति रखने और रक्षा-कार्य में वह सदा जागरूक रहता था। ग्राम प्राचीन काल के ग्रामों की भाँति अब भी अधिकतर स्वतंत्र थे। अपनी आवश्यकताओं की वे प्रायः पूर्ति कर लेते थे। सिंचाई की नहरों को संमति और यात्रियों के आराम के लिए सराएँ बनाने के-से सार्वजनिक कार्य वे लगन और ईमानदारी से करते थे। ग्राम के इस प्रकार के सार्वजनिक कार्यों में स्त्रियों से भी पूरी सहायता मिलती थी। जीवन सादा और सुखी था। न तो बड़े धनाढ्य और न बड़े दरिद्र ही थे। अपराध कम होते थे; इससे मुकदमेबाजी की संख्या भी बहुत कम थी। अपने झगड़े ग्रामवासी आप या पंचायत में निपटा लेते थे। परन्तु उस प्रसन्न आबादी को अवर्षा अथवा बाढ़ का अकाल कभी-कभी दुखी कर देता था।

भूमि

नगरों की संख्या काफी होते हुए भी बहुत बड़ी न थी। उनकी संख्या, जैसी आज है, अधिकतर मध्य-हिन्दु और मुस्लिम-काल में बढ़ी है। बौद्ध साहित्य में बहुत ही कम नगरों या 'निगमों' का उल्लेख मिलता है। जिन नगरों का वर्णन बौद्ध ग्रंथों में मिलता है वे थे मुख्यतः—मगध की राजधानी राजगह (राजगृह), वत्स की कौशाम्बी, कोशल की सावत्थी (श्रावस्ती), वज्जियों की वेसाली (वैशाली), अंग की चम्पा, शाक्यों की कपिलवस्तु, अवन्ती की उजेनी (उज्जयिनी), वाराणसी, अजोज्भा (अयोध्या), मथुरा, तक्षशिला आदि। मगध की दूसरी नई राजधानी पाटलिपुत्र का अभी निर्माण नहीं हुआ था। अभी वह केवल पाटलिग्राम था।

नगर

नगर साधारणतः दुर्गाकार एक दीवार (प्राकार) से घिरे होते थे। उनके मकान मिट्टी अथवा ईंटों के बने थे जिनमें लकड़ी का प्रचुर प्रयोग होता था। गरीब और साधारण जन मामूली मकानों में रहते थे और धनाढ्य नागरिक सुन्दर, ऊँचे, भीतर से चित्रित और बाहर से रँगे भवनों में रहते थे। नगरों का जीवन अधिक सामूहिक और मनोरंजक होता था। लोग समृद्धि, सुख और विलास का जीवन भी बिताते थे। वहाँ दोनों तरह के लोग थे—बड़े-बड़े सार्थवाह और श्रेष्ठी जो व्यापार से लखपती हो गये थे, और दरिद्र भी जो कष्टमय जीवन व्यतीत करते थे। ग्रामों से नगरों का जीवन भिन्न था। नागरिकों के उद्योग-धंधे आदि भी स्वभावतः गाँववालों से भिन्न थे।

शिल्प-कलाएं भी अनेक आचार्यों को धन और यश प्रदान करती थीं। साधारणतया लोगों का पेशा कृषि था; परन्तु उसके अतिरिक्त अनेक अन्य धन्धे भी लोग करते थे। लकड़ी और धातुओं में कई प्रकार के काम होते थे। सुनारों की वृत्ति भी काफी उन्नति पर थी। सोना, चाँदी और रत्नों पर कटाव के अनेक काम होते थे। गाड़ी, रथ और नौका-पोत (क्षुद्र नावें और समुद्रगामी वणिक्-पोत) बनानेवाले चतुर-शिल्पी कभी अवकाश नहीं पाते थे। इसी प्रकार वास्तु-विशारद भी थे, जिनका काम बड़े-बड़े भवन और प्रासाद बनाना था। राजगृह का परकोटा और उसके भीतर की जरासन्ध की बैठक इन्हीं वास्तु-शिल्पियों ने बनायी होगी। इनके अतिरिक्त कुम्हार, चर्मकार, माली, जुलाहे और गजदन्त-कर्मकर भी थे, जो अपने-अपने पेशों में दक्ष थे। ऊपर बतायी वृत्तियों और शिल्पों के अतिरिक्त कुछ हीन शिल्प भी थे, जिनका पेशा करनेवाले सामाजिक दृष्टि से कुछ ऊँचे नहीं समझे जाते थे। इनमें मुख्य निम्नलिखित थे—चमड़ा चिकनानेवाले सँपेरे, बहेलिए, धीवर, नर्तक, अभिनेता आदि। साधारणतया लोग अपने कुलागत धंधे करते थे। परन्तु कुलवृत्ति कोई बन्धन न थी और शिल्प भी सदा वर्णानुसार नहीं होते थे। इसी कारण हमें तत्कालीन बौद्ध साहित्य में जुलाहे—धनुर्वृत्तिवाले, क्षत्रिय-कृषक, ब्राह्मण-वणिक् अथवा बढ़ई तथा गोपालन के कार्य करनेवाले भी मिलते हैं। जातकों के अन्य शिल्पियों के नाम हैं—बड्ढकी (बढ़ई) सुनार, लुहार (कम्मार), पत्थर काटनेवाले (संगतराश), तन्तुवाय (जुलाहे) रंगकार, कुम्भकार, नहापक आदि।

शिल्प-कलाएं

उस समय की एक विशेष बात यह थी कि शिल्पियों में एक प्रकार का संगठन था। एक ही वृत्तिवाले अधिकतर अपना एक दल संगठित कर लेते थे जिसे 'श्रेणी' कहते थे। एक वाले श्रेणी नगर के एक भाग में अथवा एक मार्ग (वीथी—सड़क) के दोनों

श्रेणी

ओर रहते थे। वह भाग बहुधा उन्हीं के नाम से पुकारा जाता था। इस प्रकार की अनेक श्रेणियों—लगभग १८—के नाम जातकों में सुरक्षित हैं। श्रेणी का एक (मुखिया प्रमुख, पमुख) अथवा जेठक होता था। उसका उत्तर-दायित्व बड़ा था। उसकी प्रतिष्ठा भी बड़ी थी। नगरों में उनका पद ऊँचे राजपुरुषों से किसी प्रकार कम न था। कभी-कभी अपना संगठन दृढ़तर करने के लिए अनेक वर्ग अथवा श्रेणी मिलकर एक हो जाते थे। इनके अपने नियम-विधान थे।

जातकों में छठी शदी ई० पू० के आसपास के वाणिज्य और वणिक्पथों के अनेक उल्लेख मिलते हैं। उनके अध्ययन से पता चलता है कि उस समय भारत का वाणिज्य-संबंध संसार के अनेक बाहरी देशों से था। दोनों प्रकार के—अर्थात् देश के भीतरी विविध प्रदेशों में पारस्परिक और विदेशों से—व्यापार प्रचुर मात्रा में चलते थे। स्थल और जल के दोनों व्यापार-मार्ग इस अर्थ व्यवहृत होते थे। व्यापार

वाणिज्य और वाणिक्पथ

करनेवाले वाणिक् देश और विदेश में विविध प्रकार की वाणिज्य-सामग्री लिए बेचते-फिरते थे। क्रय-विक्रय की चीजों में सभी प्रकार की चीजें होती थीं, जैसे रेशम, मलमल, सुईकारी के काम, कम्बल, सुगन्धि-द्रव्य, ओषधियाँ, बर्तन, मुक्ता-मणि, रत्नादि, कवच, हाथी-दाँत और हाथी-दाँत के बने काम वगैरह। व्यापारी देश के भीतर नदियों और वाणिक्पथों से होकर आते-जाते थे और विदेशों को सामुद्रिक रास्ते से पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतट पर अनेक पत्तन (बन्दरगाह) थे। व्यापारी पूर्वी समुद्र में चीन, बरमा, सिंहल आदि देशों को ताम्रलिप्ति से और बावेरु (बेबिलन, बाबुल) आदि को पश्चिमी तट के भरुकच्छ (भृगुकच्छ, भड़ोच) आदि बन्दरगाहों से जाते थे।

देश के वणिक्पथ प्रशस्त और लंबे थे जिनसे दूरस्थ नगर एक दूसरे से जुड़े हुए थे। इस प्रकार के कई राजमार्गों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है। इनमें से एक सावत्थी (श्रावस्ती अवध के गोंडा और बहराइच जिलों की सरहद पर वर्तमान सहेठ-महेठ) से पतिठान (प्रतिष्ठान—हैदराबाद राज्य का पैठान) तक जाता था। दूसरा सावत्थी से मगध में राजगह (राजगृह) तक जाता था। तीसरा श्रावस्ती से चल-कर सुदूर सीमाप्रांत के तक्षशिला तक पहुँचता था, और चौथा काशी को पश्चिमी समुद्रतट के पत्तनों और नगरों से जोड़ता था। इन प्रशस्त वणिक्पथों पर बीच-बीच में अनेक पड़ाव होते थे और नदियों के घाटों पर खेवे की नावें चलती थीं। सारे देश में छोटे-छोटे मार्गों के जाल-से बिछे थे। बड़े वणिक्पथों पर सार्थवाह (कारवाँ) चलते थे। जो सार्थवाह राजपूताना के प्रशस्त मरुस्थल को पार करते थे, वे रात्रि में अपना मार्ग नक्षत्रों की गति से पहचानते थे। ये लंबे वणिक्पथ सर्वथा सुरक्षित न थे। इनमें से बहुतेरे मार्गों में डाकू भी छिपे रहते थे, जो सुविधा पाकर सार्थवाहों को लूट लेते थे।

फिर भी सार्थवाह व्यापार में चूकते न थे। काशी से चलनेवाले सार्थवाहों के दल में हजार-हजार बैलगाड़ियों के एक साथ चलने का उल्लेख जातकों में मिलता है। ये सार्थवाह अपनी रक्षा के लिए अपने साथ सशस्त्र रक्षक रखते थे। देश के भीतर फिरते वणिकों को अनेक राज्यों से होकर जाना पड़ता था। प्रत्येक राज्य पर उनकी वस्तुओं पर चुंगी और अन्य कर लगते थे। इससे स्वभावतः वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाया करता होगा।

क्रय-विक्रय करते समय मूल्य का आदान-प्रदान अब विनिमय से नहीं होता था। विनिमय का तरीका बहुत पहले बन्द हो चुका था। इस समय सिक्के चलते थे। एक

सिक्के

प्रकार के सिक्कों को 'काहापण' या कार्षापण कहते थे। कार्षापण ताँबे के होते थे जिनपर कई प्रकार के चिह्न अंकित होते थे। ये अंक वणिक् अथवा उनकी श्रेणियाँ उनका मान आदि निर्धारित करने के लिए उनपर अंकित करती थीं। निक्ख (निष्क) और सुवण्ण (सुवर्ण) सोने के सिक्के थे, जो इस काल चलते थे। 'मासक' और 'काकनिका' नाम के दो और प्रकार के सिक्के भी चलते थे। इनकी शक्ल चौकोर होती थी।

उन दिनों ऋण-उधार (इन-दान) भी चलते थे जिनपर आज ही की भाँति व्याज (वड्ढि) लिया जाता था। व्याज पर धन चलाना कानूनन जायज था यद्यपि अधिक

ऋण और धन

व्याज लेकर ऋणियों को पीसना बुरा समझा जाता था। बैंकों का चलन तो था नहीं, इससे धन से सुवर्ण अथवा आभूषण खरीदकर लोग रखते थे। रुपए-पैसे भाण्ड में रख जमीन में गाड़कर भी रखे जाते थे। कभी-कभी उसे मित्र के यहाँ भी रख देते थे जिसका विवरण पत्र पर लिखकर रख लिया जाता था। गाड़े धन का भी बीजक बना कर रखते थे।

४. बुद्धकालीन राज्य

राज्यों का संघर्ष और मागध साम्राज्य की स्थापना

बुद्ध के समय की जो विशिष्ट राजनीतिक प्रगति हमें प्रभावित करती है, वह है गणतन्त्रों का अस्तित्व। तब जहाँ राजाओं द्वारा शासित अनेक राज्य थे वैसे ही प्रजा

गणतन्त्र

और कुल-विशेषों के प्रतिनिधियों द्वारा शासित गणतंत्र भी थे। हम पहले गणतंत्रों का ही वर्णन करेंगे। पालिग्रंथों में जिन गण-राज्यों के वर्णन मिलते हैं वे निम्नलिखित हैं:—

१. कपिलवत्थु (कपिलवस्तु) के शाक्य—ये आधुनिक नेपाल और ब्रिटिश राज के बीच हिमालय की तराई में बसे थे। उनकी राजधानी कपिलवस्तु वहीं थी जहाँ आज तिलौराकोट है। शाक्य अपने को सूर्यवंशी इक्ष्वाकुकुल के कहते थे।

२. सुंसुमगिरि के भग्ग—ये संभवतः ऐतरेय ब्राह्मण के प्राचीन भर्ग थे। डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार उनकी राजधानी मिर्जापुर जिले में अथवा उसके आस-पास कहीं थी।[1]

---

१ Hindu Polity, पृ० ४९

३. **अल्लकप्प के बुली**—इनके विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है। ये वेथदीप राज्य के पड़ोस में संभवतः बिहार के वर्तमान शाहाबाद और मुजफ्फरपुर जिलों के बीच फैले हुए थे।

४. **केसपुत्त के कालाम**—इनके मुख्य नगर का पता नहीं। संभव है, इन कालामों का संबंध शतपथ ब्राह्मण में पंचालों के साथ वर्णित केशिन के साथ रहा हो। बुद्ध के समकालीन विख्यात आचार्य आलार कालाम इसी गण के थे।

५. **रामग्राम के कोलिय**—रामग्राम के कोलिय शाक्यों के पूर्वी पड़ोसी थे। शाक्यों और कोलियों की सीमा रोहिणी की धारा थी। साधारणतया दोनों में मेल रहता था, परन्तु एक बार रोहिणी के जल के लिए वे लड़ पड़े थे।

६. **पावा के मल्ल**—इनको जेनरल कनिंघम ने गोरखपुर जिले के वर्तमान पडरौना के मल्लों से मिलाया था। परन्तु कुछ लोगों की राय में प्राचीन पावा वहाँ थी जहाँ अब फाजिलपुर है।

७. **कुशीनारा के मल्ल**—ये गोरखपुर जिले के वर्तमान कसिया के थे जहाँ एक छोटे-से मन्दिर में परिनिर्वाण-मुद्रा में सोई बुद्ध की बृहदाकार मूर्त्ति मिली थी। कसिया कुशीनगर या कुशीनारा का अपभ्रंश है।

८. **पिप्पलिवन के मोरिय**—मोरियों की राजधानी का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। शायद वे शाक्यों की ही एक शाखा थे। उनका मोरिय नाम इसलिए पड़ा था कि उनकी राजधानी मोरों की ध्वनि से सदा गूँजती रहती थी।

९. **मिथिला के विदेह**—मिथिला नेपाल की सरहद पर वर्तमान जनकपुर है। मिथिला में प्राचीन काल के उपनिषद् विद्या के विख्यात ज्ञानी और चिन्तक विदेह जनक राज करते थे। परन्तु बुद्ध के समय में यह राज्य गणतंत्र हो गया था।

१०. **वैशाली के लिच्छवी**—वैशाली लिच्छवियों का मुख्य नगर था। उसके स्थान पर आज बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ आबाद है। लिच्छवी तब बड़े प्रतापी थे। वे क्षत्रिय थे। इस कारण बुद्ध के भस्म में उनको भी भाग मिला। उनको बुद्ध और महावीर दोनों के उपदेश सुनने को मिले। दोनों के साथ उनका घना संबंध स्थापित हो गया था। महावीर तो उनके भाई ही थे। लिच्छवियों (वज्जियों) की शासक-काया में ७७०७ 'राजा' भाग लेते थे। लिच्छवी अपने संघ की बैठकों के लिए प्रसिद्ध थे। उनकी बैठकों में शासन के कार्य अत्यन्त सुचारु रूप और एकता से सम्पन्न होते थे। गौतम बुद्ध ने उनको बहुत सराहा था।

बुद्ध शाक्यवंश के थे। इसी कारण बौद्ध साहित्य में शाक्यों का प्रचुर वर्णन मिलता है। उससे विदित होता है कि शाक्यों का राष्ट्र भी गणतंत्र ही था, जो एक प्रधान के अधीन था। प्रधान को राजा कहते थे। यह पता नहीं कि वह विभिन्न कुलों से चुना जाता था अथवा पुश्तैनी तौर से एक ही कुल से। इसका भी पता नहीं कि उसकी नियुक्ति कितने काल के लिए होती थी। इसमें संदेह नहीं कि बुद्ध के पिता शुद्धोदन काफी समय तक राजा रहे। इसी प्रकार उनके भाई भद्दिय भी कुछ काल तक उस पद पर रहे। राष्ट्र का शासन

एक प्रकार की संस्थापिका सभा द्वारा होता था जिसकी बैठकें संथागारों में होती थीं और जिसमें युवा और वृद्ध, धनाढ्य और दरिद्र, समान रूप से उपस्थित होते थे। बौद्ध ग्रंथों से पता चलता है कि इन संथागारों के कार्यक्रम बड़ी मुस्तैदी से चलते थे। इनके कार्य के तरीके धार्मिक संघों ने बाद में अपने कार्यक्रम में ले लिये। इन संथागारों में सभा की बैठकें नियत समय पर हुआ करती थीं। उनमें बैठने का प्रबन्ध आसनप्रज्ञापक नाम के एक प्रकार के अधिकारी करते थे। प्रत्येक बैठक कोरम (आवश्यक संख्या जिसके अपूर्ण रहने पर बैठक नहीं हो सकती) के पूरा होने पर ही हो सकती थी और 'बिनयधर' (अध्यक्ष) उस संख्या में नहीं गिना जाता था। सदस्यों की संख्यापूर्ति 'गणपूरक' नामक पदाधिकारी करता था। कार्यक्रम का आरंभ प्रस्ताव की नियमित नोटिस (भति, ञत्ति) देने (स्थापनं) पर होता था। इसके बाद इस नोटिस की घोषणा (अनुस्सावनं) की जाती थी। वहाँ केवल प्रस्ताव के संबंध में ही वक्तव्य हो सकते थे। बाकी सारी अप्रासंगिक बातें रोक दी जाती थीं। प्रस्ताव को 'प्रतिज्ञा' कहते थे। प्रतिज्ञा दो-दो (ञत्ति-द्वितीय-कम्म) और कभी-कभी तीन-तीन (ञत्ति-चतुथ्य-कम) रीडिंग (पाठ) तक होती थी। सदस्यों की चुप्पी प्रतिज्ञा के पक्ष में सम्मति समझी जाती थी, परन्तु विरोध होने पर प्रश्न को सर्वसम्मति से हल करने को उनके पास कई साधन थे। उनमें से एक था, उसे कमेटी के जिम्मे कर देना। यदि सर्वसम्मति संभव न हो सकी तो वोट (छन्द) लिए जाते थे। वोटिंग टिकटों (शलाका) द्वारा होती थी। शलाकाएँ उतने रंग की काम में लायी जाती थीं जितनी सम्मतियाँ होतीं। इन शलाकाओं को वोटिंग के समय एकत्र करनेवाला पदाधिकारी 'सलाकागाहापक' कहलाता था और वह नितान्त पक्षपातरहित हो उनको इकट्ठा करता था। वोटिंग सर्वथा स्वतंत्र होती थी और निश्चय बहुमत (ये-भुय्यसिकं) के पक्ष में होता था। कोई विषय एक बार निश्चित हो जाने के बाद फिर विचार के लिए नहीं उपस्थित किया जा सकता था। क्लर्कों द्वारा बैठकों के कार्यविवरण सुरक्षित रखे जाने के भी प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार इन राष्ट्रीय संघों की कार्यवाही यथार्थतः प्रजातंत्रपरक थी।

गणतंत्रों का शासन

जाति अथवा संघ की वृत्ति देश में उपजे चावल से चलती थी। उनके मवेशी भी चरागाहों में चरते थे। ग्रामों के समूह अलग-अलग थे और समान पेशेवर अधिकतर एक स्थान पर रहते थे। उदाहरणतः कुम्हारों, लोहारों, बढ़इयों और पुरोहितों तक के अपने-अपने ग्राम थे। शाक्य लोग शान्तिप्रिय थे और उनके यहाँ चोरी और अन्य ऐसे अपराध बहुत कम होते थे। शायद उनमें भी कोलियों की भाँति पुलिस-विभाग था जिसके अफसर एक विशेष प्रकार की पगड़ी बाँधते थे और जो घूसखोरी और दूसरी ज्यादतियों के लिए बदनाम हो गये थे। अपराधी, पकड़े जाने के बाद, न्यायालय में उपस्थित किए जाते थे। वहाँ उनके अपराधों पर विचार किया जाता था। कम-से-कम वज्जियों में तो अवश्य न्याय का एक बड़ा पेचीदा व्यवहार था। 'महपरिनिब्बान-सुत्त' पर बुद्धघोष के भाष्य 'अट्ठकथा' से विदित होता है कि जब अपराधी सभी न्यायालयों द्वारा दोषी ठहरा दिया जाता था, तब पवेनु-पोत्थकों में लिखे अनुसार उन्हें दण्ड दिया जाता था। इन न्यायालयों में से यदि एक भी अपराधी को निर्दोष क़रार देता, तो वह मुक्त कर दिया जाता था। ये न्यायालय

निम्नलिखित पदाधिकारियों के चार्ज में थे—जज (विनिच्चय महामात), वकील (वो[illegible]रिक), व्यवहार (कानून), प्रवीण (सूत्रधर), आठ अफसरों की समिति (अठकुलका), सेनापति, उपराजा और राजा।

बुद्ध के जीवन-काल में राजनीतिक महत्त्व की बात यह हुई कि देश में चार राज्य खड़े हो गये जिनमें पुश्तैनी राजा राज करते थे। ये राज्य थे—कौशाम्बी (वत्स), अवन्ती, कोशल और मगध। इनके राजा शक्तिमान शासक थे, जो अपने राज्य की सीमाएँ अपने पड़ोसी राज्यों अथवा गणराज्यों को जीतकर बढ़ाने लगे थे। इसका फल यह हुआ कि स्वयं उन्हीं में परस्पर युद्ध होने लगा और कालान्तर में उन चारों के स्थान में एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना हुई। तत्कालीन पालि-साहित्य से, जो हमें इन चारों राज्यों के विषय में ज्ञात होता है, वह नीचे दिया जाता है।

राजतन्त्र

१. वत्स—वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी। इलाहाबाद से करीब तीस मील दक्षिण-पश्चिम यमुना तट पर बसे कोसम-इनाम और कोसम-खिराज के मैदानों में उस प्राचीन नगर के भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। इस देश का राजा बुद्ध का समकालीन उदयन था। उदयन भरतवंश के शतानीक परंतप का पुत्र था। वह प्रेम का अवतार था। संस्कृत साहित्य और भारतीय अनुश्रुति में इस नृपति की अनेक प्रेम-कथाओं का वर्णन मिलता है। 'उदेनवत्थु' के अनुसार उदयन अवन्ती के राजा पज्जोत (प्रद्योत) का एक समय बन्दी हो गया। परन्तु वह उसकी कन्या वासवदत्ता को लेकर कौशाम्बी भाग आया और वहाँ पहुँचकर उसने उससे ब्याह कर लिया। उदयन भास के कई नाटकों का नायक है। 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' में उदयन का अवन्तीराज द्वारा बन्दी होना और उसकी कन्या के साथ कौशाम्बी भाग आना लिखा है। कहते हैं कि ग्रीकों के ट्रोजन-अश्व की भाँति अवन्तिराज ने भी काठ का एक कृत्रिम हाथी बनवाकर जंगल में छोड़ दिया। उदयन को वीणा बजाकर हाथी पकड़ने का बड़ा शौक था। जब उसने सुना कि अवन्ती और वत्स की सीमा के जंगलों में एक विशाल गज फिर रहा है तब वह अपनी वीणा लिए वन में प्रविष्ट हुआ। परन्तु जब वह घने वन में पहुँचा, तब उसके अनुचर दूर पीछे छूट गये। इसी समय अवन्ति-सैनिक, जो उस कृत्रिम गज के पेट में छिपे थे, बाहर निकल आये और उन्होंने वत्सराज को पकड़ लिया। कुछ काल बाद प्रद्योत ने जब वत्सराज की वीणावादन में प्रवीणता की बात सुनी तब उसने उसे अपनी कन्या वासवदत्ता को वीणा सिखाने के लिए नियुक्त किया। उदयन वासवदत्ता को वीणा सिखाने लगा। धीरे-धीरे दोनों परस्पर आसक्त हो गये। एक रात उदयन के मंत्री यौगन्धरायण द्वारा लाए गये गज पर बैठकर दोनों कौशाम्बी भाग गये। इस उदयन-वासवदत्ता-पलायन का मनोरंजक दृश्य कौशाम्बी से उपलब्ध ईस्वी पूर्व द्वितीय शताब्दी में गढ़े मिट्टी के दो ठीकरों पर बड़ी सुन्दरता से खुदा है। ये ठीकरे भारतकलाभवन, काशी, में सुरक्षित हैं। इसी प्रकार दूसरी ख्यातों के अनुसार उदयन ने मगध के राजा दर्शक की भगिनी पद्मावती और अंगराज दृढ़वर्मा की कन्या को भी ब्याहा। अंग को उदयन ने पहले जीत लिया था परन्तु फिर उसने वह राज्य दृढ़वर्मा को लौटा दिया। बाद के संस्कृत साहित्य में 'कथासरित्सागर' तथा 'प्रियदर्शिका' में हम उदयन की दिग्विजय के संबंध में

कलिंगविजय और कोशल के राजा से उसकी शत्रुता के प्रसंग पढ़ते हैं। संभव है, इन वृत्तान्तों में उदयन की दिग्विजय की कथा कुछ बढ़ाकर कही गयी हो। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह एक शक्तिमान नरेश था और उसने अंग, मगध और अवन्ती के राजकुलों से विवाह-संबंध स्थापित किया था। उसके विलास के संबंध में तो संस्कृत के अधिकतर कवियों ने गीत गाये हैं।

इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि उदयन का पुत्र बोधी (बोधिकुमार) वत्स की गद्दी पर बैठा या नहीं। 'कथासरित्सागर' से विदित होता है कि कौशाम्बी प्रद्योत के पुत्र पालक द्वारा अवन्ति-राज्य में मिला ली गई। इसलिए संभवतः बोधी राजा न हो सका। युवराज की अवस्था में उसने सुंसुमगिरि-प्रदेश का शासन किया था। वहाँ उसने अपने लिए एक विशाल प्रासाद भी बनवाया। 'मज्झिमनिकाय' का एक सुत्तन्त बोधिकुमार के नाम में है। बुद्ध के समय से कौशाम्बी बौद्धों का एक विशिष्ट केन्द्र हो गया था। स्वयं बुद्ध ने वहाँ प्रायः निवास किया। उदयन बुद्ध के उपदेशों के प्रति पहले तो उदासीन रहा, परंतु पिंडोल नामक भिक्षु ने उसे बाद में बहुत प्रभावित किया।

२. अवन्ती—उदयन और बुद्ध के समय अवन्ती का राजा चण्ड प्रद्योत था जिसने उदयन को बन्दी कर लिया था। क्रूरकर्मा होने के कारण वह 'चण्ड' कहलाता था। उनकी सेना बहुत बड़ी थी, इससे वह 'महासेन' भी कहलाता था[१]। इस प्रकार प्रद्योत का पूरा नाम था चण्ड प्रद्योत महासेन। उसकी राजधानी उज्जैनी थी। उसकी पुत्री वासवदत्ता वत्स के उदयन से ब्याही थी। संभवतः उसका किसी प्रकार का वैवाहिक संबंध मथुरा के शौरसेन राजा 'अवनिपुत्तो' से भी था। पजोत अथवा प्रद्योत अत्यन्त प्रचण्ड स्वभाव का था। उसकी महत्त्वाकांक्षा प्रबल थी। पुराणों के अनुसार पड़ोस के सारे राजा उसके करदायी थे। उदयन को बन्दी कर एक बार उसने वत्स पर अधिकार तो कर ही लिया था उसकी शक्ति इतनी बढ़ी कि उसके आक्रमण के डर से दूरस्थ अजातशत्रु को अपनी राजधानी राजगृह की प्राचीरें दृढ़ करानी पड़ी थीं। फिर भी इस प्रचण्ड नरेश के उत्तराधिकारी दुर्बल हुए क्योंकि उनके संबंध में पुराणों में या अन्यत्र कहीं कोई विशिष्ट उल्लेख नहीं मिलता। उसका पुत्र पालक अवश्य अपवाद-सा प्रतीत होता है। उसके कौशाम्बी को जीतकर अवन्ती में मिला लेने की घटना 'कथासरित्सागर' में वर्णित है। इस पालक को अजक अथवा आर्यक नामक गोपाल के पुत्र ने गद्दी से उतार दिया। परन्तु शायद वह स्वयं भी गद्दी पर न बैठ सका। पुराणों में इन दोनों के बीच एक तीसरे राजा विशाखयूप का नाम लिखा मिलता है, जो संभवतः गलत है। उसके बाद अवन्तिवर्धन का उल्लेख है।

अवन्ती बौद्धों का दूसरा केन्द्र थी। वहाँ बुद्ध के अनेक अनन्य भक्त महाकच्चान, सोण, अभयकुमार आदि निवास करते थे। इसी कारण राइज़ डेविड्स ने लिखा है कि बौद्ध धर्म

---

१ तस्य बलपरिमाणनिर्वृत्तं नामधेयं महासेन इति—स्वप्नवासवदत्ता, ५, २०।

जन्मा तो मगध में, परन्तु वस्त्राभरण उसने अवन्ती में धारण किया। तात्पर्य यह कि पालि-पिटक अवन्ती की प्राकृत में ही लिखे गये।

३. **कोशल**—पुराणों की प्राचीन ख्यातों और रामायण के अनुसार तो कोशल अत्यन्त प्राचीन राज्य था जहाँ इक्ष्वाकुवंशीय राजा दशरथ, रामादि ने राज किया था। परन्तु छठी शताब्दी ई० पू० में उत्तरी भारत में कोशल का पुनरुत्थान एक महत्व की घटना है। बुद्ध के समकालीन कोशलराज पसेनदि (प्रसेनजित) के पूर्वज कंस और काशी के युद्धों का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। इस कोशल-काशी-शक्ति-संतुलन में काशी को नीचा देखना पड़ा था और वह कोशल में मिला ली गयी थी। पालि-साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि शाक्यों ने भी कोशल की परिमित अधीनता स्वीकार कर ली थी और इसी कारण प्रसेनजित अनेक बार 'पञ्चराजाओं का मुख्य' कहा गया है। अजातशत्रु के पिता बिंबिसार के साथ प्रसेनजित की भगिनी के ब्याह के कारण भी कोशल की शक्ति दृढ़ हो गयी होगी। अभाग्यवश यही वैवाहिक संबंध कोशल और मगध के बीच झगड़े की जड़ भी बन गया। कारण यह हुआ कि जब अजातशत्रु ने अपने पिता को भूखों मार डाला तब बिंबिसार की रानी कोशल देवी पति-वियोग के दुःख से मर गयी। उसके विवाह के अवसर पर काशी कोशल देवी को यौतुक में उसके 'स्नान और चूड़ा के मूल्य' (नहान-चुण्णमूल) रूप में दी गयी थी। भगिनी की अकाल मृत्यु से भांजे पर क्रुद्ध होकर प्रसेनजित ने काशी नगरी (की आय) लौटा ली। इसपर मगध ने कोशल के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। यह भयंकर संग्राम कुछ काल तक दोनों के बीच चलता रहा। विजयलक्ष्मी कभी मगध की ओर जाती, कभी कोशल की ओर। अन्त में दोनों में सन्धि हुई जिसके अनुसार कोशल-नरेश प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ कर दिया और काशी नगरी की आय फिर मगध को दे दी।

प्रसेनजित की शिक्षा तत्कालीन महापुरुषों की भाँति तक्षशिला के विख्यात विश्व-विद्यालय में सम्पन्न हुई थी। प्रसेनजित बड़ा उदार राजा था। उसने अनेक अग्रहार (गाँव) ब्राह्मणों को दान में दिए थे और भिक्षुओं के लिए कितने ही आराम और विहार बनवाये थे। बुद्ध के साथ उसका अत्यन्त सौहार्द था और अपने कठिन अवसरों पर वह सदा उनकी सलाह लेता था। उनकी राय के मुताबिक ही वह सदा आचरण भी करता था। एक बार प्रसेनजित ने कहा भी था कि कितने विस्मय की बात है कि तथागत अपने विस्तृत संघ में पूर्णतया शान्ति रखते हैं परन्तु मैं अंगुलिमाल दस्यु, मंत्रियों और कुल द्वारा जनित क्लेश से विपन्न रहता हूँ। जान पड़ता है, कुल से उत्पन्न उसकी परेशानियाँ बड़ी थीं; क्योंकि अन्त में दीर्घचारायण मंत्री द्वारा उकसाए जाने पर उसका पुत्र विडूडभ (विरुद्धक) विद्रोही हो उठा और उसने अपने पिता से कोशल का सिंहासन छीन लिया। प्रसेनजित ने अजातशत्रु से सहायता माँगी और विपत्ति का मारा वह नरेश राजगृह तक जा भी पहुँचा। परन्तु राजगृह के नगर-द्वार पर ही शक्ति से क्षीण और थकान से व्याकुल हो वह गिर पड़ा। मृत्यु ने शीघ्र उसकी ग्लानि हर ली। अजातशत्रु ने उसकी राजोचित अन्त्येष्टि की परन्तु नीतिश की भाँति उसने विडूडभ को भी नहीं छेड़ा।

विडूडभ के शासन पर कलंक का एक गहरा धब्बा है। उसने शाक्यों के गणराज्य पर आक्रमण कर उन्हें अत्यन्त अधिक संख्या में मार डाला। शाक्यों ने विडूडभ के पिता का विवाह शायद दासकन्या वासभखत्तिया के साथ उसे शाक्य-कुमारी कहकर किया था। इससे उसने उनकी प्रवंचना का बदला लेने के लिए शाक्यों का विध्वंस किया। उसकी मार से शाक्यों की स्वतंत्रता सर्वथा नष्ट हो गयी और कपिलवस्तु पूर्णतया वीरान। शाक्यों की यह दशा बुद्ध की मृत्यु के कुछ पूर्व ही हुई। इससे अधिक हमें विडूडभ और उसके उत्तराधिकारियों के विषय में ज्ञात नहीं। केवल उनके नाम हमें मालूम हैं। वे हैं, कुलक, सुरथ और सुमित्र[१]।

४. मगध—वैदिक साहित्य में मगध अपावन देश कहा गया है। इसकी राजनीतिक सत्ता बार्हद्रथों ने स्थापित की। बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध अनेक कथाओं का नायक है। वह बड़ा प्रतापी राजा था। महाभारत में उसके ऐश्वर्य और शक्ति का विषद वर्णन है। बृहद्रथ का राजकुल छठी शती ई० पू० में शेष हो गया क्योंकि उस शताब्दी में जब बुद्ध ने अपने उपदेश किए थे तब मगध पर हर्यंक-कुल के बिंबिसार का शासन था। पालि-साहित्य में जहाँ इस हर्यंक-कुल का वर्णन है, वहाँ पुराणों में शिशुनाग-कुल का उल्लेख है। उनके अनुसार बिंबिसार इसी शिशुनाग-कुल का था। वास्तविक सत्य इस संबंध में क्या है, यह इस समय स्थिर नहीं किया जा सकता। परन्तु पालि-साहित्य की परम्परा अधिक विश्वस्त जान पड़ती है। उसके अनुसार बिंबिसार भट्टिय नामक एक साधारण मांडलिक का पुत्र था। उस सरदार की भाँति ही स्वयं उसका नाम भी सेनिय या श्रेणिक था। उसकी राजधानी पहले बार्हद्रथों की प्राचीन गिरिव्रज थी। परन्तु कुछ काल के पश्चात् अपने राजप्रासाद के चतुर्दिक्, गिरिव्रज के पास ही, उसने राजगृह नाम की अपनी नई राजधानी बसायी। यह गिरिव्रज के ही बाह्य भाग में खड़ी हुई। इसकी प्राचीरें आज भी पटने जिले में, विख्यात नालन्दा के दक्षिण, राजगिर की पहाड़ियों पर खड़ी हैं।

बिंबिसार

बिंबिसार ने भी अपना राजनीतिक प्रभाव अधिकतर वैवाहिक संबंधों से ही बढ़ाया। उसकी प्रधान महिषी कोशल के राजा प्रसेनजित की भगिनी कोशल-देवी थी। जिन लिच्छवियों की कन्या से विवाह कर पश्चात्काल में महाराज चन्द्रगुप्त प्रथम ने प्रतिष्ठा पायी और उसके यशस्वी पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त ने गर्व से अपने को 'लिच्छवि-दौहित्र' घोषित किया, उन्हीं के नेता राजा चेटक की कन्या कुमारी चल्लना से बिंबिसार ने एक और विवाह किया। उसकी तीसरी रानी क्षेमा मद्र (मध्य पंजाब) की राजकुमारी थी। इन विवाहों के दो परिणाम हुए। एक तो यह कि समकालीनों में मगध-राजकुल की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी। दूसरा यह कि इनसे मगध के प्रसर (Expansion—प्रसार, फैलाव) का द्वार खुल गया। उदाहरणतः कोशलदेवी के यौतुक में ही काशी की एक लक्ष की आय मगध के राजकोष में प्रतिवर्ष आने लगी।

---

१ क्षुद्रकात् कुलको भाव्यः कुलकात् सुरथः स्मृतः।
सुमित्रः सुरथस्यापि अन्त्यश्च भविता नृपाः॥

विवाह के अतिरिक्त रणकौशल से भी बिंबिसार ने अपने राज्य की सीमाएँ विस्तृत कीं। ब्रह्मदत्त को परास्त कर उसने अंग (मुंगेर और भागलपुर के जिले) को मगध में मिला लिया। अनेक अन्य प्रान्तों को भी उसने अपने राज्य में मिलाया। यह उस राज्य-सीमा से विदित होता है जिसका उल्लेख प्रसिद्ध पालि-भाष्यकार बुद्धघोष ने अपनी 'अट्ठकथा' में किया है। उसके अनुसार यह सीमा बुद्ध और बिंबिसार के उत्तराधिकारी के कालान्तर में दुगनी हो गयी। बिंबिसार का शासन सुसंगठित था। राज्य के उच्चस्थ पदाधिकारियों, 'महामत्तों' (महामात्रों, महामात्यों) के आचरण पर सूक्ष्म दृष्टि रखी जाती थी। दण्ड-विधान कठोर था और इसकी यह कठोरता मौर्य-काल तक बनी रही।

बिंबिसार ने दूर-दूर के राज्यों से राजनीतिक मैत्री की। गंधार के राजा पुक्कुसाति के यहाँ से मगध को राजदूत आये। इससे पता चलता है कि गंधार अभी स्वतन्त्र था और हखमनी—ईरानी—राजा दारयवहु द्वारा अभी जीता नहीं गया था। बाहर से यह भारत-विजय संभवतः तब हुई जब क्षत्रियों ने बुद्ध के विरक्ति-सम्बन्धी उपदेश सुनकर संघारामों की राह ली और पंजाब और सीमाप्रान्त के सामरिक भी अपने शस्त्र दीवारों से टिका उन उपदेशों की ओर कान कर बैठ रहे। तभी शायद उन्हें अन्यमनस्क पाकर दारयवहु ने बढ़कर लगभग ई० पू० ५१६ में उत्तर भारत का उत्तर-पश्चिमी इलाका ले लिया और उसे उसने अपनी बीसवीं 'क्षत्रपी' घोषित कर दी। यह दारयवहु अपने शिला-लेख में अपने को 'आर्याणां आर्य' और 'क्षत्रियाणां क्षत्रिय' कहता है। दारयवहु ने किस तिथि पर यह प्रान्त जीता, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता ; फिर भी ई० पू० ५१६ ही उसकी तिथि ठीक जान पड़ती है। एक और तरीके से हम इस तिथि की सच्चाई जाँच सकते हैं। सिंहली इतिहासों के अनुसार बिंबिसार ने ५२ वर्ष राज किया और उसका पुत्र अजातशत्रु बुद्ध के निर्वाण के समय आठ वर्ष राज कर चुका था। बुद्ध का देहावसान गाइगर आदि विद्वान् ई० पू० ४८३ में मानते हैं। इसमें साठ वर्ष (५२ + ८) जोड़ने से बिंबिसार के राज्यारोहण की तिथि (४८३ + ६०) ५४३-४४ ई० पू० सिद्ध होती है।

बुद्ध को बिंबिसार ने आरम्भ से ही अपना संरक्षण प्रदान किया था। संघ को उसने करन्द-वेनु-वन भी दान किया था। भिक्षुओं को वह सदा भोजनादि से प्रसन्न करता था और उसने उन्हें कर आदि से भी मुक्त कर दिया था। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि बिंबिसार अन्य धर्मों के विरुद्ध था। औरों के प्रति भी उसके दान-कार्य हुए। उत्तराज्झयन (उत्तराध्ययन) सूत्र और अन्य जैन ग्रंथों का तो उल्लेख है कि बिंबिसार महावीर का अनुयायी और जैन धर्म का उपासक था। साधारण विश्वास अवश्य यह है कि वह बुद्ध का अनुयायी था। वह धर्मों के संबंध में सहिष्णु था और सबका आदर करता था।

बिंबिसार के पश्चात् उसका पुत्र अजातशत्रु लगभग ४९१ ई० पू० मगध की राजगद्दी पर बैठा। उसका दूसरा नाम कुणिक था। पहले वह चम्पा (अंग) में अपने पिता का प्रतिनिधि-शासक था। अंग की इस प्राचीन राजधानी में उसने राजकार्य में दक्षता प्राप्त की। अनुश्रुति है कि संघ की प्रधानता के लिए बुद्ध के प्रतिस्पर्धा और चचेरे भाई देवदत्त

के उकसाने से अजातशत्रु ने अपने पिता को बन्दी कर लिया और कारागार में उसे भूखों मार डाला। कहते हैं कि उपवास से मारने के पहले उसने उसे सर्वथा मार डालने का ही प्रयत्न किया, परन्तु उसके षड्यंत्र का पता चल गया। फिर भी बिंबिसार ने उसके लिए गद्दी छोड़ दी। अजातशत्रु फिर भी संतुष्ट न हुआ और उसके प्रति उसने वह आचरण किया जो ऊपर बताया गया है। इस ख्यात को जैसा का तैसा स्वीकार कर लेना तो कठिन है परन्तु

अजातशत्रु

निःसन्देह बिंबिसार का अन्त दुःख में हुआ और वह भी संभवतः पुत्र के दुराचरण द्वारा। जैन अनुश्रुति ने अजातशत्रु को पितृहन्ता नहीं कहा, परन्तु बौद्ध साहित्य के 'सामञ्ञफल-सुत्त' के अनुसार अजातशत्रु ने बाद में बुद्ध के सम्मुख अपने पाप के प्रति शोक प्रकट किया था और तब बुद्ध ने उसके प्रायश्चित्त से प्रभावित होकर कहा था—'जाओ, फिर पाप न करना।' द्वितीय शती ई० पू० के भारहुत-भास्कर्य में भी अजातशत्रु का बुद्ध के समीप नमन के लिए आगमन उत्कीर्ण है।

ऊपर बताया जा चुका है कि पति की मृत्यु से दुखी होकर बिंबिसार की रानी कोशलदेवी ने अपने शरीर का अन्त कर डाला और अजातशत्रु के आचरण से क्रुद्ध होकर कोशलनरेश प्रसेनजित ने मगध को काशी की आय देनी बन्द कर दी। इससे दोनों राज्यों में युद्ध छिड़ गया। अन्त में कोशलराज को काशी के साथ अपनी कन्या वाजिरा भी अजातशत्रु को समर्पित करनी पड़ी। तब से काशी पूर्णतया मगध की हो गयी।

अजातशत्रु के शासनकाल की दूसरी मुख्य घटना थी लिच्छवियों के साथ उसका संघर्ष। इस संबंध में भिन्नपरक अनुश्रुतियाँ हैं। इनसे जान पड़ता है कि इस संघर्ष के अनेक कारण थे—जैसे अजातशत्रु के विमातापुत्र हल्ल और वेहल्ल (जो कुछ कीमती वस्तुएँ लेकर वैशाली में आ छिपे थे—कम-से-कम अजातशत्रु ने उनपर यही अपराध लगाया था) को चेटक का मगधराज को न लौटाना, एक 'रत्न-खनि' के संबंध में लिच्छवियों की प्रवंचना[१]। परन्तु युद्ध का मुख्य कारण प्रसर (expansion) था। लिच्छवियों का महान् संघ मगध के उत्तर-प्रसार में पर्वत-सा टिका था। उसका नाश मगध के लिए परमावश्यक हो गया। अजातशत्रु ने इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए सभी उपायों का सहारा लिया। उसने अपने कूटनीति-कुशल मंत्रियों सुनीध और वस्सकार—को लिच्छवी राजाओं में फूट डालने के लिए भेजा। बड़ी युक्ति से उसने अपनी सेना प्रस्तुत की और उसे विकराल तथा विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों से संपन्न किया। दोनों में यह संघर्ष काफी समय तक चलता रहा; परन्तु अन्त में अजातशत्रु विजयी हुआ और लिच्छवियों का वह विख्यात शक्तिशाली गणतंत्र मगध राजवंश के शासन में खो गया। वैशाली की विजय के पश्चात् अजातशत्रु संभवतः अपनी सेना लिए उत्तर की ओर बढ़ा और पर्वत-पर्यंत सारा देश अपने राज्य में मिला लिया। ऐतिहासिक युग में मगध का यह प्रथम साम्राज्य था और अजातशत्रु प्रथम सम्राट्। अंग, काशी, वैशाली आदि सभी मगध के अन्तराल में समा गये। सहज ही इससे अवन्ती के चण्ड प्रद्योत महासेन के हृदय में ईर्ष्या का संचार हुआ और उसके आक्रमण के

१ Political History of Ancient India, चौथा संस्करण, पृष्ठ १७१.

भय से अजातशत्रु को अपनी राजधानी की प्राचीरें दृढ़ करनी पड़ीं। परन्तु शायद यह आक्रमण मगध पर हो न सका।

पालिग्रंथों के अनुसार अजातशत्रु का शासनकाल ३२ वर्षों तक रहा। परन्तु पुराण उसे केवल २७ वर्ष बताते हैं। जैन ग्रंथों के अनुसार अजातशत्रु जैनधर्मावलंबी था। परन्तु बौद्ध ग्रंथों का कहना है कि बाद में उसने बुद्ध की पूजा की और उनके उपदेश सुने, फिर तथावत् आचरण किये। यथार्थतः बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा के कारण ही वह तथागत की अस्थियों के संबंध में अपना अधिकार स्थापित कर सका। उनका एकांश उसे भी मिला जिसे उसने एक स्तूप में सुरक्षित किया।

५. साम्राज्य के पथ पर मगध की उत्तरोत्तर प्रगति

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी

बिंबिसार के पश्चात् अजातशत्रु ने पहला ऐतिहासिक साम्राज्य स्थापित किया। परन्तु अजातशत्रु के उत्तराधिकारी दुर्बल निकले। उन्होंने उस साम्राज्य का अस्थिपञ्जर तो किसी प्रकार खड़ा रखा, परन्तु वास्तव में हर्यंक राजवंश अजातशत्रु के बाद उन्नति न कर सका। पुराणों के अनुसार उसके बाद उसका पुत्र दर्शक मगध की गद्दी पर बैठा। इस दर्शक की ऐतिहासिकता भासलिखित 'स्वप्नवासवदत्ता' नामक नाटक से भी सिद्ध है। उसमें लिखा है कि दर्शक की भगिनी पद्मावती कौशाम्बीनरेश उदयन की रानियों में से एक थी। कुछ विद्वानों का मत है कि पुराणों ने गलती से दर्शक को अजातशत्रु और उदायिन् के बीच डाल दिया है और दर्शक वास्तव में बिंबिसार के कुल का अन्तिम राजा नागदासक है। पालि-साहित्य के अनुसार अजातशत्रु के पश्चात् उसका पुत्र उदायिन अथवा उदायिभद्र (उदायिभद्द—दीघनिकाय) लगभग ४५९ ई० पू० मगध की गद्दी पर बैठा। उदायी विजेता न था, परन्तु निर्माता था। उसके एक निर्माण-कार्य ने उसे अमर-ख्याति प्रदान कर दी। मगध की पश्चात्कालिक राजधानी पाटलिपुत्र का निर्माण उसी ने कराया। अवन्ती के चण्ड प्रद्योत ने एक बार मगध पर आक्रमण करने का विचार किया था। उससे मगध की रक्षा करने के लिए (और लिच्छवियों के प्रति युद्धाचरण के अर्थ) अजातशत्रु ने गंगा और शोण के संगम-कोण में एक दुर्ग बनवाया था। उदायी ने उसी दुर्ग के इर्द-गिर्द पाटलिपुत्र के विशाल नगर की नींव डाली। राजगृह से बड़े-बड़े सेठ-साहूकार आकर नई राजधानी में राजप्रासाद के चतुर्दिक् बस गये। थोड़े ही दिनों में नगर सब प्रकार से संपन्न हो गया। बुद्ध के समय वहाँ पाटलि नाम का एक छोटा-सा गाँव था जहाँ उनके कई उपदेश हुए थे और लिच्छवियों के देश को जाने के लिए जहाँ से वे गंगा पार करते थे। पाटलिपुत्र की भौगोलिक स्थिति राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। पुराणों के वृत्तान्तानुसार उदायिन् के उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन और महानन्दी थे; किन्तु पालि-साहित्य में उदायी के बाद अनिरुद्ध, मुण्ड और नागदासक के नाम मिलते हैं। किन्तु ये नाममात्र के शासक थे। जान पड़ता है कि इन राजाओं की शक्ति

दर्शक

उदायिन्

पाटलिपुत्र का निर्माण

शीघ्र इतनी क्षीण हो गयी कि शिशुनाग नामक एक अमात्य ने उनकी गद्दी छीन ली। पुराणों के अनुसार शिशुनाग बिंबिसार का पूर्वज था। उसके नाम पर वह कुल शैशुनाग-वंश कहलाता है। परन्तु सिंहली इतिहास दीपवंश और महावंश का वृत्तान्त अन्य प्रकार का है और संभवतः सही है। उस वृत्तान्त के अनुसार शिशुनाग बिंबिसार से कई पीढ़ियों बाद आता है[1]। सिंहली वृत्तान्त यह है कि शिशुनाग ने मगध का सिंहासन स्वायत्त कर लेने के बाद अपना निवास गिरिव्रज को बनाया और अपने पुत्र को काशी का शासक नियुक्त किया (बाराणस्यां सुतं स्थाप्य संयास्यति गिरिव्रजं)। अवन्ती के प्रद्योतों ने वत्स की कौशाम्बी जीत ली थी। इससे मगध और अवन्ती 'प्रकृत्यमित्र' (सहज-शत्रु) हो गये थे। दोनों में संघर्ष सहज ही था। उनमें जो संघर्ष छिड़ा, उसमें शिशुनाग विजयी हुआ। उसने प्रद्योतों का बल तोड़ दिया। शिशुनाग द्वारा संपादित यह दूसरी महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना थी जिसमें उसने अवन्ती के राजा अवन्तिवर्धन को परास्त किया था। प्रद्योतों का काइस काल के बाद सर्वथा लोप हो जाता है और इस घटना के उपरान्त मगध का शिशुनाग कुल मध्यदेश, अवन्ती और उत्तरापथ के अनेक प्रान्तों का स्वामी बन जाता है।

शिशुनाग

नन्द-वंश

हर्यंकों और शिशुनागों के बाद मगध के आकाश में नन्दों का सूर्य उदित हुआ। चौथी शती ई० पू० में नन्दकुल का आरम्भ करनेवाले महापद्म नन्द ने शैशुनागों से मगध की राजगद्दी छीन ली। पालि-ग्रंथों में महापद्म का नाम उग्रसेन मिलता है। अपनी अगणित और विकटकर्मा सेना के कारण वह उग्रसेन कहलाता था। कुछ लोगों की राय में उसका नाम 'महापद्म' इसलिए पड़ा कि उसकी सेना इतनी बड़ी थी कि वह कमल के रूप में (पद्मव्यूह) संगठित हो सकती थी। परन्तु यह अर्थ युक्ति-युक्त नहीं जान पड़ता। पद्मवत खड़ी करने के लिए विशाल सेना की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। महापद्म शब्द संख्यापरक हो सकता है। उसकी सेना की संख्या महापद्म रही हो, यह सही नहीं जान पड़ता। इतनी संख्या तो सारी मनुष्य जाति की नहीं। यह नाम संभवतः उसे उसकी अमित कोषनिधि के कारण मिला। सारे क्षत्रिय राजाओं को मारकर उनके कोषों की लूट से उसने अपना खजाना भरा था। संभवतः इसी कारण उसका नाम 'महापद्म' पड़ा।

महापद्म नन्द

महानन्द की उत्पत्ति और मूल के संबंध में अनेक ख्यातें हैं। जैनग्रंथों के अनुसार वह नाई द्वारा वेश्या से उत्पन्न हुआ था। पुराण उसे शूद्रा से उत्पन्न बताते हैं। ग्रीक इतिहासकार कर्टियस एक तीसरी कहानी कहता है। उसका कहना है कि सिकन्दर का समकालीन मगध-नरेश नाई का पुत्र था। यह नाई बड़ा सुन्दर था। अपने रूप से उसने मागध रानी का हृदय हर लिया था। उसी ने बाद में राजा को मार

---

१ राय चौधरी : Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ १७८-७९.

डाला। 'हर्षचरित' के अनुसार उसने इस राजा की राजधानी के समीप ही कटार से गरदन काट ली थी। इन विविध ख्यातों से कम-से-कम यह बात भी प्रमाणित हो ही जाती है कि महापद्म नीच कुल का था और उसने षड्यंत्र द्वारा अपनी शक्ति अर्जित की। पहले संभवतः वह दस राजकुमारों का अभिभावक बना। फिर शीघ्र उनका वध कर वह मगध के सिंहासन पर जा बैठा।

महापद्मनन्द का राज्य-काल बड़े महत्त्व का था। मगध का साम्राज्य उसकी नवीन विजयों से दूर दूर के छोरों तक फैल गया। उसने अनेक राज्यों की विजय की। क्षत्रियों का

मगध साम्राज्य का विस्तार

तो उसने एक प्रकार से संहार ही कर दिया। पुराण उसे परशुराम की भाँति उसे 'सर्वक्षत्रान्तक' और 'एकराट्' कहते हैं।[1] उसके एकराट् कहलाने में कुछ विशेष अत्युक्ति नहीं, क्योंकि शैशुनागों के काल में ही मगध ने अपने पड़ोसी राज्यों को अवन्ति-पर्यंत स्वायत्त कर लिया था। पुराणों के अनुसार महापद्म-द्वारा विजित राज्यों और राजाओं में इक्ष्वाकु, कुरु, पञ्चाल, काशी, शूरसेन, मिथिला, कलिंग, अश्मक, हैहय आदि थे। इस प्रकार मगध के साम्राज्य में कभी के स्वतंत्र कोशल और कलिंग भी सम्मिलित कर लिए गये थे। 'कथासरित्सागर' में कोशल में नन्द के स्कन्धावारों का उल्लेख है। उड़ीसा के हाथीगुम्फावाले शिलालेख से ज्ञात होता है कि नन्दराज (महापद्म) ने कलिंग में एक प्रणाली का उद्घाटन (तिवसशतपूर्वं उद्घाटितं प्रणालीं) कराया था। कलिंग जीतकर वह जैन तीर्थंकर की एक बहुमूल्य प्रतिमा पाटलिपुत्र को उठवा ले गया था। नन्दों के मंत्री कल्पक और शाकटल आदि जैन थे। इस प्रकार जब मगध का साम्राज्य क्षत्रिय राज्यों के भग्नावशेष पर खड़ा हुआ, तब उसका इतिहास प्रान्त अथवा राज्य-विशेष का न होकर पूर्ण उत्तर भारत का हो गया। अब उसका इतिहास भारत का इतिहास था और महापद्मनन्द उसका सम्राट् था। यह भी न भूलना चाहिए कि महापद्मनन्द के इस 'सर्वक्षत्रान्तक' कार्य में कात्यायन और राक्षस नामक दो ब्राह्मण मंत्री सहायक हुए थे।

महापद्मनन्द के पुत्र

यदि स्वयं महापद्म नहीं तो उसके आठ पुत्रों में से एक सिकन्दर का समकालीन था। पुराणों में केवल एक सुकल्प अथवा सुमाल्य (सहल्य) का उल्लेख मिलता है।[2] सिकन्दर के समकालीन नन्द का नाम बौद्ध साहित्य में 'धननन्द' मिलता है परन्तु ग्रीक लेखकों ने उसे 'अग्रमेस' या 'जैन्द्रमस' लिखा है। कर्टियस का कथन है कि नन्द के पास एक विशाल सेना थी, जिसमें दो लाख पदाति, बीस हजार घुड़सवार, दो हजार रथ और चार हजार गज थे।

---

१ महानन्दिनस्ततः शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धोऽतिबलो महापद्मो नन्दनामा परशुराम इवापरोऽखिल क्षत्रान्तकारी भविष्यति। ततः प्रभृति शूद्रा भूपाला भविष्यन्ति। स चैकच्छत्रामनुल्लङ्घितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यति।

२ तस्याप्यष्टौ सुताः सुमाल्याद्या भवितारः। तस्य महापद्मस्यनु पृथिवीं भोक्ष्यन्ति —विष्णुपुराण।

उस नन्द के पास अनन्त धन था।[1] अग्रमेस (धननन्द) लोभी और 'अधामक' था। उसकी क्रूरता और उसके कुल की नीचता ने उसे लोगों की दृष्टि में गिरा दिया था। उसकी प्रजा उससे पूर्णतया असंतुष्ट हो उठी। ग्रीक-इतिहास का कथन है कि भगल नामक एक राजा ने सिकन्दर से कहा था कि यदि वह गंगा की तलहटी की ओर बढ़े तो राजा नन्द को आसानी से हरा देगा क्योंकि उसके प्रति देश में अश्रद्धा है। परन्तु कई कारणों से सिकन्दर मगध की ओर नहीं बढ़ सका। उसके लौट जाने पर चन्द्रगुप्त मौर्य अपने गुरु और कूटनीत्याचार्य ब्राह्मण चाणक्य की सहायता से नन्दराज को मारकर मगध की गद्दी पर बैठा।[2]

पुराणों के अनुसार महापद्म ने २८ वर्ष राज किया और उसके आठों पुत्रों ने केवल १२ वर्ष। मत्स्यपुराण में महापद्म का ८८ वर्ष राज करना कहा गया है। किन्तु ८८ शायद २८ है कि विष्णुपुराण में महापद्म और उसके पुत्रों का १०० वर्ष राज करना लिखा है।[3] सिंहलक इतिहास में सारे नन्दों के राज्यकाल का जोड़ केवल २२ वर्ष मिलता है। नन्दवंश का विध्वंस और चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण संभवतः ई० पूर्व ३२२-२१ में हुआ।

परिशिष्ट

नन्दपूर्व राजाओं की अनुक्रमणी

१. पुराण-सूची

संख्या	नाम	राज्य-काल
१	शिशुनाग	४० वर्ष
२	काकवर्ण	२६ ,,
३	क्षेमधर्मन्	३६ ,,
४	क्षेमजित् अथवा क्षत्रौजस्	२४ ,,
५	बिंबिसार	२८ ,,
६	अजातशत्रु	२७ ,,
७	दर्शक	२४ ,,
८	उदायिन्	३३ ,,
९	नन्दिवर्धन्	४० ,,
१०	महानन्दिन्	४३ ,,
	जोड़	३२१ वर्ष

१ महावंश, कथासरित्सागर, हुएनच्यांग की यात्रा और एक प्राचीन तामिल काव्य में भी नन्द के अतुल धन का उल्लेख मिलता है।

२ ततश्च नवचैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। विष्णुपुराण।

३ महापद्मस्तत्पुत्राश्च एकं वर्षशतं अवनिपतयो भविष्यन्ति।

२. सिंहलक महावंश-सूची

संख्या	नाम	राज्यकाल	विवरण
१	बिंबिसार	५२ वर्ष	१५ वर्ष की आयु में (लगभग ५४३ ई० पू०) राज्यारोहण ।
२	अजातशत्रु	३२ ,,	उसके शासन के आठवें वर्ष में बुद्ध की मृत्यु ।
३	उदायिन् अथवा उदायिभद्र	१६ ,,	
४	अनुरुद्ध	८ ,,	पितृहन्ता कहे गए हैं ।
५	मुण्ड		
६	नागदासक	२४ ,,	
७	शिशुनाग	१८ ,,	अमात्य । अन्यकुलोद्भव ।
८	कालाशोक	२८ ,,	उसका दुःखान्त हुआ ।
९	उसके दस पुत्र—उनमें प्रख्यात नन्दिवर्धन	२२ ,,	सबने साथ राज्य किया संभवतः उसके अभिभावकत्व में, जो प्रथम नन्द बना ।
		जोड़ २०० वर्ष ।	

इस परिच्छेद के लिए साहित्य—

१. रायचौधरी : Political History of Ancient India
२. डेविड्स : Buddhist India
३. जायसवाल : Hindu Polity
४. ला : Kshatriya Clans in Buddhist India
५. राधाकृष्णन् : Indian Philosophy, भाग १
६. स्टिवेन्सन् : The Heart of Jainism
७. टामस : The Life of Buddha
८. डेविड्स : Buddism
९. स्मिथ : Early History of India

नवाँ परिच्छेद

विदेशी हमले

१ फ़ारस

छठी और चौथी शती ई० पू० में करीब दो शताब्दियों के अन्तर पर भारत को दो प्रबल आक्रमणों का सामना करना पड़ा। इनका प्रभाव बहुत गहरा तो नहीं पड़ा परन्तु पहले हमले में भारत का उत्तर-पश्चिमी प्रान्त कुछ काल तक ईरानियों के शासन में रहा और दूसरे में मकदूनिया के राजा सिकन्दर ने पंजाब को रौंद डाला। फारस और यूनान दोनों का संबंध कुछ समय के लिए भारत के साथ हुआ और टूट गया। फिर भी फारस का पड़ोसी होने के नाते कुछ काल तक यह संबंध किसी न किसी रूप में भारत पर बना रहा परन्तु ग्रीक-आक्रमण के सारे चिह्न कुछ ही वर्षों में सर्वथा मिट गये।

ई० पू० छठी शती के उत्तरार्द्ध में, जब मगध में बिंबिसार राज कर रहा था और शाक्यसिंह दहाड़ रहा था, भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा की राजनीतिक स्थिति मगध से नितान्त भिन्न थी। मगध में एक छोटा-मोटा साम्राज्य खड़ा हो चुका था; परन्तु पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भाग में छोटे-छोटे अनेक राज्य प्रतिष्ठित हो चुके थे। इनमें कई गण-राज्य भी थे। पारस्परिक द्वेष के कारण ये प्रायः आपस में लड़ा करते थे। फारस में हखमनी वंश का

कुरु

साम्राज्य प्रतिष्ठित हो चुका था। उस साम्राज्य की सीमाएँ कुरु (कुरुष् Cyrus) के नेतृत्व और आधिपत्य में क्षण-क्षण बढ़ती जा रही थीं। कुरु (लगभग ई० पू० ५५८-३०) की सत्ता पश्चिम में भूमध्यसागर की लहरों पर डोलने लगी और पूर्व में उसने बाख्त्री (बह्लीक Bactria) और गन्धार (गदर) को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। परन्तु भारत की सीमा में गन्धार के पूर्व वह न बढ़ सका।

कुरु के बाद उसके तीन उत्तराधिकारी फारस के इस विस्तृत साम्राज्य पर प्रायः ई० पू० ५३० से ५२२ तक शासन करते रहे। इनमें से काम्बुजीय (Cambyses) प्रथम और कुरु द्वितीय क्रमशः उसके पुत्र और पौत्र थे। पूर्व दिशा में उन्होंने कुछ भी प्रयत्न न किए। ग्रीस के स्वतंत्र नगर-राज्य और अन्य पश्चिमी स्थल ही उनके प्रयास के मोर्चे बने रहे। काम्बुजीय द्वितीय भी राजनीतिक प्रसार में अधिकतर अपने निकट पूर्वजों का ही

दारयवहु

अनुयायी रहा। परन्तु उसका उत्तराधिकारी दारयवहु (दारयवौष् Darius I) प्रथम (ई० पू० ५२२-४८६) बड़ा प्रतापी हुआ। उसके साम्राज्य में बीस प्रांत थे जिनमें बीसवाँ हिन्दुओं का देश अर्थात् सिन्धुतटवर्ती प्रदेश था। पर्सिपोलिस् (पारसपुर) और नक्शए रुस्तमवाले उसके लेख में सिन्धुदेश के भारतीय उसकी प्रजा कहे गए हैं और इन लेखों में वह स्वयं अपने को 'आर्यों में आर्य' (आर्याणां आर्यः) और 'क्षत्रियों में क्षत्रिय' (क्षत्रियाणां क्षत्रियः)[1] कहता है। मगध और मध्यदेश

---

१ यहाँ मूल का संस्कृत पाठ दिया गया है।

में तब शाक्यमुनि संन्यास और अर्हत्-पद की महत्ता का प्रचार कर रहे थे। राज (क्षत्रिय) योद्धा उनके उपदेशों को सुन-सुन अपने आयुध त्याग भिक्षुओं के चीवर धारण करने लगे थे। साथ ही पंजाब के छोटे-छोटे राज्य पारस्परिक द्वेषाग्नि में झुलस रहे थे। दारयवहु को सुविधा हुई। उसने बढ़कर सिन्धु का तटवर्ती प्रदेश जीत लिया। ई० पू० ५१८ बेहिस्तुन-लेख की संभावित तिथि है और उस लेख में इस भारतीय विजय का हवाला नहीं है। अतः यह विजय ई० पू० ५१८ के बाद और दारयवहु की मृत्यु, तिथि ई० पू० ४८६, के बहुत पूर्व कभी हुई होगी।

हेरोदोत (Herodotus) फारस के दरबार में कुछ काल बाद ग्रीस राजदूत हुआ। उसने दारयवहु के इस भारतीय आक्रमण और विजय का वर्णन किया है। वह लिखता है कि पहले दारयवहु ने कर्यन्द के निवासी स्काईलक्ष (Skylax) की अध्यक्षता में सिन्धुनद के मुहाने से फारस की खाड़ी तक पहुँचने का जलमार्ग खोजने के लिए एक समुद्री सेना भेजी। स्काईलक्ष का बेड़ा सिन्धुनद से नौकाओं में उसके मुहाने तक पहुँचा और इस यात्रा में उसने दारयवहु के लाभार्थ भारतीय विजय के संबंध की सारी सुविधाएँ निश्चित कर लीं। कुछ ही समय बाद सुयोग पाकर फारस के सम्राट् ने अपनी दूरदर्शिता का फायदा उठाया। परन्तु हेरोदोत के लिखने से जान पड़ता है कि पंजाब का यह उत्तर-पश्चिमी टुकड़ा फारस के साम्राज्य का बीसवाँ प्रदेश बना जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है। इस प्रदेश से फारस के कोष में लगभग दस लाख का सोना भारत से जाता था। इससे यह सिद्ध है कि तत्कालीन सिन्धुतट-वर्ती देश, जिसमें वर्तमान सिन्धु का भी कुछ भाग शामिल रहा होगा, अत्यन्त समृद्ध, उपजाऊ और हरा-भरा था।

हेरोदोत का वृत्तान्त

दारयवहु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी क्षयार्ष (ख्शयार्षा—Xerxes—ई० पू० ४८६-६५) फारस की गद्दी पर बैठा। उसने ग्रीक नगर-राज्यों की स्वतंत्रता नष्ट करने के लिए उनपर भीषण आक्रमण किया। इस युद्ध में उसे मुँह की खानी पड़ी। उस आक्रमण में उसकी सेना की हरावल में भारतीय वीरों की भी एक टुकड़ी शामिल थी। ये भारतीय 'सूती' कपड़े पहने हुए थे जो ग्रीस में एक अचरज की चीज थे। इन भारतीयों के अस्त्र-शस्त्रों में धनुष-बाण प्रमुख थे और उनके बाणों के पैने फलक लोहे के बने थे। इस निर्देश से भी जान पड़ता है कि दारयवहु का उत्तराधिकारी क्षयार्ष भी अपने पूर्ववर्ती के विजित भारतीय प्रदेश पर भली भाँति अपना अधिकार रख सका था। यह कहना आसान नहीं कि यह फारसी शासन भारत से कब उठा। सिकन्दर के भारतीयः आक्रमण के समय निःसन्देह पंजाब और सिन्ध का यह प्रदेश स्वतंत्र था जिसे उस विजेता ने भारतीय राजाओं के हाथ से जीता। कुछ विद्वानों का मत है कि चूँकि दारयवहु तृतीय (Darius III Kodomannas) की उस सेना में भारतीय योद्धा भी शामिल थे, जो सिकन्दर से गागामेला में लड़ी थी और जिसे उसने हराया था, दारयवहु प्रथम द्वारा जीता हुआ यह भारतीय प्रदेश अब भी ईरानी साम्राज्य का अंग था। परन्तु यह मत किसी प्रकार स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि एरियन, कर्टियस आदि ग्रीक इतिहासकारों

क्षयार्ष

ने जो सिकन्दर के आक्रमण का विस्तृत वर्णन किया है, उसमें उस भाग का भारतीय हाथों में ही होना स्पष्टतया उल्लिखित है। मध्य-एशिया में जो भारतीय सेना दारयवहु तृतीय की ओर से सिकन्दर से लड़ी थी, वह सहायता के रूप में अथवा ग्रीक आक्रमण के भय से सीमावर्ती राजाओं की ओर से फारस को मिली होगी। इसके अलावा ऐसी सेना भारत में द्रव्य के बल से भी प्रस्तुत की जा सकती थी। आखिर यहाँ क्षत्रियों के अनेक दल थे, जो अपने या दूसरों के लाभार्थ लड़ने का पेशा भी करते थे। पंजाब के यौधेय शायद इसी प्रकार की एक जाति के थे।

फारस और भारत के इस संबंध से दोनों का कल्याण हुआ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साधारण भारतीय जनता पर इसका गहरा सामाजिक प्रभाव तो नहीं पड़ा, परन्तु राजनीतिक, आर्थिक तथा कला-संबंधी असर से भारत न बच सका। इस आक्रमण से भारत का थोड़ा-बहुत लाभ हुआ। दोनों के बीच जल और स्थल-मार्गों से विशेष वाणिज्य चलने लगा। जिस जलमार्ग का स्काईलक्स ने उद्घाटन किया था, वह स्वयं भी शायद अभी बन्द न हुआ था। फारसी लेखकों ने भारत में अर्मयी (अर्मनी—Aramaic) लिपि (दिपि) का प्रचार किया और यही लिपि, जो अरबी की भाँति दाहिनी से बाईं ओर को लिखी जाती थी, अशोक के समय और पश्चात् काल में 'खरोष्ठी' नाम से प्रसिद्ध हुई। चन्द्रगुप्त का दरबार में केशसिंचन भी संभवतः फारस के सम्राटों की इसी प्रथा के अनुरूप प्रचलित हुआ। सम्राट् अशोक ने स्वयं अपने लेख में फारसी सम्राटों के प्रति संकेत किया है—"देवानं पियो पियदसि राजा एवं आह—थातिय् दारयवौष् क्षयाथिय···।" कुछ आश्चर्य नहीं यदि शिलाओं और स्तंभों पर लेख खुदवाने की परिपाटी अशोक ने फारस से ही सीखी हो। आखिर इस पद्धति का आरंभ अशोक ने ही किया। उससे पूर्व के शिला अथवा स्तंभ-लेख भारत में उपलब्ध नहीं। मौर्यकालीन तक्षण-कला (Sculpture) पर—विशेषकर अशोक के स्तंभों के घण्टानुमा शीर्षों, सिंहों और वृषभों पर—निश्चय किसी-न-किसी अंश तक उस विदेशी कला का चिर प्रभाव पड़ा है। अशोक से पूर्व स्तंभ खड़े करने की परिपाटी भी नहीं थी।

फारसी आक्रमण का प्रभाव

सिकन्दर का आक्रमण

सिकन्दर मकदूनिया के महत्त्वाकांक्षी नृपति फिलिप का पुत्र था। वह बचपन से ही विश्व-विजय के स्वप्न देखा करता था। अपने पिता की विजयों से वह प्रसन्न नहीं था। उसे यह सन्देह हो चला था कि उसका पिता यदि उसी रफ्तार से देश पर देश जीतता रहा तो शीघ्र उसके जीतने को कुछ भी न बच रहेगा। ग्रीस का तत्कालीन प्रमुख दार्शनिक अरस्तू (अरिस्तातल) उसका शिक्षा-गुरु था। पिता के मरते ही सिकन्दर ने संसार-विजय के अपने मंसूबे को रूप देना निश्चित किया। एक वीर सेना लेकर वह मकदूनिया से बाहर निकला। उसके पिता ने ग्रीस के नगर-राज्यों का पहले ही विध्वंस कर दिया था। मकदूनिया और ग्रीस की

पूर्व की ओर

सम्मिलित सेना लिए वह निकला और देश परदेश जीतता गया। मिस्र को जीतकर उसने उसे अपने राज्य में मिला लिया। वहाँ के समुद्र-तट पर उसने अपने नाम पर अलग्जैंड्रिया नाम की नगरी बसायी। फिर वह स्थल-मार्ग से पूर्वोत्तर की ओर बढ़ा। तब जगत् का पूर्वी छोर भारत ही समझा जाता था। सिकन्दर को उस पूर्व-समुद्र के छोर को छूना था। वह उस ओर बढ़ा। सामने दूर तक फारस का साम्राज्य फैला पड़ा था परन्तु सदियों पुराना होने के कारण अब वह काफी कमजोर हो गया था। युद्ध की पुरानी परंपरा ही फारसियों की युद्ध-नीति थी। इधर सिकन्दर अभूतपूर्व सेनापति था—महत्वाकांक्षी युवा। उसे अभी फारसी सम्राट् कुरु द्वारा ग्रीक पराभव और क्षयार्ष की उद्दण्डता का उनके उत्तराधिकारियों से बदला लेना था। वह दारयवहु तृतीय के साम्राज्य से जा टकराया। दारयवहु की असंख्य सेना पड़ाव डाले पड़ी थी। ग्रीक-सेना थोड़ी थी जो वहाँ रात के अँधेरे में पहुँची। सेनापतियों ने सलाह दी कि फारस की सेना पर दिन निकलने के पहले अँधेरे में ही आक्रमण किया जाय जिसमें वह दिन के उजाले में दुशमनों की विशाल सेना देखकर डर न जाय। पर सिकन्दर वीर था। उसने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और कहा कि मैं चोर की तरह हमला न करूँगा वरन् दिन के उजाले में दारयवहु को जीतूँगा। गागामेला अथवा अरबेला) के मैदान में ई० पू० ३३१ के वसन्त में उसने कुछ ही ठोकरों से फारसी साम्राज्य की पुरानी कमजोर कमर तोड़ दी। अभागे दारयवहु की कन्या आर्तकामा अपनी भगिनी और सहचरियों के साथ ग्रीक सेनापतियों की काम-साधिका बनी। ई० पू० ३३० में सिकन्दर की प्रेयसी-सहचरी और अन्तियोक की वारवनिता विख्यात नाम्नी ताया ने पर्सिपोलिस (पार्सपुर—फारस की राजधानी) के महलों में आग लगा दी जिसे विजेता ने सराहा और जिसमें स्वयं उसने योग दिया।

सिकन्दर ने इसके बाद भारत-विजय की तैयारियाँ आरम्भ कीं। भारत और उसके बीच का अन्तर अभी काफी चौड़ा था, और उसमें दुर्द्धर्ष जातियाँ बसती थीं। पहले उन्हें सर करना जरूरी था। और इससे भी पहले उसे उन देशों को जीतना आवश्यक था जो उसके मूल और विजित के मार्ग में पड़ते थे। सीस्तान सामने था। उसे जीत वह दक्षिणी अफगानिस्तान पर टूट पड़ा। उस प्रदेश को जीतकर वहाँ वणिक्पथों की सन्धि पर उसने एक नगर की नींव डाली और उसे अराकोसियों की अलेग्जैंड्रिया कहा। वर्तमान कन्दहार उस प्राचीन नगर का प्रतिनिधि है। दूसरे वर्ष वह काबुल की उपत्यका में घुसा। उसे एक बार फिर पीछे की ओर मुड़ना पड़ा। फारस के पराजित राजकुमार आखिर चुप रहनेवाले न थे। बाख्त्री (Bactria) में सँभलकर बैठे। सिकन्दर ने उनकी ओर अपना रुख किया। हिन्दूकुश लाँघ वह बाख्त्री पहुँचा और उन्हें हराकर केवल दस दिनों में फिर हिन्दूकुश पार कर काकेशस की अलेग्जैंड्रिया में जा पहुँचा जिसे उसने ई० पू० ३२६ में बसाया था। इसके बाद वह निकाइया में घुसा जो अलेग्जैंड्रिया और काबुल नदी के बीच पड़ता था। इस स्थान के पास ही सिकन्दर ने अपनी विशाल सेना के दो भाग किए। उनमें से एक को उसने हेफिस्तियन (Hephistion) और पर्डिक्स (Perdiccus) के हवाले कर सिन्धुनद पर पुल बनाने के लिए

भारत के मार्ग में

उन्हें आगे भेजा। सेना का दूसरा भाग लेकर वह स्वयं सीमाप्रान्त की दुर्द्धर्ष जातियों का पराभव करने बढ़ा।

पहली मुठभेड़ 'अस्पसियों' (ग्रीक Aspasioi, ईरानी अस्प, संस्कृत अश्व) से हुई। अस्पसी अलिसंग-कुनार घाटी में रहते थे। एरियन[1] कहता है कि इस जाति के

अस्पसी, नीसा, और अस्सकनी

साथ सिकन्दर का भयंकर युद्ध हुआ; क्योंकि यहाँ की भूमि तो पहाड़ी थी ही, ये भारतीय अपने पड़ोसियों में सबसे अधिक वीर थे।[2] यहाँ विजेता ने ४०,००० मर्दों और २,३०,००० बैलों को पकड़ा। इनमें से सुन्दर मजबूत बैलों को चुनकर उसने कृषि-कार्य के लिए मकदुनिया भेजा। पास ही नीसा का पहाड़ी इलाका पड़ता था, संभवतः कोहेमोर के उतार पर, उसकी छाया में फैला हुआ। इसका शासन गणतंत्रपरक था जिसमें वहाँ के मुख्य कुलों के ३०० प्रतिनिधि भाग लेते थे। उनमें प्रमुख था अक्षोभ (Akouphies)। इनको जीतकर उसने इनसे ३०० घुड़सवार लिये। उनके अपने को दियोनिसस् के वंशज कहने पर सिकन्दर ने उनसे आत्मीयता जोड़ी। पड़ाव डाल वहीं उसने अपनी सेना को विश्राम करने की आज्ञा दी। कई दिनों तक वहाँ शराब के दौरे चलते रहे, खेल-कूद होते रहे। नीसा के बाद एक वीर भारतीय जाति से मुकाबिला हुआ। ग्रीक उन्हें अस्सकनी (Assakenoi, संस्कृत अश्वक या अश्मक) कहते थे। इन अश्वकों ने २०,००० घुड़सवार ३०,००० पैदल और तीस हाथियों के साथ सिकन्दर को रोका। मालकन्द के समीप मस्सग

मस्सग

(मशकावती ?) उसका अजेय दुर्ग था। उसके पूर्व में तेज बहनेवाली एक गहरी पहाड़ी नदी थी जिसका किनारा सीधा खड़ा था। उसके पश्चिम और दक्षिण में "प्रकृति ने विशाल चट्टानों और गहरी घाटियों से किलाबन्दी की थी।"[3] इनके अतिरिक्त उस दुर्ग की रक्षा ऊँची चौड़ी प्राचीरें और एक गहरी खाई करती थी। सिकंदर का युद्ध-कौशल उस दुर्ग की शक्ति के सम्मुख सहम गया। उसके अनेक प्रयत्न निष्फल हुए। इसी समय अश्वकों के अभाग्य से एक बाण उनके मुखिया अश्वकर्ण (Assakenos?) के जा लगा और वह धराशायी हुआ।[4] इसके बाद सिकन्दर का सामना करना कठिन हो गया और अश्वकों ने उसे आत्मसमर्पण कर दिया। अश्वकर्ण की पत्नी को सिकन्दर ने संभवतः जबर्दस्ती छीन लिया, जिससे इतिहासकार जस्टिन के अनुसार सिकन्दर नाम का ही उसे एक पुत्र हुआ।[5] उन दिनों पंजाब के उत्तर-पश्चिमी भाग में कई ऐसी वीरकर्मा जातियाँ बसती थीं जो 'आयुधजीवी' थीं। शस्त्र ही उनकी आजीविका थी। वृत्ति देकर कोई उन्हें अपनी ओर से लड़ा

---

१ ४, २५.

२ मैक्क्रिण्डलकृत 'प्राचीन भारत', पृ० ६५।

३ कर्टियस्, ८, १०; मैक्क्रिण्डल, पृ० १९५।

४ एरियन, ४, २७; मैक्क्रिण्डल, पृ० ६८।

५ १२, ७; मैक्क्रिण्डल, पृ० ३२२।

सकता था। मस्सग के दुर्ग में भी अश्वकों की ओर से ७,००० आयुधजीवी योद्धा सिकन्दर से लड़े थे। दुर्ग जीत लेने के बाद जो सन्धि हुई, उसकी शर्तों में एक यह भी थी कि ये आयुधजीवी अक्षत अपने देश को चले जाने दिए जायँ; परन्तु जब वे दुर्ग से निकलकर कुछ दूर चले गये और उनके पास बचाव का कोई साधन न रहा तब सिकन्दर ने अपनी विशाल सेना के साथ उनपर अचानक टूटकर उनके एक बड़े अंश का वध कर डाला। इसपर उन आयुधजीवियों ने जोर से प्रतिवाद किया और कहा कि सिकन्दर ने शपथपूर्वक की हुई सन्धि के नियम तोड़े हैं, साथ ही उन देवताओं को अपवित्र किया है जिनको साक्षी बनाकर सन्धि की गयी थी।[1] इसपर सिकन्दर बोला कि उसने केवल उनको दुर्ग से निकल जाने देने के लिए शपथ ली थी, कुछ मैत्री के लिए नहीं। और वह उनपर टूट पड़ा। फिर तो आयुधजीवियों ने ग्रीकों की उस विशालवाहिनी के दाँत इस प्रकार खट्टे किए कि सिकन्दर की वह विजय उसे बहुत महँगी पड़ी, हार से भी अपमान-कारक। इस युद्ध में मुट्ठी भर भारतीयों ने जो जौहर दिखाया, वह इतिहासकार का एक देदीप्यमान प्रकाशस्तंभ है। पुरुष जब गिरने लगे, स्त्रियों ने बढ़कर ग्रीकों का सामना किया—अपने पुरुषों के कन्धों से कन्धा मिलाकर। शत्रुओं की असंख्य सेना ने उनमें से एक को भी न छोड़ा और दियोदोरस् लिखता है कि "उनकी मृत्यु गौरव सिद्ध हुई, जिसके बदले परतंत्र जीवन स्वीकार करना उन्होंने नितान्त घृणित समझा।" इस घटना से सिकन्दर की वीरता और औदार्य दोनों काले पड़ गए हैं। इससे यह भी प्रामाणित है कि वह सन्धि के नियमों का पालन करना नहीं जानता था और उसमें राजनीतिक ईमानदारी का सर्वथा अभाव था। उसका स्वदेशबन्धु प्रसिद्ध इतिहासकार प्लूटार्च लिखता है कि सिकन्दर का "यह आचरण उसके सामरिक यश पर एक काला धब्बा है।"[2] इसके बाद की जमीन के लिए इंच-इंच पर लाशें गिरीं। अत्यन्त कठिनाई से कठोर अध्यवसाय के पश्चात् महीनों की भयानक लड़ाइयों में विजेता जिन दुर्गों और नगरों को जीत सका, उनके नाम हमें केवल ग्रीक भाषा में ही मिलते हैं और उनके स्थल पहचानना आज कठिन है।

भारत की ऊपरी सीमा को जीतकर सिकन्दर ने विजित भाग को अपने सेना-पतियों के शासन में छोड़ा। निकानर सिन्धुनद के पश्चिमी इलाकों का और फिलिप्स् पुष्करावती का शासक बना। इसके बाद विजेता उस अभागे देश की ओर बढ़ा जिसके

भारत

छोटे-छोटे राजा आपस में दिन-रात लड़ते रहते थे और जो अब समान शत्रु के आगमन से भी अपने पारस्परिक घरेलू झगड़ों को न भूल सके। सिकन्दर चतुर था। संभव न था कि वह इस परिस्थिति का पूरा उपयोग न करे, उससे पूरा लाभ न उठाए। फल वही हुआ जो ऐसी स्थिति में प्रायः हुआ करता है। पुराने झगड़ों की आड़ में स्वार्थ साधा जाने लगा। सत्ता और स्वार्थ से लोगों को अधिक स्नेह था, देश और जाति से कम। मौका देखकर अनेक उस विदेशी विजेता से जा मिले।

---

१ दियोदोरस् (Diodoros), १७, ८४; मैक्‌क्रिण्डल, पृ० २६९।

२ ५९, मैक्‌क्रिण्डल, पृ० ३०६

भारतीय सिंहद्वार की अर्गला तब तक्षशिला का राज्य था और उसका स्वाभाविक रक्षक तक्षशिला का स्वामी आम्भी। आम्भी ने द्वार खोल दिया और सिकन्दर ने अप्रयास भारत में प्रवेश किया। पर्डिकस की सेना के साथ मिलकर आम्भी ने सिन्धुनद पर सेतु बाँधने और अनेक भारतीय जातियों को हराने में मदद दी। एरियन का कहना है कि हस्ति (अष्टकराज Astos) की राजधानी को हेफिस्टियन (Hephaestian) तीस दिनों की कठिन लड़ाई के बाद सर कर सका। हस्ति का राज्य संजय (Seng-gaios) नामक एक सरदार को दे दिया गया।

कुछ विश्राम और देवताओं की पूजा कर लेने के बाद ई० पू० ३२६ के वसंत में सिकन्दर सिन्धुनद की ओर बढ़ा। अटक से ऊपर ओहिन्द (वर्तमान उन्ड) के पास नौकाओं के सेतु से वह पार उतर गया। तक्षशिला में आम्भी ने उसका स्वागत किया और उसे चाँदी की वस्तुएँ, भेड़ें और सुन्दर बैल भेंट किये। सिकन्दर ने चतुर विजेता की भाँति अपने उपहारों के साथ उन्हें आम्भी को लौटा दिया। इसका फल यह हुआ कि उसे

तक्षशिला और अभिसार

तक्षशिला-नरेश द्वारा ५,००० अनुपम योद्धा प्राप्त हुए। अभिसार (पूँच और नौशेरा ज़िले) का राजा पुरु से मिलकर सिकन्दर का सामना करना चाहता था परन्तु विजेता ने उसकी अभिसन्धि पूरी न होने दी। पास के अन्य राज्यों ने विरोध व्यर्थ जान उसे आत्मसमर्पण कर दिया।

सिकन्दर बढ़ता हुआ झेलम (वितस्ता) के तट पर जा पहुँचा। झेलम के पूर्व राजा पुरु का इलाका था। तक्षशिला से सिकन्दर ने जब उसके पास आत्मसमर्पण के लिए दूत भेजा था तब पुरु ने उत्तर में कहला भेजा था कि वह उसे युद्धक्षेत्र में मिलेगा।

पुरु

अब सिकन्दर ने उसे झेलम की दूसरी ओर सेना लिए खड़ा पाया। झेलम में बाढ़ आयी हुई थी। उसको पार करना वैसे ही कठिन था; फिर पुरु-सा प्रबल योद्धा उसकी रक्षा कर रहा था। जब कोई युक्ति न सूझी तब सिकन्दर ने 'चोरी से पार करना'[1] निश्चित किया। ईरान जीतने के पहले जब ग्रीक सेना रात में दारयवहु की विस्तृत सेना के सामने पड़ी थी, कुछ सेनापतियों ने इस डर से कि कहीं दिन में असंख्य ईरानी सेना को देखकर ग्रीक सैनिक डर न जाय सिकन्दर को सलाह दी थी कि रात के अँधेरे में ही हमला किया जाय तब दृप्त विजेता ने उन्हें धिक्कारते हुए कहा था कि 'सिकन्दर विजय चुरायेगा नहीं'। परन्तु आज जब उसके सामने भारतवर्ष का एक सामान्य राजा झेलम के तट की रक्षा कर रहा था, उसने नदी को 'चोरी से' पार करने का

झेलम के तट पर

निश्चय किया। अपने स्कंधावारों में उसने नाच-रंग, गाजे बाजों और खेल-तमाशों का प्रबंध किया जिससे शत्रु यह समझे कि वह इस काल हमला न करके बरसात के बाद करेगा। लगभग सोलह मील बहाव के ऊपर, जहाँ नदी के बीच एक द्वीप बन गया था, वह अपनी सेना के सबसे सतर्क ११,००० चुने हुए लड़ाकों के साथ पार उतर गया। क्रातेरस को एक प्रबल सेना के साथ स्कंधावारों

---

१ देखिए एरियन का लेख।

में ही रखा और मिलीगर को पार करने के स्थान और ग्रीक स्कंधावारों (शिविरों) के बीच। अँधेरी रात में जब मूसलधार पानी बरस रहा था, बिजलियाँ टूट रही थीं, झेलम बाढ़ से उमड़ी आ रही थी, सिकन्दर नदी के पार उतर चला। जब पुरु ने जाना कि उसे धोखा दिया गया तब उसने विजेता का मुकाबिला करने के लिए अपने पुत्र पौरव को २००० योद्धा और १२० रथ देकर भेजा। पर कहाँ मध्य एशिया, मिस्र, ग्रीस और मकदूनिया के चुने हुए ग्यारह हजार वीर जिनका स्वयं सिकन्दर-सा अभूतपूर्व सेनानायक संचालन कर रहा था और कहाँ दो हजार जवानों की वह छोटी टुकड़ी जिसका अध्यक्ष बीस वर्ष का एक बालक था। परन्तु उस टुकड़ी ने ग्रीक वीरों के दाँत खट्टे कर दिए। यूनान से निकलने के बाद ग्रीकों को यह पहला मोर्चा मिला था जहाँ स्वतंत्रता रक्त से कीमती समझी गयी थी। एक-एक योद्धा अपने सेनापति पौरव के साथ कट गया। राजा पुरु के पास कोई खबर ले जानेवाला तक न रह गया।

रास्ते की चोरी ('Stealing a passage')

इसके बाद राजा पुरु स्वयं ५०,००० पैदल,[1] ३,००० घुड़सवार, लगभग १,००० रथ और १३० गजों के साथ सिकन्दर का सामना करने के लिए बढ़ा। सामने उसने हाथी खड़े किए और बीच की भूमि में धनुर्धर। दोनों पार्श्वों में घुड़सवार और उनके सामने रथ खड़े किये। इस प्रकार करीं के रणक्षेत्र में जब दोनों सेनाएँ आमने-सामने खड़ी हुई तब सिकन्दर की हिम्मत टूटने लगी।[2] उसने कहा—"आज का खतरा मेरे साहस का अतिक्रमण कर रहा है, आज का समर बनैले जन्तुओं और असाधारण वीरों से है।" फिर भी आँखें बन्द कर ग्रीक घुड़सवारों ने पुरु की सेना पर भयानक आक्रमण किया। भारतीय सेना टस से मस न हुई। कहते हैं कि ग्रीक घुड़सवारों का हमला संसार-प्रसिद्ध था जिसके समक्ष कोई ठहर नहीं सकता था। इसी हमले ने लाखों की ईरानी सेना में कभी भगदड़ मचा दी थी। भारतीय सेना ने वीरता से उस चोट को अपने सीने पर लिया और प्लूटार्च लिखता है[3] कि दिन की अठवीं घड़ी तक उन्होंने पूरी तरह से भूमि पर अपने पैर जमाये रखे। परन्तु भाग्य उनके विपरीत था। धीरे-धीरे उसके कुचक्र चल रहे थे। पुरु की सेना का विशेष बल उसके रथों और गजों का था। एक-एक रथ में चार-चार घोड़े जुते थे और वे छ-छ लड़ाकों को खींचते थे। इनमें से दो ढाल सँभालते थे, दो धनुर्धर थे, जो एक-एक सिरे पर रहते थे, और दो सारथी। सारथी भी योद्धा होते थे, जो लड़ाई की घनता बढ़ जाने पर अपनी रास छोड़कर धनुष धारण करते और शत्रु पर

पुरु का व्यूह-निर्माण

युद्ध

---

१ पैदलों की संख्या ग्रीक इतिहासकारों ने संभवतः बढ़ा दी है। स्वयं प्लूटार्च पैदलों की संख्या २०,००० और घुड़सवारों की २,००० बताता है—अध्याय ६२, मैकक्रिण्डल, पृ० ३१०।

२ कर्टियस्, १४; मैकक्रिण्डल, पृ० २०९।

३ अध्याय ६०

बाण बरसाते थे।[1] कर्टियस् का कथन है कि रथों के कारण पुरु की बड़ी हानि हुई; क्योंकि तूफान और मूसलधार पानी बरसने के कारण वे बेकार हो गए। भूमि पर घोड़ों के पाँव टिकते ही न थे, फिसल जाते थे। इधर कीचड़ में रथों के पहिए धँस गये और उन्हें घोड़े खींच न सके। रथ भारी थे और उनका बोझ कीचड़ भरी जमीन से निकालकर खींचना घोड़ों की शक्ति से बाहर की बात थी। इसी कारण भारतीय धनुर्धर भी बेकार हो गये। अपने ऊँचे भारी धनुष को भूमि में टिकाकर कान तक खींचकर वे बाण छोड़ते थे और तब उनका सामना करना शत्रु को कठिन हो जाता था। इसी मार की खूबी से वे प्रायः अभारतीय विजेताओं की सेनाओं में सम्मान पाते थे। पानी बरस जाने के कारण उनके धनुष के सिरे भूमि पर टिकते ही न थे, फिसल जाते थे और फलतः वे शक्तिभर शत्रु पर बाणवर्षा न कर सके। इसके अतिरिक्त भारतीय सेना के टुकड़े (स्कन्ध) भारी थे। गजों और चार-चार घोड़ोंवाले रथों का मोड़ना अथवा तेजी से घुमाना और संचालन करना अत्यन्त कठिन था। फिर इस समय तो भूमि भी उनके दुर्भाग्य से उनसे दुश्मनी कर रही थी। इसके विरुद्ध ग्रीकों के संयत, सीखे, हल्के घुड़सवार जिधर से चाहते अपने घोड़े मोड़ लेते। क्षण भर में जिधर चाहते, मुड़कर वे आक्रमण करते। उनका एक हमला सँभालने के लिये पुरु की रथ-सेना जब मुड़ने का प्रयत्न करती तब तक शीघ्र दूसरी ओर ठीक उसके पीछे पहुँच वे प्रलय मचा देते। अन्त में पुरु के हाथियों ने भी उसकी सेना का कम ह्रास न किया। इनपर पुरु को बड़ा भरोसा था पर मकदुनिया के सैनिकों ने कुल्हाड़ियों से इनके पैरों और सूँड़ों पर हमला किया और उनके धनुर्धरों ने उनकी आँखों को अपना निशाना बनाया। हाथियों पर इतने पास से हमला करना अत्यन्त वीरता और खतरे का काम था पर ग्रीक सैनिक उससे भी न चूके। कर्टियस् लिखता है कि भीषण भय और चोट की तकलीफ से हाथी भाग चले। अपने आरोहियों को उन्होंने नीचे फेंककर रौंद डाला और भागते समय अपनी ही सेना के वीरों को कुचल दिया। इससे पहले ही सिकन्दर के आदेशानुसार उसके सेनापति क्रातेरास और मिलीगर अपनी बड़ी सेनाओं के साथ नदी के पार उतर आये थे। उन्होंने भी भयानक तेजी से पुरु की छोटी कुचली हुई अभागी सेना पर पीछे से हमला किया। इस समय सिकन्दर की ओर से झेलम और विपाशा के बीच के एक छोटे इलाके के अधिपति पुरु के विरुद्ध एशिया, अफ्रिका और यूरोप के चुने हुए वीर लड़ रहे थे। संसार के इतिहास में शायद इतने बड़े सामरिक वैषम्य का उदाहरण नहीं है। फिर भी वीर राजा पुरु अपने स्थान पर डटा रहा, ईरानी सम्राट् दारयवहु की भाँति रणक्षेत्र छोड़ भागा नहीं। उसका विशाल छः फीट से अधिक ऊँचा शरीर चोटों से क्षत-विक्षत हो गया था। उसे नौ गहरे घाव लगे थे परन्तु निरन्तर वह भाले और बाण फेंकता जा रहा था। एरियन लिखता है कि जब उसके घावों ने उसे दुर्बल कर दिया और गिर जाने के कारण पकड़कर वह सिकन्दर के सामने लाया गया तब भी

पराजय और इसके कारण

---

[1] कर्टियस्, ८, १४।

वह निर्भय था, गर्वीला। और जब उसके साहस तथा अमानुषिक ऊँचाई से प्रभावित होकर सिकन्दर ने उससे पूछा—"तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय?"—उसने तुरत उत्तर दिया—"जैसा राजा राजा के साथ करता है।"

इतिहासकार जस्टिन लिखता है कि राजा पुरु की वीरता और उसके साहस से प्रसन्न होकर सिकन्दर ने उसे उसका राज्य लौटा दिया।[१] पहले की कृतियों से ज्ञात है कि ग्रीक-विजेता उदार न था। मिस्र और ईरानी राज्यों के साथ जो उसने व्यवहार किया, उससे उसकी अनुदारता सिद्ध है। इसलिए पोरस को उसका राज्य लौटा देने में उसका विशेष स्वार्थ था जिसने उसके दाँत खट्टे कर दिये और भारत के सिंहद्वार पर ही उसका पूर्वाभिमुख प्रसार संदिग्ध कर दिया। उसके साथ उसकी भलमनसाहत असाधारण प्रतीत होती है। निःसन्देह इस उदारता का कारण राजनीतिक पटुता है। इतने बड़े और साहसी वीर राजा की मैत्री अधिक वांछनीय थी। फिर आगे मिलनेवाले राजाओं के प्रति भी उसे अपनी शक्ति, उदारता और प्रीति प्रदर्शित करनी थी। फिर वह इन विजित प्रदेशों का शासन ही किस प्रकार कर सकता था। एक तो विदेश, दूसरे अपने साथ शासकों की कमी। इससे अच्छा था कि विजित राजा के ऊपर उदारता का प्रभाव डाल उसे मित्र बना लिया जाय। इसी विचार से उसने पहले तक्षशिला के राजा आम्भी को मित्र बनाया था, अब पुरु को भी बनाया। इसके अतिरिक्त जब वह विश्व-विजय और विस्तृत साम्राज्य के मंसूबे बाँधता था तब उसका उदार नीति का प्रयोग करना उचित ही था।[२]

इस विजय के बाद सिकन्दर ने दो नगरों की नींव डाली। जहाँ उसने झेलम पार किया था वहाँ उसने अपने स्वामिभक्त मृत अश्व 'बुकेफेला' के नाम पर 'बुकेफेला' नगर बसाया और विजय के स्मारक-स्वरूप रणक्षेत्र में 'निकाइया' नामक नगर का निर्माण किया। 'निकाइया' शब्द में ग्रीक भाषा का विजयार्थ ध्वनित है। विजय के बाद सिकन्दर ने ग्रीक देवताओं को बलि चढ़ाई और अपने सैनिकों को खेल-कूद का अवसर दिया।

फिर सिकन्दर आगे के देश जीतने के लिए बढ़ा। पहले मोर्चे पर 'ग्लौसाई' आये। उन्हें पराजित कर उसने उनके ३७ नगर छीन लिए जिनकी आबादी ५,००० से १०,००० तक थी। इसी समय उसे अपने विरुद्ध विद्रोह का संदेश मिला। सिन्धुनद के

ग्लौसाई और पुरु

पश्चिम के भारत का क्षत्रप (शासक) निकेनर था। उसका खून कर दिया गया था। ओरनस् (अरण्य?) के दुर्ग का सिकन्दर की ओर से रक्षक शशिगुप्त (सिसिकोट्टस्) था। सहायता के लिए उसके दूत पर दूत आने लगे। पड़ोसी क्षत्रप तिरियास्प और तक्षशिला के रेजिडेन्ट फिलिप ने पश्चिम में बढ़कर परिस्थिति सँभाल ली और ग्रीक-शासन को टूक-टूक होने से बचा लिया। इसी समय थ्रेस से और सेना आयी। फिर से अभिसार के राजा का पराभव होने पर सिकन्दर ने चिनाब नदी पार की और राजा पुरु के भतीजे एक दूसरे पुरु को हराया। फिर उसने ग्लौसाई और 'छोटे पुरु' के

---

१ १२, ८; मैक्क्रण्डल, पृ० ३२३।

२ त्रिपाठी : History of Ancient India पृ० ११६

विजित इलाके राजा पुरु के शासन में मिला दिये। निकेनर के वध और शशिगुप्त के संकट से जान पड़ता है कि भारतीय प्रदेशों ने यद्यपि एक बार हार मान ली थी, परन्तु परतंत्रता का जीवन उन्हें स्वीकार न था। राजा पुरु के संघर्ष ने उनमें जान डाल दी थी। जान पड़ता है, पश्चिम में अनेक स्थानों पर उन्होंने ग्रीक शासन के विरुद्ध विप्लव किया। अभिसार का राजा भी कुछ काल के लिए स्वतंत्र हो गया जिससे विजेता को कुछ समय तक संकट का सामना करना पड़ा, जो स्वदेश से आयी सहायता से मिटा।

सिकन्दर और आगे बढ़ा। रावी पार कर उसने पिंप्रम को जीता। फिर वह कठों के देश में पिल पड़ा। कठ लोग वीरता, साहस और युद्ध-कला में अत्यन्त निपुण समझे जाते थे।[1] कठ लोग बड़ी प्राचीन आर्य-जाति के थे। उनका उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है।

कठ

उनके नाम पर एक उपनिषद् (कठोपनिषद्) भी है। स्त्राबो लिखता है कि कठों में सौंदर्य का साका चलता था। सबसे सुन्दर पुरुष को वे अपना राजा चुनते थे।[2] उनकी नीति स्पार्टा की सैनिक नीति से कुछ मिलती-जुलती थी। प्रत्येक शिशु जन्म के पश्चात् राज्य के कर्मचारियों द्वारा परीक्षित होता था। वे उसे देखकर निश्चित करते थे कि 'उसकी सुन्दरता इस योग्य है या नहीं कि वह जीवित रखा जा सके।' संभव है इस उद्धरण का अधिकांश अथवा केंद्रीय वक्तव्य सही हो। परन्तु शायद इसमें कुछ अत्युक्ति भी है और कुछ आश्चर्य नहीं यदि मूल ग्रीक लेखक (वोनेसिक्रितस्—Onesikritos) स्वदेश के स्पार्टा की नीति की कठ-प्रणाली से समानता पाकर अत्युक्ति में बह गया हो। अस्तु। स्त्राबो और भी लिखता है कि कठों के नर-नारी अपने पति-पत्नी आप चुनते थे और स्त्रियाँ पति के निधन पर सती होती थीं। कठों ने अपनी युद्ध-ख्याति खूब निबाही; क्योंकि एरियन लिखता है[3] कि जब सिकन्दर ने उनका संगल नाम का विशाल दुर्ग घेरा तब

संगल

उन्होंने युद्ध में उसके छक्के छुड़ा दिये और फलतः उसकी सहायता के लिए राजा पुरु को पाँच हजार भारतीयों के साथ आना पड़ा। जब यह किला सर हुआ तब १७,००० कठ अपना जीवन उत्सर्ग कर चुके थे। इस युद्ध में ७०,००० बन्दी हुए जिससे ज्ञात होता है कि इस संख्या में सब लड़ाके ही न थे, अनेक कृषक आदि और अन्य निःशस्त्र नागरिक भी रहे होंगे। फिर लाभ सिकन्दर के हाथ रहा। उसे तीन सौ गाड़ियाँ और पाँच सौ घुड़सवार मिले। कठों का युद्ध बड़ा स्तुत्य था जिससे ग्रीक विजेता इतना क्रुध हुआ कि उसने दुर्ग जीत लेने के बाद से जमीदोज कर दिया। अब आगे बढ़ने से पूर्व उसने पीछे के विजित प्रदेश का प्रबंध कर लेना उचित समझा; क्योंकि उसकी पीठ-पीछे जब तब भारतीय विद्रोह होते ही रहते थे। पच्छिम के नगरों की रक्षा और संभावित विद्रोह को दबा रखने के लिए उसने वहाँ नयी सेना भेजी। फिर स्वयं पूर्व के देशों की विजय करने के लिए अपनी सेना के साथ वह विपाशा (व्यास) की ओर बढ़ा।

---

१ एरियन, ५, २२; मैक्कुण्डल, पृ० ११५

२ स्त्राबो:: मैक्क्रुण्डल का 'प्राचीन भारत', पृ० ३८

३ ५, २४;मैक्क्रुण्डल, पृ० ११९

परन्तु वहाँ उसे एक भारी विपत्ति का सामना करना पड़ा। ग्रीक सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया।

ग्रीक सेना का विद्रोह

जब सिकन्दर विपाशा (व्यास) के तट पर पहुँचा तब उसकी सेना ने एकाएक आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया। न तो उन्हें यश की आशा ही आगे बढ़ा सकी और न लूट का लोभ। उन्होंने हथियार डाल दिये। यहाँ पर इस सैन्य-विद्रोह के कारणों पर कुछ विचार कर लेना युक्तियुक्त जान पड़ता है। पग-पग पर विजय जिनके पग चूमती थी, उन्हीं सैनिकों का हथियार डाल देना कुछ अर्थ रखता है। उनके प्रिय, सम्मानित और वीर संचालक के अनुनय-विनय, तर्क-वितर्क और दिलों को हिला देनेवाले व्याख्यान-उपदेश उनके रोम का स्पर्श तक न कर सके—इसका विशेष कारण है। प्लूटार्च और एरियन कहते हैं कि ग्रीकराज के व्याख्यान का फल केवल 'आँसू और विलाप'[1] हुए।

विद्रोह के कारण

ग्रीक इतिहासकारों ने विद्रोह के कारणों पर विचार करते हुए लिखा है कि ग्रीक-सैनिक लगातार की लड़ाइयों से थक गये थे। घर जाने के लिए वे आतुर थे; साथ ही वे व्याधिग्रस्त और आर्त्त हो गये थे। स्वदेश से माल आने में दिक़त होने के कारण उन्हें कपड़े नहीं मिलते थे और फलतः वे विवस्त्र हो चले। उनमें से अनेक के बन्धु-बान्धव स्वदेश में रोग-पीड़ित थे अथवा गरीबी में मर चुके थे। अनेक के मित्र-बन्धु पिछली लड़ाइयों में काम आ चुके थे; परन्तु केवल इन कारणों पर ही विश्वास करना कठिन है। विद्रोह के लिए बस इतने कारण पर्याप्त नहीं हो सकते। विशेषकर यह कहना कि स्वदेश से माल आने जाने के जरिए बन्द थे, अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। स्वदेश से भारत तक के सारे देश सिकन्दर के शासन में थे और समय-समय पर वह भेंट की चीजें अपने गुरु आदि को भेजा ही करता था। इसलिए यह बात समझ में नहीं आती कि वस्त्र स्वदेश से क्योंकर पहुँच नहीं पाते थे। फिर उनका सिलना क्या सेना के साथ नहीं हो सकता था? क्या ग्रीक सेना के साथ दर्जी नहीं रहे होंगे, जब विश्व-विजय का खाका बन चुका था, विशेषकर जब छाया-सी वारवनिताएँ सिकन्दर और उसके सेनापतियों के काम-तृप्ति के साधन सत्य थीं। विद्रोह के कारण कुछ और थे। इन्हें अन्यत्र ढूँढ़ना होगा। प्लूटार्च तो साफ कहता है कि पुरु के साथ युद्ध के बाद ही ग्रीक-सैनिकों का उत्साह भंग हो गया था और विपाशा तक ही वे बड़ी कठिनता से लाए जा सके थे। निस्सन्देह पुरु के साथ युद्ध भारत के साथ उनका प्रथम संघर्ष था जिसमें उन्हें लोहे के चने चबाने पड़े थे। प्लूटार्च का कहना है कि "पुरु के साथ युद्ध से मकदूनियावासियों का उत्साह क्षीण हो गया और फलतः भारत के भीतर पूर्व की ओर बढ़ना उनके लिए अत्यन्त अरुचिकर था; क्योंकि स्वयं पुरु को वे तब हरा सके जब उसके पास केवल बीस हजार पैदल और दो हजार घुड़सवार सेना थी। इस

---

१ प्लूटार्च, अध्याय ६२; मैक्क्रिण्डल, पृ० ३१०; एरियन, ५,२८; मैक्क्रिण्डल पृ० १२७।

कारण उन्होंने सिकन्दर के विपाशा पार करनेवाले निश्चय का बलपूर्वक विरोध किया।"[१] एरियन का कहना है कि भारतीयों के युद्ध-कौशल से वे बहुत घबरा गये थे, "क्योंकि युद्ध की कला में तब के भारतीय एशिया में बसनेवाली सारी जातियों में बढ़े हुए थे।"[२] इसी कारण कर्री के रणक्षेत्र के बाद ग्रीक सैनिकों का साहस आगे बढ़ने का न हुआ और किसी प्रकार लूट का लालच और डर दिखाकर वे व्यास के तट तक लाये गये। उन्होंने सुना कि आगे विस्तृत मरुभूमि है; गहरी, चौड़ी और तेज बहनेवाली नदियाँ हैं; और शक्तिशाली, समृद्ध राष्ट्र हैं जिनके सामने दुर्द्धर्ष पुरु सर्वथा नगण्य है। इस समय स्वयं सिकन्दर को जो संदेश मिला वह इस प्रकार था—"गंगा के निचली घाटी में दो राष्ट्र बसते हैं—गंगातटीय (Gangaridae) और प्राच्य (Prasic)—जिनके राजा अग्रमिस् (Agrammes—नन्द) के पास अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए २०,००० अश्वारोही, २,००,००० पैदल, २,००० चार घोड़ोंवाले रथ, और इन सबसे भयंकर ३,००० गज-सेना थी।"[३] प्लूटार्च भी लिखता है कि "गंगातटीय और प्राच्यों का राजा अपनी विशाल सेना के साथ प्रतीक्षा कर रहा था जिसमें ८०,००० घुड़सवार, २,००,००० पैदल, ८,००० रथ और ६,००० गज-सेना थी।" वह फिर कहता है कि "(इस संख्या में) कुछ भी अत्युक्ति नहीं, क्योंकि बहुत दिनों बाद ऐन्ड्रोकोत्तस् (चन्द्रगुप्त) ने जो तब तक (मगध की) गद्दी पर बैठ चुका था, सिल्यूकस को ५०० हाथी भेंट दिये थे और ६,००,००० सेना के साथ सारे भारत को रौंदकर उसे जीत लिया था।"[४] ग्रीक और रोमन इतिहासकारों के एतत्संबंधी उल्लेख साधारणतया सही हैं; क्योंकि भारतीय प्रमाणों से भी उनकी पुष्टि होती है। भारतीय अनुश्रुति और पुराणों के अनुसार नन्द असंख्य धन और अनन्त शक्ति से सम्पन्न राजा था। महापद्मनन्द उसे इसी कारण कहते थे कि उसके कोष में गणनातीत धन था। स्वयं एरियन भी इसी बात की पुष्टि करता है, यद्यपि उसका उल्लेख विपाशा के निकट-पूर्ववर्ती देश के संबंध में हुआ जान पड़ता है। वह लिखता है—"वह देश अत्यन्त उपजाऊ था और वहाँ के निवासी समृद्ध कृषक और युद्ध-वीर थे। वे तंत्रसंचालित स्वतंत्र शासन में बसते थे। उनका शासन गणतंत्र था और शासक कुलीन नेता जो उनपर न्याय और मध्यम-मार्ग (नरमी) से राज करते थे। यह भी कहा जाता है कि अन्य भारतीयों से उनके पास गजों की संख्या अधिक थी और उनके हाथियों के कद भी विशाल थे। उनका साहस उदाहरणीय था।"[५] इन कारणों के अतिरिक्त पश्चिम के जीते प्रदेश भी कुछ कम परेशानी नहीं पैदा करते थे। ओरनस् के दुर्ग का संकट, निकेनर का बध और अभिसार

---

१ अध्याय ६२; मैकक्रिण्डल, पृ० ३१०।

२ ५, ४,

३ कर्टियस्, ९, २; मैकक्रिण्डल, पृ० २२१-२२।

४ अध्याय ६२; मैकक्रिण्डल, पृ० ३१०।

५ ५, २५।

का विद्रोह इस संबंध में प्रचुर प्रमाण हैं।[1] इन कारणों से भयान्वित होकर ग्रीक सेना ने आगे बढ़ना अस्वीकृत कर दिया और वह विद्रोह करने पर सन्नद्ध हुई।

सिकन्दर स्वयं वीर था। जिन कारणों ने उसकी सेना को हतोत्साह कर दिया, उन्होंने ही उसके वीरदर्प को और उकसा दिया। जितना ही पूर्व के राजाओं की शक्ति बताकर उसे डर दिखाया जाता था, उतना ही उधर की ओर उसका आकर्षण बढ़ता जाता था। परन्तु मकदूनिया के निवासियों का "दिल बैठने लगा जब उन्होंने अपने राजा को अमित मर्यादा में उनपर श्रम डालते और उन्हें खतरे में झोंकते देखा।"[2] इतना ही नहीं, बल्कि सेना ने सभाएँ करनी शुरू की जिनमें संयत सैनिक तक अपनी दशा पर रोना रोने लगे और असंयतों ने तो साफ-साफ कह दिया कि "हम अब आगे हरगिज न बढ़ेंगे चाहे स्वयं सिकन्दर उनका नेतृत्व क्यों न करे।"[3] सिकन्दर ने भी क्रुद्ध होकर अपने को अपने शिविर में बन्द कर लिया। वहाँ से कई दिनों तक वह बाहर न निकला। अन्त में हारकर वह सेना के सामने आया और उसने स्वयं उन्हें ललकारकर कहा—"वे व्यर्थ के भय से डरें नहीं और विश्वास के साथ उसका अनुसरण करें।" कर्टियस् लिखता है कि सिकन्दर ने अपने व्याख्यान में कहा—"सैनिको, मुझपर अविदित नहीं है कि इस देश के निवासी तुम्हें भयातुर करने के लिए सब प्रकार की अफवाहें उड़ा रहे हैं, परन्तु अपने अनुभव से तुमलोग इनकी सचाई-झुठाई की जाँच कर सकते हो।"[4] सेना फिर भी विरोध करती ही गयी। उसने व्यास से आगे बढ़ना स्वीकार न किया। कोईनास नामक एक बड़े सेनापति ने सिकन्दर को उत्तर तक दे दिया। उसने कहा—"माना कि बर्बरों ने (पूर्व के नरेशों की सेना की) संख्या बढ़ाकर कही है, परन्तु संदेश से ही प्रमाणित है कि यह संख्या यदि इतनी नहीं तब भी काफी होगी।"[5] सेना टस से मस न हुई। तब सिकन्दर ने उसे जीतने का अन्तिम प्रयास किया। उस खतरनाक रास्ते पर स्वयं बढ़ चलने का उसने डर दिखाया। वह बोला—"फिर तुम मुझे तीव्रवाही नदों के संकट में डाल दो, विशाल गजों के दाढ़ों में समर्पित कर दो और उन राष्ट्रों के शस्त्र-फलकों पर ढकेल दो, जो तुम्हारे हृदयों को भय से भर रहे हैं। कुछ परवाह नहीं यदि तुमने मुझे छोड़ दिया; मैं ढूँढ़ लूँगा ऐसे अदम्य लड़ाकों को जो मेरे पीछे चलेंगे।"[6] सिकन्दर का यह अन्तिम वक्तव्य भी व्यर्थ गया। सेना ने उसकी बातों का उत्तर अपने आँसुओं से दिया। अमित्र राष्ट्रों के क्रोध में उनके राजा का पड़ना अश्रेयस्कर था, अप्रिय; परन्तु स्वयं उनके प्राण प्रियतर थे। उनकी रक्षा करते उन्हें अधिक प्रीतिकर जान पड़ा। सेना

सिकन्दर का उत्साहवर्द्धन

---

१ त्रिपाठी : History of Ancient India.

२ एरियन, ५,२५.

३ वही

४ ९,२

५ कर्टियस्, ९, ३

६ वही, ९, २

अत्यन्त भयभीत हो गयी थी। पिछले युद्धों में प्रदर्शित वीरता और भविष्य की संभावित सामरिक विपत्तियों ने उनका साहस पस्त कर दिया था। अन्त में हारकर सिकन्दर ने घोषणा की कि "मेरा वक्तव्य बहरे कानों पर पड़ा है।"[१] इसमें सन्देह नहीं कि विजेता स्वयं वीर और निर्भीक था, पर कुछ आश्चर्य नहीं कि वह स्वयं सहम गया हो। इतिहासकार दियोदोर सिकुलस लिखता है कि "गंगातटीयों के गजयूथों से भयान्वित होकर सिकन्दर ने अपनी विजय-यात्रा रोक दी।"[२] फिर भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि विजेता अपने को खतरों से नहीं बचाता था। वह उन्हें ढूँढ़ता फिरता था। जो हो, उसे अपनी सेना की जिद्द के आगे हार माननी पड़ी और उसने उसे लौटने की आज्ञा दे दी। व्यास नदी के दाहिने तट पर स्मारकस्वरूप ग्रीक देवताओं की पूजा के लिए उसने वेदिकाएँ बनाने की आज्ञा दी। वहाँ निर्विघ्न यात्रा के लिए बलि चढ़ाकर वह पीछे की ओर लौटा।

ई० पू० ३२६ के सितंबर में वह झेलम के उस तट पर पहुँचा जहाँ राजा पुरु ने उससे लोहा लिया था। वहाँ पहुँचकर उसने विजित प्रांतों के शासन का प्रबन्ध किया।

ग्रीक लौटे

झेलम और व्यास के बीच की सारी भूमि उसने अपने मित्र राजा पुरु को दी। राजा पुरु वीर चाहे जितना रहा हो, स्वतंत्र रहने की चाहे जितनी प्रबल इच्छा उसकी पहले रही हो, अब वह सिकन्दर का परम सहायक था—उसका सामन्त। उसका स्थान भारतीय पराजित राजाओं के ऊपर था और वह अब बिना आना-कानी किए ग्रीक विजेता की सहायता भारतीय स्वतंत्र राष्ट्रों के पतन में करने लगा था।

विजित का शासन

अपनी स्वतंत्रता खो देने के बाद जब पराजित शत्रु का सहायक बनता है, प्रायः उसकी पुरु की-सी प्रवृति हो जाती है। जब मारवाड़, अंबर, बीकानेर, जैसलमेर आदि के नरेश पश्चात्काल में मुगलों से हार गये तब उनकी एकमात्र निष्ठा उदयपुरवालों को नीचा दिखाने में लगी। सिकन्दर की दृष्टि में पुरु का प्रिय हो जाना अनिवार्य था। उसी की भाँति तक्षशिला का आम्भी भी था जिसे विजेता ने झेलम और सिन्धुनद के द्वाब का शासक नियुक्त किया। कश्मीर अभिसार के राजा को मिला और उरशा (हजारा जिला) का अर्शक उसका सामन्त बना। फिर भी सिकन्दर अपने इन भारतीय सामन्तों पर पूरा-पूरा विश्वास नहीं करता था। इस कारण नगरों में उसने ग्रीक सेनाएँ रख छोड़ीं। इन सेनाओं का उद्देश्य उसके पीछे ग्रीक सत्ता की रक्षा करना था जिससे भारतीय शासक सम्राट् के लौटने के बाद विद्रोह करके कहीं विदेशी जुआ अपने कन्धों से उतार न फेंकें। समय-समय पर विजित इलाकों में जो असन्तोष हुआ करता था, उसको देखते हुए ऐसा प्रबन्ध करना उचित ही था।

झेलम से यात्रा करने की इच्छा से उसने उसका प्रबन्ध किया। इस यात्रा के खतरों से निरापद हो जाने के लिए उसने आस-पास के शत्रुओं को पहले पराजित कर लेना उचित समझा। पास ही नमक के पहाड़ी प्रदेश का राजा सौभूति (?)—जिसे ग्रीक लोगों ने

---

१ कर्टियस, ९, २

२ Ancient India as Described in Classical Literature, पृ० २०१।

सोफाइतिज (Sophytes) लिखा है—को हराकर विजेता ने उसका राज्य छीन लिया। इस इलाके में बड़े साहसी और ताकतवर कुत्ते थे, जो शेर तक से लड़ सकते थे। सिकन्दर ने सिंह के साथ उनकी लड़ाई कराकर देखी थी।[1] इतिहासकार कर्टियस् लिखता है कि

सौभूति

"सौभूति की प्रजा बड़ी बुद्धिमती थी। अच्छे कानून की रक्षा में वह बसती थी। उसके रीति-रिवाज भी बड़े सुन्दर थे।"[2] कठों की भाँति इस भाग के निवासी भी सौन्दर्योपासक थे और उनके विवाह में सौन्दर्य का विचार विशेष महत्त्व का था, जन्म अथवा कुल का नहीं। कर्टियस् का कहना है कि कठों की ही भाँति वे भी अपने राज्य में नवजात शिशु की परीक्षा करते थे और यदि उसमें किसी प्रकार का, 'शारीरिक वैषम्य अथवा विकृति होती थी तो वे उसे मरवा डालते थे।' इससे चाहे यह प्रमाणित हो जाय कि प्रजा में शासन-संबंधी चेतना थी, परन्तु निस्सन्देह यह भी साथ ही स्वीकार करना पड़ेगा कि उनकी और कठों की यह शिशु-वध की प्रथा अत्यन्त क्रूर थी।

अक्तूबर के अन्त में जल-यात्रा का आरंभ हुआ। नावों के बेड़ों पर ग्रीक सेना चल पड़ी। उनकी पैदल फौज दोनों तटों की रक्षा करती हुई बढ़ी—हेफीस्तियन और क्रातेरस की अध्यक्षता में। सेना धीरे-धीरे झेलम और चिनाब (अक्सिनी, Akesines, चन्द्रभागा) के संगम पर शिबि-जनपद में पहुँची। ४०,००० पैदल शिबि विजेता की

शिबि और अग्रश्रेणी

राह रोकने को प्रस्तुत थे। इसी समय अग्रश्रेणी (Agalassians) भी अपने ४०,००० पैदलों और ३,००० घुड़सवारों के साथ उनसे आ मिले। शिबि लोग बनैले जन्तुओं के चमड़े पहनते और लाठियों से युद्ध करते थे। सिकन्दर के तीरन्दाजों और भाले फेंकनेवालों से उनका क्या मुकाबला था, फिर भी वे लाठियाँ लेकर विश्व-विजेता के सम्मुख समर में आ डटे। परन्तु ग्रीकों ने उनका दम तोड़ दिया। अग्रश्रेणी निस्सन्देह कुछ भिन्न सिद्ध हुए। बड़ी वीरता से उन्होंने अपनी राजधानी की रक्षा की और सिकन्दर के पहले आक्रमण को सर्वथा निष्फल कर दिया। दुर्मद अग्रश्रेणियों और ग्रीकों में भयानक समर हुआ। अग्रश्रेणी स्वतंत्र जाति के थे। अपने देशवासियों का पराभव उन्होंने सुना था। परतंत्र जीवन उन्हें असह्य था। इस हेतु जब उन्होंने देखा कि शत्रु प्रबल है और उससे जीतना असंभव है, तब उन्होंने वह करना निश्चित किया जो भारतीय इतिहास की एक अमर कहानी है। "अपने घरों में उन्होंने आग लगा दी। फिर अपने बच्चों और पत्नियों के साथ वे उसकी आकाशचुंबी लपटों में जल मरे।"[3] पश्चात्कालीन राजपूत-जौहर का यह प्रथम निदर्शन था। ग्रीक ठक से रह गये।

शिबि और अग्रश्रेणियों के पड़ोस में उन दो वीर जातियों का निवास था जिनका भारतीय गणतंत्रों के इतिहास में विशिष्ट स्थान है। वे थे मालव और क्षुद्रक, विकट वीर और भयानक लड़ाके। भारत के उस भाग में ये सबसे अधिक प्रबल और युद्ध-प्रिय थे।

---

१ स्त्राबो, प्राचीन भारत, पृ० ३८।

२ ९, १.

३ कर्टियस्, ९, ४.

उन्होंने अपने बच्चों और नारियों को नगरों के अजेय दुर्गों में भेज दिया और स्वयं ग्रीकों से लोहा लेने के लिए सन्नद्ध हुए।[१] प्रसिद्ध इतिहासकार कर्टियस् का कहना है कि मालवों और क्षुद्रकों में असाधारण पारस्परिक शत्रुता चलती थी। परन्तु अब समान शत्रु के सम्मुख वे गृह शत्रुता भूल गये। आपसी शत्रुता भुला देने के लिए उन्होंने एक विशेष प्रबंध किया। मालवों ने अपनी सारी अविवाहित कुमारियाँ क्षुद्रक कुमारों से ब्याह दीं, और क्षुद्रकों ने अपनी कुमारियाँ मालव-कुमारों से। दोनों जातियाँ कृषक थीं। उन्होंने ग्रीक-विजेता से लोहा लेने के अर्थ ९०,००० पैदल, १०,००० घुड़सवार और ९०० रथ-सेना प्रस्तुत की। ग्रीक सेना ने जब यह कुमक देखी और इस अजेय जाति के वीर कृत्यों का बखान सुना तब उसपर वज्रपात-सा हो गया। भीषण भय से उनके हृदय काँप उठे। वे अपने राजा को बुरा-भला कहने लगे। विद्रोह-भरे शब्दों में उन्होंने कहा कि सिकन्दर ने युद्धों का अन्त नहीं किया, केवल उसे स्थानान्तरित कर दिया है।[२] इसपर विजेता ने उनसे अनुनय करते हुए कहा—"कृपा करो, और भगोड़ों की भाँति नहीं, गौरव के साथ, मुझे घर लौटने दो।" सेना पर इस वक्तव्य का प्रभाव अच्छा पड़ा। फिर भागकर भी तो वे बच नहीं सकते थे। इसलिए युद्ध करने के लिए वे सन्नद्ध हुए और उनका स्वाभाविक साहस लौट आया। इधर मालवों और क्षुद्रकों की तैयारियाँ तो हो गयी थीं, पर उनकी सेनाएँ अभी दूर-दूर थीं, अभी एक दूसरे से मिल न सकी थीं। फिर ग्रीकों की चाल-ढाल से उन्हें कुछ ऐसा जान पड़ा कि उनके आक्रमण में अभी देर है और वे जाकर अपने खेतों में काम करने लगे। सिकन्दर युद्ध-नीति में अद्वितीय था। उसने इस अवसर पर वह समर-कौशल दिखाया जिसके लिए वह प्रसिद्ध था। करीं के युद्ध के बाद यह दूसरा अवसर था जब सिकन्दर ने सम्मुख-समर-नीति को तिलांजलि देकर कूटनीति से काम लिया। खेतों में काम करते हुए मालवों पर वह सहसा टूट पड़ा और उनकी एक बड़ी संख्या का उसने बध कर डाला[३]। परन्तु वह उनका उत्साह भंग न कर सका। कुछ मालव पास के दुर्ग में घुसकर वहाँ से युद्ध करने लगे। उसके प्राचीरों के पीछे २,००० मालव मारे गये। कुछ ने ब्राह्मणों के एक नगर में आश्रय लिया। परन्तु विजेता ने उनका वहाँ भी पीछा किया। एरियन लिखता है कि मालव साहस की मूर्ति थे। इससे उनमें से कतिपय मालव ही बन्दी किए जा सके, बाकी तलवार के घाट उतर गये।[४] आधुनिक झंग और मांटगुमरी जिलों की सीमा पर तब मालवों का प्रमुख दुर्ग था। सिकन्दर ने उसपर प्रबल आक्रमण किया। उसकी नीति इस अवसर पर यह थी कि मालव और क्षुद्रक सेनाएँ मिल न सकें और पृथक्-पृथक् हरा दी जायँ। यही इस विजय का रहस्य था। दुर्ग पर ग्रीक आक्रमण होने पर भयंकर समर हुआ। प्रसिद्ध इतिहासकार एरियन लिखता है कि

मालव और क्षुद्रक

---

१ एरियन, ६, ४.

२ कर्टियस्, ९, ४.

३ एरियन, ६, ६.

४ वही, ६, ७.

इस युद्ध में सिकन्दर को एक सांघातिक चोट लगी[1] जिसके कारण ग्रीकों में अदम्य क्रोध भर गया। उनका जीवन बहुत कुछ उनके नीतिज्ञ नेता के व्यक्तिगत कौशल पर निर्भर था, इसलिए जान पर खेलकर उन्होंने मालवों पर भीषण हमला किया।

हमला

मालवों की सेना उनके सामने नहीं के बराबर थी ; क्योंकि क्षुद्रक अब तक उनसे मिल न सके थे और विजेता ने अवसर देख उनके अनजाने उनपर आक्रमण किया था। मालव टूट गये। एरियन का कहना है कि फिर तो ग्रीकों ने बचे-खुचे मालवों पर कत्लेआम बोल दिया। मर्द, औरत, बच्चे, किसी का उन्होंने विचार नहीं किया, सबको तलवार के घाट उतार दिया।[2] औरतों और बच्चों को मारना ग्रीकों की युद्ध-नीति के विरुद्ध न था। सिकन्दर के भारतीय युद्धों में जो घृणित अनीति के काले धब्बे हैं, उनमें यह धब्बा निस्सन्देह सबसे बड़ा है। जब मालवों का दम टूट गया तब क्षुद्रकों ने भी युद्ध व्यर्थ जान विजेता से सन्धि कर ली। यह युद्ध सर्वथा युद्ध-कौशल से जीता गया। भारतीयों में निस्सन्देह कुशल सेनापतियों का अभाव था। क्षुद्रक दूतों ने विजेता से कहा कि यद्यपि स्वतंत्रता के प्रेम में क्षुद्रक सारे भारतीयों में चढ़े-बढ़े हैं, पर देवताओं की इच्छा उनकी स्वतंत्रता के विरुद्ध है। इससे निर्भीक होते हुए भी वे आत्म-समर्पण करते हैं।[3] सिकन्दर ने उन दूतों की बड़ी आव-भगत की और उनकी इतनी इज्जत की कि उसके सेनापतियों को ईर्ष्या हो आयी। फिर इस मालव-क्षुद्रक-जनपद के ऊपर उसने फिलिप्पस को क्षत्रप नियुक्त किया। उसकी नौ-सेना फिर चल पड़ी।

चन्द्रभागा (चिनाब) और सिन्धु के संगम पर सिकन्दर फिर रुका। वहाँ उसे पर्दिकस की प्रतीक्षा करनी थी, जो अम्बष्टों की विजय के लिए गया हुआ था। दियोदोर कहता है[4] कि अम्बष्ट भारतीय जातियों में किसी से संख्या अथवा शौर्य में कम न थे। उनके नगरों में गणतंत्र-शासन व्यवहृत होता था। ६०,००० पैदल, ६,००० घुड़सवार और ५०० रथों को लेकर वे सिकन्दर के विरोध में बढ़े थे ; परन्तु

अम्बष्ट

भाग्य उनके विपरीत था। वे जूझ गये। ग्रीक कुमक सिन्धु के मुहाने की ओर बढ़ी। अनेक जातियों को हराता हुआ विजेता मुषिकों के देश में पहुँचा। संस्कृत-साहित्य में मुषिक गणतंत्र का जो निर्देश मिलता है, वह संभवतः ये ही थे। मुषिकों की राजधानी सक्कर जिले में अलोर मुकाम पर थी। ओनेसिक्रितोस् को उद्धृत करता हुआ स्त्राबो लिखता है कि मुषिक लोग अत्यन्त स्वस्थ थे और वे प्रायः १३०

मुषिक

वर्षों की लंबी आयु भोगते थे।[5] स्त्राबो ने उनके विषय में और भी लिखा है—"वे एक साथ सामूहिक रूप से भोजन करते हैं। उनके आहार में आखेट में मारे

---

१ एरियन, ६, ११।

२ वही।

३ कर्टियस्, ९, ७।

४ १७, १०२।

५ मैकक्रिण्डल : प्राचीन भारत, पृ० ५१.

पशुओं का मांस काफी होता है। यद्यपि उनके देश में सोने-चाँदी की अनेक खानें हैं, पर वे इन धातुओं का उपयोग नहीं करते। दासों के स्थान पर वे अपने नवयुवकों का उपयोग करते हैं। ओषधि और चिकित्सा-शास्त्र को छोड़ वे अन्य विद्याओं का अध्ययन नहीं करते और हत्या तथा व्यभिचार के सिवा अन्य मुकदमों पर उनके यहाँ विचार नहीं किया जाता। शर्तनामों (contracts) को तोड़ने का दण्ड नहीं दिया जाता ; क्योंकि उनका विचार है कि टूटे राजानामे की हानि उस व्यक्ति को उठानी चाहिए जो दूसरे पर जरूरत से अधिक विश्वास करता है।" इस उद्धरण से सिद्ध है कि मुषिकों में दास-प्रथा न थी।

ब्राह्मण

इस भाग में ग्रीक-विजेता का मार्ग पग-पग पर रुका। ब्राह्मण उसके विशेष विरोधी थे। गणतंत्रों और राजाओं को वे विदेशी विजेता का मार्ग अवरुद्ध करने की सलाह देते थे, उन्हें उसके विरुद्ध उकसा-उकसा ललकारते थे। इस भू-भाग में उनका प्रभाव था भी अधिक। उनके उत्साहित करने पर विजित मुषिकों और आक्सिनों ने फिर एक बार सिर उठाया और विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। फलतः ब्राह्मणों के साथ उनका भी बध हुआ। तब के ब्राह्मण केवल शास्त्रपटु ही नहीं, शस्त्रकुशल भी थे और राजनीति में पूरा-पूरा भाग लेते थे। एरियन लिखता है कि ब्राह्मण उत्साह से भरे थे।[1] वे सर्वत्र पूज्य थे और उनकी सलाह का आदर होता था। सिकन्दर के लिये उनका दबाना कठिन हो गया और इसी कारण अवसर पाकर उसने उनका भीषण बध किया। ब्राह्मण साधारणतया विरागी और शान्त थे, परन्तु आपत्काल का धर्म समझ उन्होंने ग्रीकों के विरुद्ध शस्त्र धारण किया। उनका सामूहिक बध उनके स्वातंत्र्य-प्रेम का मूल्य था, जो अपने नगर-राज्यों पर गर्व करनेवाले ग्रीकों ने उनसे वसूल किया।

निचले सिन्धुतट के राज्यों को सर करता हुआ सिकन्दर पत्तल पहुँचा। ग्रीक इतिहासकार दियोदोर लिखता है—"इस नगर का बड़ा महत्त्व था। ग्रीस के प्रसिद्ध नगर स्पार्टा से ही मिलता-जुलता इसका शासन भी था। सम्पूर्ण शासन-सूत्र स्थविरों (वृद्धों elders) की एक सभा के हाथ में था और युद्ध का संचालन दो भिन्न कुलों के वंशागत राजा करते थे।"[2] पत्तल वर्तमान बहमनाबाद था। वहाँ के राजा को कर्टियस् मीरिस् (Moeres) कहता है।[3]

प्रस्थान

३२५ ई० पू० के सितम्बर के आरम्भ में जब सिकन्दर भारत से लौटने लगा तब उसने अपनी सेना के दो भाग किये। एक को नियरकस की अध्यक्षता में उसने सामुद्रिक मार्ग से भेजा और दूसरे को स्वयं लेकर वह बलूचिस्तान के दक्षिण तट की राह से चला। उसकी सेना का एक भाग क्रातेरस की अध्यक्षता में पहले ही बोलन के मार्ग से लौट चुका था। सबसे कठिन मार्ग सिकन्दर ने स्वयं अपने लिए चुना जो अरबती (Arabitae) और ओरती (Oritae) प्रदेशों के बीच से होकर जाता था। इस मार्ग में चलते हुए उसे और उसकी सेना को खाने-पीने की प्रत्येक वस्तु के लिए

---

१ ६,७। २ १७, १०४; मैक्क्रण्डल, पृ० २९६। ३ ९, ८।

अत्यन्त कष्ट का सामना करना पड़ा। विपत्तियाँ झेल मरता-जीता वह अपनी बची-खुची सेना लिए किसी प्रकार बाबुल पहुँचा। वहाँ ई० पू० ३२३ के जून में उसके अद्भुत क्रियाशील जीवन का अन्त हो गया।

भारतवर्ष में सिकन्दर की विजय-यात्रा अधूरी रह गयी। यहाँ उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। एक-एक जमीन के लिए उसे बहुत मूल्य देना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ राजाओं ने उसे आत्म-समर्पण कर दिया, परन्तु प्रायः प्रत्येक विजय के लिए उसे विकट लड़ाई लड़नी पड़ी। पग-पग पर गणतंत्रों ने उसे रोका और उससे कठिन मोर्चा लिया। उसके लौटते ही पंजाब ने सिर उठाया और विजित प्रदेशों ने विद्रोह आरंभ कर दिया। अभी वह मार्ग में ही था जब उसे खबर मिली कि उसके शासक क्षत्रप फिलिप्पस का विद्रोहियों ने बध कर डाला। उसमें स्वयं तो लौटकर विद्रोह दमन करने की शक्ति रह न गयी थी और न उसकी सेना ही लौट सकती, इसलिए उसने तक्षशिला के आम्भी और थ्रेस के एक सेनापति यूदेमो (Eudamos) को, जो उपरी सिन्धु-घाटी का शासक था, उस विद्रोही प्रान्त को सँभालने के लिए संदेश भेजा। ३२१ ई० पू० में जब मकदूनिया के साम्राज्य का दोबारा बँटवारा हुआ, तब तक पेइथन (Peithon) पूर्वी इलाकों से सिन्धुनद के पश्चिम भगा दिया गया था, और यद्यपि यूदेमो जीता-मरता किसी प्रकार अपने प्रान्त ३१७ ई० पू० तक कब्जा रखे रहा, पर पंजाब और सिन्धु से ग्रीक-शासन प्रायः लुप्त हो गया। कुछ ही दिनों बाद चन्द्रगुप्त ने ग्रीक-विजय के बचे-खुचे चिह्नों को भी पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत से मिटाकर हिन्दूकुश पर्वत को भारत और ग्रीक-साम्राज्यों की सीमा निर्धारित की।

सिकन्दर सिन्धुनद के पूर्व केवल उन्नीस महीने (ई० पू० ३२६ के वसन्त से सितंबर ३२५ ई० पू० तक) ठहर सका। इस बीच उसे निरन्तर युद्ध करने पड़े—इंच-इंच भूमि के लिए लड़ना पड़ा। चप्पा-चप्पा जमीन जंग का अव्वल दर्जे का मोर्चा बन गयी। एक विशेष बात जो इस भारतीय युद्ध में स्पष्ट दीखती है, वह है यहाँ के निवासियों का आमृत्यु युद्ध। इन भारतीय जातियों का स्वातंत्र्य-प्रेम इस दर्जे तक था कि कहीं सिकन्दर को सरल सफलता न मिली। मिस्र और फारस दिनों में सर हो गये, पर लगभग दो साल में पंजाब का केवल एक हिस्सा महँगे दामों में विजेता के हाथ आया और उसके पीठ फेरते ही वह प्रायः विद्रोही हो उठा। इसी कारण वह अपनी विजय का यहाँ सदुपयोग भी न कर सका। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी इच्छा भारत में ग्रीक-शासन स्थापित करने की थी। सारे नगर-केन्द्रों और दुर्ग-कोटों पर उसने ग्रीकसेना रखी और प्रान्तीय शासक नियुक्त किये। काबुल की घाटी तथा सिन्धु के देश के बीच का शासक उसने फिलिप को बनाया और सिन्ध का पेइथन को। सिद्ध है कि भारतीयों पर स्वभावतया वह विश्वास न करता था। अपने प्रतिद्वन्द्वी राजा पुरु को उसने नीतिपूर्वक मित्र बना लिया। फिर उसने ग्रीस और भारत के बीच के सुगम और शीघ्र पहुँचनेवाले मार्ग की खोज की। सिन्धु के मुहाने पर बसे पत्तल को उसने बन्दर बनाया। परन्तु उसका यह प्रबन्ध टिकाऊ न हो सका। भारतीयों ने शीघ्र उस के स्थापित किये ग्रीक-शासन

शासन

की जड़ें अपने देश से उखाड़ फेंकीं। उसकी अकाल मृत्यु के बाद उसका सारा प्रबन्ध व्यर्थ हो गया और प्राणों के मूल्य खड़ा किया उसका साम्राज्य टूक-टूक हो गया।

ग्रीक-आक्रमण के समय भारत की अवस्था

इस आक्रमण के परिणाम

इस आक्रमण का मुख्य परिणाम यह हुआ कि भारत-पृथकता नष्ट हो गयी। अब वह संसार से अलग न रह सका। यूरोप से उसका संबंध स्थापित हो गया और इससे दोनों के साहित्य, चिन्तन और कला को किसी न किसी हद तक पारस्परिक प्रोत्साहन मिला। एथेन्स के 'उलूकीय' सिक्कों और 'अत्तिक' वजन के रजत-द्रव्यों का भारतीय मुद्राओं पर प्रभाव पड़ा। सिकन्दर के एक प्रकार के सिक्कों पर तो पुरु की पराजय अंकित है जिससे उस संघर्ष की महत्ता जान पड़ती है। उसमें राजा पुरु हाथी पर भागता और एक ग्रीक घुड़सवार उसका पीछा करता हुआ दिखाया गया है। दूसरा प्रभाव यह हुआ कि भारतीय सीमा के नगरों में ग्रीक बस गये। शासक-सेनाएँ या तो चली गयीं या भारतीय प्रहारों से मिट गयीं; परन्तु सिकन्दर द्वारा बसाए नगर फिर भी कुछ काल तक कायम रहे। तीसरा परिणाम यह हुआ कि विजेता ने भारत के लिए जो पश्चिम का द्वार खोल दिया, उससे विदेश का व्यवसाय बढ़ गया। चौथा परिणाम यह हुआ कि भारतीयों को अपनी सामरिक दुर्बलता स्पष्ट हो गयी। पंजाब के छोटे-छोटे राज्यों के टूट जाने से भारत की राजनीतिक एकता का भी मार्ग खुल गया। फिर भी इसका जो एक भयंकर दुष्परिणाम हुआ, वह था गणतंत्रों का प्रायः मिट जाना। स्पष्ट है कि ऊपर गिनाये परिणाम कितने नगण्य हैं। वास्तव में इस आक्रमण का राजनीतिक प्रभाव तो नहीं के बराबर है। सामाजिक और दार्शनिक परिणाम भी कुछ विशेष महत्त्व के न थे, क्योंकि हम भारतीयों का सदा यह विश्वास रहा कि विदेशी मलेच्छ हैं और उनसे उन्हें कुछ सीखना नहीं है। इस विश्वास से यद्यपि उनकी हानि भी कुछ कम न हुई।

सामाजिक अवस्था

ग्रीक-लेखकों ने भारत के तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक दशा पर प्रचुर प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि सौभूति के राज्य में शारीरिक सौन्दर्य का इतना महत्त्व था कि नवजात शिशु की प्रशंसा करके ही उसे जीवित रखते थे, जब वे उसके अंग सुघड़ और सही पाते थे। सौंदर्य ही विवाह के जोड़े भी निश्चित करता था। कठों और कुछ अन्य जातियों में सती-प्रथा प्रचलित थी। तक्षशिला के बाजारों में निर्धन पिता अपनी कन्याओं को बेच देते थे। कहीं-कहीं मृतक का संस्कार न कर उन्हें गिद्धों का आहार बना दिया जाता था। तक्षशिला के निवासी प्रायः बहुविवाह की प्रथा पसन्द करते थे।

धार्मिक अवस्था

ब्राह्मण-धर्म का सर्वत्र बोलबाला था। ग्रीकों ने मन्दनिस् और कल्याण नामक दो साधुओं की अद्भुत रहन-सहन का उल्लेख किया है। महान् त्याग, उच्च आचरण और गंभीर ज्ञान के कारण ब्राह्मण अत्यन्त प्रतिष्ठा के भाजन थे। राजा उनकी सलाह से कार्य करते और प्राण तक दे सकते थे। इनके अतिरिक्त देश में बौद्ध

श्रमण भी थे, जो ब्राह्मण-साधुओं की भाँति ही वल्कल पहनते, जंगलों में रहते और कन्द-मूल-फल खाते थे। भारतीय इन्द्र, कृष्ण और बलराम (Herakles हरकलिस) की पूजा करते थे। इसी प्रकार गंगा और चैत्य-वृक्षों की पूजा होती थी।

ग्रीकों ने भारत के अनेक नगरों का वर्णन किया है। इनमें मस्सग, अरण्य, तक्षशिला, ग्लौसाइयों के ३७ नगर, पिंप्रम, संगल, पत्तल आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इससे पता चलता है कि देश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध था। ग्रीकों के वर्णन से नगरों के तत्कालीन निर्माण पर भी कुछ प्रकाश पड़ता है। देश की आर्थिक समृद्धि भारतीय राजाओं और जातियों द्वारा सिकन्दर को भेजी गयी भेंटों से भी लक्षित होती है। स्वर्णजटित वस्त्र पहने क्षुद्रक-दूतों ने उसे भेंट की जो वस्तुएँ प्रदान कीं उनमें थे—बड़ी संख्या में सूती वस्त्र, कच्छप-चर्म, गोचर्म के बने बक्लस और सौ भार लोहे। इसी प्रकार तक्षशिला के राजा आम्भी ने उसे २८० भार रजत और सुवर्ण के मुकुट प्रदान किए थे। उत्तर-पश्चिमी भारत सदा से अपने वृषभों की सुन्दर नस्ल के लिए प्रसिद्ध रहा है। इनमें से २,३०,००० वृषभ सिकन्दर ने मकदूनिया को भेजे थे। आम्भी ने अपनी भेंट में उसे ३,००० पीवर वृषभ और १०,००० भेड़ें भी दी थीं। इससे जान पड़ता है कि पंजाब और सीमा-प्रांत के निवासी कृषि-कर्म और पशु-पालन में विशेष पटु थे। बढ़ई और लुहार के काम भी सुन्दरता से संपन्न होते थे। वे युद्ध के लिए रथ और कृषि-व्यापारादि के लिए गाड़ी, पहिए, हल आदि प्रस्तुत करते थे। वे नौकाएँ भी बनाते थे, जो नदियों में व्यवहृत होती थीं। स्वयं सिकन्दर ने अपने लिए नौपोतों के अनेक बेड़े तैयार कराये थे।

आर्थिक अवस्था

नीचे ग्रीक-आक्रमण के समय भारत की राजनीतिक स्थिति का विवरण दिया जाता है। यह ग्रीक इतिहासकारों के उद्धरणों से संकलित किया गया है। इस समय पश्चिमोत्तर भारत अनेक छोटे-छोटे राष्ट्रों में बँटा हुआ था। मगध-साम्राज्य की नींव अजातशत्रु कब का डाल चुका था और महापद्मनन्द ने क्षत्रिय राजाओं का उच्छेद कर उसे प्रबल और समृद्ध बना दिया था। परन्तु फिर भी उस साम्राज्य के आधिपत्य से पंजाब सर्वथा स्वतंत्र था। मगध-साम्राज्य की सीमा संभवतः गंगा नदी का बायाँ तट थी। पंजाब के तत्कालीन राष्ट्रों को हम राजतंत्र और गणतंत्रों में विभक्त कर सकते हैं। इन दोनों प्रकार के शासनों और उनके भौगोलिक स्थानों का संकेत हम सिकन्दर का आक्रमण-वर्णन के प्रसंग में यथास्थान कर आये हैं। यहाँ सांकेतिक रूप में उनका उल्लेखमात्र किया जाता है। राजतंत्रों में तक्षशिला, अभिसार और पुरु के राज्य मुख्य थे। तक्षशिला का राज्य सिन्ध और झेलम के बीच में था। वहाँ का राजा आम्भी था, जिसने विजेता के लिए भारत का सिंहद्वार खोल दिया। अभिसार तक्षशिला का पड़ोसी था। वहाँ का राजा पहले राजा पुरु के साथ मिलकर सिकन्दर का मुकाबला करना चाहता था ; परन्तु यवनराज की सामरिक कुशलता के कारण यह संभव न हो सका। अभिसार का राज्य वर्तमान पूँछ और नौशेरा जिलों के इलाकों पर था। पुरु का छोटा राज्य झेलम और चिनाब के बीच में था। यथास्थान उसका वर्णन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त कनिष्ठ पुरु, सौभूति, मुषिक

राजनीतिक अवस्था

राजतंत्र

आदि के भी अनेक छोटे-मोटे राज्य पंजाब और सिन्ध में स्वतंत्र थे। यहाँ पर केवल तक्षशिला का कुछ विस्तृत वर्णन कर देना आवश्यक है।

तक्षशिला

तक्षशिला तब अत्यन्त समृद्ध नगर था जिसके खंडहर रावलपिंडी जिले में वर्तमान टैक्सिला के आसपास मिले हैं। यह नगर प्राचीन गान्धार की राजधानी था और पश्चिमी एशिया और भारत के व्यापारिक वणिक्पथ पर बसा था। वहाँ भारत का प्राचीनतम विश्वविद्यालय था जहाँ मगध, काशी तथा विदेशों से विद्यार्थी आकर विद्याध्ययन करते थे। बुद्ध के समकालीन कोशल के राजा प्रसेनजित्, वैद्यराज जीवक, वैयाकरण पाणिनि, कूटनीतिज्ञ चाणक्य आदि ने वहीं शिक्षा पायी थी। वहाँ वेद, वेदाङ्गादि विद्याएँ और शिल्पादि कलाएँ सिखाई जाती थीं। चिकित्सा-शास्त्र में इस विश्वविद्यालय ने बड़ी उन्नति की थी। ग्रीक इतिहासकारों का कहना है कि सर्पविष का इलाज यहाँ बड़ा उत्तम होता था। अश्वघोष के 'सूत्रालङ्कार' से विदित होता है कि चीन का एक राजकुमार नेत्र-चिकित्सा के लिए सारा संसार घूम आया; परन्तु यहाँ उसके नेत्रों की ज्योति लौट आयी। यह विश्वविद्यालय बुद्ध से पूर्व ही प्रसिद्ध हो चुका था और ईस्वी सन् की पहली शती तक कायम रहा।

गणतंत्र

गणतंत्र भारत में अनेक थे—पंजाब और पूर्वी भारत दोनों में। पूर्वी भारत के बुद्धपूर्व और बुद्धकालीन गणतंत्रों का वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। यहाँ हम केवल पंजाब के गणतंत्रों का संक्षिप्त हवाला देंगे। इनमें से मुख्य थे कठ, शिबि, अग्रश्रेणी, मालव और क्षुद्रक। इनका निवास सिन्धुनद की निचली घाटी और रावी, चिनाब आदि नदियों के तट पर दक्षिणी पंजाब में था। कठों का गणतंत्र रावी के पूर्व में था। कठ पराक्रमी और युद्ध-विशारद थे। उनमें स्वयंवर और सती-प्रथाएँ प्रचलित थीं और सबसे सुन्दर और तेजस्वी पुरुष शासक चुना जाता था। शिबियों ने सिकन्दर का सामना पैने शस्त्रों के अभाव में लाठियों से किया था। अग्रश्रेणियों के एक नगर के निवासियों ने बच्चों के साथ अग्निप्रवेश किया था जिससे वे शत्रु के हाथ न पड़ जायँ। गणतंत्रों में प्रमुख और बलशाली मालव और क्षुद्रक थे, जो रावी के दोनो तटों पर और चिनाब के पार्श्ववर्ती प्रदेश में बसे थे। उनके युद्ध का वर्णन किया जा चुका है। क्षुद्रक-दूतों का विजेता ने बड़ा आदर किया था।

'संघ' अथवा 'गण-राज्य' में एक प्रधान और अनेक गण-मुख्य होते थे, जो मिलकर शासन-कार्य करते थे। गण के सदस्य बहुत होते थे। इस कारण उनके निश्चयों को गुप्त रखना कठिन हो जाता था। यही विशेषकर उनके नाश का कारण भी हुआ। इनकी प्राचीनता महाभारत, कौटिल्य और प्राचीन मुद्राओं से सिद्ध है। इनके अपने सिक्के चलते थे। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के एकतंत्र शासन ने इनको समाप्त कर डाला यद्यपि समुद्रगुप्त और उसके बाद तक भी गणों का किसी न किसी रूप में अस्तित्व बना रहा।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. Cambridge History of India
२. स्मिथ : Early History of India
३. त्रिपाठी : History of Ancient India
४. मैक्‌कुण्डल : Invasion by Alexander
५. मैक्‌कुण्डल : Ancient India

खंड ३

दसवाँ परिच्छेद

मौर्य-काल

१. चन्द्रगुप्त मौर्य

सिकन्दर की विजय के पूर्व ही एक उदात्त नवयुवक नन्दराज के विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहा था। असाधारण कूटनीतिज्ञ विष्णुगुप्त चाणक्य की सहायता से राजा नन्द को सकुटुम्ब नष्ट कर वह मगध की राजगद्दी पर बैठा। चन्द्रगुप्त के कुल और मूल के संबंध में कुछ कहना कठिन है। इस प्रसंग में अनुश्रुतियों का नितान्त अभाव नहीं, परन्तु वे परस्पर विरोधी हैं। एक के अनुसार चन्द्रगुप्त नन्द की शूद्रा उपपत्नी मुरा से उत्पन्न पुत्र था।[1] परन्तु इसे स्वीकार करना कठिन है, क्योंकि 'मुरा' शब्द से अपत्यवाचक जो संज्ञा बनेगी, वह 'मौर्य' न होकर 'मौरेय' होगी। दूसरी अनुश्रुति के अनुसार वह संभवतः शाक्यों की एक शाखा 'मोरियों' में उत्पन्न हुआ था। मध्यकालीन हिन्दू लेखों में उसे क्षत्रिय कहा गया है। बौद्ध-ग्रंथ 'दिव्यावदान' में भी उसके क्षत्रिय होने का ही उल्लेख है। ग्रीक लेखक जस्टिन कहता है कि चन्द्रगुप्त 'सामान्य कुल' में जन्मा था। इन प्रमाणों से जान पड़ता है कि मागध राजकुल से चन्द्रगुप्त का कोई संबंध न था और शाक्यों की मोरिय शाखा में उत्पन्न वह सामान्य क्षत्रिय-कुल का था। किन कारणों से वह मगध के राजा को मार उसका साम्राज्य हस्तगत कर सका, यह विचारणीय है।

आरंभ

ई० पू० चौथी शती के अन्तिम चरण में मगध की परिस्थिति विशेष डाँवाँडोल हो गयी। नन्द के अत्याचारों और उसकी धनलोलुपता के कारण मगध की प्रजा उसका शत्रु हो गयी थी। अपनी अकुलीनता से वह और भी घृणास्पद बन गया था। सिकन्दर की चोटों से पंजाब क्षत-विक्षत हो चुका था; फिर विदेशी शासन भी वहाँ की वीर जातियों को मृत्यु-सा प्रतीत होता था। उन दिनों पंजाब में ऐसी अनेक जातियाँ थीं, जो पंचायती

१ चन्द्रगुप्तं नन्दस्यैव पत्न्यन्तरस्य मुरासंज्ञस्य पुत्रं मौर्याणां प्रथमम्।

(गणतंत्र) राज्य चलाती थीं। विदेशी शासन उनको कभी सह्य नहीं हो सकता था।

परिस्थितियों की अनुकूलता

वीर हृदय कर्मयोगी के लिए यह अवसर असाधारण था। चन्द्रगुप्त असामान्य योद्धा और कर्मठ नवयुवक था। मागध प्रजा का अपने राजा के प्रति असन्तोष उसका अर्थसाधक हुआ। शुरू में शायद वह नन्द के सेनापतियों में से एक था। किसी कारण उसने अपने स्वामी को अप्रसन्न कर दिया। चन्द्रगुप्त महत्त्वाकांक्षी था और स्वयं राजा बनना चाहता था। इसीलिए पंजाब में वह सिकन्दर से मिला भी था और उसने उसे मगध पर आक्रमण करने के लिए उत्साहित भी किया। नन्दकुल के सर्वनाश में उसे एक महान् सहायक मिल गया। वह था चाणक्य, जो बाद में उसका मंत्री हुआ। यह ब्राह्मण जो कौटिल्य भी कहलाता था, नितान्त क्रोधी और कुशाग्र-बुद्धि था। कूटनीति में उसकी असाधारण गति थी। साधारण अपमान से कुपित होकर उसने नन्द-कुल के उच्छेद का भीषण प्रण किया था। इसी विष्णुगुप्त चाणक्य की मेधा का चन्द्रगुप्त को प्रबल सहारा मिला। परन्तु राजधानी में अपने को निरापद न जान दोनों ने सीमाप्रांत का आश्रय लिया था। संभव है, उनका उस दिशा की ओर प्रस्थान सिकन्दर के विजय-वेग और फलतः पंजाब की नई परिस्थिति के कारण हुआ हो। चाणक्य तो संभवतः सीमाप्रांत का मूल निवासी ही था। दोनों के उद्देश्य समान होने के कारण उनमें मैत्री स्वाभाविक थी। दोनों मिलकर कार्य करने लगे। सिकन्दर की विजय-परंपरा से स्तब्ध और उसके रणकौशल से प्रभावित हो चन्द्रगुप्त ने ग्रीक स्कन्धावारों में रहकर ग्रीक रण-पद्धति सीखी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उसने विजेता को मगध-साम्राज्य पर चढ़ चलने के लिए ललकारा भी। परन्तु विद्रोही सेना के बीच अपनी अवमानना के समक्ष उस युवा की ललकार विजेता को निस्संदेह व्यंग-सा लगा होगा। ग्रीक इतिहासकारों का कहना है कि वह युवक अत्यंत दृप्त था। उसके अहंकार ने सिकन्दर को इतना अप्रसन्न कर दिया कि उसे ग्रीक-कैम्प छोड़कर चला जाना पड़ा। विजेता के पंजाब से लौटते ही चन्द्रगुप्त ने वहाँ के विद्रोही असंतुष्ट जनता को भड़काना शुरू किया। प्रजा पहले से ही असन्तुष्ट थी। उसने सीमाप्रांत के ग्रीक-क्षत्रप फिलिप को मार डाला था। अब चन्द्रगुप्त के प्रोत्साहन ने उसमें ईंधन का कार्य किया। विद्रोह और भड़क उठा। सिकन्दर ने जब इस विद्रोह की बात सुनी तब वह कुछ कर न सका। लौट तो वह सकता न था, उसने अपने भारतीय मित्र राजा पुरु और आम्भी पर भरोसा किया। उसने उनसे अपने शासक यूदेमो की अध्यक्षता में विद्रोह दमन करने की इच्छा प्रकट की। पर उनके किए कुछ न हो सका और शायद उन्होंने कोई प्रयत्न किया भी नहीं। उधर ई० पू० ३२३ के जून में सिकन्दर की अकाल मृत्यु ने परिस्थिति विद्रोहियों के सर्वथा अनुकूल कर दी। चन्द्रगुप्त ने ग्रीक-सेनाओं को तितर-बितर कर दिया। यद्यपि यूदेमों ई० पू० ३१७ तक भारत में रहा और उस वर्ष ही उसने योमेनी और अन्तीगोनस के संघर्ष में भाग लेने के लिए हिन्द छोड़ा, फिर भी ग्रीक-शासन इस विप्लव के कारण भारत में लुप्त ही हो गया। शीघ्र युवा चन्द्रगुप्त ने ग्रीक-विजय के रहे-सहे चिह्न भी पंजाब से सर्वथा मिटा दिये और संभवतः चाणक्य के अध्यवसाय से साहित्य में भी उसका कोई उल्लेख न होने पाया। यह ग्रीक-विजय यथार्थतः भारतीयों

को ऐसी अप्रिय लगी कि इसका कोई उल्लेख भारतीय साहित्य में कहीं नहीं मिलता।

यह कहना कठिन है कि चन्द्रगुप्त ने पहले नन्द का ध्वंस किया या पंजाब को ग्रीकों के पंजे से छुड़ाया। संभावना विशेष इसकी ही है कि उसने पहले नन्द पर ही आक्रमण किया होगा। अगर वह ऐसा न करता तो शायद पंजाब के पुरु आदि अधिपति आरंभ में ही उसके विरुद्ध हो जाते और उसका कार्य कठिन हो जाता। फिर वीरकर्मा ग्रीकों से युद्ध भी कुछ साधारण न होता और संभवतः उसका फल भी संदिग्ध हो जाता। अतः अनुमानतः

राज्यारोहण

चाणक्य-से कुशल नीतिज्ञ ने पहले पंजाब की विजय में चन्द्रगुप्त को शक्ति-व्यय करने का परामर्श न दिया होगा। अधिक संभव यही जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त ने पहले नन्द के मागध सिंहासन पर अधिकार किया। पंजाब और सीमाप्रांत से एक बड़ी सेना प्रस्तुत कर उसने मगध पर आक्रमण किया। गुप्तकालीन सामंत-कवि विशाखदत्त ने चन्द्र-नन्द (चाणक्य-राक्षस) संघर्ष का अपने अप्रतिम नाटक 'मुद्राराक्षस' में अनुपम वर्णन किया है। 'मुद्राराक्षस' के अनुसार चन्द्रगुप्त का प्रमुख सहायक राजा पर्वतक था, जो कुछ विद्वानों की राय में सिकन्दर का प्रथम भारतीय शत्रु और अन्ततः मित्र राजा पुरु है। पर इस निष्कर्ष को स्वीकार करना कठिन प्रतीत होता है। 'मुद्राराक्षस' ने दोनों राजाओं के मंत्रियों की अद्भुत युक्तियों और दाँव-पेंच का आश्चर्यजनक वर्णन किया है। षड्यन्त्रों के संघर्ष से वह नाटक ओतप्रोत है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त ने नन्द की अगणित सेना को सर्वथा परास्त कर दिया। इस प्रसंग में पौराणिक, जैन, बौद्ध—सारे प्रमाण एकमत हैं। विष्णुपुराण में उल्लेख मिलता है—"ततश्च नवचैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याः पृथिवीं भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्येऽभिषेक्ष्यति।" नन्द का पराभव संभवतः सिकन्दर के लौटने के तुरत बाद हुआ। इससे चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण का समय लगभग ३२१ ई० पू० रखा जा सकता है। एक अन्य प्रमाण भी इस तिथि का समर्थन करता है। सिंहली प्रमाण से विदित होता है कि शैशुनाग वंश का अन्त ई० पू० ३४३ में हुआ और नन्दों ने केवल २२ वर्ष राज किया। इस गणना के अनुसार भी नन्द का पराभव और चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ई० पू० (३४३—२२) ३२१ में होना सिद्ध होता है।

महात्वाकांक्षा बहुमुखी तृष्णा है। एक आकांक्षा की अभितृप्ति अनन्त आकांक्षाओं के द्वार उन्मुक्त कर देती है। ग्रीकों को पंजाब से बाहर निकाल देना और नन्द का नाश कर मगध की राजगद्दी पर बैठ जाना निस्सन्देह बड़ी बातें थीं। परन्तु चन्द्रगुप्त की महात्वाकांक्षा की शृंखला में उनका स्थान केवल कड़ियों का था। चन्द्रगुप्त ने नन्द से साम्राज्य पाया था, परन्तु उस साम्राज्य का विस्तार थोड़ा था। राज्यारोहण के बाद ही उसकी प्रसर-लिप्सा बलवती

दिग्विजय

हो उठी। प्रसर (दिग्विजय) की यह तृष्णा केवल उसी की न थी। चाणक्य स्वयं साम्राज्यवादी था, पिछले संसार का संभवतः पहला साम्राज्यवादी। छोटे-छोटे राज्यों का वह प्रबल विरोधी था। वह एक सुविस्तृत साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। फिर चन्द्रगुप्त ने स्वयं देखा था कि पंजाब में सिकन्दर की विजय का मुख्य कारण वहाँ छोटी-छोटी रियासतों का होना था। छोटी-छोटी रियासतें प्रायः

परस्पर लड़ा करती हैं। पंजाब में ग्रीक-विजेता का स्वागत करने में तक्षशिला-नरेश अम्भी विशेष सयत्न इसलिए नहीं हुआ था, कि वह कायर था बल्कि इस कारण कि वह पुरु का दुर्द्धर्ष शत्रु था। दूसरी बात यह थी कि स्वयं चन्द्रगुप्त क्रियाशील और महात्वाकांक्षी था। जिस राज्य को उसने अपने सिंह-पराक्रम से अर्जित किया था, उसको विस्तृत करना उसके स्वभाव की बात थी। फिर उसके शत्रु भी कम न थे। 'मुद्राराक्षस' से विदित होता है कि नन्द का विध्वंस हो जाने के बाद भी राक्षस नामक उसका मंत्री चन्द्रगुप्त के विरुद्ध षड्यन्त्र करता रहा। संभव है कि राक्षस नामक व्यक्ति ऐतिहासिक न हो, परन्तु उस कथा से कुछ काल बाद तक संघर्ष होते रहने की बात तो सिद्ध हो ही जाती है। मेगास्थनीज का तो कहना है कि चन्द्रगुप्त का जीवन सदा संकटमय बना रहता था और इस कारण नित्य रात में वह कमरा बदल-बदलकर सोता था। उन शत्रुओं का दमन नितान्त आवश्यक था और वह शक्ति और कोष की वृद्धि से ही संभव था और स्वयं कोष प्रांतों की विजय से ही आसानी से भर सकता था। तीसरी बात यह थी कि चन्द्रगुप्त अपने सहज वैरी विदेशी ग्रीकों को सन्निकट नहीं रहने देना चाहता था। उनका विक्रम उससे छिपा न था। उसने अपनी आँखों देखा था। इसलिए वह शीघ्र उनका दमन करने निकल पड़ा। पहले उसने पंजाब से ग्रीक-विजय के रहे-सहे सारे चिह्न मिटा दिये। भारतीय पराभव के स्मारक न उसे सह्य हो सकते थे और न उसके गुरु चाणक्य को ही।

ग्रीक-विजय के चिह्नों से छुट्टी पाकर वह भारत के दूसरे प्रांतों की ओर फिरा। उस विजय के विस्तार के विषय में हमारे पास प्रचुर प्रमाण नहीं हैं। परन्तु जो कुछ हैं, वे विदेशी होने के कारण संभाव्य अधिक हैं। ग्रीक इतिहासकार प्लूटार्च और जस्टिन का कहना है कि चन्द्रगुप्त ने सारे भारत को रौंद डाला। इसमें कुछ अत्युक्ति अवश्य है, परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि मगध और पंजाब के अतिरिक्त भारत के अन्य दूर-दूर के प्रांत भी चन्द्रगुप्त के शासन में थे। पश्चात्काल के शक राजा रुद्रदामा के जूनागढ़वाले लेख से स्पष्ट है कि सौराष्ट्र उसके राज्य में था जहाँ के चन्द्रगुप्त द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र शासक (राष्ट्रीय) पुष्यगुप्त वैश्य और उसके 'वार्ता' (सिंचाई) संबंधी प्रबंध का उसमें उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त सुदूर दक्षिण भी चन्द्रगुप्त के संपर्क में किसी-न-किसी रूप में आया—इसका प्रमाण तामिल लेखों में भी मिलता है। तामिल देश के दो लेखक, मामुलनार और परणर, तो सुदूर दक्षिण पर मौर्य-आक्रमण की बात भी लिखते हैं। उनके अनुसार यह आक्रमण तिन्नेवल्ली जिले की पोदियिल पहाड़ी तक पहुँच गया था। जैन अनुश्रुति के अनुसार तो चन्द्रगुप्त जैन होकर दक्षिण ही चला गया था। इस अनुश्रुति के अतिरिक्त पश्चात्कालीन कतिपय लेख भी उत्तरी मैसूर से उसका संबंध स्थापित करते हैं। इससे जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत के एक विस्तृत भाग को जीतकर उस पर शासन किया था।

सिकन्दर निर्वंश मरा। उत्तराधिकारी न होने से जो विस्तृत साम्राज्य की दशा होती है वही मकदूनिया के उस विजेता के साम्राज्य की हुई। उसका साम्राज्य टूक-टूक हो गया। उसके सेनापतियों ने उसे बाँट लिया। फिर उनका पारस्परिक संघर्ष भी अनिवार्य था।

उस संघर्ष में सिल्यूकस नामक सेनापति सफल हुआ। ग्रीक लोग सिकन्दर द्वारा जीती भूमि पर अपना उत्तराधिकार समझते थे। सिल्यूकस का भी कुछ ऐसा ही विचार था। ई० पू० ३०५ तक उसने पश्चिमी एशिया पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया और अब उसने अपने उस पूर्वी उत्तराधिकार की ओर दृष्टि फेरी। ई० पू० ३२१ में त्रिपरदिसस् में साम्राज्य का जो दूसरा विभाजन हुआ, उसमें भारत छोड़ दिया गया था। शायद इस कारण कि पंजाब से ग्रीकों के निष्काशन के समय से वह अब उस साम्राज्य का भाग नहीं समझा जाता था। सिल्यूकस ने उस विजित भाग को फिर से जीतना चाहा। परन्तु तब का

सिल्यूकस की पराजय और सन्धि

भारत सिल्यूकस के देखे भारत से सर्वथा भिन्न था। पंजाब में सिकन्दर के समकालीन क्षुद्र राष्ट्रों की सत्ता अब नष्ट हो चुकी थी। एक राजशक्ति ने भारत पर एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया था जिसकी रक्षा में चाणक्य-से अप्रतिम नीतिज्ञ की मेधा सतत-जागरूक रहती थी। दोनों अपनी-अपनी कक्षा में असाधारण थे और दोनों सयत्न थे। राजन्य का शस्त्र चन्द्रगुप्त के कर में था। ब्राह्मण की मेधा सजग थी। फिर ग्रीकों की अद्भुत समर-शैली, जिसका पूर्व भारतीय पराभव में अधिक हाथ था, चन्द्रगुप्त की अनजानी न थी। इसलिये जो युद्ध हुआ, उसमें सिल्यूकस की पराजय हुई और निस्सन्देह वह पराजय सिल्यूकस को इतनी बुरी पड़ी कि चन्द्रगुप्त ने सन्धि में मनमानी शर्तें रखीं। इसी समय सिल्यूकस को अपने शत्रु अन्तिगोनस से लड़ने के लिये फिर पश्चिम की ओर जाना था, इससे उसे चन्द्रगुप्त की सारी शर्तें मंजूर करनी पड़ीं। उन शर्तों के अनुसार चन्द्रगुप्त को सिल्यूकस ने अपने राज्य के चार प्रान्त दिये। वे थे—एरिया (हिरात), एराकोशिया (कन्दहार), परोपनिसदि (परोपनिषद—काबुल की घाटी) और गेड्रोसिय (बलूचिस्तान)। चन्द्रगुप्त स्वयं उदारचेता था। उसने भी अपने प्रतिद्वन्द्वी को ५०० हाथी भेंट किये। इन हाथियों का सिल्यूकस ने अपने शत्रु अन्तिगोनस के विरुद्ध ई० पू० ३०१ में इप्सस के मैदान में समुचित प्रयोग किया। सन्धि की शर्तों के अनुसार सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को एक ग्रीक राजकुमारी ब्याह दी, जो संभवतः उसकी पुत्री थी। इसके अतिरिक्त उसने मेगस्थनीज नाम का एक ग्रीक राजदूत भी चन्द्रगुप्त के दरबार में रख दिया। इस समय भारतवर्ष की राजनीतिक सीमा हिन्दूकुश तक पहुँच गयी।

चन्द्रगुप्त का शासन

मेगस्थनीज और कौटिल्य ने जो लिखा है, उसका तत्कालीन भारतीय राजनीतिक परिस्थिति पर बड़ा प्रकाश पड़ा है। उसे पढ़कर चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय संगठन का समुचित ज्ञान होता है। मेगस्थनीज ने इस संबंध में जो पुस्तक लिखी, उसका नाम था 'इंडिका'।

मेगस्थनीज और कौटिल्य

अब इंडिका उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसके बहुत-से अंश अनेक ग्रीक और रोमन लेखकों ने अपने ग्रंथों में उद्धृत करके उसकी रक्षा की है। कौटिल्य, जिसका दूसरा नाम चाणक्य था, चन्द्रगुप्त का मंत्री था। उसका 'अर्थशास्त्र' राजनीति-संबंधी एक अपूर्व ग्रंथ है और भारतीय साहित्य में उसका अपना स्थान है। कुछ लोगों ने इस ग्रंथ के चन्द्रगुप्तकालीन होने में संदेह किया है; परन्तु सन्देह अकारण

है और इसकी रचना ई० पू० चौथी शताब्दी में ही मानना युक्तिसंगत जँचता है। मेगस्थनीज और कौटिल्य के आधार पर चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय संगठन का नीचे वर्णन किया जाता है।

चन्द्रगुप्त को नन्दों के साम्राज्य के साथ-साथ एक बड़ी सेना भी मिली थी। नन्दों की सेना इतनी बड़ी थी कि उसके संबंध में किंवदन्तियाँ सुनकर ही पंजाब में सिकन्दर की सेना के पाँव उखड़ गये थे। चन्द्रगुप्त ने नन्दों की उस सेना को और भी बढ़ाया। मगध-साम्राज्य की सीमा अब हिन्दूकुश से टकराती थी। इसलिये उसकी रक्षा के लिये उसी परिमाण में सेना की भी आवश्यकता थी। उस परिमाण के विचार से ही चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना संगठित की। उसके आँकड़े इस प्रकार थे—

सैन्य-संगठन

पदाति सेना ६००,०००, अश्व ३०,०००, गज ९,००० और रथ ८,०००। इस विशाल सेना के प्रबन्ध के लिये युद्ध का एक स्वतंत्र विभाग था। इसके तीस सदस्य थे, जो छः-छः की पाँच समितियों में विभक्त थे। ये समितियाँ और उनके प्रबंध के अधिकरण निम्नलिखित थे—

समिति सं० १	नौ सेना,
समिति सं० २	सैन्य-साधन प्रस्तुत करनेवाला अधिकरण,
समिति सं० ३	पदाति,
समिति सं० ४	अश्व,
समिति सं० ५	रथ,
समिति सं० ६	गज।

अन्त की चार सेनाएँ महाभारत आदि ग्रंथों और भारतीय साहित्य में 'पत्ति' या 'पदाति', 'हयदल', 'रथदल' और 'हस्तिदल' अथवा 'गजदल' के नाम से प्रायः व्यवहृत हुई हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार इनमें से प्रत्येक संघ एक स्वतंत्र अध्यक्ष के अनुशासन में था। एक बार संगठित और व्यूह-बद्ध हो जाने पर इस वाहिनी की प्रगति रोकनी शत्रुदल के लिये कठिन हो जाती। इस कथन की सत्यता मध्य-एशिया, ग्रीस और मकदूनिया के दुर्द्धर्ष सैनिकों के नेता सिल्यूकस के पराभव से प्रमाणित है।

साम्राज्य का केंद्र और प्रधान राजा या सम्राट् था। सेना, न्याय, व्यवहार आदि के अधिकरणों और उनके कार्यों में सर्वत्र उसका निर्णय अन्तिम समझा जाता था। युद्ध के अवसर पर वह स्वयं अपनी सेनाओं का नेतृत्व करता और युद्ध-नीति की व्यावहारिकता, प्रहार और संरक्षण की नीति पर सेनापति से मंत्रणा करता था। प्रजा के व्यावहारिक (कानूनी) आवेदनपत्रों पर समुचित विचार कर अपने निर्णय से वह औचित्य की व्यवस्था करता था। मेगस्थनीज कहता है कि सम्राट् जिस समय दरबार में आबनूसी बेलनों से अपने बदन की मालिश कराता होता उस समय भी उसकी प्रजा उससे मिल सकती थी। इस प्रसंग की कौटिल्य ने भी अपने ग्रंथ में पुष्टि की है। वह कहता है कि राजा को अपने द्वार पर कभी वादी-प्रतिवादियों को न्याय की प्रतीक्षा में खड़ा रखना उचित नहीं। उसे अविलंब उनका

साम्राज्य-शासन

राजा या सम्राट्

आवेदन सुनना और उनपर अपना निर्णय देना चाहिये।[1] साम्राज्य के उच्चस्थ पदाधिकारियों की नियुक्ति सम्राट् स्वयं करता था। फिर वह साम्राज्य के आय-व्यय का निरीक्षण करता, दूतों के साथ परराष्ट्रनीति पर परामर्श करता और चरों द्वारा भेदों का संग्रह करता था। प्रजा के आचरण के लिए समय-समय पर वह 'शासन' भी घोषित करता था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार राजा नए कानून (विधान, व्यवहार) का निर्माण कर सकता था।[2] परन्तु गौतम, आपस्तम्ब और बौधायन आदि सूत्रकार राजा को व्यवहार का उद्गम नहीं मानते। मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि यदि राजा प्रचलित विधान का उल्लंघन करे तो वह भी साधारण प्रजा की भाँति दण्डनीय है।[3]

मंत्रि-परिषत् और विविध विभागों के अध्यक्ष

राजा सर्वथा स्वेच्छाचारी नहीं था और शासन-कार्य में वह अपने मंत्रियों से सहायता लेता था। इन मंत्रियों का एक मण्डल था जिसे 'मंत्रि-परिषत्' कहते थे। इस मंत्रि-परिषत् की व्यवहार-कुशलता और कर्तव्यपरायणता स्तुत्य थी। साम्राज्य के विविध अधिकरण अनेक उच्चपदस्थ राजपुरुष—अमात्य, महामात्य, अध्यक्ष आदि—के प्रबंध में थे। कौटिल्य ने अठारह 'तीर्थों' अर्थात् विभागों का उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं—१ मंत्री, २ पुरोहित, ३ सेनापति, ४ युवराज, ५ दौवारिक (द्वारों का रक्षक), ६ अन्तर्वंशिक (अन्तर्वंशिक—अन्तःपुर का अध्यक्ष), ७ प्रशास्तृ (कारागारों का अध्यक्ष), ८ समाहर्ता (आय-संग्रहकर्ता), ९ सन्निधाता (कोषाध्यक्ष), १० प्रदेष्टा (कमिश्नर), ११ नायक (नागरिक—नगर-रक्षक), १२ पौर (राजधानी का कोतवाल), १३, व्यावहारिक (प्रमुख जज), १४ कर्मान्तिक (आकर और कारखानों का अध्यक्ष), १५ मंत्रिपरिषदाध्यक्ष, १६ दण्डपाल (पुलिस का प्रधान), १७ दुर्गपाल और १८ अन्तपाल (अन्तों या सीमाओं का रक्षक)। इनके अतिरिक्त अनेक विभागों के स्वामी थे, जो 'अध्यक्ष' कहलाते थे। उनमें से अधिकतर निम्नलिखित थे—कोषाध्यक्ष, आकराध्यक्ष, लौहाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष (टकसाल का अफसर), लवणाध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष, कोष्टागाराध्यक्ष, पण्याध्यक्ष (राजकीय व्यवसाय का अध्यक्ष), कुप्याध्यक्ष (वनजन्य आय का प्रबंधक), आयुधाध्यक्ष (हथियारों का रक्षक), पौतवाध्यक्ष (तुल-बाट आदि का निरीक्षक), मानाध्यक्ष (समय और स्थान का निर्णायक), शुल्काध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष (सूत और बुनने का निरीक्षक), सीताध्यक्ष (राजकीय कृषि का प्रबंधक), सुराध्यक्ष (आबकारी का अफसर), सूनाध्यक्ष (कसाईखाने का अफसर), मुद्राध्यक्ष (पासपोर्ट का अफसर), विवीताध्यक्ष (चरागाहों का स्वामी), द्यूताध्यक्ष (जुए का निरीक्षक), बन्धनागाराध्यक्ष, गवाध्यक्ष (पशुनिरीक्षक), नवाध्यक्ष (नौकाओं और जहाजों का अफसर), पत्तनाध्यक्ष (बन्दरगाहों का निरीक्षक), गणिकाध्यक्ष, पदाति, अश्व, रथ और गज सेनाओं के विविध अध्यक्ष, संस्थाध्यक्ष (व्यापार का प्रबंधक) और देवताध्यक्ष (धार्मिक संस्थाओं का प्रबंधक)। इनमें जो विभाग मंत्रिपरिषत् के विभागों के पर्याय

---

१ अर्थशास्त्र, १, १९। २ वही, ३, १। ३ मनुस्मृति, ८, ३३६।

या समानान्तर संज्ञावाले हैं, उनके अध्यक्षों को उन-उन विभागों के प्रमुख अधिकारियों के संरक्षण में समझना चाहिये।

साम्राज्य शासन की सुविधा के लिये अनेक प्रांतों में बँटा हुआ था—अशोक के लेखों से ऐसा विदित होता है। केन्द्रीय और राजधानी के निकट के प्रांत तो स्वयं सम्राट् की

प्रांतीय शासन

देख-रेख में शासित होते थे, परन्तु दूरस्थ प्रांतों के शासक 'कुमार' अथवा राजकुल के व्यक्ति होते थे। अशोक के राज्य-काल में दूरस्थ प्रांतों के शासन-केन्द्र तक्षशिला, तोशलि (धौली), सुवर्णगिरि और उज्जैन थे, जहाँ सम्राट् के प्रतिनिधि कुमार उसके वायसराय की हैसियत से राजप्रबंध करते थे। इनके अतिरिक्त अनेक सामन्त भी थे, जो सम्राट् को अपना अधिराज मानते और आवश्यकता पड़ने पर अपनी सेना से उसकी सहायता करते थे। नौकरशाही शासनतंत्र का संचालन करती थी। पर वह सर्वथा स्वतंत्र न थी। उसके नियंत्रण के लिये चरों द्वारा उनके कार्यक्रम का छिपा-ढका ब्योरा लिया जाता था। दूरस्थ प्रांतों के शासन में अधिकारियों की मनमानी से प्रजावर्ग की रक्षा इस चर-विभाग द्वारा भरपूर हो सकती होगी। यह विभाग साम्राज्य की खबरों से सम्राट् को सदा अवगत रखता था। कौटिल्य ने इस विभाग का विशद् वर्णन किया है।

मेगस्थनीज ने नगर-शासन का सविस्तार वर्णन किया है। वह भाग अब भी 'इंडिका' के उद्धरणों में ग्रीक और रोमन इतिहासकारों द्वारा जहाँ-तहाँ सुरक्षित है। यद्यपि वह वर्णन

नगर-शासन

केवल पाटलिपुत्र के शासन से संबंध रखता है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि साधारणतया अन्य नगर भी उसी की भाँति शासित होते रहे होंगे। मेगस्थनीज के लिखे अनुसार नगर के प्रबंध के लिये छः समितियों का एक परिवार होता था और प्रत्येक समिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन समितियों के अधिकार इस प्रकार थे—

पहली, शिल्प-कला-समिति—यह औद्योगिक कलाओं की रेख देख करती थी। उद्योग-सामग्री में किसी प्रकार का धोखा न हो और माल के बनाने में अच्छी सामग्री का उपयोग किया जाय—इसका प्रबंध यह समिति करती थी। साथ ही यही कलाकारों, मिस्त्रियों और अन्य श्रमिकों के पारिश्रमिक भी नियत करती थी। कलावन्त को क्षति पहुँचाना बड़ा गर्हित अपराध समझा जाता था। क्षति पहुँचाकर उसे अपाहिज या बेकार कर देनेवाले को सरकार प्राणदण्ड देती थी।

दूसरी, वैदेशिक समिति—यह विदेशियों की जरूरतें और उनके आवागमन की देख-रेख रखती थी। सरकार की ओर से उनको ठहराने की सुविधा और बीमारी में औषधि दी जाती थी। इस देश में उनके मर जाने पर उनके शरीर की अन्त्येष्टि क्रिया की जाती थी और जो कुछ उनके पास धन होता, वह उनके वारिसों को दे दिया जाता। इससे पता चलता है कि पाटलिपुत्र और अन्य नगरों में विदेशियों की प्रचुर संख्या थी और वहाँ उनका आना-जाना सदा लगा रहता था।

तीसरी, जन-संख्या-समिति—यह जन्म और मरण की रजिस्ट्री करती थी। इससे जनगणना आसानी से हो जाती और सरकार को कर लगाने की सुविधा होती थी।

चौथी, वाणिज्य-व्यवसाय-समिति—इसका संबंध व्यापार से था। वस्तुओं के विक्रय का प्रबंध तथा झूठे तौल और माप का नियंत्रण करना इसका काम था। एक वस्तु से अधिक में व्यवसाय करनेवाले व्यक्ति को उसी औसत से अधिक कर देना पड़ता था।

पाँचवीं, वस्तु-निरीक्षक-समिति—इसका काम था व्यवसायियों का नियंत्रण। औद्योगिक वस्तुओं को तैयार करनेवाले व्यवसायियों के लिये पुरानी और नई वस्तुओं को एक में मिलाना वर्जित था। ऐसा करनेवालों से सरकार जुर्माना लेती थी। उनके ऊपर यह समिति नजर रखती थी।

छठी, कर-समिति—यह समिति बिकी वस्तुओं पर कर वसूल करती थी। इस कर से बचने का प्रयत्न बड़ा जुर्म समझा जाता था। इसकी सजा प्राणदण्ड तक थी।

इस नगर-शासन का उल्लेख मेगस्थनीज ने किया है, पर इस रूप में इसका वर्णन कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में नहीं मिलता। दूसरे रूप में उस ग्रंथ के अनेक स्थलों पर उसका निर्देश है। अर्थशास्त्र के अनुसार नगर का शासक 'नागरक' अथवा 'नगराध्यक्ष' होता था और उसके नीचे 'स्थानिक' और 'गोप' होते थे। नगर की कुल-संख्या की चौथाई का शासक स्थानिक और छोटी संख्या का गोप होता था।

मेगस्थनीज का यह वर्णन वास्तव में साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र के संबंध में है। परन्तु यह नगर-शासन संभवतः सारे नगरों में समान था और इस संबंध में पाटलिपुत्र आदर्श-रूप में लिया जा सकता है। पाटलिपुत्र का उस ग्रीक राजदूत ने जो आँखों देखा

पाटलिपुत्र

वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—प्राच्यों (प्राशियन) के देश में स्थित 'पालिम्बोथ्रा' (पाटलिपुत्र) भारत का सबसे बड़ा नगर है। उसकी लंबाई साढ़े नौ मील (८० स्तदिया) और चौड़ाई पौने दो मील (१५ स्तदिया) है। यह शोण और गंगा के कोण में स्थित है। इसकी रक्षा छः सौ फुट (छ प्लेथ्रा) चौड़ी और तीस हाथ गहरी खाई करती है। इसके अतिरिक्त नगर की रक्षा के लिए विशाल प्राचीरोंवाली लकड़ी की एक दीवार खड़ी है। उसमें ५०० मीनारें और ६४ द्वार हैं।

जनपद-शासन का निम्नतम केन्द्र 'ग्राम' था। ग्राम का शासक 'ग्रामिक' होता था। 'ग्राम-वृद्धों' की सहायता से वह ग्राम का शासन करता था। पाँच अथवा दस ग्रामों का शासक 'गोप' कहलाता था। उसके ऊपर 'स्थानिक' का पद था, जो 'जनपद' के चौथाई

जनपद-शासन

भाग पर शासन करता था। साम्राज्य के महाविभागों के स्वामी 'प्रदेष्टि' और 'समाहर्ता' की देख-रेख में ऊपर लिखे पदाधिकारी कार्य करते थे।

चन्द्रगुप्त की दण्डनीति की कठोरता मेगस्थनीज और कौटिल्य दोनों के ग्रन्थों से जाहिर है। अपराधी साधारणतया शुल्क (जुरमाना) द्वारा दण्डित होते थे। इन जुरमानों के कई वर्ग थे। इनके अतिरिक्त कई दण्ड भयंकर भी थे। कलाकार को पंगु करने अथवा बिकी चीजों पर लगाए कर से बचने के प्रयत्न का दण्ड मृत्यु था। व्यभिचारी, चोर आदि

दण्ड-नीति

अंगभंग करके दण्डित होते थे। सुनार की दूकान में प्रवेशमात्र का दण्ड मृत्यु था। पर वास्तव में इस अपराध के किस अंश का अपराधी प्राणदण्ड पाता था, यह फिर भी अस्पष्ट है। सरकारी नौकर चोरी के छोटे अपराध के लिए

भी प्राणदण्ड से दण्डित होता था। अपराधियों को उनके अपराध स्वीकार कराने के लिए भी पुलिस-विभाग द्वारा अनेक कष्टकर साधन काम में लाए जाते थे। इन साधनों और स्वयं दण्डों की गुरुता के कारण अपराधों की संख्या निस्सन्देह कम रही होगी। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि दण्ड का विधान प्रायः अमानुषिक था।

सिंचाई

चन्द्रगुप्त के शासन ने खेतों की सिंचाई पर विशेष ध्यान दिया था। मेगस्थनीज लिखता है—"अनेक राजकर्मचारियों की नियुक्ति इसलिए हुई थी कि वे भूमि को मापें और उन प्रणालिकाओं की निगरानी करें जिनके जरिए नहर की अनेक शाखाओं का जल सिंचाई के लिए बाँटा जाता था। इससे प्रत्येक व्यक्ति लाभ का अपना भाग पा जाता था।" प्रजा की भलाई के लिए चन्द्रगुप्त ने दूरस्थ सौराष्ट्र के अपने प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त द्वारा एक पर्वती नदी के जल को बाँध से रोककर सुदर्शन नामक एक बड़े जलाशय का निर्माण कराया था। आनेवाली शताब्दियों में प्रजा को सुदर्शन से खेती में बड़ा लाभ हुआ।[1]

आय-व्यय

राष्ट्र की मुख्य आय भूमि-कर से थी। साधारणतया राजा का 'भाग' पैदावर का छठा हिस्सा होता था; परन्तु यह औसत देश देश के अनुसार बदलता रहता था। भूमिकर के अतिरिक्त आय के उद्गम और भी थे, जैसे आकर (खानें), वन-सीमाओं पर विक्रय की वस्तुओं पर लगनेवाले कर, घाटों पर लगनेवाले कर (खेवा), आचार्यों द्वारा राज्य को दिया हुआ शुल्क, अन्य कर और शुल्क, दण्ड-शुल्क आदि। करों के संग्रह करनेवाले अधिकरण का अध्यक्ष 'समाहर्ता' कहलाता था।

आय अधिकतर राजा की आवश्यकताओं, दरबार के ऐश्वर्य, सेना की जरूरतों, राष्ट्र के रक्षण, पदाधिकारियों के वेतन और कलाकारों के पारिश्रमिक आदि पर व्यय होती थी। इनके अतिरिक्त दान, धार्मिक प्रबन्ध, सार्वजनिक संस्थाओं और सड़कों, सिंचन कर्म और निर्माण-कर्मादि पर भी प्रचुर धन का व्यय होता था।

राजप्रासाद

शक्तिशाली चन्द्रगुप्त ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करता था। उसने अपने निवास के लिए एक विशाल प्रासाद का निर्माण कराया था। वह प्रासाद एक सुविस्तृत उद्यान के बीच खड़ा था। उसके स्तंभ सुनहरे थे और उद्यान कृत्रिम मत्स्य-ह्रद तथा निभृत कुञ्ज थे। उसकी विस्मयजनक विभूति के सामने शूषा और एकबताना के ईरानी राजमहलों का सौन्दर्य भी फीका पड़ जाता था। प्रायः काष्ठ का बना होने के कारण प्रकृति के संहारक कारणों से स्वयं वह प्रासाद तो नष्ट हो गया, परन्तु पटने के समीपस्थ गाँव कुम्रहार में उसके आधार के भग्नावशेष अब भी देखे जाते हैं। चन्द्रगुप्त के अवशिष्ट प्रासाद के हाल के सौ खंभों को डाक्टर स्पूनर ने ढूँढ़ निकाला था।

चन्द्रगुप्त प्रायः शरीर-रक्षकाओं के संरक्षण में रहता था। स्त्राबो[2] लिखता है कि

---

१ रुद्रदामा का जूनागढ़वाला शिलालेख। देखिए, Ep. Ind., ८, पृ० ४३, ४६, पंक्ति ८।

२ १५, ५५

ये नारियाँ माता-पिता से खरीद ली जाती थीं। कौटिल्य का विधान भी इसी प्रकार है। वह लिखता है कि प्रातःशय्या उठते समय धनुर्धारिणी नारियों के दल द्वारा राजा का स्वागत होना चाहिए।[१] यवनियों द्वारा राजा के रक्षित होने की प्रथा बाद तक भारत में प्रचलित रही। गुप्तकालीन कालिदास अपने शाकुन्तल[२] और विक्रमोर्वशीय[३] नामक नाटकों में रंगमंच पर 'शार्ङ्गहस्ता यवनी' का प्रवेश कराते हैं। कदाचित् चन्द्रगुप्त को सदा हत्यारे की छुरी का डर बना रहता था। इसी कारण संभवतः लगातार दो रातें वह एक ही कमरे में नहीं बिताता था। स्त्राबो का उल्लेख भी इसी आशय का है।[४] गुप्तकालीन सामंत विशाखदत्त द्वारा विरचित 'मुद्राराक्षस' नामक राजनीतिक नाटक में चन्द्रगुप्त की हत्यासंबंधी अनेक षड्यंत्रों का वर्णन मिलता है।[५] संभव है, स्त्राबो के लेख में अनुमान का समावेश अधिक हो, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि चूँकि उसने स्वयं एक राजा का हनन करके मगध का राज्य हरण किया था, मृत राज के मित्र और उसके शत्रुओं की संख्या कम न रही होगी। अपनी रक्षा का अनवरत प्रबन्ध भी कुछ इसी ओर संकेत करता है। प्रथमतः तो उसका दो रातें एक कमरे में न बिताना ही प्रचुर अर्थ रखता है, फिर खतरों से बचाव के लिए उसके और कितने ही विधान थे। इनमें से एक यह था कि आखेट के लिए बाहर जाते समय उसका मार्ग रस्सियों से घिरा होता था और उन रस्सियों को लाँघनेवाला प्राणदण्ड का भागी होता था। राजा चार अवसरों पर अपने प्रासाद से बाहर जाता था। एक तो युद्ध के लिए, दूसरे यज्ञानुष्ठान के अर्थ, तीसरे न्याय-विधान के लिये और चौथे आखेट के अर्थ। चन्द्रगुप्त अत्यन्त कर्तव्य-परायण था और आबनूस के रोलरों द्वारा शरीर की मालिश कराते समय भी वह वादी-प्रतिवादियों के आवेदन-प्रतिवेदन सुनता था। सार्वजनिक अवसरों पर सुनहरी पालकी पर बैठकर वह बाहर निकलता था। तब वह कारचोबी के देदीप्यमान वस्त्रों से विभूषित होता था। प्रासाद के बाहर, विशेषकर दूर की यात्राओं में, वह घोड़े और हाथी की सवारी करता था। चन्द्रगुप्त को खेलों का भी व्यसन था। भेड़ों, साँड़ों, गजों और गैंडों की लड़ाई वह बड़े शौक से देखता था। उसके समय में बैल और घोड़ों की मिश्रित दौड़ भी होती थी जिसपर उसके सभासद और तत्कालीन श्रीमान् बड़े उत्साह से बाजी लगाते थे।

चन्द्रगुप्त का व्यक्तिगत जीवन

मेगस्थनीज़ ने भारतीय जातियों के संबंध में भी कुछ वक्तव्य दिये हैं, परन्तु इस संबंध में उसके उल्लेख प्रायः भ्रमपूर्ण हैं। भारतीय समाज के उसने सात भाग किये हैं और उनको उसने 'जातियाँ' या 'वर्ग' कहा है। उसका कहना है कि इन सातों में 'दार्शनिकों' का स्तर विशिष्ट था। यद्यपि इस वर्ग की संख्या अल्प थी, पर इसके प्रति लोगों की श्रद्धा विशेष थी। स्पष्टतया इस वर्ग से मेगस्थनीज का तात्पर्य ब्राह्मणों और परिव्राजकों से था। दूसरा वर्ग कृषकों का था। कृषक देश की जनता में सबसे अधिक

भारतीय जातियाँ

---

१ अर्थशास्त्र, १, २१ २ अंक छ, पृ० २२४.
३ अंक ५, पृ० १२३. ४ १५, ५५. ५ अंक २.

संख्या में थे। तीसरा वर्ग आखेटकों और पशुपालकों का था। चौथे वर्ग में व्यवसायी, कलाकार, नाविक आदि थे। पाँचवें वर्ग में सैनिक थे जिनसे तात्पर्य शायद क्षत्रियों से था। छठा वर्ग रहस्यभेदी चरों आदि का था और सातवाँ राजमंत्रियों का। इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि इस यवन-दूत का सामाजिक पर्यवेक्षण विशेष महत्त्व का नहीं। उसके अन्तिम दो वर्ग तो किसी देश के सामाजिक स्तर नहीं हो सकते, अन्य शेष भी उसी प्रकार निरर्थक हैं।

चन्द्रगुप्त का अन्त

जैन-अनुवृत्त के अनुसार चन्द्रगुप्त जैन था और अपने राज्यकाल के अन्तिम दिनों में मगध में घोर अकाल पड़ने के कारण जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ वह दक्षिण में मैसूर की ओर चला गया।[1] उस जैन ख्यात का यह भी कहना है कि चन्द्रगुप्त ने जैनाचार के अनुसार उपवास करके अपने शरीर का अन्त किया था। इन अनुश्रुतियों के संबंध में कुछ निश्चित राय प्रकट करना तो कठिन है, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि मध्यकालीन कुछ शिलालेख भी चन्द्रगुप्त का संबंध मैसूर से स्थापित करते हैं।[2] कुछ आश्चर्य नहीं कि युद्धबहुल जीवन की संध्या में चन्द्रगुप्त ने विरक्ति की दीक्षा ली हो और जैनमत के प्रभाव में आकर तप करने के अर्थ उसने राजगद्दी पुत्र को दे दी हो। निस्संदेह उसका विराग उसके कर्मठ मंत्री ब्राह्मण चाणक्य को बड़ा अखरा होगा।

२ बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार मगध की राजगद्दी पर बैठा। ग्रीक इतिहासकार उसे अनेक नामों से पुकारते हैं, जो संभवतः संस्कृत 'अमित्रघात' के रूपान्तर हैं।

विद्रोह

बिन्दुसार के राज्यकाल में शायद काफी उपद्रव हुए। तक्षशिला में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। वहाँ का शासक बिन्दुसार का पुत्र सुषीम वह विद्रोह शान्त न कर सका। उसका दूसरा पुत्र अशोक तब उज्जयिनी का शासक था। तक्षशिला-विद्रोह जब दिनोंदिन बढ़ता गया तब बिन्दुसार ने अशोक को वहाँ भेजा। अशोक ने विद्रोह दबा दिया। देश के ऊपर कुमार की शक्ति और योग्यता का दबदबा हो गया।

वैदेशिक संबंध

यद्यपि बिन्दुसार के संबंध में हमारा ज्ञान प्रमाणों के अभाव में अत्यंत अल्प है, फिर भी एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। वह यह है कि उसने यूनानी राजाओं के साथ अपना वह राजनीतिक संबंध बनाये रखा जिसका आरंभ उसके महान् पिता ने किया था। ग्रीक इतिहासकारों में से कतिपय ने बिन्दुसार और अन्तिओक प्रथम सोतर के बीच का एक मनोरंजक पत्र-विनिमय सुरक्षित रखा है। उससे विदित होता है कि बिन्दुसार ने अपने ग्रीक मित्र से 'मधुर मदिरा, अंजीर और एक दार्शनिक' माँगा था। अन्तिओक ने पहली दो वस्तुएँ भेजते हुए उत्तर दिया—"मुझे इन्हें भेजने से तो बड़ी प्रसन्नता होती है, परन्तु अभाग्यवश आपकी तीसरी इच्छा पूरी

---

१ Indian Antiquary, १८९२, पृ० १५७, Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४१।

२ लेविसराइस : Epigraphia Carnatica, खण्ड १, पृ० ३४।

न कर सकूँगा ; क्योंकि देश का कानून दार्शनिक भेजने के विरुद्ध है।" उसी सीरियक राजा ने देईमैकस नाम का अपना राजदूत भी बिन्दुसार के दरबार में भेजा था।

दक्षिण का विजेता

इस स्थान पर एक समस्या उपस्थित होती है। प्रश्न यह है कि अशोक के साम्राज्य में जो दक्षिणापथ का इतना विस्तृत देश आ गया था, उसकी विजय किसने की—बिन्दुसार अथवा चन्द्रगुप्त ने ? अशोक उसका विजेता तो हो नहीं सकता, क्योंकि अपने जीवन में उसने बस कलिंग भर की विजय की जिसका उल्लेख स्वयं उसने अपने शिला-लेख में किया है। उसके बाद ही उसे सद्ज्ञान हो गया था और उसने शीघ्र सद्धर्म (बौद्धधर्म) का उपासक बनकर 'धर्म-विजय' करनी आरंभ कर दी थी। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ का कथन है कि बिन्दुसार ने "पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच की सारी भूमि का अपने को स्वामी बना लिया।" [१] इस वक्तव्य को स्वीकार करते हुए कुछ विद्वानों ने यह मत स्थिर किया है कि बिन्दुसार ने ही दक्षिणापथ विजय की, विशेषकर इसलिए कि उसका विरुद—अमित्रघात (शत्रुओं का बध करनेवाला)—उसके रक्तमय जीवन की ओर संकेत करता है। परन्तु कुछ कारण नहीं कि (यदि वही दक्षिण-विजेता है तो) इतने बड़े विजेता के संबंध में हमारे पास उसके उत्कर्ष की अन्य कोई सामग्री उपलब्ध न हो। बिन्दुसार के संबंध में हमारी ऐतिहासिक सामग्री यथार्थ अत्यन्त स्वल्प है। इसके विपरीत चन्द्रगुप्त का चरित ओजस्वी और विस्मयकारक है। फिर जैनानुश्रुतियों के अनुसार जो उसका संपर्क मैसूर आदि के दाक्षिणात्य प्रांतों से स्थापित हो जाता है, उससे भी उसे ही दक्षिणापथ का विजेता मानने में सुविधा होती है। अतएव चन्द्रगुप्त को ही इस विजय का श्रेय देना युक्तिसंगत जँचता है।

इस परिच्छेद के लिये साहित्य

१. राय चौधरी : Political History of Ancient India
२. स्मिथ : Early History of India
३. त्रिपाठी : History of Ancient India
४. भार्गव : chandragupta Maurya

---

१ तारानाथ के अनुसार चाणक (चाणक्य) ने कुछ काल तक बिन्दुसार का भी मंत्रित्व किया था (Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४३)। इसके बाद 'दिव्यावदान' (पृ० ३७२) में उल्लिखित खल्लाटक उसका प्रधान सचिव हुआ।



ग्यारहवाँ परिच्छेद

अशोक मौर्य

अशोक संसार के सबसे महान् राजाओं में से एक है। साम्राज्य के विस्तार, शासन की व्यवस्था, प्रजावत्सलता, धर्म की संरक्षता, हृदय की उदारता, शिल्प-कला के संवर्द्धन आदि के विचार से मानव इतिहास में यह सम्राट् बेजोड़ है। निस्सन्देह साम्राज्य का विस्तार अनेक अन्य राजाओं का उसके साम्राज्य से अधिक रहा है; शासन-व्यवस्था भी अनेक राजाओं ने संभवतः उससे अधिक लगन के साथ किया है; शिल्प-कला के संवर्द्धन से भी शायद कुछ राजाओं ने उससे अधिक यश कमाया है। परन्तु, इन सारे गुणों का एकत्रीकरण प्रकृति ने केवल अशोक में ही किया। प्रजावत्सलता और अहंकाररहित हृदय की उदारता तथा कृपालुता में संसार के राजाओं में वह नितान्त अकेला है। भारतीय इतिहास-गगन का तो निस्सन्देह वह सर्वथा अनिन्द्य और सबसे अधिक देदीप्यमान नक्षत्र है।

अशोक के इतिहास पर पुराणों और ग्रंथों से भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है; परन्तु स्वयं उसके अभिलेखों से जो ऐतिहासिक उपकरण प्रस्तुत होते हैं वे प्रामाणिकता में अद्वितीय हैं। यदि उसके उत्कीर्ण लेख आज शोधकर हमारे सामने होते तो उसके आदर्शों और उसकी कीर्ति का हमें गुमान भी न होता और न हम उसके चरित्र के संबंध में ही वह कह सकते जो हमने ऊपर कहा है। बौद्ध गाथाओं के एकतर्फा होने के कारण उनपर पूरा-पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। इस कारण ऐतिहासिक इन अशोक द्वारा उत्कीर्ण शिलालेखों आदि को ही प्रामाणिक मानकर उनपर उसके इतिहास के लिए निर्भर करते हैं।

राज्यारोहण

बिन्दुसार के बाद उसका पुत्र अशोकवर्धन मगध की गद्दी पर बैठा। पुराणों के अनुसार बिन्दुसार ने २५ वर्ष राज किया। यदि २४ वर्ष राज करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त की मृत्यु लगभग ई० पू० २९७ में हुई तो २५ वर्ष राज कर लेने के बाद बिन्दुसार का सिंहासन भी लगभग ई० पू० २७२ में रिक्त हुआ होगा। संभवतः तभी अथवा कुछ वर्ष बाद ही अशोक चन्द्रगुप्त के समृद्ध राज्य का स्वामी हुआ होगा। 'कुछ वर्ष बाद' कहने का एक विशेष तात्पर्य है। जान पड़ता है कि अशोक अपने पिता के मरने के साथ ही गद्दी पर नहीं बैठा। उसके राज्यारोहण और राज्याभिषेक के बीच लगभग चार साल का अंतर है। अशोक पिता के मरने के साथ ही अभिषिक्त क्यों नहीं हुआ—यह एक महत्त्व का प्रश्न है। बौद्ध ग्रंथों में अशोक की उग्रता की अनेक कहानियाँ दी हुई हैं। सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार तो वह अपने सहोदर भाई तिष्य को छोड़ ९९ भाइयों को मारकर गद्दी पर बैठा। पहले तो १०० अथवा १०१ भाइयों का उल्लेख केवल परम्पराया है। अनेकता दर्शित करने के लिए भारतीय अनुश्रुतियों में अनेक बार इस संख्या का सहारा लिया गया है। दूसरे, शिलालेख ५ में भाइयों के अन्तःपुरों के प्रति अशोक का जो प्रेम दर्शित है उससे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उसके कई भाई तब तक जीवित थे। अतः बौद्ध विश्वास की यह ख्याति स्वीकार नहीं की जा सकती। परन्तु इसमें

सन्देह नहीं कि अशोक अपने भाइयों में सबसे जेठा न था। हमने ऊपर बिन्दुसार के शासन-काल में होनेवाले तक्षशिला के विद्रोह का हवाला दिया है। तक्षशिला का शासक तब अशोक का अग्रज सुषीम (अथवा सुमन) था। अशोक स्वयं उज्जयिनी का शासक था। जब सुषीम से वह विद्रोह न दब सका तब अशोक वहाँ भेजा गया और उसने उसे शान्त कर दिया। इस सुषीम का क्या हुआ? क्या वह पिता के जीवनकाल में ही मर गया? संभव है। परन्तु यदि वह अभी जीवित था तो बिना संघर्ष के मगध का साम्राज्य अशोक के हाथ आना संभव न था, यद्यपि पूर्वकाल में उस भाई के विरुद्ध वह अपनी योग्यता प्रतिष्ठित कर चुका था। कुछ ताज्जुब नहीं कि अशोक सुषीम को मारकर ही गद्दी पर बैठा हो और बौद्ध ग्रंथों ने इसे बढ़ा-चढ़ाकर लिख दिया हो। सुषीम के विरुद्ध कुछ काल तक संघर्ष हुआ, इसकी सत्यता एक तरह से इस बात से भी प्रमाणित हो जाती है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अशोक के राज्यारोहण और राज्याभिषेक में तीन-चार वर्षों का अंतर है। यदि बिन्दुसार का देहावसान ई० पू० २७३—७२ में हुआ तो अशोक का राज्याभिषेक संभवतः ई०पू० २६९—६८ में हुआ होगा।

अशोक का वंशागत साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था—पश्चिम में हिन्दूकुश से पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक, और उत्तर में हिमालय, काश्मीर और नैपाल से दक्षिण में मैसूर राज्य तक। यह महान् साम्राज्य उसके पितामह चन्द्रगुप्त के बाहुबल और चाणक्य की मेधा द्वारा अर्जित हुआ था। अशोक ने सिंहासनासीन होने पर राजाओं की परंपरा के अनुसार दिग्विजय की ठानी। जान पड़ता है कि कलिंग-विजय के पूर्व उसका स्वभाव भी कुछ उग्र था, यद्यपि उसकी उग्रता उस प्रकार की न रही होगी जैसी बौद्ध ग्रंथों ने बखानी है। अपनी विजय-

कलिंग-विजय

यात्रा उसने कलिंग के विरुद्ध की। यह महानदी और गोदावरी के बीच का पूर्व सागरतटवर्ती समृद्ध देश कभी स्वतंत्र था। ई० पू० चौथी शती में कभी नन्दराज (महापद्म) उसे जीतकर वहाँ से विजय-स्मारिका एक जैन तीर्थंकर-मूर्ति पाटलिपुत्र उठा लाए थे। बिन्दुसार के राज्य-काल में जब मौर्यकुल-लक्ष्मी जरा विचलित हुई और विद्रोह हुए, संभवतः तभी वह देश मगध-साम्राज्य से स्वतंत्र हो गया था। अशोक ने एक विशाल सेना के साथ कलिंग पर अपने अभिषेक के आठ वर्ष बाद आक्रमण किया। शिलालेख १३ से विदित होता है कि कलिंगवासियों ने वीरतापूर्वक उसका सामना किया। इस कारण यह युद्ध अत्यन्त रक्तरंजित हुआ। उसमें "डेढ़ लाख बन्दी कर लिए गए, एक लाख मारे गए, और उनसे कई गुना (उन रोगों और सामरिक परिस्थितियों से) मृत्यु के शिकार हुए" (जो सामान्यतः युद्ध के पश्चात् उपस्थित होती हैं)।[1] इस युद्ध की नृशंसता ने उसके हृदय पर इतना गहरा आघात किया कि उसने रक्तपात कभी न करने की शपथ ले ली। कलिंग-विजय के बाद उसकी आकांक्षाओं में अद्भुत परिवर्तन हुआ। इसके

---

१ कलिंग काफी प्रबल देश था। मेगस्थनीज की इण्डिका के अनुसार कलिंगराज के पास ६०००० पैदल, १००० घुड़सवार, और ७०० हस्तिसेना थी। कुछ आश्चर्य नहीं कि युद्ध भयानक हुआ हो और रक्तपात असंयत।

पश्चात् 'भेरीघोष' का स्थान 'धर्मघोष' ने और 'दिग्विजय' का 'धर्म-विजय' ने लिया। अशोक ने अपनी तलवार म्यान में कर ली। उसका उदार हृदय जन-कल्याण में लगा। कलिंग विश्व-कल्याण के प्रयत्नों के इतिहास में सबसे उन्नत स्मारक-स्तंभ है।

कलिंग-युद्ध के बाद अशोक ने प्रतिज्ञा की कि वह अब धर्म के अनुचरण, उसके प्रेम और उपदेश में अधिक दत्तचित्त होगा।[२] अशोक के धर्मानुचरण, धर्म-प्रेम और धर्मोपदेश क्या थे? जैसा हम नीचे देखेंगे, उसकी सहिष्णुता और उसके उपदेशों की सरलता तथा सर्वदेशीयता इतनी गहरी है कि उसे धर्मविशेष अथवा संप्रदायविशेष से जोड़ना अत्यन्त

अशोक का धर्म

अनुचित जान पड़ता है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने एक अरसे तक उसे सांप्रदायिक बौद्ध मानने से इनकार कर दिया था। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि अशोक बौद्ध था, यद्यपि उसकी महानता बौद्ध होने में इतनी न थी जितनी उसकी सहिष्णुता में थी। उसने सारे 'पाखण्डों' (संप्रदायों) के अनुयाइयों के प्रति अपने साम्राज्य में सर्वत्र बसने की इच्छा प्रगट की। आजीविकों, ब्राह्मणों, निर्ग्रंथों, श्रमणों आदि के प्रति उसने समान उदारता का व्यवहार किया और आजीविकों के लिए तो उसने बराबर के लिये दरीगृह ही खुदवा दिये। उसकी यह अभिलाषा थी कि चूँकि सभी संप्रदाय चित्त-शुद्धि और संयम का अभ्यास करते हैं, उनमें पारस्परिक सहिष्णुता होनी चाहिए। अशोक स्वयं बौद्ध था, परन्तु उसने कभी अपना व्यक्तिगत धर्म अपनी प्रजा पर जबर्दस्ती नहीं लादना चाहा। जिस धर्म का उसने उपदेश किया वह धर्म संप्रदायविशेष का न होकर उन सज्जनों का धर्म

अशोक के उपदेश

था, जो प्रत्येक संप्रदाय में हुआ करते हैं। उसके उपदेश सारे धर्मों के तत्व हैं, जिनके संबंध में दो रायें नहीं हो सकती। इनका निचोड़ उसके शिलालेख ७, स्तंभलेख २ और ७ में इस प्रकार गिनाये गये हैं—संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, दृढ़भक्तिता, शौच, साधुता, दया, दान, सत्य; माता-पिता, गुरु और बड़े-बूढ़ों के प्रति सुश्रूषा और श्रद्धा (अपचिति) तथा ब्राह्मणों, श्रमणों, बान्धवों, दुखियों आदि के प्रति दान और उचित आदर। इन उपदेशों में न तो कहीं बुद्ध के चार आर्य-सत्यों का नाम है, न उनके अष्टांगिक मार्ग का, न उनके निर्वाण का।

उसने जीवों के प्रति आदर, प्रेम और अहिंसा के भाव सब धार्मिक कृत्यों का सार माना और स्वयं अपनी रसोई में मांस वर्जित कर दिया। उसी चौके के लिए कभी हजारों की तादाद में मृग मारे जाते थे। धीरे-धीरे उसने अपने साम्राज्य से ही पशुवध उठा दिया। यज्ञार्थ पशुवध उसने वर्जित कर दिया। 'समाज', जिनमें मांस-भोजन नृत्य-गानादि होते थे, उसने बंद कर दिये। अनेक अनुचित रीतियाँ, जो कर्तव्य समझकर की जाती थी, बन्द करा दी गयीं और उसने 'धर्म-मंगल' की नींव डाली जिसका प्राण जीवन में सर्वत्र सदाचार था। उसके केवल एक वर्ष के इस धर्माचरण का यह फल हुआ कि 'जम्बूद्वीप में सर्वत्र लोग देवों के सामिप्य को प्राप्त हुए।' यह उसके अनेक मंगल-विधानों से ही संभव हो सका। आखेट और अन्य मनोरंजनों के लिए अनुष्ठित अपनी 'विहार यात्राओं' के स्थान पर उसने 'धर्म-

---

२ शिलालेख १३

यात्राओं' का संगठन किया जिनमें धर्म और दान का स्तुत्य आचरण कर वह स्वयं लोगों के सम्मुख आदर्श रख सके। इसी अर्थ उसने 'धर्मस्तम्भ' खड़े किये और 'धर्ममहामात्र' नियुक्त किये।

ऊपर कहा जा चुका है कि चूँकि अशोक ने शाश्वत, सरल, सार्वभौम और अ-सांप्रदायिक धर्म का उपदेश किया है, कुछ लोगों ने उसे बौद्धधर्मानुयायी स्वीकार करने में आपत्ति की है। परन्तु उसके आचरण और अभिलेखों के प्रमाण से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह बौद्ध था यद्यपि वह कभी प्रव्रजित होकर श्रमण नहीं बना। कुछ प्रमाण नीचे दिए जाते हैं—(१) बोधगया और लुंबिनी वन आदि बौद्ध तीर्थस्थानों का अशोक ने तीर्थाटन किया। ह्यु एनच्वांग तो कहता है कि सम्राट् एक बड़ी सेना के साथ तीर्थाटन को चला और उसने लुंबिनी वन, कपिलवस्तु, बोधगया, ऋषिपत्तन (सारनाथ), श्रावस्ती और कुशीनगर के दर्शन कर पुण्य कमाया। (२) उसने अपने साम्राज्य में पशुहनन बन्द करा दिया। (३) उसने करीब ८०००० स्तूप बनवाये। इस संख्या में अतिशयोक्ति हो सकती है, परन्तु इसका मन्तव्य स्पष्ट है। (४) मोग्गलिपुत्त तिस्स के सभापतित्व में उसने तीसरी बौद्ध संगीति (Buddhist Council) बुद्धोपदेशों के पाठ आदि शुद्ध कराने के लिए बुलायी (५) इस संगीति के अन्त में बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ उसने अनेक देशों को बौद्ध भिक्षु भेजे। (६) भाब्रू शिलालेख में बौद्ध त्रिरत्नों (बुद्ध, धर्म और संघ) में अपनी श्रद्धा घोषित कर वह भिक्षु-भिक्षुणियों और उपासक-उपासिकाओं के परायण और चिन्तन के लिये बौद्ध धर्मग्रंथों से कुछ पाठ निश्चित करता है। (७) फिर सारनाथ, कौशाम्बी और साँची के स्तंभलेखों, संघ के संरक्षक के रूप में वह 'संघ-विभेदकों' के लिए दण्ड घोषित करता है। बुद्धघोष का तो कहना है कि एक बार कुछ संघ-विभेदकों को अशोक ने श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से स्वयं बहिष्कृत कर दिया। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि अशोक बौद्ध था। फिर भी और धर्मों के प्रति वह पूर्णतया सहिष्णु था और उसने कभी अपने व्यक्तिगत विश्वास को स्वीकार करने के लिए अपनी प्रजा को बाध्य नहीं किया।

अशोक के बौद्ध होने में प्रमाण

अशोक ने लोकहित के अनेक कार्य किये। उसका प्रेम वास्तव में केवल मनुष्यों तक ही सीमित न था। समस्त प्राणियों के सुख के लिए उसने प्रयत्न किया। मनुष्य और पशु दोनों के लाभार्थ उसने सड़कों के दोनों ओर छायादार वृक्ष लगवाये, आम्रवाटिकाएँ लगवायीं। मार्ग में मील-मील भर की दूरी पर उसने जलाशय और कुएँ खुदवाये और पथिकों के आराम के लिए पांथशालाएँ (धर्मशालाएँ) बनवायीं। मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए उसने अलग-अलग अस्पताल खुलवाये। पशुओं की चिकित्सा की। अशोक ने जो व्यवस्था की, वह शायद चिकित्सा के इतिहास में पहली थी। उसका हृदय इतना आर्द्र था कि वह मनुष्य और पशु तक में अन्तर न डाल सका। वह इतना उदार था कि न केवल अपने साम्राज्य में वरन् अन्यत्र दूसरे पड़ोसी और दूर के स्वतंत्र यवन-राज्यों तक में उसने चिकित्सालय स्थापित किये। जहाँ औषधियाँ और उनको प्रस्तुत करनेवाली जड़ें या पौधे न थे, वहाँ वे अन्यत्र से लाकर रोपे

अशोक के परमार्थ कृत्य

गये। अपने 'विजित' (राज्य) से बाहर जहाँ-जहाँ उसने चिकित्सालय स्थापित किये उनके नाम उसने अपने शिलालेख २ और १३ में गिनाये हैं। वे दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—(१) सिंहल (ताम्रपर्णी, लंका) तक के दक्षिणी पड़ोसी—चोलों, पांड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों के देश; और (२) यवन राज्य—सीरिया का अन्तिओक द्वितीय महान् (ई० पू० २६१-४६), मिस्र का तुरमाय द्वितीय[१] (ई० पू० २८५-४७), मकदूनिया का अंतिकिन[२] (ई० पू० २७८-३९), साइरिन का मग (ई० पू० ३००-२५८), एपिरस का सिकन्दर (ई० पू० २७२-५८)—के देश। आर्तों, दरिद्रों और परिव्राजकों को वह समान रूप से दान देता था और अपने देवियों (रानियों) और कुमारों के दान के प्रबंध के लिए उसने उन राजपुरुषों को नियुक्त किया जिन्हें 'मुख' (मुख्य) कहते थे।

अपने उपदेशों के प्रचार के लिए अशोक ने धर्मस्तंभ खड़े किये और धर्म-लेख उत्कीर्ण कराये। उसी प्रकार बौद्ध धर्म के देश और विदेश में प्रचार के लिए उसने आश्चर्य-जनक प्रबंध किये। इस विषय में उसका सबसे स्तुत्य कार्य पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्ध-संगीति का अधिवेशन बुलाना था, क्योंकि इसी बैठक के बाद अनेक बौद्ध श्रमण प्रचारार्थ विदेशों में भेजे गये। बौद्धों में अनेक संप्रदाय हो चले थे जिनके आचार-विचारों में काफी अन्तर पड़ गया था। उनको यथोचित रूप देने के लिए संघ के संरक्षक की हैसियत से अशोक ने अपने अभिषेक के सत्रहवें वर्ष में यह संगीति बुलाई। राजगृह और वैशाली के अधिवेशनों के पश्चात् बौद्धों की यह तीसरी संगीति थी जिसका प्रधान मोग्गलिपुत्त तिस्स था। नौ मास के निरंतर वाद-विवाद के बाद स्थविरों के पक्ष में संगीति ने अपना निर्णय दिया। इस संगीति के अंत में धर्म के प्रचार के लिए अनेक बौद्ध भिक्षु मौर्य-साम्राज्य के भिन्न-भिन्न प्रांतों, सीमान्त देशों में बसनेवाली यवन, कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक-पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों, केरलपुत्र, सतियपुत्र, चोड़ और पाण्ड नामक दक्षिणात्य स्वाधीन राज्यों और सिंहल द्वीप में उसने बौद्ध आचार्यों को भेजा। उनमें से कुछ के नाम साँची के स्तूप पर उत्कीर्ण हैं। बौद्धाचार्य मध्यन्तिक कश्मीर और गान्धार को, मज्झिम हिमालय को, महारक्षित यवन देश (संभवतः बह्लीक) को, सोण और उत्तर सुवर्णभूमि (बर्मा) को, महाधर्मरक्षित महाराष्ट्र को, महादेव महिषमण्डल को और महेन्द्र लंका को गये। बाद में सम्राट् की पुत्री और महेन्द्र की भगिनी संघमित्रा ने बोध वृक्ष की शाखा लंका में ले जाकर लगायी। महेन्द्र और संघमित्रा दोनों भिक्षु-भिक्षुणी हो गए थे। इस प्रकार अशोक ने अपने साम्राज्य के साधन, अपनी निष्ठा और अपने परिवार तक को धर्म के प्रचार और लोकहित के अर्थ उत्सर्ग कर दिया।

तृतीय बौद्ध-संगीत

अशोक का नाम शिल्प और वस्तु-कलाओं से भी गहरा संबंध रखता है। अनुश्रुति के अनुसार उसने नैपाल में ललितपाटन और कश्मीर में श्रीनगर नामक शहर बसाये। उसने अपने पितामह के बनवाये पाटलिपुत्र के राजप्रासाद को बढ़ाया और उसे अधिक सुन्दर बनवाया। फाह्यान का कहना है कि उसके बनानेवाले देवदूत रहे होंगे। मनुष्य की शक्ति से

---

१ Ptolemy II Philadelphos. २ Antigonos Gonatos.

उस प्रासाद का निर्माण-असंभव था। उसने अनेक स्तूप, विहार और दरीगृह भी बनवाये। गया में बराबर नाम की जो गुफाएँ अशोक ने 'आजीविक' संन्यासियों के निवासार्थ बनवायीं उनकी छतें, दीवारें आदि वज्रलेप के कारण शीशे की भाँति चमकती हैं। इनको अब लोमष ऋषि की गुफा कहते हैं। परन्तु अशोक की सबसे सुन्दर वास्तु-कृतियाँ उसके स्तंभ हैं। नीचे मोटे, ऊपर पतले चुनार के पत्थर के बने ये स्तंभ ४०-५० फुट ऊँचे और लगभग ५० टन वजन में हैं। इनके शिखर पट्टिका पर घंटे के आकार के हैं और सर्वोपरि आरंभ में सिंह, वृषभ, गज अथवा अश्व की अद्‌भुत आकृतियाँ बनी हुई थीं। इन पशुओं की आकृति में इतनी स्वाभाविकता है कि उनके सच्चे होने का भ्रम होता है। इनकी पालिश, सजीवता आदि देखकर कला के पाश्चात्य विशारदों ने इन्हें फारसी माडेलों से अनुप्राणित कहा है। हैवेल आदि विद्वानों ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि स्तंभों की यह सुन्दरता भारतीय तक्षण-कला के विकास का फल है। परन्तु संभवतः उनका विचार भ्रमपूर्ण है। इन स्तंभों की सुन्दरता भारतीय-विकास-शृंखला में कहीं नहीं रखी जा सकती। मोहन-जो-देड़ो की कला (वृषभ आदि) से जरूर इस काल की कला मिलती है, परन्तु हजारों वर्ष पूर्व की उस सैन्धव सभ्यता से अशोक का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। इन स्तंभों का विकास पारखम आदि यक्षों की परंपरा से संभव नहीं। इस कारण समान टेकनीक और शिल्प-शैली के कारण इन्हें पारसीक आदर्शों के निकट ही रखना होगा। पाँचवीं-छठी शती ई० पू० के पारसीक माडेल (सिंहादि) ही जो आसुरी (अस्सीरियन) कला की छाया में बने थे, इन अशोक-स्तंभों के प्रतीक हो सकते हैं। आखिर निष्प्राण, निष्प्रभ कला की पृष्ठभूमि से सहसा सर्वांग सुन्दर कलासृष्टि नहीं निकल पड़ती। फिर यदि भारत में अनजानी (फारस के राजाओं का सामान्य आचरण) दरबार में चन्द्रगुप्त के केशसेचन की रीति उस सम्राट् ने फारसियों से ली तो कला के क्षेत्र में भी आदान-प्रदान कुछ विस्मयकारक नहीं। फिर यह भी न भूलना चाहिए कि अशोक के पहले भारतीय राजाओं ने प्रजा के उपदेश अथवा विजय के स्मारक में लेख नहीं लिखवाए थे। वहाँ भी अशोक को स्वदेश में माडल नहीं मिला और सामान्य रूप से इस पद्धति का अनुकरण करनेवाले पारसीक राजाओं से उसका उस रीति को लेना स्वाभाविक ही है। उन्हीं की भाँति अपने लेखों का आरंभ बराबर वह इस प्रकार करता है—देवानां प्रिय पियदसी राजा एवं आहा (देवों के प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा—)। अशोक के स्तंभ इतने सुन्दर, इतने चिकने, इतने चमकीले हैं कि अनेक बार इंजीनियरों को उनके धातु के बने होने का भ्रम हुआ है। उनकी सुन्दरता और लक्षण से कहीं बढ़कर उनको दूर-दूर के स्थानों में ले जाने का तरीका विस्मयकारक रहा होगा। इस वक्तव्य की सार्थकता सिद्ध करने के लिए डाक्टर स्मिथ ने एक उदाहरण दिया है।[१] फिरोजशाह तुगलक उच्च कोटि का वास्तु-निर्माता था। उसके दरबार में दूर-दूर के विदेशी इंजीनियर रहते थे। टोपरा गाँव में जो दिल्ली से केवल बारह मील है, अशोक का एक स्तंभ, जिसे अब टोपरा-दिल्ली स्तंभ कहते हैं, खड़ा

अशोक के शिल्प-निर्माण-कार्य

---

१ Early History of India

था। अपनी राजधानी की सुन्दरता बढ़ाने के लिए उसने उस स्तंभ को दिल्ली लाना चाहा। कैसे वह स्तंभ टोपरा से लाया जाय, यह उसके मेधावी इंजीनियर निश्चित न कर सके। अंत में स्तंभ के नीचे रूई का एक अंबार खड़ा किया गया और पास ही बैलों से रहित ४२ गाड़ियाँ खड़ी की गयीं। फिर स्तंभ को रूई के जरिए गाड़ियों पर लादा गया। प्रत्येक गाड़ी पर २०० आदमी लगे और इस प्रकार वह स्तंभ दिल्ली लाया गया। यदि बारह मील की दूरी तै करने के लिए ८४०० आदमियों की जरूरत पड़ी तो प्रश्न है कि मध्य-भारत के वन-प्रान्त, ऊँचे पहाड़ों और तेज बहती गहरी नदियों को लाँघकर लगभग हजार मील दूर निजाम हैदराबाद के राज्य में ये स्तंभ चुनार से कैसे ले जाये गये होंगे!

अशोक के अभिलेख

भारतीय इतिहास में अशोक के अभिलेखों का स्थान असाधारण है। उनसे उसके राज्य-काल की प्रायः बातों का पता चलता। इनका असाधारण स्थान केवल इसीलिए नहीं है कि ये अभिलेख हैं और अभिलेखों का महत्त्व ऐतिहासिक सामग्री के रूप में अत्यधिक होता है वरन् इस कारण के प्रशस्तिपरक नहीं हैं। ये स्वयं सम्राट् के शब्द हैं, जो सदियों और सहस्राब्दियों के पीछे की होने पर भी सीधा हृदय पर असर करते हैं। जैसे हम उनके शब्द आज भी सुन रहे हैं—उनकी शैली और सरलता इस प्रकार स्वाभाविक है। ये लेख पत्थर के स्तंभों और पर्वत की शिलाओं पर हिमालय से मैसूर तक और उड़ीसा से काठियावाड़ तक खुदे मिलते हैं। जन-साधारण की भाषा पाली में सम्राट् के अपने शब्दों, अपनी इबारत में ये लेख उसके उपदेशों को जन-जन में पहुँचाते हैं। अशोक ने इस बात को पूरी तरह समझा कि बीच के भाष्यकार मूल उपदेश को निस्सार निरर्थक कर देते हैं; इससे उसने अपनी प्रजा तक स्वयं पहुँचने का प्रयत्न किया। जहाँ-जहाँ आबादी घनी थी वहाँ-वहाँ उसने अपने लेख खुदवाये थे। अशोक के लेख आठ निम्न भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—

१. **लघु-शिलालेख**—इनमें नं० १ मैसूर राज्य में चीतलद्रुग जिले के सिद्धपुर, जतिंग रामेश्वर और ब्रह्मगिरि में, जबलपुर जिले के रूपनाथ में, शाहाबाद जिले के सहसराम में, जैपुर के पास बैराट में और निजाम राज्य के मास्की नामक स्थान में मिला है। नं० २ मैसूर के ऊपर बताए केवल तीन स्थानों में मिला है।

२. **भब्र-शिलालेख**—जैपुर राज्य में यह बैराट के पास मिला था।

३. **चतुर्दश-शिलालेख**—(ई० पू० २४६ के लगभग) शहबाजगढ़ी (पेशावर जिला) और मंसेहरा (हजारा जिला), जूनागढ़ के पास गिरनार, सोपारा (जिला थाना), काल्सी (जिला देहरादून), धौली (जिला पुरी), जौगड (जिला गंजाम), और इरागुडी (निजाम की रियासत) से उपलब्ध। ये लेख पहाड़ की चट्टानों पर खुदे पाये गये हैं।

४. **दो अतिरिक्त कलिंग-लेख** (ई० पू० २५६)—जो धौली और जौगड में ही शिलालेख ११ से १३ के स्थान में खुदे हैं।

५. **बराबर के तीन गुहालेख** (ई० पू० २५७ और २५०)—ये गया के पास राजगिर के पीछे बराबर नाम की पहाड़ी में हैं।

६. दो तराई स्तंभ-लेख (ई० पू० २४६)—ये नैपाल की तराई में रुम्मिन्देई (लुम्बिनि वन) और निग्लिवा ग्राम में हैं।

७. सप्त-स्तंभ-लेख (ई० पू० २४३-४२)—ये लेख स्तंभों पर खुदे हैं और भिन्न-भिन्न छ स्थानों से प्राप्त हुए हैं। दिल्ली के दो स्तंभ जो (१) टोपरा और (२) मेरठ से दिल्ली लाये गये थे। (३) कौशाम्बी-इलाहाबाद जो कौशाम्बी से इलाहाबाद लाया गया था और जो आज वहाँ के किले में खड़ा है। (४) लौरिया-अरराज, (५) लौरिया-नन्दनगढ़ और (६) रामपुरवा के तीन स्तंभ जो चम्पारन जिले में खड़े हैं।

८. चारगौण स्तंभ-लेख (ई० पू० २४२-३२)—ये साँची, सारनाथ, कौशाम्बी और इलाहाबाद से उपलब्ध हुए।

इनमें से शहबाजगढ़ी और मनसेहरा के अभिलेखों को छोड़ बाकी सारे भारतीय 'ब्राह्मी' लिपि में लिखे हुए हैं। ब्राह्मी प्राचीन भारत की वह लिपि है जिससे वर्तमान देवनागरी विकसित हुई है। यह बायीं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। यह लिपि भारत ने अपने यहाँ विकसित की या बाहर से ली, यह कहना कठिन है; परन्तु इतना सही है कि इसके बाहर से भारत में आने के जो प्रमाण ब्यूह्लर आदि विद्वानों ने दिये हैं, वे असंगत हैं और कुछ सिद्ध नहीं करते। कब इस लिपि का भारत में आरंभ हुआ, यह कहना भी कठिन है। इसमें सन्देह नहीं ई० पू० की छठी सातवीं सदियों में यह लिपि भारत में प्रचलित थी। शहबाजगढ़ी और मनसेहरा के लेख ब्राह्मी में न होकर 'खरोष्टी' में हैं। खरोष्टी (खरोष्ट्री—गधे और ऊँट की शकलवाले अक्षर) अरामइक की एक नस्ल थी, जो अरबी की भाँति दाहिनी ओर से बायीं ओर को लिखी जाती थी। सीमाप्रांत पर निस्सन्देह इसका ही व्यवहार होता था, ब्राह्मी का नहीं। ब्राह्मी वहाँ के लोग संभवतः नहीं समझते थे; इसी कारण उसका उपयोग अशोक ने नहीं किया। वहाँ के लोगों का ब्राह्मी न समझकर खरोष्टी समझना भारत के ऊपर फारस के प्रभाव का एक और उदाहरण है।

ऊपर के अभिलेख-विभाजन से अशोक के साम्राज्य का पता चलता है। जहाँ-जहाँ उसके लेख मिले हैं, वे स्थल उसके साम्राज्य के निस्सन्देह अन्तर्गत थे। उनके प्राप्ति-स्थल अन्य प्रमाणों के साथ उसके साम्राज्य की सीमाएँ सहज ही निर्धारित हो जाती हैं।

साम्राज्य-सीमाएँ

स्वयं अशोक ने तो केवल कलिंग जीता था, परंतु अपने पितामह से उसे एक विस्तृत साम्राज्य मिला था जिसकी उत्तर-पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश थी। उसकी छाया में हेरात, कन्दहार, काबुल की घाटी और बलूचिस्तान, जो चन्द्रगुप्त ने सीरियक नरेश सिल्यूकस से जीता था, अब भी अशोक के शासन में थे। क्रमशः पेशावर और हजारा जिलों में शहबाजगढ़ी और मनसेहरा के शिलालेखों की भौगोलिक स्थिति से यह प्रमाणित हो जाता है। इसकी पुष्टि ह्यु एन-च्वांग के लेख से भी हो जाती है, क्योंकि वह लिखता है कि कपिशा (काफिरिस्तान) और जलालाबाद में उसने अशोक के बनवाये स्तूप देखे थे। उसी चीनी भिक्षु और राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर भी अशोक के शासन में था, जहाँ उसने श्रीनगर बसाया था। इस उत्तर-पश्चिम के अतिरिक्त उत्तर में उसके साम्राज्य की सीमा स्वयं हिमालय की पर्वत-श्रेणी थी। बौद्ध परम्परा के अनुसार नैपाल भी उसके राज्य में था। वहाँ उसने

ललितपाटन नामक नगर बसाया और वहाँ की उसने चारुमती के पति अपने दामाद देवपाल क्षत्रिय के साथ यात्रा की। यह उत्तरी सीमा उसके उस भाग के शिलालेख और तराई-लेखों से भी प्रमाणित हो जाती है। देहरादून जिले के कालसी नामक स्थान पर और तराई के रूम्मिन्देई और निग्लीवा के ग्रामों में उसके लेख मिले हैं।

पूर्व में बंगाल उसके साम्राज्य के अन्तर्गत था। यह बौद्ध ख्यातों और चीनी यात्री हुएन-च्वांग के लेख से सिद्ध होता है। कहते हैं कि जब महेन्द्र और संघमित्रा लंका को रवाना हुए, तो बंगाल के ताम्रलिप्ति नामक बन्दरगाह तक अशोक उन्हें जहाज पर चढ़ाने आया था। इसके अतिरिक्त चीनी यात्री ने उसके बनाये अनेक स्तूप बंगाल में देखे थे। कलिंग अशोक ने स्वयं जीता था। वहाँ के धौली और जौगड के लेख भी इस पूर्वी सीमा के स्मारक हैं।

पश्चिम में इस साम्राज्य की सीमा पश्चिमी समुद्र थी, जो काठियावाड़ के गिरनार और बंबई में थाना जिले के सोपारा के उसके शिलालेखों से निर्धारित हो जाती है। सौराष्ट्र अशोक के साम्राज्य में था, इसका एक और प्रमाण यह है कि शकराज रुद्रदामा जूनागढ़वाले अपने लेख में कहता है कि चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त वैश्य द्वारा नदियों के प्रवाह रोककर बनाए हुए सुदर्शन नामक झील से अशोक के प्रांतीय शासक यवन-राज तुषास्प ने खेतों की सिंचाई के लिए नहरें निकालीं।

इस साम्राज्य की दक्षिणी सीमा निजाम राज्य के मास्की और इरागुडी और मैसूर राज्य के चीतलद्रुग तक थी, क्योंकि उन स्थानों में अशोक के लेख पाये गये हैं। इस सीमा के दक्षिण ओर चोलों, पाण्ड्यों, सतियपुत्रों और केरलपुत्रों की स्वतंत्र रियासतें कायम थीं। इन्हीं की भाँति यवन, कम्बोज, गन्धार, राष्टिक-पेतेतिक, भोज, नाभक-नाभपंती और पुलिन्द आदि जातियाँ स्वतंत्र थीं, जो अशोक की साम्राज्य-सीमाओं के बाहर रहती थीं।

इस 'आसमुद्रक्षितीश' का साम्राज्य जो हिन्दूकुश से चीतलद्रुग और सागर से सागर तक फैला हुआ था, निस्सन्देह विशाल था और अशोक का अपने इस साम्राज्य के प्रति गर्व का संकेत 'महालके हि विजितम्' (शिलालेख १४) उचित ही है। अब हम इस साम्राज्य की शासन-पद्धति पर विचार करेंगे। इस शासन का केन्द्रीय होना स्वाभाविक ही था। अशोक ने अपने पितामह चन्द्रगुप्त से न केवल पितृदाय में विशाल साम्राज्य पाया था वरन् उसके अद्वितीय मंत्री चाणक्य द्वारा संगठित एक सुव्यवस्थित शासन भी। इस शासन में उसने कुछ परिवर्तन भी किए जिनका उल्लेख नीचे करेंगे। उसकी जो विशेषता शासन-संबंध में है वह यह है कि शास्त्रों ने जिन राजगुणों का सिद्धान्ततः निरूपण किया था, अशोक ने उनका आचरणतः प्रयोग किया। प्रजा को उसने अपनी सन्तति मानी और उनके रक्षण, पालन और वर्द्धन में वह वैसे ही सतत जागरूक रहा, जैसे पिता अपनी सन्तति के सुख-चिन्तन में रहता है। कलिंग के शिलालेख में उसने इस सिद्धान्त की घोषणा की—"सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं और जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ, उसी प्रकार मैं प्रजा (लोक) के ऐहिक और पार-लौकिक हित और सुख की कामना करता हूँ।" चौथे स्तंभलेख में एक और घोषणा 'रज्जुकों'

अशोक का शासन

आदर्श

की प्रजार्थ-साधन में नियुक्ति और इससे प्रतिफलित आत्मतुष्टि पर इस प्रकार है—"जिस प्रकार मनुष्य अपने सन्तान को निपुण धाई के हाथ में सौंपकर निश्चिंत हो जाता है और विचारता है कि यह धाई मेरे बालक को सुख देने की भरपूर चेष्टा करेगी, उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के संपादन के लिए मैंने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" प्रजार्थ-साधन में सतत जागरूकता का उदाहरण उसने अपने आचरण में इस प्रकार रखा था और इसका वह निरंतर पालन करता था—"मैंने यह प्रबंध किया है कि सब समय में—चाहे मैं भोजन करता होऊँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ, चाहे शयनागार, चाहे उद्यान में—सर्वत्र मेरे 'प्रतिवेदक' प्रजा के कार्य की मुझे सूचना दें। मैं प्रजा के कार्य सर्वत्र करूँगा। यदि मैं स्वयं आज्ञा दूँ कि अमुक कार्य किया जाय और महामात्रों में उस विषय में कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मंत्रिपरिषत् उसे स्वीकार न करे, तो हर घड़ी और हर जगह मुझे इसकी सूचना दी जाय; क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम क्यों न करूँ, कितना ही राजकार्य क्यों न करूँ, मुझे पूर्ण संतोष नहीं होता। सर्वलोकहित-साधन से बढ़कर कोई कर्त्तव्य नहीं। मैं जो कुछ पराक्रम (श्रम) करता हूँ, वह इसीलिए कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है, उससे मैं उऋण हो जाऊँ और यहाँ लोगों को सुखी करूँ और परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। यह धर्म-लेख चिरस्थायी हो और मेरी स्त्री, पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र लोकहित के लिए प्रयत्न (पराक्रम) करें। अत्यधिक प्रयत्न के बिना यह कार्य कठिन है।"[1] अकबर की मेधा, जहाँगीर के न्याय और फ्रेडरिक महान् के अध्यवसायवाला यह सम्राट् अपने आचरण में निस्सन्देह प्रजा का सेवक था।

प्रजार्थ-साधन में उसका अथक परिश्रम

शासन का केन्द्र राजा था। उसका विस्तृत साम्राज्य पूर्ववत् मंत्रि-परिषत्[2] की सहायता से प्रांतों और विभागों के जरिए होता था। साम्राज्य चार केन्द्रों से शासित होता था। ये केन्द्र थे—तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसली (धौली) और सुवर्णगिरि (सोनगिर)। इन चारों केन्द्रों और मुख्य प्रान्तों में सम्राट् का प्रतिनिधि (वाइसराय)—शासक रहता था, जो या तो राजकुल का कोई कुमार या उच्च सामन्त होता था। स्वयं अशोक अपने पिता के राज्यकाल में दो केन्द्रों—उज्जयिनी और तक्षशिला—का शासक रह चुका था। सौराष्ट्र का शासक राजा तुषास्प नामक एक यवन (पारसीक) था जिससे जान पड़ता है कि अशोक अपने राजकर्मचारियों की नियुक्ति में केवल साम्राज्य का हित देखता था और उसमें वह देश-विदेश अथवा सवर्ण-अवर्ण के भेद-भाव नहीं रखता था। उसके-से उदारचेता सम्राट् का ऐसा आचरण उचित ही था। ये चारों शासन-केन्द्र पहले शायद तीन ही थे; क्योंकि तोसली साम्राज्य का पूर्वी केन्द्र तभी बना होगा जब अशोक ने कलिंग-विजय कर ली। यह केन्द्र प्रमाणतः उसी ने कायम किया। केन्द्रीय 'कुमारों' की शायद अपनी-अपनी मंत्रिपरिषत् होती थी। बिन्दुसार के राज्यकाल में तक्षशिला का विद्रोह इन प्रांत-केन्द्रीय मंत्रियों के विरुद्ध ही हुआ था। साधारण प्रांतों

शासन

---

1 चौथा स्तंभ-लेख। 2 शिलालेख ३ और ६।

के भी अपने-अपने शासक थे। 'राजुक' संभवतः इसी प्रकार के प्रान्तीय शासक थे। 'प्रादेशिक' संभवतः प्रान्त के अन्तर्गत छोटे इलाके के शासक थे। आधुनिक कमिश्नरों से उनका पद मिलता-जुलता था। विभाग के स्वामी 'मुख' (मुख्य) अथवा 'महामात्र' थे। अन्तःपुर का महामात्र 'स्त्र्यध्यक्ष-महामात्र', नगर का नगरव्यवहारक-महामात्र' और सीमान्त का 'अन्त-महामात्र' कहलाते थे। महामात्रों के अधिकार मंत्रियों के से थे और इनका पद प्राचीन काल से चला आता था। बुद्धकालीन बिंबिसार के समय में मंत्रियों को महामात्र कहते थे। साधारण राजकार्य छोटे-बड़े राज-'पुरुष' करते थे। राज्य के छोटे अधिकारी 'युक्त' कहलाते थे।

साधारणतया ऊपर के शासनाधिकारी अशोक को पिता-पितामह-प्रदत्त दाय में ही मिले थे। परन्तु अपने परिवर्तित आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उदारचेता अशोक को नये अधिकारियों की आवश्यकता थी और उसने उन्हें उन नए कार्यों के संपादनार्थ नियुक्त किया जिनका विधान पूर्व शासन-पद्धति में न था। जैसा ऊपर कहा जा

नये शासनाधिकारी और सुधार

चुका है, महामात्र तो पहले भी थे; परन्तु अशोक ने अब एक नये प्रकार के कर्मचारियों को नियुक्त किया जिनकी संज्ञा 'धर्म-महामात्र' थी। ये प्रजा के इहलौकिक और पारलौकिक हित के अर्थ नियुक्त हुए। ये धार्मिक सांप्रदायों, दानकर्म आदि की निगरानी करते थे। मौर्य दण्डनीति कठोर थी, इसका अशोक को पूर्णतया ज्ञान था। इसलिए उसने धर्ममहामात्रों का एक कर्त्तव्य यह भी निश्चित किया कि वे वृद्धावस्था अथवा बहुपुत्रता के आधार पर अपराधियों की सजा कम करायें और इस प्रकार मौर्य दण्डनीति की कठोरता कम हो।[1] प्रतिवेदकों को उसने आज्ञा दी कि वे उसको सर्वत्र प्रजा की आवश्यकताओं से सूचित करें।[2] लाखों प्रजा के ऊपर उसने 'राजुकों' की नियुक्ति की, औचित्य के अर्थ पारितोषिक देने और अपराध में दण्ड की सर्वथा स्वतंत्रता दे दी जिसमें वे अपना कर्त्तव्य विश्वास और निर्भयता से निभा सकें। दण्ड और व्यवहार (कानून) में उन्हें पूरी समता रखनी होती थी।[3] 'विहारयात्रा' के स्थान पर अशोक ने अपने लिए 'धर्मयात्रा' का आयोजन तो कर ही लिया था; अपने राजुकों, प्रादेशिकों और युक्तों तक को उसने आज्ञा दी कि वे हर पाँचवें वर्ष जनपदों में दूर (अनुसंयान)[4] कर प्रजा का हित साधें। इतना कर चुकने पर निस्सन्देह अशोक को उस पिता की भाँति संतोष हुआ होगा जो अपने बच्चे को अच्छी धाय की देख-रेख में छोड़कर संतुष्ट हो जाता है। इन शासन-सुधारों के अतिरिक्त अशोक ने एक और नई बात की। अपने राज्याभिषेक की वर्ष-तिथि के दिन उसने कैदियों को छोड़ना[5] और प्राणदण्ड पाये अपराधियों के जीवन की अवधि तीन दिन और बढ़ानी शुरू की।[6]

शासन के कठोर उत्तरदायित्व में उदारता और हृदय की मृदुलता का समावेश कर राजाओं के लिए अशोक ने आदर्श उपस्थित किया, जो आचरण-रूप में पहले अज्ञात था

---

१ शिलालेख ५. २ शिलालेख ६. ३ स्तंभलेख ४.

४ शिलालेख ३ और कलिंग शिलालेख १. ५ स्तंभलेख ५. ६ स्तंभलेख ४.

और बाद में असंपादित रहा। अहिंसा की जो नीति उसने अपने साम्राज्य में बरती, वह उसके पड़ोसियों के प्रति भी लागू थी। उसने बौद्ध-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् कभी दिग्विजय के लिए सैन्य-संचालन नहीं किया। उसके पड़ोसी राज्य जो भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त में प्रकृत्यमित्र (स्वाभाविक वैरी) समझे जाते थे, उसकी ओर से बराबर निःशंक रहे। उनको पूर्णतया अशंक रहने के लिए उसने अपने एक लेख में घोषणा भी की—"सीमान्त जातियाँ मुझसे न डरें। मुझपर वे विश्वास रखें और मुझसे सुख प्राप्त करें। वे कभी दुःख न पावें और इस बात का सदा विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार संभव है, राजा (अशोक) उनके साथ करेगा।" यह एलान तब का है जब मध्य-एशिया में सीरियक सम्राट् प्रसरलिप्सा से अपने पड़ोसियों पर नजर डाल रहे थे और जब पार्थिया और बह्लीक में जातियों के स्वत्वाहरण के अर्थ तलवारें नाच रही थीं।

अशोक प्रायः ४० वर्ष राज करके लगभग २३२ ई० पू० में मरा। इन ४० वर्षों में उसने राजधर्म में एक नये आदर्श की स्थापना की। अशोक की गणना संसार के महान् सम्राटों में की जाती है। परन्तु वास्तव में वह और राजाओं की पंक्ति में रखा ही नहीं जा सकता। उसका स्थान औरों से सर्वथा अलग है। अशोक भारतीय इतिहास में सबसे बड़े साम्राज्य का स्वामी होता हुआ भी तपस्वी और विरागी था। वह प्रव्रज्या ले सकता था, परन्तु ऐसा उसने शायद इस कारण नहीं किया कि जिसमें राज्य के उपकरणों से वह लोकहित कर सके। वह उदारचेता था। प्राणिमात्र उसके आदर के पात्र थे और उनका हित उसके प्रयत्नों का क्षेत्र था। मनुष्य के अतिरिक्त सारे जीवधारी उसे द्रवित करते थे। जब उसने मनुष्यों की व्याधियों की चिकित्सा का प्रबंध किया तब वह पशुओं को न भूला। उनके रोगों की चिकित्सा के लिए भी उसने अस्पताल खोले। और यह प्रबंध एकदेशिक केवल उसके राज्य में ही न किया गया वरन् यूरोप, अफ्रिका और एशिया के अन्य राज्यों में भी। अपनी प्रजा के साथ तो उसने पितावत् व्यवहार किया ही, दूसरे राज्यों की प्रजा को भी अपनी दिग्विजय-वृत्ति से शंकित न होने दिया।

अशोक का चरित्र

अपनी प्रजा के शासन में वह सदा निरत रहता था, निरंतर जागरूक। अपने आप तो वह सदा-सर्वत्र उनकी आवश्यकताओं को तो सुनता ही रहता था, उसने अपने अधिकारियों को प्रजार्थ साधन में निरालस व्यस्त रहने को बाध्य किया। अब तक राजा प्रजा के लिए दूर से दर्शनीय देवमात्र था, परन्तु अशोक ने अपने को उनमें से एक कर दिया। उसने उनके संपर्क में आकर उनको बता दिया कि वह भी उन्हीं की भाषा बोलता है, उन्हीं की भाँति दुःख-सुख का भोक्ता है।

वह अत्यन्त सहिष्णु था। बौद्ध धर्म का संरक्षक और उसका सबसे बड़ा प्रचारक होकर भी उसने अपनी प्रजा पर अपने व्यक्तिगत धर्म को उसकी इच्छा के विरुद्ध न लादा। जिन उपदेशों को उसने उसके सामने रखा, वे सब धर्मों के मूलतत्त्व थे। सारे संप्रदायों के अनुयायियों को उसने अपने साम्राज्य में साथ-साथ शक्तिपूर्वक रहने के लिए उत्साहित किया। अहिंसा के उपदेश पहले भी हुए थे, पहले भी राजा अहिंसा को परम धर्म समझनेवाले हुए थे, परन्तु किसी ने उसे व्यवहार का रूप न दिया। परन्तु अशोक ने पशुबलि अपने साम्राज्य में

एक घोषणा से बंद कर दी। वह स्वयं दार्शनिक नहीं था, परन्तु बहुश्रुत था, धर्मों का निचोड़ जानता था। ब्राह्मणों, श्रमणों, आजीविकों आदि को उसने समान श्रद्धा का पात्र समझा और समान रूप से उसने उन्हें दान दिया।

कान्स्टैन्टाइन, मारकस आरीलियस, अकबर आदि से उसकी तुलना की जाती है; परन्तु है वह इन सबसे ऊपर। उसका हृदय इन सबसे बड़ा था, उसका आचरित आदर्श इन सबसे ऊँचा। परन्तु उसकी विजय-विरक्ति से एक हानि भी हुई। मौर्य-साम्राज्य की ग्रंथियाँ कुछ ढीली हो गयीं। बाहरवालों को आक्रमण करने का साहस हुआ और शीघ्र भारत बह्लीक-यवनों की क्रीड़ाभूमि बन गया।

अशोक के उत्तराधिकारी

बौद्ध ग्रंथों, शिलालेखों और राजतरंगिणी से अशोक के चार पुत्रों के नाम उपलब्ध होते हैं। वे हैं—देवीपुत्र महेन्द्र, कारुवाकीपुत्र तीवर, पद्मावतीपुत्र कुणाल और जलौक। महेन्द्र अपने पिता के सामने ही भिक्षु हो गया था और वह सिंहल में धर्म-प्रचार करने लगा था। तीवर का नाम शिलालेखों में मिलता है। संभवतः वह अपने पिता के जीवनकाल में ही मर गया था। काश्मीर के इतिहास कल्हण की राजतरंगिणी में जलौक का वर्णन है। कल्हण ने उसे शैव कहा है। संभवतः वह पिता की मृत्यु के बाद काश्मीर में स्वतंत्र हो गया था।

संप्रति और दशरथ कुणाल के संबंध में दक्षिणी और उत्तरी ख्यातों में अंतर है। दक्षिणी ख्यातों के अनुसार वह अन्धा होने के कारण राजा न हो सका। परन्तु 'वायुपुराण' में उसके आठ वर्षों तक राज करने का उल्लेख मिलता है। 'अशोकावदान' में एक तीसरी ही कहानी कही गयी है। उसके अनुसार अशोक संघ के प्रति असीम दान के कारण मंत्रियों द्वारा गद्दी छोड़ने के लिए बाध्य किया गया और उसके सिंहासन पर कुणाल-पुत्र संप्रति बैठा। अनेक किंवदन्तियों से विदित होता है कि संप्रति जैन धर्म का संरक्षक था और उसकी राजधानी उज्जैन थी। वायु और मत्स्य पुराणों के अनुसार संप्रति के पूर्व अशोक का एक अन्य पौत्र दशरथ राजा हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि दशरथ अशोक पौत्र और मगध का राजा था। नागार्जुनी गुफा में आजीविकों के प्रति उसके दान की प्रशस्ति खुदी है। स्मिथ साहब का कहना है कि संभवतः अशोक के इन दोनों पौत्रों ने अपने पितामह का साम्राज्य बाँट लिया था और उस विभाजन में संप्रति को साम्राज्य का पश्चिमी और दशरथ को पूर्वी हिस्सा मिला था। परस्पर-विरोधी अनुश्रुतियों के सम्मुख वास्तव में कोई निश्चित मत कायम करना कठिन है। संप्रति और दशरथ दोनों ने राज किया, यह निर्विवाद है। संप्रति और दशरथ के बाद मौर्य कुल में चार राजा—शालिशूक (बृहस्पति), सोमशर्मा (देव धर्मा), शतधन्वा और बृहद्रथ—और हुए। इतना स्पष्ट है कि अशोक की मृत्यु के बाद उत्तरोत्तर मौर्य-साम्राज्य की ग्रंथियाँ ढीली पड़ती गयीं और उसका ह्रास होता गया। 'गार्गी-संहिता' के युगपुराण में शालिशूक के बाद ही बह्लीक के यवन-राज दिमित (धर्ममित्र—Demetrios) के भारत पर आक्रमण का वर्णन है। अन्त में मौर्यराज बृहद्रथ को उसके भारद्वाजगोत्रीय पुरोहित-कुल के सेनापति पुष्यमित्र ने मारकर ई० पू० १८५ के लगभग

मगध की गद्दी स्वायत्त कर ली। मौर्यकुल का अन्त कर उसने एक ब्राह्मण साम्राज्य की नींव डाली।

मौर्य-साम्राज्य के ह्रास के कारण

मौर्य-साम्राज्य का विस्तार बड़ा था। हिन्दूकुश से पनार नदी और पूर्वी से पश्चिमी सागर तक। परन्तु अशोक की मृत्यु के पचास वर्ष के भीतर ही उसके तार-तार बिखर गये। इतने बड़े साम्राज्य का, जिसे चन्द्रगुप्त की भुजाओं और नीति-निष्णात चाणक्य की मेधा ने खड़ा किया था, ह्रास कैसे हुआ? तीन पीढ़ियों ने उसकी मर्यादा रखी और बढ़ाई थी, परन्तु काल की शक्ति व्यक्तियों की शक्ति से कहीं प्रबल होती है। फिर भी इस विशाल साम्राज्य के पतन के कारणों में काल का प्राबल्य इतना न था जितना व्यक्तियों की दुर्बलता।

अशोक के उत्तराधिकारी व्यक्तित्व में बामन और शक्ति में अत्यन्त क्षीण थे। बड़े दुर्बल हाथों में उन्होंने तलवार पकड़ी। स्वयं अशोक ने कलिंग-युद्ध के बाद अपनी तलवार म्यान के भीतर रख ली थी। फिर भी जब तक उसके पितामह चन्द्रगुप्त द्वारा सिल्यूकस पर की हुई चोट विदेशियों को याद रही, भारत की ओर नजर उठाने की उनकी हिम्मत न पड़ी। बाद में अशोक का उदार प्रेममय व्यक्तित्व भी ऊँचाई का एक आदर्श बनाये रहा, परन्तु साम्राज्यों के उत्थान-पतन तो नेकी-बदी की माप नहीं, शक्ति की तोल है—कशमकश का अन्त। स्वयं अशोक के विराग से ही साहसिकों को बड़ा आश्वासन मिला होगा। उसके बाद के मौर्य-शासक भी साधारणतया बौद्ध या जैन थे। अशोक की सहिष्णुता ने संप्रदायों को प्रेमपूर्वक एक साथ रखा, परन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने जब अपने धर्मानुयायियों का पक्ष लेना शुरू किया तब ईर्ष्या बढ़ी और फूट का बाजार गर्म हो चला। असन्तोष और भीतरी कलह ने साम्राज्य को तोड़ दिया। मगध-साम्राज्य के स्वयं कई हकदार हो चले। कुछ अजब नहीं जो संप्रति और दशरथ ने एक ही समय में साम्राज्य बाँटकर राज किया हो, कुछ अजब नहीं कि जलौक ने काश्मीर में बैठकर पिता का ही साम्राज्य कन्नौज तक जीतने का प्रयास किया हो।

जब साम्राज्य की ग्रंथियाँ कमजोर होने लगीं तब दूरस्थ प्रान्तों के शासक केन्द्र की ओर पीठ कर बैठे। इतने बड़े साम्राज्य में भिन्न रक्त की जातियाँ अनेक होती हैं। कोई वजह नहीं कि वे उसकी ऐसी दशा में हाथ पर-हाथ धरे बैठी रहें, विशेषकर जब स्वयं उनकी विजय तलवार और शक्ति से की गयी थी। कलिंग, जिसे मगध ने बार-बार जीता था, फिर साम्राज्य को चुनौती देकर अलग जा खड़ा हुआ और शीघ्र चेदि-वंश ने वहाँ अपना वह प्रबल राष्ट्र खड़ा किया जिसके राजा खारवेल ने पाटलिपुत्र को दो-दो बार अपने चरणों में झुका लिया। इसी तरह कृष्णा और गोदावरी की घाटी में उस वीर आंध्र जाति ने सिर उठाया जिसकी तलवार की चोट से सारा दक्षिण तिलमिला उठा और जिसने बाद की सदियों में मगध तक को रौंद डाला। पंजाब भी शीघ्र स्वतंत्र हो गया और काठियावाड़ भी मगध के चक्र के धुरे से निकल गया। शालिशूक के बाद ही वह्लीक देश के यवन (ग्रीक) राजा डेमेट्रियस (दिमित) ने पाटलिपुत्र में अपना दरबार किया।

मौर्य-साम्राज्य के पतन का एक प्रबल कारण ब्राह्मणों का वैमनस्य भी था। अशोक ने यज्ञों तक में पशुबलि पर प्रतिबन्ध लगा दिया था, इससे ब्राह्मण कुछ क्रुद्ध हो उठे थे; परन्तु सम्राट् के व्यक्तित्व और व्यवहार ने उन्हें शांत रखा। अशोक की नीति-कुशलता उसके उत्तराधिकारियों में रह गयी। जैन सम्राटों की अदूरदर्शिता ने ब्राह्मणों को उत्तेजित कर दिया। ब्राह्मण-विरोध भीतर ही भीतर चलता रहा। इस विरोध का मुखिया महर्षि पतंजलि का संरक्षक वह पुष्यमित्र शुंग था जो मौर्य-सम्राट् बृहद्रथ के पुरोहित-कुल का था और उसका सेनापति भी। उसकी सेना के सामने पुष्यमित्र ने स्वामी का खून कर उसकी गद्दी छीन ली। सेना के सामने ऐसा होना तभी संभव था, जब सेना पुष्यमित्र के राय से सहमत थी और चूँकि बृहद्रथ को अपने अन्त का पता न था, वह निस्सन्देह एक षड्यन्त्र का शिकार हुआ। यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है कि सारे भारत में इस समय तीन ब्राह्मण साम्राज्य स्थापित हुए—(१) दक्षिण में आन्ध्रों का, (२) पूर्व में चेदिवंशीय खारवेल का और उत्तर मगध में शुंगों का। ब्राह्मणों में प्रतिकार और प्रतिशोध की मात्रा प्रबल हो चुकी थी। संघर्ष में वे काफी प्रबल थे—जहाँ मौका पाया, उन्होंने शक्ति संचित की और साम्राज्य की नींव डाल दी। स्वयं मगध में एक के बाद एक—शुंग और काण्वायन—दो-दो ब्राह्मण-साम्राज्य कायम हुए। निस्सन्देह ब्राह्मणों के वैमनस्य ने मौर्य-साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी।

साम्राज्य के बिखरते ही बाहरी जातियों ने भयंकर हमले किये और ग्रीक विजेताओं ने पंजाब जीतकर वहाँ हिन्दू-ग्रीक राज्यों की नींव डाली। मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद सदियों तक उत्तरी भारत विदेशी विजेताओं के पैरों से रौंदा जाता रहा।

परिशिष्ट (क)

अशोक का परिवार[1]

पिता—बिन्दुसार।

माता—उत्तरी ख्यातों के अनुसार चम्पा की ब्राह्मणकुमारी सुभद्राङ्गी। दक्षिणी ख्यातों के अनुसार आजीविक संप्रदायानुयायी कुल की धर्मा (महावंशटीका, ५, पृ० १२५)।

भ्राता—सिंहली ग्रंथों में कनिष्ठतम सहोदर भ्राता तिष्य और उत्तरी ख्यातों के अनुसार विगताशोक या वीताशोक। कुछ किंवदन्तियों में महेन्द्र भी। ज्येष्ठ और विमाता-पुत्र सुमन या सुषीम।

पत्नियाँ—(१) सिंहली पुस्तकों में वेदिशगिरि की देवी; (२) अभिलेखों में दूसरी रानी कारुवाकी; (३) असन्धिमित्रा; (४) पद्मावती (दिव्यावदान, २७); (५) तिष्यरक्षिता (वही)।

पुत्र—(१) देवी से उत्पन्न महेन्द्र; (२) कारुवाकी से जन्मा तीवर; (३) पद्मावती से कुणाल; (४) राजतरङ्गिणी का जलौक।

---

१ मुकर्जी : Men and Thought in Ancient India, पृ० १५१-५२।

पुत्रियाँ—देवी की पुत्री संघमित्रा और चारुमती जो देवपाल क्षत्रिय से ब्याही थी और नैपाल में बस गयी।

जामाता—संघमित्रा का पति अग्नि-ब्रह्मा और चारुमती का पति देवपाल क्षत्रिय।

पौत्र—संघमित्रा का पुत्र सुमन ; दशरथ ; और कुणाल का पुत्र सम्प्रति।

परिशिष्ट (ख)

मौर्यों का वंश-वृक्ष[1]

चन्द्रगुप्त मौर्य (लगभग ३२१-२९७ ई० पू०)

बिन्दुसार (२९७-२७२ ई० पू०)

सुषीम या सुमन — अशोक (२७२-२३२ ई० पू०) — तिष्य — अन्य पुत्र (९९)

(अशोक की पत्नियाँ—देवी, पद्मावती, असन्धिमित्रा, कारुवाकी और तिष्यरक्षिता)

अशोक के पुत्र: कुणाल या सुयशस् (?) (२३२-२२४ ई० पू०) — जलौक — तीवर

कुणाल के पुत्र: दशरथ (बन्धुपालित ?) (२२४-२१६ ई० पू०) — सम्प्रति (इन्द्रपालित ?) (२१६-२०७ ई० पू०)

शालिशूक (बृहस्पति ?)

(कुछ पुराणों के अनुसार राज्यकाल १३ वर्ष, अन्य उसका नाम ही नहीं देते। संभवतः उसने स्वल्पकाल तक राज्य किया—शायद एक-दो साल—२०७-२०६ ई० पू० ?)

देववर्मन् या सोमशर्मन् (लगभग २०६-१९९ ई० पू०)

शतधनुस् या शतधन्वन् (लगभग १९९-१९१ ई० पू०)

बृहद्रथ (लगभग १९१-१८४ ई० पू०)।

---

1 त्रिपाठी : History of Ancient India, पृ० १८२।

परिशिष्ट (ग)

तिथियों की अनुमित तालिका

ई० पू०

३२६-२५ सिकन्दर का भारत पर आक्रमण और चन्द्रगुप्त की उससे पंजाब में भेंट।
३२४ सिकन्दर के शासन के विरुद्ध पंजाब में विद्रोह का प्रारंभ।
३२३ सिकन्दर की बाबुल में मृत्यु।
३२३-२२ यूनानी सेनाओं का चन्द्रगुप्त द्वारा सीमाप्रांत से निष्कासन।
३२२-२१ चन्द्रगुप्त द्वारा नन्दवंश का नाश और स्वयं उसका राज्याभिषेक।
३१२ सिल्यूकस का बाबुल पर अधिकार और उसके संवत् का आरंभ।
३०५ सिल्यूकस का भारत पर आक्रमण और उसकी चन्द्रगुप्त द्वारा पराजय।
३०४ सन्धि-नियमानुसार हिन्दूकुश पर्यंत देश पर चन्द्रगुप्त का अधिकार।
३०२ राजदूत मेगस्थनीज का पाटलिपुत्र में आगमन।
२९८ बिन्दुसार का राज्याभिषेक और राजदूत देईमेकस का आगमन।
२८० सिल्यूकस की मृत्यु। अन्तियोकस का उसका वारिस होना।
२७२ बिन्दुसार की मृत्यु और अशोक का राज्यारोहण।
२६९-६८ अशोक का राज्याभिषेक।
२६१ कलिंग-विजय और अशोक का बौद्ध धर्म ग्रहण।
२५९ अशोक द्वारा धर्म महामात्रों की नियुक्ति। राजा का आखेट बन्द।
२५७-५६ चतुर्दश शिलालेख और दो कलिंग-लेख।
२५२ मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में तीसरी बौद्ध संगीति का अधिवेशन।
२५१-५० महेन्द्र और संघमित्रा का धर्मप्रचारार्थ लंका को प्रस्थान।
२४९ बौद्ध तीर्थों के प्रति अशोक की धर्म-यात्रा।
२४८ बैक्ट्रिया और पार्थिया का सीरियक साम्राज्य से सफल विद्रोह।
२४२ सप्त स्तंभ-लेख।
२३२ अशोक की मृत्यु। कुणाल का राज्यारोहण। जलौक द्वारा काश्मीर में स्वतंत्र राज्य की स्थापना।
२३० सीमुक सातवाहन द्वारा आन्ध्र देश में स्वतंत्र राज्य की स्थापना।
२२४ अशोक के पौत्र दशरथ का मगध में और सम्प्रति का उज्जैन में राज्यारोहण (?)।
१८५-८४ सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग द्वारा अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का वध और मगध पर अधिकार।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. स्मिथ : Asoka
२. मुकर्जी : Asoka
३. भण्डारकर : Asoka
४. मुकर्जी : Men and Thought in Ancient India
५. स्मिथ : Early History of India

४

बारहवाँ परिच्छेद

ब्राह्मण-साम्राज्य

१. शुङ्ग वंश[1]

पुष्यमित्र

मौर्य-साम्राज्य के अनेक प्रांत स्वतंत्र हो गये थे। दक्षिण में दुर्धर्ष आंध्र-सातवाहनों ने तलवार से अपनी कीर्ति लिखनी शुरू कर दी थी। पूर्व में कलिंगराज खारवेल ने अपना साम्राज्य खड़ा किया और नन्द तथा अशोक द्वारा कलिंग-पराभव का दो दो बार मगध को तिरस्कृत कर प्रतिशोध लिया। उत्तर-पश्चिम से मौर्यों का राज्य कब का उठ चुका था। ग्रीक, शक, पार्थव कब से भारत पर ताक लगाए बैठे थे। पंजाब के हृदय और सिन्ध-काठियावाड़ तक उनके हमले होने लगे थे। काबुल की घाटी में सिल्यूकस को धूल चटानेवाला न तो चन्द्रगुप्त रह गया था और न झेलम पर सिकन्दर से जमकर लोहा लेनेवाला पुरु। पिछले मौर्य राजाओं को अपने गृह-संघर्ष से ही छुट्टी न थी। जैन-बौद्ध संस्कारों से अनुप्राणित उनमें तलवार पकड़ने की शक्ति न थी। क्षत्रियों की यह दशा देख द्रोण, कृप और अश्वत्थामा की परंपरावाले ब्राह्मणों ने देश की राजनीति अपने हाथ में ली और उसका

१ शुंगों के संबंध की ऐतिहासिक सामग्री कई स्थलों से उपलब्ध होती है। इनमें साहित्य और अभिलेख मुख्य हैं। साहित्य के निम्नलिखित ग्रंथों से इस युग पर प्रकाश पड़ता है—(१) पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर महर्षि पतञ्जलि का 'महाभाष्य', (२) ज्योतिष-ग्रंथ गार्गी-संहिता का युग-पुराण, (३) दिव्यावदान, (४) कालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्र', (५) पुराण, (६) हर्षचरित और (७) तिब्बती तारानाथ का इतिहास। अयोध्या के दो अभिलेख भी पुष्यमित्र के उपलब्ध हैं।

पाँसा पलट दिया। 'प्रतिज्ञा-दुर्बल' राजा बृहद्रथ जब मैदान में सेना का निरीक्षण कर रहा था तभी उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने लगभग १८४ ई० पू० उसे बाण से मार डाला। तत्काल वह मगध के मौर्य सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। यह पुष्यमित्र कौन था ?

पुष्यमित्र भरद्वाज गोत्र का ब्राह्मण था। 'शौङ्गीपुत्र' उपनिषद्-काल के एक प्रसिद्ध विद्वान् का नाम था, जो शुङ्ग-कुल की एक पुत्री से जन्मा था। स्वयं वैयाकरण पाणिनि ने शुङ्गों को भारद्वाजगोत्रीय कहा है। अन्य ग्रंथों में भी उनके ब्राह्मण होने का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में तो उन्हें अध्यापक-आचार्य कहा गया है।[1] तारानाथ पुष्यमित्र को 'एक राजकुल का पुरोहित' और 'ब्राह्मण-राजा'[2] कहता है।

इस ब्राह्मण का इतिहास रक्तरंजित है। रक्त से इसने अपना राज्य आरंभ किया था, रक्त ही से बहुत अंशों में उसने उसे कायम रखा। उसके युद्ध, अश्वमेध, बौद्धों के प्रति आचरण, सभी रक्तिम हैं। ब्राह्मण-धर्म का वह प्रबल उद्धारक था। सदियों से ब्राह्मण-धर्म मूर्छित हो रहा था। उसने उसे पुनरुज्जीवित किया। बौद्ध और जैन प्रभाव से जीवहिंसा रुक गयी थी और अश्वमेधों की परंपरा नष्ट हो गयी थी। पुष्यमित्र ने दो-दो अश्वमेध करके फिर से उनकी प्रतिष्ठा की। प्रारंभ से अन्त तक उसका संबंध उसकी सेना से बना रहा। सेना उसके इशारों पर नाचती थी। इसी कारण जब उसने बृहद्रथ का बध किया, वह खड़ी ताकती रही। उसकी इस कार्य में पूरी सहानुभूति थी। सेना से निरंतर अपने घने संबंध के कारण ही पुष्यमित्र ने अपने को केवल 'सेनापति' कहा। इतने समृद्ध और विस्तृत साम्राज्य का अधिपति होकर भी उसने कहीं अपने को सम्राट् या राजा नहीं कहा। उसके अपने अभिलेखों और साहित्य के पिछले स्तरों में सर्वत्र उसके प्रति 'सेनापति' का ही विरुद व्यवहृत हुआ है। इससे उसकी सेना के प्रति सद्भाव विदित होता है। इसी सेना के बल पर उसने अपनी शक्ति स्थिर रखी। बाद के दिनों में अवश्य उसने शान्तिपूर्वक राज्य किया।

ब्राह्मण-धर्म का पुनरुज्जीवन

पुष्यमित्र के राज्य की तीन मुख्य घटनाएँ थीं—(१) अश्वमेध, (२) विधर्म की विजय और (३) यवनों (ग्रीकों) से युद्ध।

पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध किये। इसी कारण उसके अयोध्यावाले लेख में उसे 'द्विरश्वमेधयाजी'[3] कहा गया है। अश्वमेध के प्रति संकेत महर्षि पतञ्जलि के 'महाभाष्य' और कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में भी मिलता है। महाभाष्य के एक उदाहरण—इह पुष्यमित्रं याजयामः—से तो संकेत मिलता है कि संभवतः उस यज्ञ में ऋत्विज् का कार्य संभवतः

---

१ १२,१३,५, देखिए Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३०७-३०८। २ शीफनर का अनुवाद, अध्याय १६

३ Epigraphia Indica, २० (अप्रैल १९२९), पृ० ५४-५८।

महर्षि ने स्वयं किया था। जायसवाल का विचार है कि दूसरा अश्वमेध पुष्यमित्र ने खारवेल

अश्वमेध

द्वारा पराभव के बाद पराजय का अपमान मिटाने के लिए किया था। परन्तु जैसा परिशिष्ट में दिखाया जायेगा, खारवेल और पुष्यमित्र समकालीन न थे। खारवेल, शालिशूक मौर्य और दिमित (Demetrios) वह्लीक यवन एक वर्ग के समकालीन थे और पुष्यमित्र तथा शाकल का यवनराज (ग्रीक) मिलिन्द (Menander) दूसरे के। संभवतः पुष्यमित्र ने प्रतिकारस्वरूप ही अश्वमेध किये; परन्तु वह खारवेल के आक्रमण के बाद नहीं, मिलिन्द के हमले के बाद। पहला अश्वमेध संभवतः उसने बृहद्रथ-वध और अपने सिंहासनारूढ़ होने के शीघ्र बाद और दूसरा मिलिन्द के आक्रमण के पश्चात् किया। मौर्यों के क्षत्रिय बन्धु-बान्धव और बौद्ध बृहद्रथ के वध के बाद चुप न बैठ रहे होंगे। बृहद्रथ का वध, उसके 'प्रतिज्ञादुर्बल' होने के कारण शास्त्रानुमोदित था, यह सिद्ध करने और शत्रुओं के ऊपर आतंक जमाने के लिए पहला अश्वमेध आवश्यक था। दूसरा अश्वमेध संभवतः ग्रीक आक्रमण के बाद हुआ। बौद्ध ग्रंथ 'मिलिन्दपह्न' से प्रमाणित है कि मिनान्दर बौद्ध हो गया था। कुछ ताज्जुब नहीं कि बृहद्रथ के विध्वंस के बाद धर्मद्वेषी घोर हिंसक और ब्राह्मण-धर्म के पुनरुज्जीवक पुष्यमित्र के नाश के लिए बौद्ध अपने संरक्षक मिनान्दर को उसके विरुद्ध चढ़ा लाये हों। वह आक्रमण निस्सन्देह बड़ी विपत्ति का रहा होगा, परन्तु चूँकि उसमें ग्रीकराज पराजित हुआ और संभवतः उसी युद्ध में मारा गया, पुष्यमित्र ने दूसरे अश्वमेध की आवश्यकता समझी होगी जिससे वह अपनी सत्ता पंजाब के सिन्धु नद तक जमा सके। दूसरे अश्वमेध के प्रति ही संभवतः मालविकाग्निमित्र और महाभाष्य के संकेत हैं। मालविकाग्निमित्र[1] में सिन्धु नद के दक्षिण तट पर पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र द्वारा यवनों के हारने की बात लिखी है। डाक्टर स्मिथ की राय में इस सिन्धु से तात्पर्य बुन्देलखंड की नदी काली सिंधु से है। परन्तु, जैसा नीचे दिखाया जायगा, वास्तव में यह पंजाब की नदी सिन्धु है। इन अश्वमेधों का संबंध ग्रीक आक्रमण और विदर्भ-विजय से भी है। अतः उनका वर्णन यहाँ आवश्यक है।

इस काल में भारत पर कुछ यवन-आक्रमण हुए, यह साहित्य के अनेक स्थलों से प्रमाणित है। गार्गी-संहिता, पतंजलि के महाभाष्य और कालिदास के मालविकाग्निमित्र में

यवन-आक्रमण

यवन-संघर्ष के प्रति अनेक उल्लेख हैं। गार्गी-संहिता में जो 'युगपुराण' नामक स्कन्ध है, उसकी रचना पुष्यमित्र के शीघ्र बाद संभवतः प्रथम शती ई० पू० में हो चुकी थी। उसमें वह्लीक के यवन राजा धर्ममीत (हाथीगुम्फा के शिलालेख का दिमित, ग्रीक इतिहासकारों का Demetrios) के भारत-आक्रमण का विशद् वर्णन है जिसमें 'दुष्टविक्रान्त यवनों' के पाटलिपुत्र तक पहुँच जाने का जिक्र है। उसमें लिखा है कि कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) पहुँचने के पूर्व यवनों ने मथुरा, पंचाल देश और साकेत को जीता। पुष्यमित्र के समकालीन और 'महाभाष्य' के रचयिता अपने ग्रंथ में कहते हैं—अरुणद् यवनः साकेतम् (यवन ने साकेत को घेरा), अरुणद् यवनो

---

१ अंक ५।

मध्यमिकाम् (यवन ने मध्यमिका घेरी)। अनद्यतन भूतक्रिया को उदाहृत करने के लिए वैयाकरण ने इन उद्धरणों का प्रयोग किया है। इस क्रिया का उपयोग उस भूतकाल के संबंध में होता है, जो बीत चुका हो ; परन्तु वक्ता के जीवनकाल में ही घटित हुआ हो। मालविकाग्निमित्र के उल्लेख से जान पड़ता है कि सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर अश्वमेध के अश्व-रक्षण के संबंध में पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र ने यवनों के कुमक को हराया था। परिशिष्ट में इसपर विस्तृत रूप से विचार किया गया है कि यह सिन्धु नदी कौन थी और यह यवन-विजेता कौन था। यहाँ पर यह कह देना काफी होगा कि विद्वान् इस यवन-आक्रमण के संबंध में एकमत नहीं हैं। कुछ का विचार है कि वह दिमित (Demetrios) था और अन्य उसे मिनान्दर समझते हैं। वास्तव में यवनों द्वारा किये दो आक्रमणों के प्रमाण हमें उपलब्ध हैं। चूँकि साकल के राजा मिनान्दर के पाटलिपुत्र के रास्ते में साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (चित्तौर के पास की नगरी) दोनों नहीं पड़ सकते, इससे जैसा टार्न का मत है,[1] जान पड़ता है दिमित और उसके जामाता-सेनापति ने दो ओर से एक ही साथ मगध पर आक्रमण किया था। दिमित सिन्धु नद के डेल्टा से होता हुआ राजपूताना को कुचलता पाटलिपुत्र पहुँचा और मिनान्दर मथुरा, पंचाल (फर्रूखाबाद) और अयोध्या होता हुआ। गार्गी-संहिता के अनुसार दिमित पाटलिपुत्र पहुँच गया था। इसकी पुष्टि खारवेल के हाथीगुम्फा में तत्कालीन लेख से भी होती है जिसमें उसके पाटलिपुत्र पहुँचने का संदेश सुनते ही 'योनराज' के मथुरा की ओर भाग जाने की बात लिखी है, यद्यपि दिमित उसके डर से नहीं, वरन् अपने प्रतिद्वन्द्वी युकेतिद (जिसने उसका वह्लीक का राज्य हड़प लिया था) से लोहा लेने के लिए तेजी से लौटा था। इस प्रकार गार्गी-संहिता और हाथीगुम्फा दोनों के लेख से प्रमाणित है कि दिमित का हमला हुआ था और वह पाटलिपुत्र तक पहुँच गया था। यदि हम यवनों के दो आक्रमण मानें तो पहेली आसानी से खुल जाती है। मिनान्दर साकल का राजा होने के पूर्व दिमित का सेनापति था और उस अधिकार से वह पहले आक्रमण में शामिल था। परन्तु उसने बाद में बौद्धों के उभाड़ने से मगध पर फिर हमला किया। अब तक वह दिमित के मध्य देश से लौट जाने के बाद, साकल का राजा और बौद्ध हो चुका था। परन्तु इस हमले में उसे मुँह की खानी पड़ी। ग्रीक इतिहासकार प्लूतार्च का कहना है कि मिनान्दर 'पूर्व में गंगा की घाटी में युद्ध करता हुआ मारा गया।'[2] अवश्य यह युद्ध तब पुष्यमित्र और उसके बीच था। यहाँ पर दिव्यावदान का प्रसंग लिख देना भी उचित होगा। उसमें लिखा है (जिससे तारानाथ भी सहमत हैं) कि पुष्यमित्र ने मगध से जलंधर तक के सारे बौद्ध विहारों को जला डाला और उनके श्रमणों को मरवा दिया। इसके अतिरिक्त उसने (मिनान्दर की राजधानी) साकल (स्यालकोट) में घोषणा की—"जो मुझे एक श्रवण-मस्तक देगा उसे

---

१ Greeks in Bactria and India, पृ० १४०, २१५, २१६।

२ Mor. 821, D—Tarn : Greeks in Bactria and India, पृ० १२८।

मैं सौ दीनार दूँगा।"[1] इस युद्ध में जब मिनान्दर मारा गया तब उसकी अरक्षित राजधानी साकल से ऐसा एलान असंभव नहीं। इसके बाद ही जो पुष्यमित्र ने दूसरा अश्वमेध किया, उसमें अश्वरक्षक की हैसियत से उसका पौत्र वसुमित्र पंजाब लाँघता हुआ सिन्धु तट पर पहुँचा जहाँ ग्रीक लोग इकट्ठे हुए थे और वहाँ उसने उनको पराजित किया। मालविकाग्निमित्र का यवन-युद्ध सीमा के सिन्धु-तट पर हुआ था।[2] इस प्रकार मगध से यवनों का तीन बार संघर्ष हुआ। पहली बार दिमित के साथ, जिसमें मिनान्दर भी शामिल था और जिसके प्रति गार्गी-संहिता, खारवेल के लेख और महाभाष्य में हवाला है। दूसरा, वह जो केवल मिनान्दर का था और जिसका हवाला प्लूतार्च में है। और तीसरा, वह जिसका संकेत मालविकाग्निमित्र में है, जो मिनान्दर की मृत्यु के बाद हुआ था। पहला हमला बृहद्रथ से तीन राज्यकालपूर्व शालिशूक के शासनकाल अथवा उसके शीघ्र बाद हुआ था ; क्योंकि युग-पुराण का वर्णन ठीक उसके बाद ही दिया हुआ है। इस युद्ध में—जो बृहद्रथवध से लगभग २० वर्ष पूर्व हुआ था—पुष्यमित्र शामिल न था। वह अभी तरुण था और यदि इस युद्ध में उसने भाग लिया था, तो सेना के साधारण नायक की हैसियत से। यह युद्ध महर्षि पतंजलि के स्मृतिकाल में ही हुआ होगा।

मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र के पुत्र और विदिशा (उज्जयिनी के पास) के वाइसराय अग्निमित्र द्वारा विदर्भ की विजय वर्णित है। उस नाटक में विदर्भराज यज्ञसेन

विदर्भ-विजय

को शुङ्गों का 'प्रकृत्यमित्र' कहा गया है। यज्ञसेन 'मौर्य मंत्री' का संबंधी कहा गया है। जान पड़ता है कि बृहद्रथ के बध के समय विदर्भ-साम्राज्य से निकल गया था। विदर्भ-विजय का कार्य पिता ने पुत्र को सौंपा। अग्निमित्र ने यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन को मिला लिया। माधवसेन अपनी भगिनी मालविका को अग्निमित्र से विवाह-संबंध के अर्थ लिए आ रहा था जब यज्ञसेन ने उसे बन्दी कर लिया। अग्निमित्र ने उसे छोड़ देने को लिखा। इसपर विदर्भराज ने बराबरी का दावा करते हुए लिखा कि यदि आप मेरे संबंधी 'मौर्य-सचिव' (जिसे अग्निमित्र ने बन्दी कर लिया था) को मुक्त कर दें, तो मैं भी माधवसेन को छोड़ दूँगा। अग्निमित्र ने इसके बाद सेना भेजकर विदर्भ ले लिया। विदर्भ यज्ञसेन और माधवसेन में विभाजित कर दिया गया।

ऊपर के निरूपण से स्पष्ट हो गया होगा कि पुष्यमित्र के साम्राज्य की सीमा उत्तर-पश्चिम में पंजाब के सिन्धु नद तक थी। दिव्यावदान और तारानाथ के वक्तव्यानुसार साकल

साम्राज्य की सीमा

और जलन्धर शुङ्ग-साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अयोध्या पर पुष्यमित्र का शासन था। यह उसके वहाँ पाये गये लेखों से ही प्रमाणित है। मोर्या-

---

१ यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि। —दिव्यावदान, कावेल और नील द्वारा संपादित, पृ० ४३३-३४।

२ Indian Historical Quarterly, १९२९, पृ० २१४; Journal of U. P. Historical Society, जुलाई १९४१, पृ० ९-२०।

मालविकाग्निमित्रं से अग्निमित्र का विदिशा का शासक होना सिद्ध ही है। इस प्रकार साम्राज्य की दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी थी।

ब्राह्मण-धर्म के उद्धारकर्त्ता के रूप में पुष्यमित्र बौद्ध-धर्म के प्रति असहिष्णु था। बौद्धों के प्रति उसके अत्याचार की कथा जो दिव्यावदान और तिब्बती इतिहासकार ने दी है, उसका हवाला ऊपर दे आये हैं। कुछ अतिशयोक्ति मानते हुए भी इन कथाओं की ऐतिहासिकता माननी पड़ेगी। परन्तु यवन-आक्रमणों और पंजाब की विजय के बाद पुष्यमित्र काफी सहिष्णु हो गया जान पड़ता है, वरन् लगभग उसी काल में उसी के राज्य में (नागोद राज्य के) भारहुत के बौद्ध स्तूप और वेदिकाएँ (रेलंग) कैसे निर्मित हो सकती थीं? साँची-स्तूप के तोरण-द्वार का तक्षण विदिशा के हस्तिदंत के कलाकारों द्वारा किया हुआ माना जाता है। पुष्यमित्र के दक्षिणी शासन-केन्द्र के अन्तर्गत ही वहीं (विदिशा) के कलावन्तों द्वारा यह काम तभी संभव था जब उस 'सेनापति' की उसमें अभिरुचि रही होगी।

बौद्धों के प्रति अत्याचार

प्रायः ३६ वर्ष राज्य करके पुष्यमित्र लगभग १४८ ई० पू० के मरा। जान पड़ता है उसके आठ पुत्र थे। वायुपुराण के अनुसार पिता ने इन आठों पुत्रों के बीच अपना साम्राज्य बाँट दिया।[1] साम्राज्य का साधारण शासन अग्निमित्र के कन्धों पर पड़ा। पिता के जीवनकाल में वह विदिशा का शासक रह चुका था। उसने लगभग आठ वर्ष राज किया। उसके बाद उसका अनुज सुज्येष्ठ अथवा जेठमित्र (ज्येष्ठमित्र) राजा हुआ। कुल का तीसरा राजा अग्निमित्र का पुत्र और पुष्यमित्र का पौत्र वसुमित्र हुआ। शुङ्ग-कुल में सब दस राजा हुए; परन्तु उनके संबंध की सामग्री नहीं के बराबर है। इनमें से पाँचवाँ ओद्रक और नवाँ भागवत था। तक्षशिला के ग्रीक राजा अन्तलिखित ने दियपुत्र हेलियोदोर को अपना राजदूत बनाकर मगध भेजा था। यह दूत वैष्णव था और इसने विष्णु के नाम पर बेसनगर (ग्वालियर राज्य) में एक स्तंभ खड़ा कराया। उसपर उत्कीर्ण लेख में मगधराज काशीपुत्र भागभद्र का उल्लेख है, जो ओद्रक अथवा भागवत में से कोई हो सकता है। शुङ्ग-वंश का अन्तिम राजा देवभूति था। वह परस्त्रीगामी और कामुक था। विष्णुपुराण के अनुसार वसुदेव नामक मंत्री ने अपने व्यसनी स्वामी शुङ्गराज देवभूति को मार डाला और स्वयं उसकी गद्दी ले ली।[2] हर्षचरित में उस वध का तरीका दिया गया है। उसमें लिखा है कि देवभूति के मंत्री वसुदेव ने उसकी दासी-पुत्री को उसकी सम्राज्ञी के रूप में भेजकर उससे उस मदनमथित कामुक की हत्या करा दी।[3]

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी

---

१ पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः।

२ देवभूतिं तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनीं भोक्ष्यति। विष्णुपुराण (गीता प्रेस का), ४, अध्याय २४, ३९, पृ० ३५२।

३ अतिस्त्रीसङ्गरतमनङ्गपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्। हर्षचरित (बंबई का), ६, पृ० १९९।

शुङ्ग-काल में ब्राह्मण-धर्म के उत्थान के साथ-साथ संस्कृत-साहित्य की भी उन्नति हुई। गोनर्द के महर्षि पतञ्जलि ने ,जो पुष्यमित्र के समकालीन और ऋत्विज् थे, पाणिनि के व्याकरण पर अपना प्रसिद्ध 'महाभाष्य' तभी लिखा। यवनों से इस काल में संघर्ष काफी हुआ, परन्तु कुछ काल के लिए वे दबा दिये गये। बाद में जैसा तक्षशिला के राजा अन्तलिखित के आचरण से जान पड़ता है, ग्रीक भारतीय राजाओं से मित्रता रखना उचित समझने लगे थे। ब्राह्मण-धर्म की भी इस काल में खूब उन्नति हुई। बौद्ध-धर्म ने जो उसे ग्रस लिया था, उस ग्रहण से उसका मोक्ष हो गया। अश्वमेधों की परंपरा फिर चली, यज्ञानुष्ठान फिर होने लगे। विदिशा और घोसुंडी (राजपूताना) के लेखों से विदित होता है कि वैष्णव धर्म का प्रचार जोरों से हो चला था। अनेक ग्रीकों ने भी भागवत-धर्म स्वीकार कर लिया था, जो बेसनगर के स्तंभ-लेख से जाहिर है। विदिशा में हाथी-दाँत में काम करनेवाले कलावन्त थे जिन्होंने साँची-स्तूप का विख्यात तोरणद्वार उत्कीर्ण किया था। भारहुत (नागोद राज्य में) स्तूप की पाषाणवेष्टनी (वेदिका—रेलिंग) भारतीय तक्षण-कला का एक अनमोल रत्न है, जो उस काल ही निर्मित हुई थी।

शुङ्गकालीन संस्कृति

काव्य, इतिहास आदि पर भी इस काल में पुस्तकें रची गयीं। महाभारत और रामायण का अधिकांश शायद इसी काल के हैं। मनुस्मृति की रचना भी संभवतः इसी शुङ्ग-युग में हुई।

२. कण्व-कुल

पुराणों के अनुसार शुङ्ग-कुल का ११२ वर्षों तक राज्य रहा। काण्वायन वसुदेव ने लगभग ७२ ई० पू० में शुङ्गों का नाश किया। वह पहले देवभूति का मंत्री था। दासी-पुत्री द्वारा उस कामुक राजा की हत्या कराकर वह स्वयं मगध की गद्दी पर बैठा। कण्वों का कुल भी ब्राह्मण था। इसमें चार राजा[1]—वसुदेव, भूमिमित्र, नारायण और सुशर्मन्—हुए। उन सबके राज्यकाल का जोड़ केवल ४५ वर्ष है। उनका अन्त किसी सातवाहन राजा ने किया। पुराणों के अनुसार आंध्रों का आरंभ कण्व वंश के बाद लगभग २७ ई० पू० में हुआ। परंतु आंध्रों के संबंध की पुराणों की गणना और वंशक्रम अत्यन्त दूषित है। वास्तव में सिमुक कण्वों का नाश करनेवाला नहीं हो सकता। आंध्र-सातवाहन-कुल की स्थापना बहुत पूर्व ई० पू० २२० के लगभग ही हो चुकी थी और वे संभवतः अशोक के निधन के बाद ही स्वतंत्र हो गये थे। कण्वों को 'शुङ्गभृत्य' भी कहते थे और उनके अन्तिम राजा सुशर्मन् को मारकर सिमुक से भिन्न किसी अन्य सातवाहन राजा ने मगध पर ई० पू० २७ के लगभग अधिकार कर लिया।

---

१ चत्वारः शुंगभृत्यास्ते नृपाः काण्वायना द्विजाः।

परिशिष्ट (क)

शुङ्गों का वंशक्रम

संख्या	नाम	राज-काल की वर्ष-संख्या
१	पुष्यमित्र	३६ वर्ष
२	अग्निमित्र	८ ,,
३	सुज्येष्ठ अथवा वसुज्येष्ठ	७ ,,
४	वसुमित्र	१० ,,
५	आद्रक अथवा ओद्रक	२ ,,
६	पुलिन्दक	३ ,,
७	घोष	३ ,,
८	वज्रमित्र	९ ,,
९	भागवत	३२ ,,
१०	देवभूति अथवा देवभूमि	१० ,,
		जोड़ १२० वर्ष

(पुराणों में जोड़ तो ११२ वर्ष ही है, परन्तु उनमें की गणना से निकलते हैं १२० वर्ष)

परिशिष्ट (ख)

कण्व-कुल-क्रम

१	वसुदेव	९ वर्ष
२	भूमिमित्र	१४ ,,
३	नारायण	१२ ,,
४	सुशर्मन्	१० ,,
		जोड़ ४५ वर्ष

३. आंध्र-सातवाहन-साम्राज्य

दक्षिण का सातवाहन-कुल भी शुङ्गों और कण्वों की भाँति ब्राह्मण-कुल ही था। स्वयं इस कुल के अभिलेख इसके राजाओं को ब्राह्मण कहते हैं। नासिक-लेख में गौतमीपुत्र 'परशुराम-सा पराक्रमी एक ब्राह्मण' कहा गया है।[1] उसी लेख में उसे 'क्षत्रियों का दर्प और मान चूर्ण करनेवाला'[2] भी कहा गया है। डा० काशीप्रसाद जायसवाल[3] की राय में इस लेख से गौतमीपुत्र का परशुराम की भाँति प्रबल

आरंभ

१ Epigraphia Indica, ८, पृ० ६०, ६१, पंक्ति ७.

२ वही, पंक्ति ५—खतियदपमानमदनस।

३ बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी का जर्नल, खंड १६, भाग ३-४, पृ० २६५-६६.

ब्राह्मण होना सिद्ध है। सातवाहन-कुल ब्राह्मण था, इसमें किसी प्रकार का सन्देह न होना चाहिए। कुछ विद्वानों ने सातवाहनों को अशोक के लेखों के 'सतियपुतों' और कुछ ने प्लिनी के 'सेताइ' से मिलाया है, जो केवल दिमागी उड़ानमात्र मालूम होता है। पुराणों में सातवाहनों को निरंतर आंध्र कहा गया है। परंतु सातवाहन स्वयं अपने लेखों में अपने को आंध्र न कहकर 'सातवाहन' अथवा 'शातकर्णि' कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इस कारण कि उनके प्राचीनतम लेख नानाघाट (पूना जिला) और साँची (मध्य भारत) से मिले हैं, उनको आंध्रों से भिन्न कहा है। इस आधार पर कोई निष्कर्ष वास्तव में नहीं निकाला जा सकता ; क्योंकि लेख राजनीतिक परिस्थितियों और व्यक्तिगत कारणों से भी स्थान-विशेष में खुदवाये जा सकते हैं। जिन कारणों से वे लेख सातवाहनों ने नानाघाट और साँची में खुदवाये, उनका निर्णय करने की सामग्री इस समय हमारे पास नहीं है। विद्वानों ने विविध[1] स्थानों पर उनका मूलस्थान ढूँढ़ा है, परन्तु उनका देश—कम से कम आंध्रों का—संभवतः गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच के तेलुगूभाषी प्रान्त था। पुराणों ने सातवाहनों को आंध्र कहा है, जो निस्सन्देह प्राचीन अनुश्रुति पर अवलंबित है। पुराण तिथि अथवा वंशानुक्रम में तो गलती कर सकते हैं, की है (विशेषकर आंध्रों के संबंध में) ; परन्तु उनके आंध्र न रहते उनको यह संज्ञा देना संभव न हो सकता। इसलिए सातवाहनों को आंध्र मानने में आपत्ति न होनी चाहिए। हम यहाँ आंध्र और सातवाहन शब्दों को पर्याय नामों के अर्थ में प्रयुक्त करेंगे। आंध्र निस्सन्देह अत्यन्त प्राचीन और समृद्ध जाति के थे। ऐतरेय ब्राह्मण तक में उनका उल्लेख मिलता है यद्यपि वहाँ वे अनार्य जातियों की शृंखला में गिनाये गये हैं। मेगास्थनीज कहता है कि इनकी सेना मौर्य-सेना के बाद सबसे शक्तिशाली थी। इस विशाल सेना के साथ उनका मौर्य-साम्राज्य के दुर्बल पड़ जाने पर उसके शासन से स्वतंत्र हो जाना साधारण ही था। उस शासन से सबसे पहले संभवतः आंध्र ही स्वतंत्र हुए थे और उन्होंने शीघ्र अपना साम्राज्य खड़ा कर लिया था।

सातवाहन-तिथि

सातवाहनों का इतिहास आरंभ करने के पूर्व उनके तिथि-क्रम पर एक नजर डाल लेनी उचित है। यों तो प्राचीन भारतीय इतिहास के तिथि-क्रम में अनन्त गुत्थियाँ हैं जिनका सुलझाना कठिन है ; परन्तु कुछ तो ऐसी हैं जिनके ऊपर विद्वानों का इतना मत-वैषम्य है कि उनकी तिथियों में सदियों का अन्तर पड़ जाता है। आंध्र-सातवाहनों की तिथियाँ भी उन्हीं जटिलताओं में से हैं। डा० भण्डारकर, रायचौधरी और त्रिपाठी उन्हें पहली सदी ई० पू० के मध्य के आस-पास रखते हैं और जायसवाल आदि तीसरी सदी ई० पू० के मध्य में। पहला वर्ग वायु-पुराण को प्रमाण मानता है जिसमें सातवाहन-राज्य-काल का जोड़ ३०० वर्ष दिया है और सुशर्मा कण्व को मारकर सिमुक का

---

१ डा० सुक्थंकर—बेलारी जिला (Ann. of Bhand. Inst. १९१८-१९, पृ० २१.) डा० रायचौधरी—मध्यदेश के ठीक दक्षिण का देश (Political History of Ancient India. चतुर्थ सं, पृ० ३४२.) मीराशी—बरार अथवा वेनगंगा के दोनों तट (J. N. S. I., खण्ड २, पृ० ९४)।

सातवाहन-राज्य प्रस्थापित करना लिखा है।[1] दूसरा वर्ग मत्स्य-पुराण को प्रमाण मानता है जिसमें उनके राज्य-काल का जोड़ ४६० वर्ष दिया हुआ है। यह दूसरा पक्ष अधिक सही जान पड़ता है; क्योंकि इसके साथ कुछ अन्य प्रमाण भी संबद्ध हैं। पहली बात तो यह है कि आंध्रों की जाति प्राचीन थी जिसकी सेना और शक्ति को सिल्यूकस के ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज ने सराहा है। दूसरी यह कि यदि आंध्र मौर्य-साम्राज्य के बिखरते ही संभवतः अशोक की मृत्यु के बाद ही (अशोक की मृत्यु - २३२ ई० पू०) स्वतंत्र हो गये तो लगभग दो सौ वर्षों तक करते क्या रहे ? और तीसरी जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह है कि इस सातवाहन-कुल का संबंध कुछ अन्य कुलों के साथ भी जुड़ा हुआ है, जैसे चेदिवंशीय कलिंगराज खारवेल के साथ एक ओर, पश्चिमी शकों के साथ दूसरी ओर। इतना जरूर है कि इन कुलों की ठीक तिथि भी ज्ञात नहीं। एक बात अवश्य कही जा सकती है। खारवेल आरंभ के शातकर्णियों से जुड़ा हुआ है और शक पिछले आंध्रवंशियों के समकालीन हैं। यदि हम मत्स्य-पुराणवाला वृत्तान्त और राज्य-काल का जोड़ मान लें, तो यह समस्या आसानी से हल ही नहीं हो जायगी, तिथियों का सीधा सामंजस्य हो जायगा—अर्थात् तीसरी सदी ई० पू० के तीसरे चरण से लेकर तीसरी सदी ईस्वी के पहले चरण तक। कम से कम खारवेल का समय अपेक्षाकृत निश्चित है; क्योंकि उसका सम्बन्ध 'योनराज दिमित' (युगपुराण का धर्ममीत, ग्रीक इतिहासकारों का Demetrios) से जुड़ा है। और यह दिमित भारतीय आक्रमक के रूप में शालिशूक मौर्य के राज्य-काल अथवा उसके शीघ्र बाद ही (जैसा कि गार्गी-संहिता के प्रथम शती ई० पू० के स्कंध युगपुराण का उल्लेख है) आया था। दिमित के आक्रमण की तिथि किसी रूप में १८० ई० पू० के बाद नहीं रखी जा सकती। इसके अतिरिक्त खारवेल के हाथीगुम्फावाले शिलालेख की ब्राह्मी ई० पू० द्वितीय शती की है और चूँकि इसकी लिपि सातवाहन-कुल के तृतीय राजा शातकर्णि के नानाघाट-वाली लिपि से मिलती है, शातकर्णि भी द्वितीय शती ई० पू० का हुआ। अतः आंध्र-सातवाहनों के राज्य-काल का आरंभ १४० ई० पू० के लगभग और उसका अन्त तीसरी सदी ईस्वी के पहले चरण के लगभग मानना चाहिए। अब इसमें एक ही कठिनाई रह जाती है वह सातवाहन-कुल के आदि पुरुष सिमुक अथवा शिसुक का सुशर्मा कण्व को मारकर उसका राज्य स्वायत्त करना। इसका उत्तर केवल यही है कि पुराणों ने नामों के संबंध में भ्रम किया है। किसी अन्य आंध्रवंशीय राजा ने सुशर्मा को मारा, सिमुक ने नहीं। पुराणों में नामांकन की इस प्रकार की गलतियाँ भरी पड़ी हैं। शैशुनागों की वंश-तालिका इसका ज्वलंत उदाहरण है।

सातवाहन-कुल का पहला राजा सिमुक अथवा शिशुक था। ई० पू० २४० के लगभग सिमुक ने सातवाहन-राज्य की स्थापना की। पुराणों की आंध्र-वंशावली में सिमुक का

---

१ काण्वायनस्ततो भृत्यः सुशर्माणं प्रसह्य तम्। शुङ्गानां चैव यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा। सिन्धुको ह्यन्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।

नाम सबसे पहले आया है। जान पड़ता है कि इस सातवाहन-कुल का राज्य शीघ्र पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच के देश पर फैल गया। सिमुक के बाद वहाँ का राजा उसका भाई कन्ह या कृष्ण हुआ। नासिक के एक शिलालेख में कन्ह के समय में वहाँ की एक प्रजा द्वारा एक गुफा के निर्माण का उल्लेख है। इससे प्रमाणित है कि नासिक पर्वत देश तब तक सातवाहनों के अधीन हो चुका था।

सिमुक और कृष्ण

सिमुक का पुत्र शातकर्णि इस कुल का तीसरा राजा हुआ। वह प्रसिद्ध विजेता था। नानाघाट के लेख से जान पड़ता है कि उसने भी पुष्यमित्र शुङ्ग की भाँति दो अश्वमेध किये और अनेक देश जीते। कलिंगराज खारवेल का यह शातकर्णि समकालीन था। खारवेल अपने शिलालेख में लिखता है कि शासन के दूसरे साल में उसने शातकर्णि के बल की अवहेलना कर उसके अधीन देशों में अपनी सेना भेजी। हाथीगुम्फा और नानाघाट की लिपियाँ समान हैं जिससे पता चलता है कि खारवेल के लेखवाला शातकर्णि नानाघाटवाले लेख के शातकर्णि एक ही व्यक्ति हैं। और चूँकि हाथीगुम्फा की लिपि द्वितीय शताब्दी ई० पू० की है, शातकर्णि और खारवेल दोनों उसी शती के हुए। शातकर्णि की रानी का नाम नयनिका या नगनिका था। वह अङ्गीयकुलीन महारठी त्रणकयिरो की दुहिता थी। शक्तिश्री और वेदश्री नामक उसके दो पुत्र थे। उनकी नाबालगी के काल में नयनिका ने राजकार्य सम्हाला था। शातकर्णि के बाद का सातवाहन-इतिहास कुछ काल तक अन्धकारमय हो जाता है। वैसे मत्स्य-पुराण में २९ राजाओं के नाम दिये हैं और उनके राज्य-काल का जोड़ ४६० वर्ष लिखा है; परन्तु इन नामों का पूर्वापर क्रम ठीक करना कुछ आसान नहीं।

शातकर्णि

इस प्रथम शातकर्णि और गौतमीपुत्र शातकर्णि के बीच के राजाओं में केवल हाल का नाम उल्लेखनीय है। हाल प्राकृत भाषा का महान् कवि था और उसकी गाथा-सप्तशती (सप्तशतक—सत्तसई) सात सौ सुन्दर पदों का काव्य-ग्रंथ है। साँची के स्तूप के तोरण पर एक लेख खुदा है जिसमें लिखा है कि राजा शातकर्णि के तक्षक ने उसपर उत्कीर्ण मूर्ति का निर्माण किया था। यह शातकर्णि कौन था, यह कहना कठिन है; क्योंकि इस नाम के अनेक राजा सातवाहन-कुल में हुए। इस लेख से एक बात अवश्य प्रमाणित हो जाती है। वह यह कि सातवाहन-साम्राज्य तब तक विदिशा तक फैल चुका था और साँची भी उसी के अन्तर्गत पड़ता था। चूँकि विदिशा पर शुङ्गवंशियों का राज्य अन्त तक (७२ ई० पू०) बना रहा, उसके बाद ही इस कुल के शातकर्णि नाम के किसी पश्चात्कालीन राजा ने विदिशा आदि के प्रान्त जीते होंगे। मध्य काल से पिछले काल तक निरंतर इन सातवाहनों का शकों से युद्ध होता रहा। कभी कुछ प्रान्त सातवाहन जीत लेते थे, कभी शक। शक नहपान का राज्य नासिक और पूना से लेकर मालवा, गुजरात, काठियावाड़ और राजपूताने में पुष्कर तक फैला हुआ था—यह उसके सिक्कों और शिलालेखों से प्रमाणित है। नहपान ने संभवतः ईसा की पहली सदी के मध्य में राज किया। अन्त में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षहरात-वंश का नाश कर उस राज्य का एक बड़ा भाग अपने साम्राज्य में मिला लिया। यह शातकर्णि सातवाहन-कुल का २३वाँ राजा था।

जब सातवाहनों के अन्धकार-युग के बाद पर्दा उठता है तब हम इस गौतमीपुत्र शातकर्णि को दक्षिण भारत के राजनीतिक रंगमंच पर खड़ा पाते हैं। वह बड़ा प्रतापी था। उसके पूर्व के अन्धकार-युग में शकों ने जो देश उसके पूर्वजों से जीते थे, उनको ११६ ई० के लगभग उसने फिर जीत लिया। उसकी राजमाता गौतमी बालश्री का नासिक की एक गुफा में जो लेख है, उसमें उसके पुत्र की प्रशस्ति खुदी है। उसमें लिखा है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षत्रियों के दर्प और मान का दलन किया और शक-यवन-पह्लव-क्षहरातों का नाश कर वर्णाश्रम-धर्म तथा सातवाहन-गौरव की पुनः प्रतिष्ठा की।[1] उस लेख में उसके जीते हुए प्रदेशों की भी एक तालिका दी हुई है जिससे ज्ञात होता है कि उसने पूर्व मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र, उत्तर कोंकण, नासिक और पूना के आसपास के प्रदेश, मध्यभारत और बरार को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया। ये प्रदेश पहले नहपान के राज्य में थे। इससे मालूम होता है कि उसने क्षहरातों का विशेष रूप से नाश किया। नासिक से चाँदी के सिक्कों का जो भाण्ड मिला है, उसमें नहपान के ऐसे सिक्के भी हैं जिनको गौतमीपुत्र ने अपनी राजमुद्रा से फिर अंकित किया। इससे भी शातकर्णि द्वारा क्षहरातराज नहपान का पराभव प्रमाणित है। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने अपने राज्य के अठारहवें वर्ष में नासिक के पास पाण्डु-लेण नाम की एक गुफा खुदवाई और २४वें वर्ष में एक लेख खुदवाया जिसमें कुछ संन्यासियों के भूमिदान का उल्लेख है।[2] इससे सिद्ध है कि उसने कम से कम २४ वर्ष राज किया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि

गौतमीपुत्र शातकर्णि का पुत्र वासिष्ठिपुत्र श्रीपुडुमावि था, जो १३० ईस्वी के लगभग पिता की गद्दी पर बैठा। पुडुमावि भी पिता की ही भाँति प्रतापी था। उसने आंध्र देश की विजय की। संभवतः यह देश बीच के युग में सातवाहनों के हाथ से निकल गया था। तालेमी का 'पैठन (बैठन) का राजा सिरोपोलेमायु' यही था। जान पड़ता है कि प्राचीन सातवाहनों की राजधानी कृष्णा-तट के श्रीकाकुलं से उठकर पश्चात्काल में पैठन आ गयी थी। जान पड़ता है कि वासिष्ठिपुत्र की लक्ष्मी भी अछूती न रह सकी और उज्जयनी के महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने उसे परास्त कर उसके राज्य के कुछ भाग छीन लिए। रुद्रदामन् के इस जूनागढ़वाले लेख में लिखा है कि 'दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार परास्त करके भी उसने उसे निकट का संबंधी होने के कारण न मारा।'[3] यह शातकर्णि वास्तव में पुडुमावि ही था। रैप्सन ने वासिष्ठिपुत्र श्रीपुडुमावि को कन्हेरी (थाना जिला) लेख का वासिष्ठिपुत्र श्री शातकर्णि माना है। उस लेख में इस वासिष्ठिपुत्र के महाक्षत्रप रुद्र (रुद्रदामन्) के

वासिष्ठिपुत्र श्रीपुडुमावि

---

१ खतियदपमानमदनस सकयवनपह्लवनिसूदनस······खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहन कुलयसपतिथापनकरस······

२ Epigraphia Indica, खण्ड ८, नं० ५, पृ० ७३–७४

३ दक्षिणापथपतेः सातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सा-दनात्प्राप्तयशसा—Epigraphia Indica, खण्ड ८, पृ० ३६–४९

जामाता होने का हवाला मिलता है। यदि दोनों वासिष्ठिपुत्र एक हैं, जो प्रमाणित जान पड़ता है, तो पुडुमावि को उज्जैन के महाक्षत्रप रुद्रदामन् का दामाद होना चाहिए। फिर भी जामाता होना श्वशुर से रक्षा का प्रतिबन्ध न था और रुद्रदामन् ने उसके अनेक प्रान्त छीन लिये। आन्ध्र-देश, मध्यभारत और कोरोमण्डल से पुडुमावि के सिक्के तथा नासिक, अमरावती और कन्हेरी से उसके लेख मिले हैं जिससे मालूम होता है कि इन प्रदेशों पर वासिष्ठिपुत्र पुडुमावि का शासन बना रहा। रुद्रदामन् द्वारा उसका पराभव १५० ईस्वी के पूर्व हुआ। पुडुमावि संभवतः १५५ ईस्वी के आस-पास मरा। मत्स्य-पुराण के अनुसार उसके पश्चात् शिवश्री राजा हुआ। इस शिवश्री के कुछ सिक्के भी मिले हैं।

यज्ञश्री-शातकर्णि

सातवाहन-कुल के पश्चात्कालीन राजाओं में यज्ञश्री-शातकर्णि सबसे प्रबल हुआ। डाक्टर स्मिथ ने इसका राज्य-काल १६६ ई० से १९६ ई० तक अनुमान किया है, जो संभवतः सही है। उसके लेखों और सिक्कों के विस्तार से जान पड़ता है कि उसने पूर्वी और पश्चिमी समुद्रों के बीच की सारी भूमि पर राज किया। कृष्णा जिले, कन्हेरी और पाण्डु-लेण (नासिक) से उसके लेख उपलब्ध हुए हैं। कृष्णा नदी के मुहानेवाला लेख उसके शासन के २७वें साल का है जिससे प्रमाणित है कि उसने एक लंबे काल, संभवतः ३० वर्ष तक राज किया। सातवाहन-कुल के अनेक हारे हुए प्रान्त उसने लौटा लिये। पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों के अनुकरण पर बने उसके सिक्के सौराष्ट्र तक मिले हैं। इस प्रकार काठियावाड़ भी उसके राज्य में शामिल हो गया था। मत्स्य, शंख और दो मस्तूलों की नौका के चित्रों से अंकित उसके सिक्कों से विदित होता है कि उसने समुद्र पर भी सिक्का जमा लिया था और उसके पास जंगी जहाजों के बेड़े भी थे।

यज्ञश्री-सातकर्णि के बाद के सातवाहनकुलीय राजा दुर्बल हुए। इनमें से केवल श्रीचन्द्र के कुछ सिक्के मिले हैं। किन कारणों से इस कुल का नाश हुआ, यह कहना कठिन है; परन्तु नये कुलों का उत्थान अवश्य उनमें से एक होगा। आभीरों ने शीघ्र सातवाहनों से महाराष्ट्र छीन लिया और इक्ष्वाकुवंशियों तथा पल्लवों ने उनके पूर्वी प्रान्तों पर सफल छापा मारा। लगभग साढ़े चार शताब्दियों का सातवाहन साम्राज्य २२५ ईस्वी के आसपास टूक-टूक होकर गिर पड़ा।

सातवाहन-युग की संस्कृति[1]

धार्मिक स्थिति

सातवाहनों के लेखों से दक्षिण-भारत के धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है। सातवाहन राजा सहिष्णु थे और उनके शासन-काल में बौद्ध और ब्राह्मण दोनों साथ-साथ फले-फूले। बौद्ध भिक्षुओं के लिए धनी उपासक चैत्यगृह और लेण (दरीगृह) बनवाने और उनके खर्च के लिए धन श्रेणियों के यहाँ जमा कर देते थे। इस मूलधन के व्याज से भिक्षुओं का व्यय चलता था। अश्वमेध, राजसूय, आप्तोर्याम आदि यज्ञ होते थे, जिनमें ब्राह्मण काफी दक्षिणा पाते थे।

---

१ भण्डारकर : Deccan of the Satavahan Period, Indian Antiquary, खण्ड ४७, (१९१८), पृ० १४९ से आगे।

शिव और कृष्ण की पूजा होती थी। हिन्दू-धर्म इतना उदार था कि वह यवनों तक को स्वीकार कर लेता था। कार्ले गुफा के एक लेख से विदित होता है कि दो यवनों ने हिन्दू नाम धारण किये थे। उनमें से एक सिंहध्वज और दूसरा धर्म कहलाता था। अन्तलिखित के ग्रीक दूत हेलियोदोर के भागवत होने का हवाला हम ऊपर दे ही आये हैं। इस काल में शक उषवदात (ऋषभदत्त) ब्राह्मण-धर्म का कट्टर भक्त था।

सामाजिक स्थिति

समाज में अनेक वर्ग थे। सबसे ऊपरी स्तर राष्ट्रों (जिलों) के शासकों से निर्मित था, जो महाभोज, महारठी, महासेनापति आदि की उपाधि धारण करते थे। अमात्य, महापात्र, भण्डागारिक आदि राजपुरुषों का एक अन्य वर्ग था जिसमें नैगम (सौदागर), सार्थवाह (व्यापारियों के मुख्य), श्रेणीमुख्य श्रेष्ठी (सेठ) भी शामिल थे। इनके अतिरिक्त समाज में वैद्य, लेखक, स्वर्णकार, गन्धी, कृषक (हलाकीय) माली, बढ़ई, लुहार, मछली मारनेवाले आदि थे।

आर्थिक स्थिति

एक ही वस्तु के व्यापारी 'श्रेणी' बनाकर रहते थे। कुम्हार, तेली, जुलाहों आदि की श्रेणियाँ थीं, जो प्राचीन काल में बैंक का काम करती थीं। इनके पास मूलधन (अक्षयनिधि) रख दिया जाता था। वह कभी क्षय नहीं होने पाता था और उसके व्याज से ही काम लिया जाता था। ताँबे और चाँदी के सिक्के 'कार्षापण' और सोने के 'सुवर्ण' कहलाते थे। ३५ कार्षापणों का एक सुवर्ण होता था। व्यापार खूब चलता था। पश्चिमी देशों के जहाज सौदागरी की चीजें भर-भरकर पश्चिमी समुद्र के बन्दरगाहों—भड़ोच (भृगुकच्छ), सोपारा और कल्याण—पर रुकते थे। तगर और पैठन नाम के नगर बीच देश के व्यापारिक केन्द्र थे। सातवाहन-काल के मध्य में व्यापार-संबंधी वह अद्भुत पुस्तक Periplus of the Erythrean Sea लिखी गयी जिसमें वाणिज्य की वस्तुओं का हवाला दिया गया है।

साहित्य

सातवाहन राजाओं ने ब्राह्मण होकर भी संस्कृत को नहीं बढ़ाया। उनकी भाषा प्राकृत थी। प्राकृत को ही उन्होंने बढ़ाया और राजभाषा का पद दिया। राजा हाल की लिखी प्राकृत भाषा की 'गाथा-सप्तशती' सुन्दर काव्य ग्रन्थ है। गुणाढ्य ने इसी काल प्राकृत में अपनी 'बृहत्कथा' लिखी। इसी काल में सर्ववर्मन ने 'कातन्त्र' एक आन्ध्र राजा के लिए लिखा; क्योंकि वह संस्कृत नहीं जानता था और पाणिनि उसके लिए अत्यन्त क्लिष्ट था।

४. कलिंगराज खारवेल

अशोक की मृत्यु के बाद आंध्र देश की भाँति कलिंग भी स्वतंत्र हो गया। अशोक द्वारा विजित होने पर कलिंग का पुराना राजकुल नष्ट हो गया था। उसके बाद 'चेत' अथवा 'चेदि' नामक ब्राह्मण-कुल का राज हुआ। खारवेल इसी चेदिकुल का था। खारवेल जैन था, परन्तु जैन होता हुआ भी उसके लिए दिग्विजय निषिद्ध न थी। वह बड़ा प्रतापी हुआ। देखते ही देखते उसने अपना एक बड़ा साम्राज्य खड़ा कर लिया। उत्तर और दक्षिण दोनों ओर मौर्यों और सातवाहनों के साम्राज्य कायम थे। खारवेल ने एक साथ दोनों को चुनौती

दी। मगध का तो उसने दो बार पराभव किया और शातकर्णि के राज्य में एक सेना भेजी। मगध का राजा नन्द पूर्वकाल में कलिंग पर चढ़ आया था और उसे हराकर वहाँ से वह एक जैन तीर्थंकर की मूर्ति पाटलिपुत्र उठा ले गया था। कलिंग के गौरव पर यह एक काला धब्बा था जिसका निराकरण खारवेल ने किया। मगध को दो बार उसने नीचा तो दिखाया ही, मगध से वह जैन तीर्थंकर की मूर्ति भी उठा लाया। उड़ीसा के पुरी जिले में उदयगिरि (पर्वत) की 'हाथीगुम्फा' नामक गुफा में उसका एक लेख खुदा हुआ है।

हाथीगुम्फा के लेख में खारवेल की दिनचर्या खुदी है। उससे पता चलता है कि वह एक वर्ष तो देश-विजय के लिए प्रस्थान करता था, दूसरे वर्ष गृह-कार्य देखता और प्रजाहित-कार्य करता था। अपनी ३५ लाख प्रजा पर उसने अनेक अनुग्रह किये और राजसूय किया, ब्राह्मणों और दरिद्रों को दान दिये। जैन होने के नाते उसने जैन-भिक्षुओं के लिए गुफाएँ खुदवायीं। हाथीगुम्फा के लेख के अनुसार लिपि, गणना, व्यवहार (कानून), अर्थ आदि का ज्ञान प्राप्त कर वह २४ वर्ष की आयु में सिंहासनासीन हुआ। शासन के पहले साल उसने प्रजाहित के कार्य किये। दूसरे वर्ष उसने शातकर्णि को चुनौती देकर मुषिकनगर पर आक्रमण किया। चौथे वर्ष उसने 'राठिकों' और 'भोजकों' को परास्त किया। पाँचवें वर्ष उसने उस नहर को बढ़ाया जिसे नन्दराज खोदकर ('तिवससत' वर्ष पूर्व) कलिंग देश की राजधानी में लाया था। आठवें और बारहवें वर्ष—दो बार—उसने मगध पर चढ़ाई की। मगध की प्रजा भयभीत हो गयी और राजगृह के राजा बहसतिमित्र ने घबड़ाकर उससे सन्धि कर ली। 'योनराज' (यवनराज) दिमित (Demetrios) उससे डरकर भाग गया। शासन के तेरहवें वर्ष उसने पांड्यों को परास्त किया। इसके बाद का विवरण उसमें नहीं मिलता।[1]

खारवेल के इस लेख में तीन ऐसे संकेत हैं जिनपर विचार करना होगा—(१) बहसतिमित्र का उल्लेख, (२) योनराज दिमित का उल्लेख और (३) नन्दराज द्वारा 'तिवससत' वर्ष पूर्व खुदवाई प्रणाली का उल्लेख।

(१) डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने बहसतिमित्र का संस्कृत बृहस्पतिमित्र करके उसे पुष्यमित्र से मिलाया है।[2] पुष्य का पर्याय बृहस्पति है और इस प्रकार नाम पर्यायों के विकल्प से चलते भी थे (जैसे चन्द्रगुप्त-शशिगुप्त)। इस बृहस्पतिमित्र के मगध में सिक्के भी मिले हैं। परन्तु पुष्यमित्र के अपने नाम के खुदे सिक्के भी मिले हैं, इसलिए कोई कारण नहीं कि पुष्यमित्र ने दो नामों से अपने सिक्के चलाये हों। दूसरे इस लेख में राजधानी का नाम पाटलिपुत्र न होकर राजगृह है, जो पुष्यमित्र की न थी। राजगृह तो वैसे उदायी के समय ही छोड़ा जा चुका था, फिर भी उसके पुष्यमित्र की राजधानी होने का कोई तुक नहीं है। चूँकि इसी लेख में 'योनराज दिमित' के मगध पर आक्रमण और डर जाने की बात लिखी है खारवेल का दिमित (Demetrios) के आक्रमण के समय होना

---

१. Epigraphia Indica २०, १९३०, पृ० ७१; जायसवाल—JBORS. १९१८ (४) पृ० ३६४; वही, १९२७ (१३), पृ० २२१; वही, १९२८ (१४), पृ० १५०।

२ वही।

चाहिए। परन्तु उस यवनराज धर्ममीत (दिमित) का जो विस्तृत आक्रमण गार्गी-संहिता के युग-पुराण में विस्तार से वर्णित है, उसमें उस प्रसंग में कहीं पुष्यमित्र का नाम नहीं है। उसमें उस आक्रमण का उल्लेख ठीक शालिशूक मौर्य के बाद है। शालिशूक बृहद्रथ से तीन राज्य-काल पूर्व लगभग २०६ ई० पू० में हुआ था। यह आक्रमण या तो उसीके शासन-काल या उसके बादवाले में हुआ। संभव है, शालिशूक का ही दूसरा नाम बहसतिमित्र रहा हो और खारवेल के दूसरे आक्रमण अथवा दिमित के हमले के भय से सुरक्षा के लिए राजगिर की पहाड़ियों में चला गया हो। इसलिए बहसतिमित्र पुष्यमित्र नहीं हो सकता। यवनराज के खारवेल से डरकर भागने में भी कोई तथ्य नहीं। वह तेजी से जरूर लौटा था, परन्तु खारवेल के डर से नहीं, अपने देश की रक्षा के लिए। यूक्रेतिद ने उसकी वह्लीक (बलख—Bactria) की गद्दी उसकी अनुपस्थिति में ले ली थी। जैसे ही उसे यह संवाद मिला, वह अपनी सेना लेकर लौट गया, यद्यपि युक्रेतिद के साथ संघर्ष में वह सफल न हो सका।

(२) 'योनराज दिमित' कौन था, इसका निश्चय शुंगों और सातवाहनों के प्रसंग में और यहाँ हो चुका है। नीचे परिशिष्ट में भी इसपर विचार किया गया है। यहाँ उसकी आवश्यकता नहीं। इतना कह देना काफी होगा कि 'योनराज दिमित' युगपुराण का 'धर्ममीत' और ग्रीक तथा रोमक इतिहासकारों का 'डेमेट्रियस' (Demetrios) था।

(३) इस लेख में जो 'तिवससत' पाठ है उससे कई प्रकार के निष्कर्ष निकाले गये हैं। कुछ विद्वानों ने उसमें खारवेल की तिथि के संबंध में संकेत पाया है। 'तिवससत' का अर्थ कुछ ने ३०० वर्ष और कुछ ने १०३ वर्ष पूर्व किया है। नहर (प्रणाली), जिसका लेख में उल्लेख है, खारवेल के तीन सौ वर्ष अथवा १०३ वर्ष पहले नन्दराज द्वारा खुदवायी गयी यह भी अर्थ कुछ विद्वान् करते हैं। कुछ का यह विचार है कि इसमें नन्द-संवत् के प्रति संकेत है जिसके ३०० अथवा १०३ वर्ष पूर्व वह नहर खुदी। इसी प्रसंग में कुछ विद्वानों ने लेख की सोलहवीं पंक्ति में मौर्य-संवत् का १६५वाँ वर्ष भी पढ़ा है। इसके संबंध में अन्य प्रमाणों के अभाव में अभी कुछ निर्णय देना कठिन है। इतना ही कहा जा सकता है कि खारवेल, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, एक ओर तो देमेत्रियस का समकालीन है और दूसरी ओर (चूँकि हाथीगुम्फा का लेख नानाघाट के शातकर्णि के लेख से मिलता है, जिसका उल्लेख खारवेल ने अपने लेख में भी किया है), सातवाहन-कुल के तीसरे राजा शातकर्णि का। खारवेल का समय २०० ई० पू० के लगभग ठहरता है।

परिशिष्ट

पुष्यमित्र के साम्राज्य का विस्तार

इस परिशिष्ट का उद्देश्य पुष्यमित्र के साम्राज्य की सारी सीमाएँ निर्धारित करना नहीं है। शुंग-वंश के इतिहासवाले परिच्छेद में उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा नर्मदा बतायी गयी है। यहाँ उस साम्राज्य की उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर प्रकाश डालना उद्दिष्ट है। इस संबंध में अनेक पहेलियाँ और समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। फलतः इतिहासकार की कठिनाइयाँ बढ़ गयी हैं। इस लेख में 'मालविकाग्निमित्र' के सिन्धुनद का स्थान ;

खारवेल, पुष्यमित्र, दिमित, मिनान्दर आदि की समकालीनता; यवन-आक्रमण आदि पर विचार करना वांछनीय है। इन सबमें प्रमुख समस्या सिन्धुनद की पहचान है। उस एक को स्थिर कर देने से ऊपर के अनेक प्रसंग सुलझ जायेंगे। अतः हम सर्वप्रथम उसी पर विचार करेंगे। इस सिन्धु नाम की नदी का उल्लेख कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्र के पाँचवें अंक में पुष्यमित्र के अश्वमेध के प्रसंग में हुआ है। सेनापति पुष्यमित्र ने उस यज्ञ में शामिल होने के लिए साम्राज्य के दक्षिणी सीमान्त के शासक अपने पुत्र अग्निमित्र को पत्र लिखकर आमंत्रित किया। उस पत्र में लिखा है कि सिन्धु के दक्षिण तट पर (सिन्धोर्दक्षिणरोधसि) सेनापति के पौत्र और उसके यज्ञाश्व के रक्षक वसुमित्र से यवनों (ग्रीकों) का संघर्ष हुआ जिसमें उसने उन्हें हराया। पत्र इस प्रकार है :—

"स्वस्ति। यज्ञभूमि से सेनापति पुष्यमित्र स्नेहालिंगन के पश्चात् विदिशास्थित कुमार अग्निमित्र को सूचित करता है कि मैंने राजसूय-यज्ञ की दीक्षा लेकर सौ राजपुत्रों के साथ वसुमित्र की संरक्षता में वर्ष भर में लौट आने के नियमानुसार यज्ञ का अश्व निरर्गल कर दिया। सिन्धु के दक्षिण तट पर विचरते हुए उस अश्व को यवनों ने बाँध लिया। फलतः दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। फिर वीर वसुमित्र ने शत्रुओं को परास्त कर मेरा उत्तम अश्व छुड़ा लिया। जैसे पौत्र अंशुमान द्वारा लौटा लाये हुए अश्व से राजा सगर ने यज्ञ किया वैसे ही मैं भी अब अपने पौत्र द्वारा वापस लाये हुए अश्व से यज्ञ करूँगा। अतएव तुम्हें मेरी पुत्रवधुओं के साथ शुद्ध मन से आना चाहिए।"

इसी सिन्धुनद की पहचान करना इस परिशिष्ट का अभीष्ट है। वास्तव में इस नदी का स्थान निर्णय करना आसान नहीं और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस संबंध में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। डा॰ विन्सेन्ट स्मिथ ने अपने 'प्राचीन भारत का इतिहास' (Early History of India) में मिनान्दर के भारत-आक्रमण पर विचार किया है।[1] वह बहुत कुछ इस सिन्धुनद की पहचान पर ही अवलंबित है। नीचे के प्रमाण से सिद्ध हो जायगा कि स्मिथ का निष्कर्ष अत्यन्त भ्रमपूर्ण है और पुष्यमित्र-संबंधी उनका अध्याय और सिन्धुनद तथा मिनान्दर के आक्रमण-संबंधी प्रसंग प्रायः सारे-के-सारे बदल देने पड़ेंगे। कनिंघम का अनुकरण करते हुए स्मिथ ने लिखा है कि पुष्यमित्र के पोते वसुमित्र का ग्रीकों से युद्ध "उस सिन्धुनदी के तट पर हुआ जो बुंदेलखंड और राजपूताना की रियासतों के बीच की सीमा बनाती है।"[2] उनका तात्पर्य काली सिन्ध से है। वे आगे कहते हैं कि ये ग्रीक लड़ाके "मिनान्दर की सेना का वह भाग होगा जिसने राजपूताना में मध्यमिका का घेरा डाला था।"[3] परन्तु स्मिथ साहब का निर्णय कितना भ्रमपूर्ण है, यह नीचे के प्रमाणों से स्पष्ट हो जायगा।

(१) स्मिथ साहब ने मिनान्दर और दिमित (दत्तामित्री, धर्ममीत, Demetrios) के आक्रमणों को उलझा दिया है। वे वास्तव में समझ नहीं सके हैं कि वास्तविक हमला किसका

---

१ चतुर्थ संस्करण, पृ॰ २०९ से आगे।

२ Early History of India, पृ॰ २११। ३ वही।

का था और फलतः उन्होंने पुष्यमित्र को खारवेल और मिनान्दर दोनों को समकालीन बना दिया है।[1] पुष्यमित्र और खारवेल की समकालीनता अत्यन्त दुर्बल प्रमाणों पर स्थित है। वह प्रमाण है खारवेल में उल्लिखित बहसतिमित्र और पुष्यमित्र का एकीकरण। डा० जायसवाल ने, जिसने उस हाथीगुम्फावाले शिलालेख को चार-चार बार पढ़ा था, अपने निर्णय को केवल काल्पनिक आधार बनाया था। वह भी इस कारण कि पुष्यमित्र के नाम के सिक्के नहीं मिले थे और बहसतिमित्र के नाम के मिले थे। परन्तु अब जब कि पुष्यमित्र के नाम के सिक्के भी प्राप्त हैं, तो बहसतिमित्र को पुष्यमित्र मानना कुछ समझ की बात नहीं जान पड़ती। आखिर एक ही व्यक्ति दो नामों से अपने सिक्के क्यों चलाएगा ? यह अटकल चूँकि 'बृहस्पति' (बहसति) और 'पुष्य' के पर्याय होने के कारण लगाया गया था, अब कुछ अर्थ नहीं रखता। इस कारण इस एकीकरण के सन्देहात्मक होने के कारण खारवेल और पुष्यमित्र की समकालीनता सिद्ध न हो सकी। फिर यदि हम जायसवाल के साथ हाथीगुम्फा के लेख में 'दिमित' पाठ सही मानें, जो सर्वथा सही मालूम होता है, तो ग्रीक आक्रमण का 'योनराज' (यवनराज) मिनान्दर के स्थान पर देमेत्रियस ठहरता है। एक और विचारणीय प्रमाण है, जिससे खारवेल और पुष्यमित्र की समकालीनता अत्यन्त असंभावित हो जाती है। 'गार्गी-संहिता' नाम का एक ज्योतिष का ग्रन्थ है। इसके कई स्कन्ध हैं जो भिन्न कालों में लिखे गये हैं। उनमें एक 'युगपुराण' नामक स्कन्ध भी है जो प्रथम शती ई० पू० के और पुष्यमित्र के समय के प्रायः ५० वर्ष भीतर ही लिखा गया।[2] युगपुराण में इस ग्रीक-आक्रमण का सविस्तर वर्णन है। परन्तु उसमें इसका प्रसंग अशोक के चतुर्थ उत्तराधिकारी शालिशूक मौर्य के वर्णन के बाद ही [3] आता है जिससे प्रमाणित है कि या तो यह आक्रमण शालिशूक के शासन-काल में ही आया होगा या उसके शीघ्र बाद, उसके उत्तराधिकारी के शासन-काल में। विष्णु-पुराण के अनुसार [4] इस शालिशूक मौर्य और पुष्यमित्र शुङ्ग के बीच तीन राजा राज करते हैं—(१) सोमशर्मा मौर्य (वायुपुराण का दशवर्मा या देववर्मा), (२) शतधन्वाँ मौर्य (वायुपुराण का शतधनुष्), (३) बृहद्रथ मौर्य (वायुपुराण का बृहद्रथ या बृहदश्व)। इनमें से अन्तिम को मारकर ही पुष्यमित्र मगध की गद्दी पर बैठा था। अब यदि वह ग्रीक-आक्रमण शालिशूक मौर्य के राज्यकाल अथवा उसके शीघ्र बाद हुआ, तो पुष्यमित्र उस पाटलिपुत्र को जीत लेनेवाली घटना से कम से कम तीन शासनकाल पीछे है। स्वयं स्मिथ की गणना के अनुसार पुष्यमित्र शालिशूक मौर्य से कम से कम २१ वर्ष [5] (यानी २०६ ई० पू० सोमशर्मा का राज्यारोहण और १८५ ई० पू० पुष्यमित्र का राज्यारोहण) दूर है। अतः यह आक्रमण पुष्यमित्र के शासनकाल में न हो सका होगा। परन्तु 'योनराज दिमित' वाला हाथीगुम्फालेख का पाठ इस आक्रमण का खारवेल के शासनकाल में ही

---

१ Early History of India, पृ० २०९, २१०, २२७-२९।

२ JBORS. १९२८, पृ० ३९९। ३ वही, पृ० ४०१–२ ; पंक्ति १६ से आगे।

४ EHI. चतुर्थ संस्करण, पृ० २०७, ५ वही।

होना निश्चित कर देता है। खारवेल का उस आक्रमण के तुरत बाद ही मगध की ओर बढ़ना और उसके डर से दिमित का भाग जाना लिखा है। युगपुराण से सिद्ध है कि ग्रीक मगध में कुछ महीनों से अधिक नहीं ठहरे (मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवनाः युद्धदुर्मदाः)। अतः एक ओर तो खारवेल और देमेत्रियस समकालीन ठहरते हैं, दूसरी ओर पुष्यमित्र उन दोनों से लगभग इक्कीस वर्ष दूर, पीछे ठहरता है। युगपुराण का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रमाण विद्वानों की दृष्टि में नहीं आया है। खारवेल का पुष्यमित्र के विरुद्ध आक्रमण निराधार है। वह भी देमेत्रियस के आक्रमण के आसपास ही हुआ होगा। इस बात को स्वयं स्मिथ साहब ने दुखी मन से प्रायः संभावित स्वीकार किया है।[1] युगपुराण में लिखा है कि शालिशूक मौर्य स्वयं नितान्त अधार्मिक[2] था, यद्यपि वह धार्मिक बनता था और सम्प्रति का अनुकरण करते हुए उसने सौराष्ट्र की प्रजा को तलवार के बल पर अपने जैन-धर्म में दीक्षित कर लिया। बलपूर्वक सौराष्ट्रवासियों को जैन बनाना आक्रमण के लिए उपयुक्त समझा गया होगा। विदेशी आक्रमक के लिए भी यह बहाना अच्छा मिला होगा। कुछ ताज्जुब नहीं कि सौराष्ट्र की प्रजा ने उसे बुलाया भी हो, अथवा कम से कम उसके आक्रमण में अनेक सुविधाएँ उपस्थित कर दी हों। इसी कारण युगपुराण के प्रायः समकालीन इतिहासकार ने ग्रीक आक्रमणकारी देमेत्रियस को 'धर्ममीत'[3] (वास्तविक धर्म का मित्र) कहा। यदि उसे अपने अर्थ का नाम आक्रमणकारी को देना वांछनीय न होता तो वह भी उसे 'दिमित' ही कहता, जैसा कि हाथीगुम्फा के समकालीन लेखक ने किया है। यदि उसे प्रचलित नाम ही लेना अभीष्ट होता तो वह पहले का भारतीयों का दिया हुआ नाम प्रयुक्त करता; परन्तु उसे तो संभवतः 'अधार्मिक' शालिशूक के मुकाबिले में देमेत्रियस को 'धर्ममीत' कहना था। अतः यह आक्रमण पुष्यमित्र के शासनकाल के काफी पहले हुआ। हाथीगुम्फा-वाले लेख से हमें महामेघवाहन खारवेल के मगध पर दो आक्रमणों का पता चलता है। इनमें से पहले आक्रमण में मगधराज को नीचा देखना पड़ा। यह आक्रमण खारवेल के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में हुआ और दूसरा बारहवें में अर्थात् दोनों के बीच चार साल का अन्तर पड़ा था। ग्रीक-आक्रमण प्रमाणतः खारवेल के पहले हमले के बाद और दूसरे हमले के थोड़ा ही पहले हुआ था, क्योंकि जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, 'योनराज दिमित' डरकर मथुरा भाग गया और खारवेल ने मगध पर अधिकार कर लिया। युगपुराण में लिखा है कि मगध के 'राजा नष्ट हो गये थे और ग्रीक (मगध में) राज करने लगे थे।'[4] यहाँ पर यह भी कह देना उचित है कि खारवेल के लेखानुसार ग्रीक वास्तव में उसके डर से नहीं भागे, वरन् इस कारण कि उनके देश में गृहयुद्ध आरंभ हो गया था। युक्रेतिद ने वह्लीक देश की देमेत्रियस की गद्दी उसकी अनुपस्थिति में छीन ली थी। इसका उल्लेख ग्रीक और रोमक इतिहासकारों ने तो किया ही है, स्वयं युगपुराण में भी इसका साफ

---

१ EHI. चतुर्थ संस्करण, पृ० १०७ २ JBORS. १९२८, पृ० ४०१, पंक्ति १९,
३ वही, पृ० ४०३, पंक्ति ४०
४ यवना ज्ञापयिष्यन्ति नश्येरन् च पार्थिव :—वही, पंक्ति ४१

हवाला है। कुछ भी हो, भारतीय लेखक के लिए देमेत्रियस के इस शीघ्र लौटने में पलायन का आभास मिला और उसने खारवेल की प्रशस्ति को गौरवान्वित कर दिया। जिस प्रकार पतंजलि ने ग्रीकों का आक्रमण जैसे अपने 'अरुणद् यवनः साकेतम्', 'अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्' में दर्शाया, वैसे ही उन्होंने शायद उनका लौटना भी 'शूद्राणामनिर्वसितानाम् वुन्'[1] सूत्र पर अपने भाष्य में (आर्यावर्त की सीमा बताते हुए) दर्शाया है। आर्यावर्त की सीमा के बाहर रहनेवाले (या निकाले हुए) शूद्रों में यवनों की भी गणना की गयी है। ये यवन कौन थे? मध्यदेश (मगध) से लौटे हुए ग्रीक नहीं? खारवेल का आक्रमण भी देमेत्रियस के हमले की तरह ही संभवतः शालिशूक के ही शासन-काल में हुआ। शालिशूक का ही दूसरा नाम 'बहसतिमित्र' रहा होगा। खारवेल के आक्रमण का मगधराज पाटलिपुत्र में न रहकर राजगृह में रहता है। पुष्यमित्र पाटलिपुत्र में था? जान पड़ता है कि शालिशूक ही ग्रीक आक्रमण से डरकर भाग गया था और उनके चले जाने पर भी राजगृह की पहाड़ियों में छिपा बैठा रहा। उसके पाटलिपुत्र से गायब हो जाने का संकेत युगपुराण के 'नश्येरन् च पार्थिवाः' पाठ में मिलता है। 'नश्येरन्' को 'मर जाने' के अर्थ में ही लेना आवश्यक नहीं। इस प्रकार यदि ये भारतीय और ग्रीक हमले शालिशूक के शासन-काल अथवा उसके शीघ्र बाद हुए तो पुष्यमित्र न तो देमेत्रियस का समकालीन राजा हो सकता है, न खारवेल का ही। हाँ, संभव है कि वह उनका आयु में दस वर्ष छोटा समकालीन रहा हो और मगध की सेना में सामान्य नायकमात्र रहा हो।

टार्न साहब ने अपनी हाल की सुन्दर पुस्तक 'बाख्त्री और भारत में ग्रीक' में जो सुझाया है कि संभवतः मिनान्दर देमेत्रियस का सेनापति और जामाता[2] था वह मुझे अमान्य नहीं है। ऐसी दशा में मिनान्दर एक अन्य युवा—पुष्यमित्र—का भी समकालीन ठहरता है। संभव है कि उसने मगध-साम्राज्य पर ग्रीक-आक्रमण के समय देमेत्रियस का साथ दिया हो। टार्न का यह विचार सही जान पड़ता है कि एक ही साथ मिनान्दर ने पूर्व की ओर से और देमेत्रियस तथा अपोलोदत्त ने पश्चिम से हमला किया और दोनों चिमटे की दो भुजाओं की भाँति पाटलिपुत्र में मिले।[3] इस हमले का अपने 'महाभाष्य' में हवाला देते हुए पतंजलि ने एक साथ पूर्व और पश्चिम में क्रमशः साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका (चित्तौर के समीप नगरी) का ग्रीकों द्वारा घेरा जाना लिखा है (अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्)। जब तक कि एक ही आक्रमण की विधिवत् संचालित सेना की दो शाखाओं द्वारा यह आक्रमण संपन्न न हुआ हो, तो पूर्व में अयोध्या और पश्चिम में चित्तौर के पास नगरी का एक साथ ग्रीकों द्वारा घेरा जाना संभव न था। यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि पतंजलि और गार्गी-संहिता[4] दोनों ने एक ही ग्रीक-आक्रमण का उल्लेख किया

---

१ महाभाष्य—देखिए पाणिनि का सूत्र—शूद्राणामनिर्वसितानाम् वुन्।

२ पृ० १४०, २२५, २२६

३ वही, १४० से आगे।

४ JBORS., खण्ड १४, भाग ३, (१९२८), पृ० १०२, पंक्ति २२

है। यह उनके साकेत के समान हवाले से प्रमाणित है। 'युगपुराण' का विश्लेषण करने से साफ जाहिर हो जाता है कि मगध पर एक ही नहीं, वरन् अनेक आक्रमण हुए। स्मिथ साहब की राय में आक्रमण एक ही हुआ और वह पुष्यमित्र के राज्य-काल के अन्त में[1] मिनान्दर का का था। परन्तु वास्तव में यह पहला हमला देमेत्रियस का था, जैसा हाथीगुम्फा[2] के लेख और युगपुराण[3] से सिद्ध है। इसमें मिनान्दर ने उस ग्रीक-विजेता के सेनापति की हैसियत से पूर्व की ओर से[4] मगध पर हमला किया था। कुछ काल के लिए ग्रीक-यवन पाटलिपुत्र में प्रबल हो गये थे। उन्होंने शासन किया था और देश के स्वाभाविक राजा नष्ट हो गये[5] थे। साम्राज्य के प्रान्त बिखर गए थे[6], अराजकता का बोलबाला हो गया था। परन्तु ग्रीक मध्य-देश में अधिक दिनों तक न ठहर सके[7] और देमेत्रियस को अपने शत्रु युक्रोतिद से अपने स्वत्व की रक्षा के लिए शीघ्र उत्तर की ओर लौट जाना पड़ा। युक्रोतिद के साथ उसका संघर्ष कुछ साधारण न था, इधर जीते देश पर शासन का लोभ संवरण करना भी कुछ आसान न था। इसलिए अपने सेनापति और जामाता मिनान्दर के शासन में भारत के पूर्वी प्रान्तों को उसने छोड़ दिया। मिनान्दर ने अपने को शाकल (स्यालकोट) का राजा घोषित किया। इस प्रसंग पर (यदि हम प्रोफेसर ध्रुव[8] के संशोधित 'युगपुराण' के 'शाकल'—पाठ को स्वीकार करें) युगपुराण एक मनोरंजक घटना उपस्थित करता है। उस पाठ के अनुसार शाकल के ग्रीकों में सात सरदार उठ खड़े होते हैं। उनमें पारस्परिक कलह का प्रारंभ होता है जिसमें वे सब नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद इस युगपुराण के अनुसार संभवतः मिनान्दर के नेतृत्व में फिर एक बार पूर्व की ओर ग्रीकों की विजय-यात्रा होती है। परन्तु पूर्व का रास्ता रोके संभवतः साकेत (अयोध्या) के पास मगध वीर खड़ा है। तलवारें म्यान से निकल पड़ती हैं, लोहे से लोहा बज उठता है, पूर्व और पश्चिम सहसा टकरा जाते हैं। तूफान के अनन्तर सन्नाटा छा जाता है, विदेशी फौजों के पैर उखड़ जाते हैं और मैदान भारतीयों के हाथ रहता है। अब यदि हम ग्रीक इतिहासकार प्लूटार्च का हवाला सही मानें, और वास्तव में उसे अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है, तो मिनान्दर लड़ता हुआ गंगा की घाटी में कहीं मरा था[9]। इस हालत में मिनान्दर का विजेता और हन्ता सिवा अजेय पुष्यमित्र के और कौन हो सकता था? इन दोनों ग्रीक आक्रमणों

---

१. Early History of India, चतुर्थ संस्करण, पृ० २१०, २१९।

२. योनराज दिमित।

३. JBORS. १४, ३, १९२८, पृ० ४०३, पंक्ति ४०।

४. Greeks in Bactria and India, पृ० १४० से आगे।

५. JBORS., १४, ३, १९२८, पृ० ४०३, पं० ४१।

६. आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥ वही; पृ० ४०२, पंक्ति २५।

७. मध्य देशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः ॥ वही, पृ० ४०३, पंक्ति ४१।

८. JBORS., ६, भाग १; पृ० २०, पंक्ति २२।

९. Greeks in Bactria and India, पृ० २२८ (Mor ८२१ D)।

के बीच अनेक वर्षों का अन्तर पड़ा होगा। इस अन्तर में शालिशूक मौर्य के बाद के तीन राज्य-काल, और पुष्यमित्र द्वारा बृहद्रथ का बध और राज्यापहरण, प्रथम अश्वमेध आदि घटनाएँ संपादित हो चुकती हैं। इसके बाद देमेत्रियस द्वारा जीते पूर्वी प्रान्तों का पुनः स्वायत्त करने के लिए मिनान्दर द्वारा प्रबल प्रयत्न होता है। मिनान्दर देमेत्रियस का उत्तराधिकारी होने के नाते अपने को उन प्रान्तों का स्वाभाविक स्वामी समझता था। इसके अतिरिक्त मगध की उस पहली विजय में स्वयं उसका भी हाथ रहा था। परन्तु इस वीरकर्मा पुष्यमित्र ने उसके प्रयत्न व्यर्थ कर दिये। इसी युद्ध में संभवतः प्लूटार्च के उल्लेखानुसार मिनान्दर की मृत्यु हुई। उस समय जब ग्रीक-आक्रमण का तूफान शान्त हुआ, और मिनान्दर की मृत्यु के कारण शाकल का सिंहासन रिक्त हो गया और तक्षशिला तथा सिन्धु-काँठे का स्वत्व संदिग्ध हो गया, तब मागध सम्राट् ने शत्रु को पूर्णतया उच्छेद कर सिन्धु पर अपना असंदिग्ध अधिकार स्थापित करने के लिए सन्नद्ध हुआ। फलतः उसके दूसरे अश्वमेध का अनुष्ठान हुआ जिसे ब्राह्मण-धर्मानुयायी पश्चात्कालीन कवि कालिदास ने अपने 'मालविकाग्निमित्र' में गाया। अजेय पुष्यमित्र के पौत्र और उसके यज्ञ के अश्व-रक्षक वीर वसुमित्र ने आर्यावर्त के सुविस्तृत मैदान को रौंदते हुए नृपति विहीन शाकल और तक्षशिला को पीछे छोड़ता (मालविकाग्निमित्र के) सिन्धु के तट पर ग्रीकों को कुचल दिया। इस प्रकार उसने अपने पितामह का साम्राज्य सीमाप्रान्त के सिन्धु नद तक प्रतिष्ठित करते हुए उसके यश और एकाधिपत्य की प्रतिष्ठा की। टार्न ने सिकन्दर और देमेत्रियस के विजयोद्देश्यों में एक प्रकार की समानान्तरता स्थापित[1] की है। वह समा-नान्तरता भारतीय पक्ष में भी सही उतरती है। जिस प्रकार अपनी भारतीय विजय में देमेत्रियस ने सिकन्दर को अपना आदर्श बताया था, संभवतः पुष्यमित्र ने भी चन्द्रगुप्त मौर्य को अपना आदर्श बनाया। परन्तु जिस प्रकार सिकन्दर की विजय व्यर्थ गयी, देमेत्रियस की जीत का भी कोई फल न हुआ। जिस प्रकार सिकन्दर के सेनापति सिल्यूकस ने ग्रीक-विजय भारतीय प्रान्तों को फिर से स्वायत्त करने का प्रयत्न किया था, ठीक उसी प्रकार देमेत्रियस के सेनापति मिनान्दर ने भी अपने प्रभु द्वारा जीते भारतीय प्रान्तों को फिर से प्राप्त करने के प्रयत्न किये। परन्तु जैसे चन्द्रगुप्त मौर्य ने सिल्यूकस के हौसले पस्त कर दिये, ठीक उसी तरह पुष्यमित्र ने भी मिनान्दर की उम्मीदों पर पानी फेर दिया। चन्द्रगुप्त की ही भाँति पुष्यमित्र ने भी संभवतः ग्रीक-राजकुल की एक कन्या स्वीकार की। प्रोफेसर ध्रुव द्वारा संशोधित युगपुराण के पाठ से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र ने 'परमरूपशालिनी' कन्या माँगी (संभवतः वसुमित्र के लिए, स्वयं उसकी आयु साठ से ऊपर थी) और अपनी माँग की पूर्ति में लड़ता हुआ उत्तर में मरा।[2] इस प्रमाण की पुष्टि 'अशोकावदान'[3]

---

१. Greeks in Bactria and India, पृ० १३१ (Mor ८२ । D)

२. JBORS, १६, १, १९३०, पृ० २१, पंक्ति ४४ से आगे। और देखिए जायसवाल का पाठ—वही, १४,३,१९२८, पंक्ति ८४ से आगे।

३. E.H.I. (तारानाथ) पृ० २२९।

से भी थोड़ी-बहुत हो जाती है। इस बात को विस्मरण न करना चाहिए कि अशोकावदान के उस प्रसंग का रचयिता संभवतः पुष्यमित्र का कोई अल्पवयस्क समकालीन था।[1] अग्निमित्र, जिसने पिता का युद्ध जारी रखा,[2] संभवतः पुष्यमित्र की लक्ष्य-प्राप्ति में सफल हुआ।[3]

२. मिनान्दर की पराजय के बाद संयुक्तप्रान्त निस्सन्देह ग्रीकों से खाली हो गया होगा और इस प्रकार यह जनस्थान ब्राह्मण-धर्म-विद्रोही तथा बौद्धधर्मानुयायी[4] विदेशी राजा के शासन से मुक्त हो गया होगा। फलतः यवनों को लाचार होकर केवल उत्तर-पश्चिमी सीमा का ही आश्रय लेना पड़ा होगा ; क्योंकि यह सम्भव नहीं कि दो-दो अश्वमेधों का अनुष्ठाता होता हुआ[5] भी पुष्यमित्र-सा सम्राट् यवनों को आपत्तिजनक दूरी के भीतर विश्राम करने दे, विशेषकर जब उसका साम्राज्य हाल का जीता हुआ था और जब बाद में सचमुच ही उन्हीं यवनों की एक कुमक उसके पौत्र वसुमित्र की सेना से टकरा गयी।

३. इस सम्बन्ध में 'अशोकावदान' का भी एक प्रमाण उपलब्ध है। अशोकावदान में उल्लेख है कि पुष्यमित्र बौद्धों का संहारकर्ता था और उसने पाटलिपुत्र और जलन्धर तक के सारे बौद्ध विहार जला डाले।[6] कुछ विद्वानों ने इस कथा का ऐतिह्य संदिग्ध माना है। कथा का तथ्य तो वे स्वीकार करते हैं, परन्तु वे उसके वर्णन में अतिशयोक्ति मानते हैं।[7] परन्तु इस कथा की निस्सारता सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं उपस्थित किया जाता। इसमें अतिशयोक्ति मानने की भी कोई गुंजाइश नहीं। इस विषय पर विचार करने से मालूम होता है कि इस अवदान के रचयिता ने प्रायः पूर्णतया सच्चा विवरण दिया है, वैसे अतिरंजन की सम्भावना सर्वथा शून्य नहीं है। अशोक और उसके उत्तराधिकारी अधिकतर बौद्ध अथवा जैन धर्मावलम्बी थे। जो इन धर्मों में दीक्षित न थे। वे भी कम-से-कम इन्हें श्रद्धा से देखते थे। अनेक बार हम ब्राह्मण-धर्म की अवहेलना और उस धर्म के अनुयायियों का राजसत्ता द्वारा विरोध पढ़ते हैं। बाद में भी जब-जब ब्राह्मण-धर्म का उत्थान हुआ बौद्ध-विहारों ने असन्तोष और ईर्ष्या के आचरण किये। इसमें सन्देह नहीं कि पुष्यमित्र बौद्धों से घृणा करता था और जब तक कि उसने उनके विरोध का सर्वथा उन्मूलन न कर लिया, न स्वयं उसने चैन लिया, न उन्हें लेने दिया। बौद्ध-धर्म से तो वह घृणा करता ही था, उस धर्म के संरक्षक मौर्य-वंश के सम्राट् बृहद्रथ का बध कर उसने उस कुल का ही मूलोच्छेद कर दिया। यह सफल क्रान्ति जिसका नेतृत्व पुष्यमित्र ने किया था, निस्सन्देह ब्राह्मण-षड्यन्त्र का फल था और उस षड्यन्त्र का स्वयं वही केंद्र था। ब्राह्मण होने के अतिरिक्त वह ब्राह्मण-संस्कृति और धर्म का पुनरुज्जीवक था। उसने अश्वमेध का दो बार अनुष्ठान किया और ब्राह्मण-धर्म की अनेक विधि-क्रियाएँ, जिनका अनुष्ठान धर्म से उठ

---

१. Greeks in Bactria and India, पृ० १७७।

२. J BORS, १६, १; १९३०, पृ० ३६।   ३. वही।

४. मिनान्दर का बौद्ध होना बौद्ध-ग्रंथ 'मिलिन्द-पन्ह' से प्रमाणित है, जो उसी के नाम पर है।   ५. पुष्यमित्र का अयोध्या का लेख।

६. E. H. I., चतुर्थ संस्करण, पृ० २११।   ७. वही।

चुका था, फिर से जारी की। इसका प्रभाव निस्सन्देह बौद्धों और जैनों पर गहरा पड़ा होगा। उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी होगी। षड्यंत्र उनके विहारों में रम गया था। इसमें संदेह नहीं कि देश में बौद्धों और भग्न मौर्य राजकुल के समवेदकों की संख्या थोड़ी न थी। इस तर्क को यहीं छोड़ अब जरा डा० स्मिथ की राय पर विचार कर लें। यदि हम स्मिथ के सिद्धांत को मानें, तो इस ब्राह्मण राजा के विरुद्ध दो अब्राह्मण आक्रमण हुए—एक जैन खारवेल द्वारा और दूसरा बौद्ध—ग्रीक मिनान्दर द्वारा। ये दोनों हमले निश्चय अनायास नहीं हुए। हमें इनका कारण खोजना होगा। क्या यह सम्भव नहीं कि जैन और बौद्ध दोनों ने इस सद्धर्म-विरोधी प्रबल हिंसक और क्रूरकर्मा ब्राह्मण-शासक के विपक्ष में परस्पर सहयोग किया हो? बहुत सम्भव है कि खारवेल के आक्रमण का कारण केवल साम्राज्य-लिप्सा अथवा नन्द द्वारा कलिंग के अपमान का प्रतिशोध ही न रहा हो। उसका पहला हमला धन-दान द्वारा निष्फल कर दिया गया। दूसरे हमले ने पुष्यमित्र को मथुरा आश्रय लेने पर बाध्य किया। परन्तु पुष्यमित्र अपने शत्रुओं से अधिक क्रियाशील और शक्तिशाली सिद्ध हुआ, क्योंकि शीघ्र उसने अपना राज्य उनसे लौटा लिया। यह तो स्मिथ की दलील है और उनसे यह पूछा जा सकता है कि यदि पुष्यमित्र को भागना ही पड़ा तो क्या उसने अपना राज्य छोड़ दिया? मथुरा, उस हालत में जब उसके राज्य की सीमा काली सिन्ध थी, अवश्य उसके राज्य के बाहर रही होगी। क्या यह संभव था कि पुष्यमित्र अपने शत्रु—बौद्ध मिनान्दर—की राजधानी शाकल (स्यालकोट) के समीप शरण लेता? स्मिथ के इस भ्रम का कारण हाथी-गुम्फा के लेख का गलत पाठ है। उसमें वास्तव में दिमित के भागने की बात कही गयी है, पुष्यमित्र के नहीं। अस्तु, बौद्धों ने शीघ्र अपने धर्मबंधु मिनान्दर को सद्धर्म के हित सन्नद्ध किया। यह घटना देमेत्रियस के लौटने, मिनान्दर के शाकल में प्रतिष्ठित होने और उसके बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के बाद घटी। 'मिनान्दर ने धर्म के नये श्रद्धालु के उत्साह से प्रबल हमला किया। दूर तक वह पूर्व में बढ़ आया, परन्तु जिसने मौर्यकुल का नाश कर उनका साम्राज्य स्वायत्त किया था, उसकी भुजाओं में उसकी रक्षा करने का बल भी था। आक्रमक को उसने पराजित किया और संभवतः मार भी डाला (प्लूटार्च के कथनानुसार उसकी विधवा ने कुछ काल तक अपने पुत्र के राज्य को सम्हाला)। इस आक्रमण से निस्सन्देह पुष्यमित्र का क्रोध भड़क उठा होगा और कुछ आश्चर्य नहीं कि उसी आवेश में उसने बौद्धों का वध कर डाला हो और उनके विहारों को जला डाला हो। यही कारण है कि प्रायः समकालीन 'अशोकावदान' में जलन्धर तक के विहारों के जला डालने की बात लिखी गयी। कुछ आश्चर्य नहीं कि उस अवदान के अनुसार, बौद्धों के षड्यन्त्र-तथ्य को जानते हुए पुष्यमित्र ने शाकल में घोषणा की हो कि जो 'मुझे एक श्रमण-मस्तक देगा, उसे मैं सौ स्वर्ण दीनार दूँगा।'[1] हमें इस बात को न

---

1. पुष्यमित्रो यावत् संघारामान् भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः। स यावच्छाकलमनुप्राप्तः। तेनाभिहितम्। यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।—'दिव्यावदान' के अशोकावदान से।

भूलना चाहिए कि उस समय शाकल बौद्धों से भरा था और वह राजधानी शुंग-सम्राट् के अधीन कही गयी है।[1] यह कथा नितान्त सत्य प्रतीत होती है। इस तर्क में कोई सार नहीं कि पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्मी होने के कारण इतना क्रूर नहीं हो सकता। आखिर शशांक की क्रूरता और बौद्धों के प्रति उसका नृशंस आचरण हमारे सामने और इतिहास का एक पृष्ठ है। फिर यह बात बराबर स्मरण रखने की है कि पुष्यमित्र का सम्बन्ध प्रायः जीवन भर रक्तपात से रहा। जीवन भर वह सैनिकमात्र रहा और सम्राट् की संज्ञा का पूरा अधिकारी होते हुए भी उसने सेना के साथ अपना घना संबंध उद्घोषित करने के लिए अपना विरुद 'सेनापति' ही रखा। यह भी न भूलना चाहिए कि साकेत, मध्यमिका और कुसुमध्वज (पाटलिपुत्र) के घेरे उसके स्मृति-पटल से मिटे न होंगे। ग्रीकों का पराभव, उनकी राजधानी शाकल का नाश और देशद्रोही बौद्धों का बध राष्ट्रीय प्रतिशोध की एक घटना रही होगी।

४. मालविकाग्निमित्र[2] का अश्वमेध पुष्यमित्र का दूसरा अश्वमेध है। यह यज्ञ उसके शासन के अन्तिम काल में हुआ होगा। इसका प्रमाण यह है कि इस यज्ञ के अश्व का रक्षक उसका पौत्र वसुमित्र है। यदि पौत्र बीस वर्ष का भी हुआ, तो पितामह का साठ वर्ष का होना कुछ अचरज की बात नहीं। फिर यह भी याद रखना है कि बृहद्रथ के जीवन-काल में ही पुष्यमित्र मौर्य-सम्राट् का सेनापति था। तभी संभवतः उसकी आयु चालीस के लगभग रही होगी। इस कारण यह मालविकाग्निमित्रवाला अश्वमेध पुष्यमित्र द्वारा अनुष्ठित दूसरा है। अग्निमित्र सरीखा उसका पुत्र स्वयं अनेक पत्नियों और पुत्रोंवाला है। इस आयु तक पुष्यमित्र सरीखे उत्कर्ष-प्रेमी और शक्तिसीम दूरदर्शी राजनीतिज्ञ ने अपना साम्राज्य पूर्णतया संगठित तथा निरापद न कर लिया हो, यह विश्वास की बात नहीं। इसलिए यह मानना कि वसुमित्र द्वारा हराये ग्रीक मिनान्दर की सेना की एक टुकड़ी बुंदेलखंड में बहनेवाली काली सिन्ध के किनारे उससे मिले होंगे—अयुक्तियुक्त होगा। फिर यह बात प्रमाणित करनी पड़ेगी कि काली सिन्ध पुष्यमित्र के राज्य से होकर नहीं बहती थी। यह बात, इसके विरोध में, आसानी से प्रमाणित की जा सकती है कि इस नदी का काँठा पिता-पुत्र दोनों के अधिकार में था। यह भला कैसे मान्य हो सकता है कि काली सिन्ध जो अग्निमित्र की राजधानी विदिशा के सन्निकट बहती है, उसके पिता पुष्यमित्र के साम्राज्य के बाहर थी! इस कारण जब कि शाकल[3] की समीपवर्ती भूमि, मालवा और विदर्भ[4] पुष्यमित्र के चरणों में लोटते थे और चूंकि काली सिन्ध का संभवतः सारा मार्ग शुंग-सम्राट् के राज्य में पड़ता था, यह स्वीकार करना अत्यन्त कठिन है कि ग्रीक-सेना की एक टुकड़ी इस नदी के तट पर डेरा डाले पड़ी होगी और सम्राट् के साम्राज्य को खतरे में डाल रही होगी। यदि अशोकावदान के साथ हम शाकल को पुष्यमित्र के साम्राज्य के अन्तर्गत मानें तो निश्चय मालविकाग्निमित्र का सिन्धु काली सिन्धु

---

१. Greeks in Bactria and India, पृ० १००।

२. पृष्ठ १०२ (काले का संस्करण)

३. अशोकावदान, और देखिए Greeks in Bactria and India, पृ० १७७ ४. मालविकाग्निमित्र,—अङ्क ५, श्लोक १३

नहीं हो सकता ; क्योंकि अश्वमेध का घोड़ा अपने राज्य के अन्दर नहीं, बाहर छोड़ा जाता है और यदि वह घोड़ा पुष्यमित्र के राज्य के बाहर ग्रीकों द्वारा पकड़ा गया तो निस्सन्देह वह घटना सीमाप्रांत के सिन्धु-तट पर घटी होगी। कारण यह कि शाकल (जो विजेता के अधिकार में थी और जहाँ वह अपनी खूनी घोषणाएँ प्रकाशित कर सका) के बाद पश्चिम में एक ही सिन्धु है और वही बुंदेलखंड की काली सिन्धु नहीं, पंजाब की प्रख्यातनामा नदी है।

५. एक सबल प्रमाण इस नदी के सीमाप्रान्तीय सिन्धु होने में और है। मालविकाग्निमित्र में वसुमित्र के माता-पिता (धारिणी और अग्निमित्र) उसकी विजय के उपलक्ष्य में बड़ा आनन्द मनाते हैं।[1] इससे उस पुत्र के प्रति उनकी चिन्ता भी प्रकट होती है, क्योंकि आखिर अश्वमेध के अश्व की रक्षा कुछ साधारण बात न थी। इस गुरुतर कार्य का भार वसुमित्र सरीखे बालक पर सौंपना माता के लिए अत्यंत संकट की बात थी। इसी कारण धारिणी कहती है--'अति घोरे खलु पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः'[2] (सेनापति ने बच्चे को अत्यन्त घोर कर्म में नियुक्त किया है)। इसी नाटक से हमें ज्ञात होता है कि वसुमित्र की विजय का समाचार उसके माता-पिता को पुष्यमित्र के पत्र-द्वारा[3] मिला। यदि वह युद्ध अग्निमित्र के राज्य से होकर बहनेवाली नदी काली-सिन्धु के तट पर हुआ होता तो इस सूचना की क्या आवश्यकता थी! घटना के सन्निकट होने के कारण उसकी सूचना पहले अग्निमित्र को होती, पुष्यमित्र को नहीं। यह कहना कि चूँकि अग्निमित्र को अन्तःपुर के प्रेम-षड्यंत्रों से छुट्टी न थी, उसने इस युद्ध के विषय में न सुना होगा, नितान्त अग्राह्य है। हम जानते हैं कि विदर्भ के संबंध में कितनी तत्परता से अग्निमित्र ने कार्य किया था और किस शीघ्रता और नीति से उसने उस राज्य की विजय की थी। पुष्यमित्र के पास से, पाटलिपुत्र से इस विजय की सूचना इस कारण आती है कि वह स्थान सीमाप्रान्त की सिन्धु (जिसके तट पर ग्रीकों से युद्ध हुआ था) से विदिशा की अपेक्षा निकट था और जिस दूत को यह काम सौंपा गया था, पाटलिपुत्र में संभवतः उसने घोड़ा बदला था।[4]

ऊपर के प्रमाणों से सिद्ध हो जायगा कि मालविकाग्निमित्र का सिन्धु सीमाप्रान्त का सिन्धु नद है और पुष्यमित्र के साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा उस नदी का पूर्वी तट था।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१ टार्न : The Greeks in Bactria and India.
२. जायसवाल : Problems of Saka-Satavahana History.
३. स्मिथ : Early History of India.
४. त्रिपाठी : History of Ancient India.
५. Cambridge History of India.
६. दुब्रोआ : Ancient History of Deccan.

१. पृ० १०१-१०४ (काले का संस्करण)
२. वही, पृ० १०१   ३. वही, पृ० १०२
४. मजूमदार, Indian Historical Quarterly, १९२५ पृ० २१४ से।

खंड ४

तेरहवाँ परिच्छेद

विदेशी आक्रमणों का युग

१ हिन्दू-ग्रीक-काल

मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद भारत आक्रमणों का शिकार हो चला। पुष्यमित्र शुंग के राज्यारोहण के पूर्व ही उत्तर-पश्चिमी सीमा पर आकाश काले मेघों से आच्छन्न होने लगा था और उनके गर्जन से दिशाएँ गूँजने लगी थीं। शीघ्र उन आक्रमणों का ताँता बँध गया जिनसे सदियों तक भारत क्षत-विक्षत होता रहा। इन आक्रमणों का फल यह हुआ कि पंजाब और पश्चिम में अनेक विदेशी राज्य उठ खड़े हुए जिनकी सत्ता तीसरी शती ई० पू० से लगभग दूसरी शती ईस्वी तक बनी रही। इस काल के इतिहास का आरंभ, मध्य और पाश्चात्य एशिया के इतिहास से संबद्ध और प्रभावित है। इस कारण उस भूखण्ड की कुछ घटनाओं पर दृष्टि डालनी होगी।

सीरियक-साम्राज्य में उथल-पुथल

सिल्यूकस के उत्तराधिकारी और अशोक के समकालीन सीरियक नरेश अन्तियोकस द्वितीय महान् के शासन के अन्त काल में उस महान् साम्राज्य में उपद्रव खड़े होने लगे। सिकन्दर का साम्राज्य अनेक जातियों की पीठ पर टिका था। मध्य-एशिया में ये जातियाँ अत्यन्त उपद्रवी सिद्ध हुईं। फिर जिन जातियों का कोई समान केन्द्र, समान संस्कृति, समान आकांक्षाएँ न हों उनका विदेशी शासन में बँधकर रहना असंभव हो जाता है। फिर ये जातियाँ नृशंस और दुर्द्धर्ष थीं सिल्यूकस और अन्तिगोनस के संघर्ष में ही उन्होंने कभी एक कभी दूसरे की सहायता की थी और स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न किये थे। अब जब अन्तियोकस की शासन-रज्जु उसकी वृद्धावस्था में शिथिल होने लगी, उस सीरियक-साम्राज्य के दो विस्तृत प्रांत—पार्थव (Parthia) और बाख्त्री (वह्लीक—बलख—Bactria) सहसा विद्रोही होकर स्वतंत्र हो गये।

पार्थव खुरासान और कास्पियन सागर का दक्षिण-पूर्ववर्ती प्रदेश है। इस बंजर और सूखे देश के निवासी ग्रीक-शासन को कभी अंगीकार न कर सके थे। जब तक शक्ति का जूआ उनकी गरदन पर पड़ा रहा, उन्होंने अपना मस्तक झुका रखा; परन्तु शासकों की शक्ति क्षीण होते ही उन्होंने जूआ उतार फेंका।

पार्थव-विद्रोह

पार्थवों का विद्रोह जन-विद्रोह था, उसका केन्द्र अभिजात कुलों का समूह न होकर जनता का

स्वातंत्र्य-बोध था। उनका नेता अर्शक साधारण कुल में जन्मा था। २४८ ई० पू० के लगभग अर्शक (Arsakes) ने पार्थव-विद्रोह का झंडा खड़ा किया और शीघ्र उसका मनस्वी प्रदेश सिल्यूकिद-साम्राज्य से अलग हो गया।

बाख्त्री का विद्रोह

लगभग इसी समय दूर के पूर्ववर्ती प्रांत बाख्त्री में भी उथल-पुथल शुरू हो गयी थी। बाख्त्री की जनता अधिकतर ग्रीक थी यद्यपि उसमें स्थानीय मिश्रित जातियों की संख्या भी कुछ कम न थी। ग्रीकों के अतिरिक्त जो अन्य जातियाँ वक्षुनद के इस उर्वर काँठे में बसती थीं, उन्हें ग्रीक-शासन कभी मनोनीत न हो सका था, परन्तु उनकी अवस्था पार्थवों से सर्वथा भिन्न थी। अपने शासकों से विद्रोह उनके लिए मृत्यु का आवाहन करना था, यद्यपि उनके प्रति उन्हें सदा से असन्तोष रहा था। सिकन्दर द्वारा सुविस्तृत फारस-साम्राज्य के विध्वंस के बाद दारा के उत्तराधिकारियों ने बाख्त्री में ही शरण ली थी और यद्यपि विजेता ने उनको कुचल डाला था, उनके अनुयायियों का सर्वथा अन्त न हुआ था और उनके वंशज अब भी स्वतंत्रता का स्वप्न जब-तब देखा करते थे। परन्तु जब कभी उन्होंने सिर उठाने की हिम्मत की, ग्रीक जनता और शासकों की सम्मिलित शक्ति ने उन्हें दबा दिया और पामीरों के पठार पर हिन्दूकुश और वक्षु के बीच का यह हरा-भरा मैदान ग्रीकों का क्रीड़ा-क्षेत्र बन गया। वक्षुनद अपनी सहायक नदियों के साथ इस उर्वरा घाटी को सींचती और समृद्ध बनाती है। इसके खेतों में केसर फूलता है। ग्रीकों के उदात्त, खिलाड़ी, मस्त जीवन के लिए इससे बढ़कर पूर्व में दूसरा स्थल न था। इसी कारण इसमें विद्रोह का नेतृत्व भी ग्रीक ही कर सकते थे। सीरियक-साम्राज्य का केन्द्र सत्ता के क्षीण होने के कारण धीरे-धीरे धुँधला होता जा रहा था। पार्थवों के विद्रोह ने बाख्त्री के इस ग्रीक उपनिवेश को बल दिया और इस प्रांत का ग्रीक-शासक दियोदोतस ने भी बगावत का झंडा खड़ा कर दिया। शीघ्र दियोदोतस प्रथम के नाम से वह बाख्त्री के स्वतंत्र राष्ट्र का पहला शासक बना। अन्तिओकस द्वितीय महान् की मृत्यु (२४६ ई० पू०) के बाद उसकी सारी आशंका जाती रही और उसका पुत्र और उत्तराधिकारी दियोदोतस द्वितीय सर्वथा स्वतंत्र हो गया। भारतीय आकाश की सीमा पर ग्रीकों का यह ओजस्वी केन्द्र राहु की भाँति बढ़ने लगा।

बाख्त्री के हिन्दू-ग्रीक-कुल के दियोदोतस् प्रथम ने संभवत: २४५ ई० पू० तक राज किया। उसके पुत्र दियोदोतस ने पार्थव-नरेश से सन्धि कर ली जिससे उधर से उसे कोई आशंका न रहे। २३० ई० पू० के लगभग संभवतः उसका अन्त हुआ। नीति और

यूथिदेमो

वीरता से पिता और पुत्र दियोदोतस ने बाख्त्री में जिस कुल की प्रतिष्ठा की थी, उसकी जड़ें शीघ्र यूथिदेमो नामक एक स्वच्छन्द सामरिक ने उखाड़ फेंकी। यूथिदेमो मैग्नेशिया का निवासी था। दियोदोतस द्वितीय को मारकर उसने उसका सिंहासन स्वायत्त कर लिया। परन्तु बाख्त्री का राजमुकुट काँटों से बिंधा हुआ था। उसका पहनना आसान न था। सीरियक-सम्राट अपने साम्राज्य के विद्रोही प्रान्तों पर अब भी आँख लगाये हुए था। बाख्त्री-सी समृद्ध और शस्यश्यामला भूमि का हाथ से निकल जाना उनके लिए असह्य था। अन्तियोकस तृतीय ने अपने कुल

की राज्यलक्ष्मी को फिर से स्तंभित करने का संकल्प कर लिया। परन्तु यूथिदेमो भी वह शेर था जिसे खून का स्वाद मिल चुका था और वह अपना शिकार किसी प्रकार भी छोड़ने को तैयार न था। दोनों में समर ठन गया। अन्तियोकस तृतीय (लगभग २२३ ई० पू०—१८५ ई०पू०) ने २१२ ई० पू० के पहले बाख्त्री पर आक्रमण किया और उसपर उसने घेरा डाल दिया। परन्तु लंबे काल के इस घेरे के बाद भी यूथिदेमो जब सर न हो सका तब अन्तियोकस ने अपनी हानि की गुरुता देखी। अपने राज्य के गर्भ से वह दूर आ गया था। पार्श्व में विद्रोही पार्थवों की अमैत्री स्वयं भयानक थी। उसने घेरा उठा लिया। दोनों राज्यों में सन्धि हो गयी। सीरियक-सम्राट् ने बाख्त्री की स्वतंत्रता स्वीकार की और यूथिदेमो के पुत्र दिमित्रिय को अपनी पुत्री ब्याह दी। सन्धि-संबंधी परामर्श में इस राजपुत्र ने बड़ा भाग लिया था और वह बहुत कुछ उसी की नीति-निपुणता से ही संपादित हो चुका था। उसके रूप-गुण से अन्तियोकस काफी प्रभावित हुआ था। अब उसने उसे अपना संबंधी बनाकर बाख्त्री से हाथ खींच लिया। फिर भी हारकर घर लौटना कठिन था। इस कारण अपनी झेंप मिटाने के लिए कुछ करना आवश्यक था। मौर्य-साम्राज्य की जड़ें भारत की भूमि में हिल गयी थीं। अन्तियोकस के पूर्वज सिल्यूकस को अपने समकालीन भारतीय सम्राट् चन्द्रगुप्त के सामने झुकना पड़ा था। परन्तु हिन्दूकुश के दक्षिणवर्ती उसके चन्द्रगुप्त को दिये प्रदेश फिर एक बार मौर्य-धुरी से स्वतंत्र हो गये थे। यद्यपि उनका शासक फिर भी भारतीय सुभागसेन (ग्रीक—सोफागसेनो—Sophagasenos) था। यह सुभागसेन संभवतः उस वीरसेन का उत्तराधिकारी था, जो अशोक के निधन के बाद गन्धार का स्वतंत्र शासक हो गया था।[१] भारतीय सीमा को लाँघने का लोभ अन्तियोकस संवरण न कर सका। हिन्दूकुश लाँघ उसने भारत पर आक्रमण कर दिया और संभवतः उसके कुछ इलाके उसने स्वायत्त भी कर लिये। परन्तु निस्सन्देह वह आगे न बढ़ सका और शीघ्र स्वदेश को लौट गया। बिना भारत विजय किये वह क्यों लौटा—यह कहना कठिन है, विशेषकर जब मौर्य-साम्राज्य के प्रान्त तितर-बितर हो गये थे और उसकी गति को रोकने योग्य कोई विशिष्ट शक्ति न बच रही थी। संभव है, कार्य की महानता ने उसके उद्देश्य को शिथिल कर दिया हो। परन्तु उससे भी अधिक संभव यह है कि उसके पड़ोसी राज्यों की नीरत विश्वास के योग्य न रही हो और भारतीय प्रान्तों की ओर बढ़ना उसके दूर देश को खतरे में डाल रहा हो। जो भी हो, अन्तियोकस लौट गया और भारत का पराभव कुछ सालों के लिए स्थगित हो गया। परन्तु इस हमले का एक प्रबल परिणाम हुआ। बाख्त्री के साहसी अभिजातकुलीय वीरों की विजय लालसा इसने बलवती कर दी। उन्होंने पहचाना कि उनका मार्ग हिन्दूकुश के पार दक्षिण की ओर है, उत्तर-पश्चिम की ओर नहीं और उनके आक्रमणों का जो ताँता बँधा उससे उत्तरी भारत का जोड़-जोड़ ढीले पड़ गये। अन्तियोकस के दिखाये मार्ग पर आरूढ़ बाख्त्री के पराक्रमी नरेशों ने पंजाब और काबुल की उपत्यका में अपने छोटे बड़े राज्य कायम किये, जो लगभग दो सदियों तक खड़े रहे।

अन्तियोकस तृतीय का भारतीय हमला

१ तारानाथ, और देखिए, टार्न : The Greeks in Bactria and India, पृ० १३० और नोट २.

अन्तियोकस् से छुट्टी पाकर यूथिदेमो ने पहले तो अपने राज्य में अपनी शक्ति स्थिर की, फिर उसने अपने चारों ओर नजर डाली। अन्तियोकस् की सेना की लीक भारतीय सीमा की ओर अभी मिटी न थी। यूथिदेमो ने शीघ्र बढ़कर अफगानिस्तान के एक बड़े भाग पर अधिकार कर लिया। परन्तु भारत के अभ्यन्तर प्रदेशों को स्वायत्त करने की उसकी इच्छा पूरी न हो सकी और काबुल की विजय के शीघ्र बाद ही संभवतः उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी महत्त्वाकांक्षा को उसके यशस्वी पुत्र दिमित्रिय (दिमित, दत्तामित्र, Demetrios) ने आकार प्रदान किया। दिमित्रिय १९० ई० पू० के लगभग[1], संभवतः इस तिथि से काफी पूर्व, बाख्त्री की गद्दी पर बैठा और शीघ्र उसने आक्रमण की तैयारी की। दिमित्रिय वीर और नीतिविशारद था। अन्तियोकस् के बाख्त्री आक्रमण के समय उसने ही पिता की ओर से परामर्श किया था। अब उसने उन विजयों की ओर ध्यान दिया जिसके कारण ग्रीक-अनुवृत्त में उसे 'भारत का राजा' (Rex Indorum) कहा गया है। पतञ्जलि के 'महाभाष्य' और 'गार्गी-संहिता' के युग-पुराण का यवन-विजेता वही है और हाथीगुम्फा के अभिलेख का दिमित भी संभवतः वही है। हिन्दूकुश लाँघकर उसने पंजाब का एक बड़ा भाग जीत लिया। वहाँ संभवतः उसने अपनी सेना के दो भाग किये। एक भाग का नेतृत्व उसने अपने जामाता और सेनापति मिनान्दर (मिलिन्द) को बनाकर मगध की राजधानी की ओर बढ़ने की आज्ञा दी और शेष सेना लेकर स्वयं वह पश्चिमी मरुमार्ग से पाटलिपुत्र की ओर बढ़ा। मगध का मौर्य-साम्राज्य जर्जर हो चुका था, उसके प्रान्त तितर-बितर हो, बिखर गये थे। पाटलिपुत्र के आसपास के इलाकों पर संभवतः शालिशूक अथवा सोमशर्मा मौर्य का दुर्बल शासन था। पश्चिम और पूर्व की ओर से एक साथ बढ़ती हुई उसकी सेना की दो शाखाओं ने पंचाल (गंगा-यमुना के बीच का द्वाब) को रौंद डाला और मध्यमिका (चित्तौर के पास नगरी) तथा साकेत (अयोध्या) को घेरकर जीत लिया। स्वयं पाटलिपुत्र उनके प्रहार से वंचित न रह सका। यह ग्रीकों का भारतीय मध्यदेश पर पहला आक्रमण था। इस आक्रमण का श्रेय स्त्राबो दिमित्रिय और मिनान्दर दोनों को सम्मिलित रूप से देता है। उसका कहना है कि दोनों ने मिलकर भारत और एरियाना पर ग्रीक-सत्ता की स्थापना की। "विद्रोही ग्रीक (यूथिदेमो और उसका परिवार) बाख्त्री की समृद्धि के कारण एरियाना और भारत के स्वामी हो गये। इन विजयों का कुछ तो मिनान्दर ने, कुछ यूथिदेमो के पुत्र देमेत्रियस ने लाभ किया। उन्होंने न केवल पत्तलिनि (पत्तन ?) वरन् समुद्र-तटवर्ती सौराष्ट्र और सिगेर्दिस (?) के राज्यों को भी रौंद डाला।"[2] टार्न ने भी देमेत्रियस और मिनान्दर को सम्मिलित विजेता माना है।[3]

दिमित्रिय

---

१. तिथियों का क्रम जो इस परिच्छेद में दिया गया है, निस्सन्देह दुर्बल है। उनपर इस स्टेज पर निश्चित मत नहीं दिया जा सकता।

२. स्त्राबो—देखिए, टार्न : The Greeks in Bactria and India, पृ० १४४।

३. देखिए, टार्नः वही।

हमने भी उनके सम्मिलित और पृथक् के आक्रमणों का ऊपर हवाला दिया है। देमेत्रियस प्रबल विजेता था और मध्यदेश को उसने रौंद डाला; परन्तु वह अधिक काल तक अपनी भारतीय विजय को भोग न सका। शीघ्र उसे मगध की राजधानी पाटलिपुत्र और मध्यदेश छोड़ना पड़ा। इसका हवाला खारवेल के हाथीगुम्फा के अभिलेख और गार्गी-संहिता के युग-पुराण दोनों में मिलता है। उसके इस प्रकार शीघ्र लौटने का कारण क्या था, यह ग्रीक इतिहासकारों के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। जान पड़ता है कि युक्रेतिद (Eukratides) नामक एक स्वच्छन्द सामरिक ने दिमित्रिय की अनुपस्थिति में उसके रिक्त सिंहासन पर अधिकार कर लिया था। दिमित्रिय दूर देश में था। उन दिनों कुछ काल तक राजधानी से बाहर रहना खतरे से खाली न था। फिर कुछ ही दिनों के भीतर बाख्त्री में कितनी ही बार शक्ति-परिवर्तन हो चुका था। प्रजा अब भी अपने शासकों के प्रति संदिग्ध थी। सीरियक सम्राट् स्वयं बाख्त्री को ओर से सर्वथा निरीह न हो सका था। यह यूक्रेतिद भी संभवतः सीरियक सम्राट् अन्तियोकस् चतुर्थ का सेनापति और भाई था।[1] कुछ आश्चर्य नहीं कि यूक्रेतिद के इस विप्लव और विजय में अन्तियोकस् की भी कुछ मदद रही हो। जो भी हो, यूक्रेतिद ने असन्तुष्ट ग्रीककुलों की सहायता से विद्रोह का झंडा उठाया और शीघ्र बाख्त्री का राजा बन बैठा। यह खबर सुनते ही देमेत्रियस शीघ्रता से स्वदेश लौटा परन्तु उसका सारा श्रम व्यर्थ हुआ और वह यूक्रेतिद को हरा न सका। देमेत्रियस को बाध्य होकर भारत की अपनी नयी विजयों पर ही सब्र करना पड़ा। सिन्ध और पंजाब पर अब उसने अपना शासन जमाया। देमेत्रियस विजेता था। ग्रीक राजाओं में उसके बराबर विजेता बाख्त्री के ग्रीककुल ने न उत्पन्न किया। उसने शायद सिन्ध में अपने नाम (दत्तामित्र) पर दत्तामित्री नामक नगर भी बसाया।[2] वह पहला ग्रीक राजा था जिसने अपने सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि में ग्रीक और भारतीय दो भाषाओं में अपने लेख खुदवाये। यूथिदेमो के ग्रीककुल का शासन बाख्त्री में शायद १७५ ई० पू० के पहले समाप्त हो चुका था।

इतिहासकार जस्टिन का वक्तव्य है कि यूक्रेतिद ने भी 'भारत विजय की और वह वहाँ सहस्र नगरों का स्वामी बन गया।' यूक्रेतिद ने 'यूक्रेतीदिया' नामक नगर भी बाख्त्री में बसाया। अब ग्रीकों के दो कुल बाख्त्री और भारत के समीपवर्ती भूमि पर राज करने लगे। यूथिदेमो का कुल पूर्वी पंजाब और सिन्ध पर यूथिदेमिया अथवा शाकल की राजधानी से शासन करने लगा और यूक्रेतिद के कुल का शासन बाख्त्री, काबुल, कन्धार और पश्चिमी पंजाब पर बना रहा। जान पड़ता है, यूक्रेतिद बहुत दिनों तक राजसुख का भोग न कर सका। बाहरी शत्रु तो उसका कुछ न बिगाड़ सका, परन्तु घर के शत्रु ने उसका नाश कर दिया। जस्टिन का कहना है कि जब वह अपने भारतीय आक्रमण से लौट रहा था तब उसके पुत्र और सहकारी हेलिओकल (Heliocles) ने उसका खून कर दिया। स्मिथ की राय में 'यूक्रेतिद का हन्ता अपोलोदोतस् था।[3]

यूक्रेतिद

---

१. देखिए टार्न: The Greeks in Bactria and India, पृ० १९५-९७

२. वहीं, पृ० १४२

३. Early History of India, चतुर्थ संस्करण, पृ० २३८

पितृहन्ता ने पिता की हत्या कर अपना रथ उसके शव और रक्त पर दौड़ाया।[1] टार्न की राय में यूक्रेतिद यूथिदेमो के कुल के किसी राजकुमार द्वारा मारा गया। परस्परविरोधी प्रमाणों के समक्ष यूक्रेतिद के हत्यारे को निश्चित करना कठिन है। यूथिदेमो और यूक्रेतिद के उभय कुलों में कुछ काल तक निरंतर संघर्ष होते रहने के कारण टार्न का मत भी सर्वथा अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। चाहे जो हो, इतना निश्चित है कि हेलिओकल बाख्त्री के ग्रीक-कुल का अन्तिम राजा था। उसके बाद बाख्त्री मध्य-एशिया के शकों की बाढ़ में डूब गया। बाख्त्री के इस ग्रीक-कुल का शकों ने नाश तो अवश्य कर दिया, परन्तु इस कुल को वे सर्वथा मिटा न सके। अफगानिस्तान की घाटी में फिर भी उस कुल का शासन बना रहा। इस कुल के अनेक राजा काबुल और भारतीय सीमाप्रांत पर कुछ समय तक राज करते रहे। इनमें से एक था अन्तलिकिद (Antialkidas)। बेसनगर के स्तम्भ-लेख के अनुसार इस राजा ने अपने दूत दिय के पुत्र हेलियोदोर को शुंगवंश के राजा काशीपुत्र भागभद्र के दरबार में भेजा था। कहा नहीं जा सकता कि यह शुंगराजा इस वंश का पाँचवाँ ओद्रक अथवा नवाँ भागवत था। इस अभिलेख में अन्तलिकिद को तक्षशिला का राजा और उसके ग्रीक-दूत को विष्णु-भक्त 'भागवत' कहा गया है। अन्तलिकिद के सिक्के भी अन्य हिन्दू ग्रीक राजाओं की भाँति ही ग्रीक और भारतीय दोनों भाषाओं में खुदे मिलते हैं। उसके सिक्कों से जान पड़ता है कि अन्तलिकिद विजेता भी था। काबुल और भारतीय सीमाप्रांत का अन्तिम राजा हरमाउस् (Hermaeus) था। इसने संभवतः पहली शती ईस्वी के मध्य में राज किया। शकों ने इस कुल की मुख्य शाखा को बाख्त्री में नष्ट कर ही दिया था, परस्पर के गृह-विद्वेष ने इसे और जर्जर कर दिया। हरमाउस् चारों ओर से शत्रुओं द्वारा आक्रान्त हुआ। उसके मुख्य शत्रु थे कुषाण। कुजुल कदफीसिस् के नेतृत्व में उन्होंने काबुल पर प्रबल आघात किया और हरमाउस् सपरिवार नष्ट हो गया।

हेलिओकल

अन्तलिकिद

हरमाउस्

यूथिदेमो के कुल ने देमेत्रियस के नेतृत्व में भारत में जो राज्य स्थापित किया था, उसमें भी अनेक राजा हुए। इन राजाओं के संबंध में हमारा लगभग सारा ज्ञान इनके सिक्कों से ही उपलब्ध है। इस कारण अन्य सामग्री के अभाव में प्रायः उनके उत्तराधिकार, शासन-सीमा क्रमादि के संबंध में शंकाएँ होनी अनिवार्य है। यूथिदेमो के कुल में देमेत्रियस के बाद अगथोक्लिज्, पन्तालियन्, अन्तिमैकस् आदि अनेक राजा हुए। इनके संबंध में वस्तुतः हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है। इसी कुल में संभवतः अपोलोदोतस् और मिनान्द्र भी हुए।[2] स्मिथ की राय में ये दोनों युक्रेतिद के कुल के हैं। टार्न मिनान्द्र को दिमित्रिय का जामाता कहते हैं। संभव है, टार्न का अनुमान सत्य हो। इस

यूथिदेमो का कुल

---

१. वही; जस्टिन, ४१, ६, जस्टिन द्वारा उल्लिखित एक दूसरी कहानी के अनुसार यूक्रेतिद पार्थवों के साथ युद्ध में मारा गया।

२. Early History of India, चतुर्थ संस्करण, पृ० २३८–३९

प्रकार मिनान्दर यदि यूथिदेमो कुल का नहीं तो उसका संबन्धी अवश्य जान पड़ता है।

मिनान्दर

यद्यपि हिन्दू-ग्रीक कुल का सबसे पराक्रमी नृपति दिमित्रिय है और उसे भारतीयों का राजा तक कहा गया है, तथापि संस्कृति के विचार से उनका सबसे महत्त्वपूर्ण राजा मिनान्दर है। विजय के विचार से भी उसका स्थान निम्न नहीं है। हम ऊपर उसकी विजयों का कुछ हवाला दे आये हैं। दिमित्रिय की भारतीय विजयों में संभवतः वह उसका सहायक और सेनापति था। बाद में बौद्धों के बहकावे में आकर उसने शायद पुष्यमित्र शुंग के ऊपर चढ़ाई भी की। उस युद्ध में शुंग-नृपति द्वारा संभवतः वह निधन को प्राप्त हुआ। प्लूतार्च का वक्तव्य है कि मिनान्दर पूर्व में गंगा की घाटी में लड़ता हुआ मारा गया। कुछ विद्वानों ने देमेत्रियस के स्थान में केवल उसको ही भारत का विजेता माना है। स्त्राबो का कहना है कि उसने 'सिकन्दर से अधिक देश जीते।' इस वक्तव्य को शब्दशः स्वीकार करना तो कठिन है, परन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध हो जाता है कि मिनान्दर विजेता था। उसके विजयों की बात उसके सिक्कों के प्रचलन से भी सिद्ध हो जाती है। उसके सिक्के काबुल से गाजीपुर और मथुरा से बुन्देलखण्ड तक पाये गये हैं। संभवतः एक समय मिनान्दर इस भूभाग के एक बड़े भाग का स्वामी था। मिनान्दर के सिक्के अपोलोदोतस् के सिक्कों के साथ-साथ ईसा की पहली शती ईस्वी के तीसरे चरण में भरुकच्छ (भड़ोच) के बाजारों में भी चलते थे—ऐसा अज्ञातनामा ग्रीक लेखक के ग्रन्थ 'हरिप्रिय सागर का पेरिप्लस' (Periplus of the Erythrean sea) से प्रमाणित है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि भारत का यह पश्चिमी समुद्र-तट भी मिनान्दर के शासन में था। उसके सिक्के वहाँ व्यापार-संबंध में जा पहुँचे होंगे।

मिनान्दर बौद्ध था। भारतीय अनुवृत्त में उसका नाम 'मिलिन्द' मिलता है। बौद्ध-ग्रंथ 'मिलिन्द-पह्न' में उसका प्रचुर वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे प्रश्न दिये हुए हैं जो थेर नागसेन के प्रति उसके द्वारा पूछे हुए माने जाते हैं। स्याम की जनश्रुति के अनुसार तो मिनान्दर ने 'अर्हत्' पद तक प्राप्त कर लिया था। उसके कुछ सिक्कों पर 'धर्मचक्र' का चिह्न अंकित मिलता है। उनपर 'ध्रमिकस' शब्द भी खुदा मिलता है। इनसे भी उसका बौद्ध होना प्रमाणित है। 'मिलिन्द-पह्न' से मिनान्दर की राजधानी शाकल (साकल, स्यालकोट) पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। उससे ज्ञात होता है कि शाकल नगर बड़ी सुन्दरता से बसा हुआ था। बाहरी शत्रुओं से रक्षा के लिए वह ऊँचे प्राचीरों से घिरा हुआ था। सड़कों के किनारे ऊँचे मकानों की पंक्तियाँ थीं। इनके अतिरिक्त नगर उद्यानों और सरोवरों से सुशोभित था। इसके बाजारों में काशी के महीन वस्त्र (रेशम), रत्न और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ बिकती थीं। प्लूतार्च का वक्तव्य है कि मिनान्दर बड़ा न्यायी और चरित्रवान राजा था और जब वह प्रवास में मरा तो उसकी प्रजा में उसके भस्म के लिए विवाद उठ खड़ा हुआ। उसके बाद के राजाओं में स्त्रातो प्रथम और स्त्रातो द्वितीय के नाम मिलते हैं, परन्तु ये निस्सन्देह नाममात्र हैं और हमें इनके संबंध में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं। मिनान्दर संभवतः गंगा की घाटी में पुष्यमित्र शुंग के विरुद्ध लड़ता हुआ मारा गया। प्लूतार्च के अनुसार उसकी विधवा ने कुछ दिनों अपने गोद के बच्चे के नाम से राज किया।

परन्तु, उसने कहाँ राज किया—यह कहना कठिन है। 'दिव्यावदान' के अनुसार पुष्यमित्र शुंग ने पाटलिपुत्र और जलन्धर के सारे बौद्ध-विहारों को जला डाला तथा शाकल में उसने घोषणा की कि जो उसे बौद्ध श्रमण का एक मस्तक देगा, उसे वह सोने के सौ सिक्के देगा। प्लूतार्च के अनुसार मिनान्दर स्कन्धावारों में मरा। यदि यह युद्ध पुष्यमित्र के विरुद्ध था, जैसा अधिक संभव है, तो शाकल का शुंग नृपति के अधिकार में कुछ समय के लिए चला जाना कुछ अजब नहीं है। तभी उसके दूसरे अश्वमेध में उसके पौत्र वसुमित्र का अश्व का रक्षक बन ग्रीकों की सेना को सिन्धु तट पर हराना भी सार्थक होगा। उस अवस्था में स्त्रातो प्रथम और स्त्रातो द्वितीय तथा मिनान्दर की विधवा का देश के किसी निम्नकोटि के कोने में ही शासन करना संभव था।

यवन-संघर्ष का प्रभाव

हिन्दू-ग्रीक अथवा हिन्दू-यवन वंशों का शासन लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक भारत के पंजाब और सिन्ध आदि प्रान्तों पर रहा। इस लम्बे काल तक के इस सम्बन्ध का कुछ प्रभाव भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि स्थितियों पर पड़ना ही चाहिए। विद्वानों ने इस सम्बन्ध के फलस्वरूप अनेक प्रकार के प्रभावों की ओर संकेत किया है, परन्तु कुछ विद्वान् निस्सन्देह ऐसे भी हैं जो भारत के इस यवन-संबंध से कुछ विशेष फल होना स्वीकार नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय जनता के अन्तर्मुखी होने के कारण इस सम्बन्ध का विशेष प्रभाव तो नहीं हुआ, परन्तु यह सम्पर्क सर्वथा निष्फल भी नहीं कहा जा सकता। आधुनिक इतिहास में भारत के विदेशी सम्पर्क का एक नमूना सामने है। लगभग डेढ़ सौ वर्षों का ही इंगलैंड और भारत का वर्तमान सम्बन्ध है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारत की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों में इसने काया-पलट कर दी है। यद्यपि हम इस बात को मानते हैं कि अन्य प्रबल कारणों के साथ एक विशिष्ट कारण इसका यह भी था कि प्राचीन भारतीयों की भाँति वर्तमान भारतीयों ने इंगलैंड की ओर पीठ नहीं कर रखी है। उन्होंने पाश्चात्य संस्थाओं और साहित्यों का अध्ययन ही नहीं किया है, कई अंशों में उन्हें अपनाया भी है। हिन्दू-यवन सम्बन्ध का प्रभाव भारत पर इतना स्पष्ट और गहरा तो निश्चय नहीं है, परन्तु उसका असर सर्वथा नगण्य भी नहीं कहा जा सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भिक ग्रीक-आक्रमणों का भारत पर न तो राजनीतिक प्रभाव पड़ा, न सामाजिक। पहला ग्रीक हमला मकदूनिया के असाधारण विजेता सिकन्दर के नेतृत्व में ३२६ ई० पू० में हुआ। परन्तु पश्चिम-पूर्व के बीच एक प्रशस्त वणिक्पथ स्थापित हो जाने के सिवा वस्तुतः भारत को इसका कोई लाभ न हुआ। ग्रीक मुश्किल से भारत में लगभग उन्नीस वर्ष ठहरे और इस थोड़े अरसे में भी वे बराबर लड़ते ही रहे। देश से किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध वे स्थापित न कर सके। राजनीतिक दृष्टि से भी उनका प्रयास निरर्थक सिद्ध हुआ और सिकन्दर के लौटने और मृत्यु के शीघ्र ही बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब से ग्रीक-विजय के बचे-खुचे चिह्न भी मिटा दिए। इस ग्रीक-विजय से भारतीय इस हद तक अलग रहे

ग्रीक हमले

कि इतने विस्तृत संस्कृत-साहित्य में कहीं भी उन्होंने इस आक्रमण के प्रति संकेत तक न किया। इस प्रकार सिकन्दर का आक्रमण इस दृष्टि से सर्वथा अनुर्वर सिद्ध हुआ। दूसरा ग्रीक-आक्रमण सेल्यूकस निकेतो के नेतृत्व में ३०६ ई० पू० के लगभग हुआ। परन्तु प्रभाव के रूप में यह पहले आक्रमण से भी अधिक व्यर्थ सिद्ध हुआ। सेल्यूकस काबुल की घाटी से आगे न बढ़ सका और चन्द्रगुप्त मौर्य ने उसे इतना बेबस कर दिया कि उसे हिन्दूकुश पर्वत के दक्षिण के सारे ग्रीक प्रदेश—काबुल की घाटी और बलूचिस्तान—भारतीय सम्राट् के हवाले करने पड़े। तीसरा आक्रमण अन्तियोकस् तृतीय का लगभग २०६ ई० पू० अथवा उससे कुछ पहले हुआ। इस आक्रमण में विजय की गुरुता थी ही नहीं। निस्संकल्पजनित यह आक्रमण भारतीय सीमाप्रान्त को भी न लाँघ सका। काबुल घाटी के भारतीय राजा सुभागसेन का आत्मसमर्पण स्वीकार कर अन्तियोकस् शीघ्र सीरिया लौटा। वास्तविक और प्रभावशाली आक्रमण लगभग २०६ ई० पू० और १७५ ई० पू० के बीच हुए जिनका आधार विशेषतः बाख्त्री का देश था। बाख्त्री के भारतीय विजेता तीन थे—दिमित्रिय, युक्रेतिद और मिनान्दर। इन्होंने न केवल भारत के मध्यदेशीय प्रान्तों की विजय की, वरन् उसके उत्तर पश्चिमी प्रदेशों में अनेक नगर बसाये और राजकुल स्थापित किए। इन राजकुलों ने भारतीय सीमा प्रांत, पंजाब और सिन्ध में लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक राज्य किया। इनमें से मिनान्दर तो बौद्ध तक हो गया था जिससे सिद्ध है कि इन विजेताओं का भारतीय जनता, समाज और धर्म से काफी गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया था। इससे यह संभव नहीं था कि उनका प्रभाव देश की विविध स्थितियों पर न पड़ा हो। फिर हमारे पास इस प्रभाव के स्पष्ट आँकड़े मौजूद हैं जिनका हम आगे के पृष्ठों में अब उल्लेख करेंगे।

कुछ विद्वानों का मत है कि भारतीय साहित्य इस काल में ग्रीक-साहित्य से विशेषतया प्रभावित हुआ। उनका यह मत अधिकतर सेन्ट क्रिसोस्तम (St. Chrysostom) के उस वक्तव्य पर प्रतिष्ठित है जिसमें उसने कहा है कि भारतीयों ने 'होमर को अपनी विविध भाषाओं में अनूदित कर लिया था और उसे वे प्रायः गाया करते थे।' यद्यपि क्रिसोस्तम का यह वक्तव्य ११७ ई० पू० का है फिर भी इसको शब्दशः मानना युक्तिसंगत नहीं है। जान पड़ता है, इस सन्त को रामायण की कथा सुनकर 'ईलियड' (Illiad) का भ्रम हो आया था। रामायण और ईलियड दोनों की कथाओं में कुछ समानन्तरता है। दोनों में नायिका को शत्रु उठा ले जाता है और उसकी पुनर्प्राप्ति के अर्थ संहारक युद्ध होता है। विदेशी को इस प्रकार का भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। नाटक-साहित्य पर अवश्य ग्रीक टेकनीक का कुछ प्रभाव हो गया जान पड़ता है। संस्कृत में रंगमंच के पर्दे के लिए अपना कोई शब्द नहीं। उसके लिए 'यवनिका' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है। वास्तव में जान पड़ता है कि भारतीय रंगमंच पर अत्यन्त प्राचीन काल में पर्दे का व्यवहार ही नहीं होता था। धीरे-धीरे भारतीयों ने जब ग्रीकों से पर्दे की रीति सीखी, तब पर्दे के लिए व्यवहृत शब्द 'यवनिका' में अपने उस ऋण का निर्देश किया। यवन शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में केवल अयोनियन ग्रीकों के अर्थ में हुआ है।

साहित्य

बाद में निस्सन्देह वह शक, हूण, मुसलमान आदि अन्य विदेशियों के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव होना किसी हद तक निश्चित-सा जान पड़ता है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि ग्रीकों ने 'यूथिदेमिया', 'दत्ता-मित्री', 'युक्रेतीदिया' आदि नगर बसा ही रखे थे, जहाँ कलाप्रिय ग्रीक अपने नाटक खेला करते थे। संभव न था कि भारतीय उनके नाटक-टेकनीक से प्रभावित न हों। ग्रीक भाषा का प्रयोग भारत में शायद कभी न हुआ। भारतीय जनता सीमा-प्रांत में भी संभवतः ग्रीक भाषा नहीं समझती थी। इसी कारण ग्रीक राजा अपने सिक्कों पर ग्रीक लिपि के साथ-साथ भारतीय भाषा और खरोष्ठी लिपि का व्यवहार भी करने लगे। इसका एक सबूत यह भी है कि आज तक एक भी अभिलेख ग्रीक भाषा में खुदा नहीं मिला।

मुद्रा

भारतीय मुद्रा-विज्ञान पर ग्रीक-प्रभाव स्पष्ट है। प्राचीन काल में भारत में केवल छोटे-छोटे ताँबे अथवा मिश्रित चाँदी के सिक्के चलते थे। चूँकि उनपर वृषभ, चक्र, चैत्यादि अनेक चिह्न छपे रहते थे। आधुनिक मुद्राविद् उनको 'पंच-मार्क्ड' (ठप्पा मुद्रित) कहते हैं। ग्रीकों के संपर्क से उनके शीघ्र बाद भारतीय नरेश भी सुन्दर आकारों के ढले हुए सिक्के चलाने लगे। ग्रीक 'द्रखम' (Drachma) को 'द्रम्म' (हिन्दी—दाम) के रूप में उन्होंने अपनी भाषा में भी ले लिया।

व्यापार

सिकन्दर के आक्रमण ने ही पश्चिम से व्यापार का मार्ग खोल दिया था। अब जब अनेक अंशों में हिन्दू-यवन राजा भारतीय सीमाप्रांत और बाहर के देश के भी अधिपति हो गये—भारतीय व्यापार को बड़ा प्रसार मिला। ग्रीक विदेशी थे और इन्होंने अपना संपर्क विदेशों से सदा बनाये रखा। इस कारण भारतीय व्यापारियों का उनके आश्रय में विदेशों में घूमना स्वाभाविक ही था। सिक्कों का एक विशिष्ट तोल और आकार का हो जाना भी व्यापार के क्षेत्र में लाभकर सिद्ध हुआ और इससे विनिमय तथा क्रय-विक्रय में आसानी हुई। यह स्मरणीय बात है कि १६६ ई० पू० में दाफ्ने नामक स्थान पर अन्तियोकस् चतुर्थ ने भारतीय हाथी-दाँत की बनी वस्तुओं और गरम मसालों का वृहद् प्रदर्शन किया था।[1] तालमी द्वितीय ने भी अपने विजय-प्रदर्शन में भारतीय कुत्तों और मवेशियों का प्रदर्शन किया था।[2] इसी प्रकार अज्ञातनामा ग्रीक द्वारा लिखे 'पेरिप्लस' से पता चलता है कि ग्रीस से भारत आनेवाले माल में सुन्दर यवन कुमारियाँ थीं जो इस देश में अनेक गृहस्थों की उपपत्नियाँ बनती थीं।[3] धार्मिक क्षेत्र में भारत के ऊपर ग्रीकों का प्रभाव तो कम दिखाई पड़ता है, परन्तु स्वयं उनपर भारतीय धर्म की गहरी छाप पड़ी—यह निर्विवाद है। अनेक ग्रीक-जातीय व्यक्तियों ने भारतीय धर्मों को अंगीकार कर उनकी शरण ली। ऊपर बताया जा चुका है कि शाकल ग्रीक राजा और

---

१. टार्न : The Greeks in Bactria and India, पृ० ३६१-६२

२. वही, पृ० ३६६

३. Periplus of the Erythrean Sea, ऊपर की पुस्तक में उद्धृत, पृ० ३७२।

दिमित्रिय का जामाता तथा सेनापति मिनान्दर बौद्ध हो गया था। थेर नागसेन के प्रति पूछे उसके प्रश्नों की तालिका 'मिलिन्द-पह्न' में मिलती है। इसी प्रकार दिय

धर्म

(Dion) का पुत्र हेलियोदोर (Heliodorus) भी, जैसा बेसनगर के स्तंभ-लेख से जान पड़ता है, वैष्णव ('भागवत') हो गया था। हेलियोदोर ने ही अपनी श्रद्धा से प्रेरित हो विष्णु की सपर्या में यह स्तंभ स्थापित किया था। तक्षशिला के ग्रीकराज अन्तलिकिद् ने उसे अपना राजदूत बनाकर शुंगराज काशीपुत्र भागभद्र (शुंगवंश का पाँचवाँ राजा ओद्रक अथवा नवाँ भागवत) के पास भेजा था। स्वात से एक कलश प्राप्त हुआ है जिसके अभिलेख से विदित होता है कि थियोदोर (Theoderos) नामक एक ग्रीक ने बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार भारतीय धर्मों में ग्रीक-अनुयायियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी और निस्सन्देह ये श्रद्धालु भारतीय समाज के अंग होते जा रहे थे।

भारतीय वास्तु और तक्षण-कलाएँ भी प्रभावित हुए बिना न रह सकीं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय ग्रीक वास्तु (architecture) को अपना न सके और इसी कारण एकाध उदाहरणों को छोड़कर ग्रीक-शैली पर बनी इमारतों के

कला

भग्नावशेष तक हमें आज उपलब्ध नहीं हैं। तक्षशिला में प्रथम शती ई० पू० के आरम्भ के कुछ मकान और ऊँचे 'यवन-स्तंभों' वाला एक मन्दिर अवश्य ग्रीक शैली पर निर्मित मिले हैं, परन्तु उनकी संख्या अत्यन्त सीमित है। तक्षण (मूर्त्ति, Sculpture) कला में निस्संदेह ग्रीक-शैली का प्रचुर प्रभाव पड़ा और भारत के कला-क्षेत्र में एक विशिष्ट वर्ग का नाम ही 'गन्धार-शैली' पड़ गया। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय कलावन्तों ने शीघ्र उस शैली को पूर्णतया भारतीय कर लिया; परन्तु ईसा की आरंभिक सदियों में निश्चय इस तक्षण-शैली का बोलबाला रहा जिसे ग्रीक राजाओं ने अपने कलाकारों के आश्रय से जन्म दिया और अपनी संरक्षकता से बढ़ाया। पत्थर के ऊपर बुद्ध के जीवन की घटनाओं का क्रमिक अंकन इस शैली का मुख्य टेकनीक था और इसके उत्खचित और उत्कीर्ण आकृतियों की वेश-भूषा और आकार-चेष्टाएँ ग्रीक मानुषी अवयवों के मॉडल से अनुप्राणित थीं। इस गन्धार-कला का क्षेत्र काबुल की घाटी और सीमाप्रांत से लेकर कभी पूर्वी पंजाब और पश्चिमी संयुक्त प्रांत के अनेक केन्द्रों तक विस्तृत था। आज भी अनेक तक्षण-अभिप्राय (motify) अथवा चतुर्दिक कोरी मूर्तियाँ प्राचीन ग्रीक कलाकारों की कृतियों के अनुरूप प्रस्तुत पेशावर और लाहौर के संग्रहालयों में द्रष्टव्य हैं।

परन्तु ग्रीक संपर्क का सबसे गहरा प्रभाव भारतीय ज्योतिष पर पड़ा है—गणित-ज्योतिष पर। 'गार्गी-संहिता' का वक्तव्य है कि "यद्यपि यवन (ग्रीक) बर्बर हैं। परन्तु ज्योतिष को जन्म देने के कारण वे देवताओं के-से पूज्य हैं।" भारतीयों ने ग्रीक

ज्योतिष

ज्योतिष से काफी लाभ उठाया और अपने साहित्य में उनके अनेक लाक्षणिक शब्दों का व्यवहार किया। आज की जन्मपत्री के लिए भारतीय संस्कृत में प्रयुक्त 'होरा (होड़ा)—चक्र' संकेत-शब्द है, वह ग्रीक भाषा का है। ग्रीक में 'होरा' का अर्थ 'घंटा' (अथवा एक घड़ी), और 'होरस्कोपस', (Horoskopus) का वह 'गणना जिससे जन्म के बाद की घटनाओं का संकेत मिल सके।' भारतीय ज्योतिष का 'जामित्र-लग्न' ग्रीक

'दायामेत्रान्' (Diametron) का अनुगामी है। भारतीयों ने ग्रीकों का राशिचक्र प्रायः ज्यों-का-त्यों ले लिया है। इस प्रकार के अनेक लाक्षणिक शब्दों का प्रचलन भारतीय ज्योतिष में ग्रीकों के प्रभाव से हुआ है और भारतीयों ने इसको न तो अनुचित माना है और न मिथ्या गर्व के कारण अग्राह्य। अपने ज्योतिष सिद्धान्तों में 'रोमक' और 'पौलिस' सिद्धान्तों को खुला नामतः उपयोग रोम और ग्रीक नगर-राज्यों के 'म्लेच्छ' आचार्यों के प्रति भारतीयों का ऋण प्रमाणित करता है।

ऊपर के विवेचन से सिद्ध है कि भारत के साथ ग्रीकों का यह डेढ़ सौ वर्षों का संबंध व्यर्थ नहीं गया। दोनों में कई प्रकार के आदान-प्रदान हुए और दोनों ने इस संपर्क से लाभ उठाया। हमारे पास अभाग्यवश प्रचुर प्रमाण तो नहीं हैं, परन्तु जितने हैं उतने भी इस निष्कर्ष को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

२. हिन्दू-पार्थव (पह्लव)

हिन्दू-पार्थवों अथवा 'पह्लवों' का राज्य-काल हिन्दू-ग्रीककाल के आरंभ के बाद शुरू होता है। हिन्दू-पार्थव राजाओं का इतिहास अत्यन्त भ्रमपूर्ण है और उनका तिथि-क्रम उससे भी अधिक। उनके संबंध में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री अत्यन्त स्वल्प है। यहाँ सिक्कों और अभिलेखों के आधार पर उनका संक्षिप्त इतिहास दिया जाता है। परन्तु उनका तिथि-क्रम सामग्री के अभाव में फिर भी संदिग्ध रहेगा और उसे निश्चित नहीं समझना चाहिए।

इस पार्थव-कुल का प्राचीनतम नृपति वोनोनिज् था। उसने शीघ्र अराकोसिया (कन्दहार) और सीस्तान (शकस्तान, शकस्थान—काबुल का पश्चिमोत्तर प्रदेश ईरान की ओर) पर कब्जा कर लिया और 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। रैप्सन के

वोनोनिज्

मतानुसार वोनोनिज् ने 'पूर्वी ईरान के राज्यों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था'।[१] उसने मिथ्रदात द्वितीय (Mithradates II—१२३–८८ ई० पू०) के बाद राज किया।[२] चूँकि उसने यूक्रेतिद-वंश के राजाओं की मुद्राओं की नकल में अपने सिक्के ढलवाये। रैप्सन का यह तिथि-अनुमान प्रायः सही जान पड़ता है। इतना संभव है कि वोनोनिज् कुछ और पहले हुआ हो। उसके सिक्कों पर उसके

स्फलिरिसिज्

साथ साथ ही उसके भाई स्फलिरिसिज् और स्फलहोरिज् तथा उसके भतीजे स्फलगदमिज् के नाम भी अंकित मिलते हैं जिससे अनुमान होता है कि ये वोनोनिज् द्वारा विजित प्रान्तों के संभवतः प्रान्तीय शासक थे। वोनोनिज् के बाद पार्थव-कुल में स्फलिरिसिज् ने राज किया। वह शकवंशीय अयस् (अजस्) द्वितीय का सम्राट् जान पड़ता है। अयस् के कुछ सिक्कों पर सामने की ओर स्फलिरिसिज् का नाम ग्रीक भाषा में और पीछे अयस् का खरोष्ठी में खुदा मिलता है।

इस वंश का तीसरा राजा गुदुफर था। उसके गोन्दोफर्निज, विन्दफर्ण, गोन्दोफेरिज्,

---

१. Cambridge History of India, खण्ड १, पृ० ५७२–७३.

२. वही।

गुदुहॅर, गुणन (सिक्कों पर) आदि अनेक नाम मिलते हैं। गुदुफर पार्थव-वंश में सबसे शक्तिमान राजा हुआ। इस कुल के अन्य राजाओं की तिथियाँ तो संदेहात्मक हैं, परन्तु गुदुफर की तिथि तख्त-ए-बाही के अभिलेख ने प्रायः स्थिर कर दी है। तख्त-ए-बाही का लेख साल १०३ का है।[1] यह तिथि उस लेख में ही दी हुई है, परन्तु उसका संवत् लेख में नहीं दिया हुआ है। इससे उसके तिथि-तथ्य तक पहुँचना कठिन अवश्य है। फ्लीट इसे विक्रम-संवत् का १०३ सरा साल मानकर इस अभिलेख की तिथि ४५ ईस्वी में रखते हैं। राखालदास बन्द्योपाध्याय ने इसे शक-संवत् में गणित माना है।[2] इस लेख की तारीख हुई १८१ ईस्वी, जो गुदुफर की तिथि बहुत दूर घसीट लाती है। स्मिथ की राय में यह तिथि बहुत पीछे है और वास्तव में गुदुफर को काफी पहले होना चाहिए, कदफिसिज प्रथम के भी पूर्व।[3] इस विचार से तख्त-ए-बाही के लेख की तारीख, उसे विक्रम-संवत् का मानकर, ४५ ईस्वी में रखनी होगी और यह ४५वीं ईस्वी 'महाराय गुदुहर' के राज्यकाल का २६वाँ साल है। इस गणना के अनुसार यह हिन्दू-पार्थव-राजा सन् १९ ईस्वी में गद्दी पर बैठता और कम-से-कम, यदि २६वाँ वर्ष उसके राज्य-काल का अन्तिम साल मानें, ४५ ईस्वी तक राज करता है। इस लेख के पेशावर जिले में पाये जाने से यह भी सिद्ध है कि वह जिला भी उसके शासन-सीमा के अन्तर्गत ही था। उसके सिक्कों से उसकी राज्य-सीमाओं का विस्तार और भी बढ़ जाता है। उनके अध्ययन से विदित होता है कि पूर्वी ईरान और पश्चिमोत्तर भारत के शक-पह्लव दोनों राज्यों का स्वामी बन बैठा था। शकराज अयस् द्वितीय के अनेक इलाके भी उसने स्वायत्त कर लिये। यह भारतीय नृपति अस्पवर्मन के सिक्कों से स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है। इन सिक्कों के ऊपर के लेखों से विदित होता है कि अस्पवर्मन पहले तो अयस् द्वितीय का सामन्त-नृपति था, फिर यह गुदुफर का करदायी सामन्त बना।

गुदुफर

गुदुफर का नाम ईसाई अनुश्रुतियों में बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं कि प्रसिद्ध सेंट टामस ने उसके राज्य में ईसाई-धर्म का प्रचार किया था। इस संबंध में अनेक किंवदन्तियाँ[4] प्रचलित हैं। एक मनोरंजक किंवदन्ती यह है कि उस सन्त ने गुदुफर से उसके लिए महल बनाने के अर्थ धन माँगा। राजा ने उसे एक लक्ष मुद्राएँ प्रदान कीं। बाद में जब महल न बना तो राजा ने सन्त को कारागार में डाल दिया। एक दिन जब उसने कारागार में उससे पूछा कि रुपए क्या हुए, तब सन्त ने उत्तर दिया कि उन रुपयों से राजा के लिए उसने महल बनवा दिया है। वह महल कहाँ है, पूछने पर उसने ऊपर स्वर्ग की ओर हाथ उठा दिया। सन्त ने धन गरीबों को बाँट दिया था और उसने बताया कि यह निस्सन्देह राजा के स्वर्गीय प्रासाद का आधार बनेगा। सन्त टामस की समाधि आज भी मद्रास के पास दिखाई जाती है। व्यक्तिगत कथानकों और किंवदन्तियों में कहाँ तक सचाई है यह निश्चित करना तो अत्यन्त कठिन है,

---

१. स्तेन कोनोः C. I. I. खण्ड २, नं० २०, पृ० ५७–६२.

२. Indian Antiquary, १९०८, पृ० ४७, ६२.

३. Early History of India. चतुर्थ संस्करण, पृ० २४८, नोट १.

४. वही, पृ० २४५-५०.

परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सन्त टामस इस हिन्दू-पार्थव-राजा का समकालीन था और उसके राज्य में उसने कुछ प्रचार-कार्य भी किया। सन्त टामस बड़ा पर्यटक जान पड़ता है और यदि ऊपर निर्दिष्ट समाधि वास्तव में उसी की हो तो यह मानना पड़ेगा कि उसने भारत के दूर-दूर के इलाकों में भ्रमण किया था। मद्रास प्रांत में ईसाई-धर्म का प्राचीन काल में ही प्रचार हो जाना भी इस निष्कर्ष की पुष्टि करता है। इस संबंध में यह और कहा जा सकता है कि उस प्रांत के अनेक स्थल ईसाई-धर्म-प्रचार के संपर्क में उस प्राचीन काल में ही आ गये थे, जब अभी यूरोप तक ईसाई नहीं बना था।

गुदुफर का साम्राज्य बड़ा था—पूर्वी ईरान और पश्चिमी पंजाब के ऊपर फैला हुआ। परन्तु उसकी विजय व्यर्थ सिद्ध हुई। उसके मरते ही उसका साम्राज्य बिखर गया। उसके जोड़ अलग-अलग हो गये—एक प्रान्त शासकों ने दबा लिये। पकोरिज् इन्हीं पश्चात्कालीन पार्थव-राजाओं में से थे और उसने अफगानिस्तान के दक्खिनी इलाकों और पश्चिमी पंजाब पर शासन किया। इसी समय बाख्त्री से यूएह्‌ची जाति का तूफान चला था जिसने काबुल, दक्षिणी अफगानिस्तान और उससे पूर्व सोग्दियाना की रियासतों को उखाड़ फेंका। इसी जाति की कुषाण-शाखा ने इस भारतीय हिन्दू-पार्थव-कुल की रही-सही शक्ति अपने चक्र की धुरी में पीस डाली।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. स्मिथ : Early History of India, चतुर्थ संस्करण।
२. राॅलिन्सन : India and the Western World.
३. वही : Bactria.
४. टार्न : The Greeks in Bactria and India.
५. Cambridge History of India, खण्ड १।
६. स्तेन कोनो : C. I. I., खण्ड २, भूमिका।
७. Indian Antiquary. १९०८, आर० डी० बनर्जी का लेख।
८. New Indian Antiquary जनवरी, १९४०, बाजोर-लेख।

चौदहवाँ परिच्छेद

शक-राजकुलों का इतिहास

मध्य एशिया में घुमक्कड़ जातियों की पारस्परिक टक्करों ने उसके और भारतीय इतिहास पर सारगर्भ प्रभाव डाले हैं। दूसरी शती ई० पू० के दूसरे चरण—संभवतः १६५ ई० पू०—में चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर यकायक कुछ हलचल हुई। उसने तूफान का रूप धारण किया और उसकी चोटों ने बड़ी-बड़ी आबादियाँ उखाड़ फेंकीं। चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर हियुंग-नू नाम की एक क्रूरकर्मा जाति बसती थी। अकाल ने उसके चरागाह सुखा दिए। वह जाति कान-सू प्रान्त में बसनेवाली जाति युएह्‌-ची से जा टकराई।

युएह्-ची जाति के पैर कान-सू के चरागाहों से उखड़ गये। खानाबदोश जाति घर नहीं जानती, भूख का बवंडर उसे लिए फिरता है। युएह्-ची पच्छिम की ओर मुड़ी और मुड़कर चलती रही। उसकी राह में जो छोटी-मोटी जातियाँ पड़ीं, वे या तो बगल हो गईं या पिस गईं। सीरदरिया के उत्तरी काँठे में शक नाम की एक वीर जाति का निवास था। युएह्-ची उनसे जा टकराई और उनको दक्षिण की ओर इस जोर से फेंका कि उनकी चोट से पार्थव और बाख्त्री राज्यों के मेरुदण्ड टूट गये। बाख्त्री की केसर-रंजित भूमि वक्षुनद की अनेक धाराओं से सिंचती थी और पामीरों की छाया में ग्रीकों की शतमुखी संस्कृति उस उर्वरा भूमि पर नाचती-इठलाती थी। शक-बर्बरों ने १४०-२०० ई० पू० में उस केसररंजित धरा को शोणितसिक्त कर दिया। पितृहन्ता हेलियाक्लिज सपरिवार शकधाराओं की बाढ़ में विपन्न हो गया। यूक्रेतिद का यह ग्रीक राजकुल गृह-कलह से ही दुर्बल होता जा रहा था, अब शकों के आक्रमण से वह सहज ही विनष्ट हो गया। बाख्त्री पर अधिकार कर शक दक्षिण-पश्चिम मुड़े। वक्षुनद के पार पार्थवों का राज्य था जो शकों की पहली चोट से अभी-अभी सम्हला था। पार्थवों में शकों को रोकने की शक्ति न थी। ई० पू० १२८ में फ्रात द्वितीय धराशायी हुआ। पाँच वर्ष बाद आर्तबानुस भी शकों से युद्ध में मारा गया, परन्तु मज्ददात द्वितीय (Mithridates II) ने शक घुड़सवारों की बाग रोक दी। ई० पू० १२३ से ई० पू० ८८ तक वह जीवित रहा और जीते-जी उसने शकों को अपनी भूमि पर पाँव न रखने दिए। ईरान से विमुख हो शक पूर्व की ओर—भारत की सीमा की ओर—मुड़े। परन्तु उनकी राह में काबुल का ग्रीक राज्य पड़ता था जो बाख्त्री के राजकुल की ही एक शाखा द्वारा शासित होता था। शकों की बाढ़ फिर एक बार रुक गयी। जहाँ थे, वहीं कुछ समय के लिए उन्होंने डेरा किया। उनकी निवासभूमि 'सिइस्तान' अथवा 'शकस्तान' कहलाई। कुछ दिनों बाद कन्दहार और बलूचिस्तान के रास्ते वे भारत पहुँचे और सिन्धुनद के निचले काँठे—सिन्ध में वे जा बसे। उनके इस नवीन जन-स्थान को हिन्दू ऐतिहासिकों ने 'शक-द्वीप' और ग्रीक भूगोलविदों ने 'इन्दो-सीथिया' कहकर पुकारा। भारतीय भूमि पर शकों का यह पहला अवतरण था और इसी आधार से उन्होंने अपने अनेक राजकुलों की नींव डाली। नीचे के पृष्ठों में हम उन्हीं शक-राजवंशों का इतिहास पढ़ेंगे।

कालान्तर में शकों ने भारत में प्रायः पाँच राजकुल स्थापित किये—(१) सिन्ध और पश्चिमी पंजाब का शक-कुल, (२) पश्चिमोत्तर के क्षत्रप, (३) मथुरा के क्षत्रप, (४) महाराष्ट्र का क्षहरात-कुल और (५) उज्जैन के क्षत्रप।

१. सिन्ध-पंजाब का शक-कुल

शकों का पह्लवों (पार्थवों) के साथ घना संबंध रहा है। भारतीय साहित्य में दोनों के नाम—शक-पह्लव—प्रायः द्वन्द्व के रूप में मिलते हैं। अक्सर एक कुल में दूसरे कुल के व्यक्तियों के नाम मिल जाते हैं। अनेक पह्लव-नाम शक-राजकुल में और अनेक शक-नाम पह्लव-राजवंश में मिलने के कारण केवल नामों से ही शक अथवा पह्लव-कुल का निश्चय करना

प्रायः असम्भव हो गया है। यही कारण है कि ऐतिहासिकों ने इस संबंध में बहुधा भूलें की हैं। न केवल साहित्य और अभिलेखों में दोनों के नाम साथ मिलते हैं, वरन् दोनों के सिक्कों और क्षत्रप-शासन-प्रणालियों में भी अत्यधिक समता रही है। अतः इस शक-कुल में गिनाये यदि एकाध राजा शक न होकर पह्लव हों तो कोई विस्मय की बात न समझनी चाहिए। यहाँ वास्तव में केवल एक पठनीय आधार कायम किया जा रहा है।

भारतीय शक-राजाओं में सबसे पहला संभवतः मोअ था। ग्रीक इतिहासकारों ने उसे साधारणतया 'माउस' (Maues) लिखा है। पंजाब के मैरा (नमक की पहाड़ियों में) नामक स्थान से 'मोअ' नामक राजा का एक लेख मिला है।[1] इसी प्रकार क्षत्रप-पतिक के तक्षशिला के पत्र-लेख में भी 'मोग' नामक एक 'महाराय' का उल्लेख है। साधारणतया माउस, मोअ और मोग एक ही व्यक्ति माने जाने लगे हैं और इस कारण प्रमाण के अभाव में और अपनी सुविधा के लिए हम भी उन्हीं एक ही व्यक्ति के रूप में 'मोअ' नाम से लिखेंगे।

मोअ शक्तिमान राजा था। तक्षशिला का ताम्रपत्र उसे 'महाराय' कहता है। तक्षशिला गन्धार देश की राजधानी थी। इस प्रकार गन्धार भी 'महाराय मोअ' के राज्य में पड़ता था। बाद के उसके विरुद्ध महाराजाधिराज से जान पड़ता है कि मोअ ने भारतवर्ष की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर काफी विजय की थी। पंजाब में उसका राज्य दूर पूर्व तक तो न था; क्योंकि पूर्वी पंजाब में यवन-राज्य की सत्ता अभी वर्त्तमान थी। परन्तु सीमा-प्रान्त का निस्सन्देह वह स्वामी बन बैठा था। उसका राज्य काबुल-घाटी और पूर्वी पंजाब के दोनों यवन-राज्यों के बीच में फैला हुआ था। सिन्धु के निचले काँठे, संभवतः सिन्ध, सीमा-प्रांत और गन्धार तथा पश्चिमी पंजाब पर मोअ का अधिकार था। प्रायः इन्हीं प्रान्तों में उस नृपति के सिक्के मिले हैं। उसके शासन-काल की सीमाएँ स्थिर करना कठिन है, परन्तु उसने संभवतः प्रथम शती ई० पू० के अन्तिम चरण में राज्य किया था।[2] स्तेन कोनो[3] की राय में उसने ६० ई० पू० के लगभग शासन करना शुरू किया। डा० राय चौधरी[4] के मत से उसने ३३ ई० पू० के बाद और प्रथम शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध के पूर्व राज किया। क्षत्रप-पतिक के तक्षशिला-ताम्रपत्रवाले लेख में, जिसमें महाराय मोअ' का हवाला मिलता है, एक तारीख—७८—दी हुई है। परन्तु संवत् के अभाव में यह कहना कठिन है कि यह तिथि किस संवत् की है।

मोअ के बाद अय (अयस्_Ayes) प्रथम शककुल का राजा हुआ। उसके सिक्कों के प्रसार से जान पड़ता है कि उसने मोअ का राज्य पूरा-पूरा अपने अधिकार में रखा। इतना ही नहीं, संभवतः उसने वह राज्य पूर्वी पंजाब की ओर बढ़ाया भी। यह संभावना सही

१. C.I.I., खण्ड २, नं० ८
२. Journal of Indian History, १९३१, पृ० १९ ; १—४६।
३. Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३६५।
४. History of Ancient India, पृ. २१७-१८ नोट।

इससे और जान पड़ती है कि पूर्वी पंजाब के यवन-राज्य के स्वामी हिप्पोस्त्रात के सिक्कों को उसने फिर से अंकित कराकर अपने नाम से चलाया। डा० त्रिपाठी ने यह सुझाव दिया है कि संभवतः यह कलवान के अभिलेख का 'अय' अथवा अज है। उन्होंने तक्षशिला के रजत-लेख के 'अय' से भी इस राजा का ऐक्य होने का अनुमान किया है।[1] इनमें से पहला लेख १३४वें साल का और दूसरा १३६वें साल का है।[2] परन्तु उनमें संवत् का उल्लेख न होने से इनमें से किसी अय की तिथि निश्चित करनी कठिन है। वैसे तक्षशिला के पास के कलवानवाले लेख के १३४ को स्तेन कोनो ने विक्रम-संवत् में निर्दिष्ट माना है।[3] यदि हम इस अनुमान को सत्य मानें तो अय को (१३४—५८) ७६ ई० में राज करना चाहिए, परंतु यह गणना मानने से अय मोअ से बहुत दूर जा पड़ता है। अय संभवतः ईस्वी पहली सदी के आरंभ में वर्तमान था। कुछ विद्वानों ने उसे ५८ ई० पू० में आरंभ होनेवाले विक्रम संवत् का प्रवर्तक माना है, परन्तु इस सिद्धान्त के पक्ष में विशेष प्रमाण नहीं हैं। अय का समय और विक्रम के संबंध की अनुश्रुतियाँ दोनों इस मत के ग्राह्य होने के विरुद्ध पड़ती हैं।

अय

अय प्रथम के बाद अजलिसिज् राजा हुआ—यह दोनों के सिक्कों के अध्ययन से प्रायः स्पष्ट हो जाता है। सिक्कों के प्रमाण से यह भी सिद्ध हो जाता है कि कुछ काल तक दोनों ने सम्मिलित रूप से राज किया था। अजलिसिज् के विषय में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है। उसके पश्चात् अय द्वितीय इस शक-कुल का राजा हुआ। कुछ विद्वानों की राय है कि अय प्रथम और द्वितीय दोनों वास्तव में एक ही हैं, परन्तु सत्य संभवतः इस विचार के विरुद्ध है। अय द्वितीय इस कुल का अन्तिम राजा था। ऊपर बताया जा चुका है कि किस प्रकार अय द्वितीय के समय में उसका शक-राज्य पह्लवराज गुदुफर ने जीतकर अपने राज्य में मिला लिया।

अजलिसिज् अय द्वितीय

२. पश्चिमोत्तर के क्षत्रप

तक्षशिला, मथुरा और उज्जैन के शक-कुलों को 'क्षत्रप' अथवा 'महाक्षत्रप' कहते हैं। प्राचीन फारसी में प्रांत के शासक को 'क्षत्रपावन' कहते थे। इसी शब्द से संस्कृत का 'क्षत्रप' और ग्रीक-रोमकों का 'सैत्रप' बना। ईरानी पार्थवों के साम्राज्य-काल में प्रान्तीय शासक की 'क्षत्रपावन' लाक्षणिक संज्ञा थी। परन्तु शकों ने किस कारण राजा अथवा सामन्त के अर्थ में इसको व्यवहृत करना स्वीकार किया, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों की राय है कि शकों ने जब ईरानी पार्थवों से मुँह की खाकर भारत की ओर रुख किया, तब उनको इस बात में सहूलियत हुई कि वे अपने को उनका प्रतिनिधि घोषित करें। वैसे तो वे भारतीय प्रान्तों के स्वयं विजेता थे, फिर भी उन्होंने अपने को उनका प्रान्तीय शासक ही कहा। इससे उनकी स्वतंत्रता में कभी बाधा न पड़ी

१. History of Ancient India, पृ० २१३-१४ नोट।
२. देखिए, C. I. I., खण्ड २, नं० २० पृ० ७०-७७।
३. Epigraphia Indica, खण्ड २१, पृ० २५६, २५१।

और इससे कभी यह न समझना चाहिए कि वे भारत में सर्वथा स्वतंत्र न थे अथवा ईरानी पार्थवों के प्रति उनका किसी प्रकार का उत्तरदायित्व अथवा सरोकार था। यथार्थतः तो 'क्षत्रप' पहले मांडलिक राजा और धीरे-धीरे स्वतंत्र राजा और 'महाक्षत्रप' स्वतंत्र राजा कहलाये। आरंभ में क्षत्रप और महाक्षत्रप विरुदों का एक दूसरे प्रकार से भी व्यवहार हुआ है। क्षत्रप राज्यों में 'महाक्षत्रप' अपने पुत्र की सहायता से राज करता था जिसे केवल 'क्षत्रप' कहते थे। इस अवस्था में क्षत्रप का पद भारतीय 'युवराज' के पद से मिलता-जुलता था। जिस प्रकार युवराज पिता की मृत्यु के बाद 'राजा' की संज्ञा से विभूषित होता था, उसी प्रकार क्षत्रप भी पिता के पश्चात् शासन का पूरा भार पाकर महाक्षत्रप की उपाधि धारण करता था।

लियक-कुसुलक और पतिक

यह बात महत्त्व की है कि तक्षशिला के शासक, लियक-कुसुलक और उसके पुत्र पतिक (महाक्षत्रप और क्षत्रप) होते हुए भी केवल प्रान्तीय शासक थे। गन्धार का प्रान्त, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी, वास्तव में सिन्ध के प्राचीन और प्रथम शक-राजकुल के अधिकार में था। वास्तविक राजा मोअ था, जिसका 'महाराय मोग' नाम ७८वें वर्षवाले तक्षशिला के पतिक के ताम्रपत्र में मिला है। उस लेख में पिता-पुत्र, लियक-कुसुलक और पतिक के नाम आये हैं। ये दोनों अपने शकाधिपति महाराजा मोअ के छहर और चुक्ष नामक विषयों के मांडलिक और शासक थे।[1] निस्सन्देह ये सर्वथा स्वतंत्र न थे, परन्तु इनका कुल प्रभावशाली था जो समय-समय पर अपनी शासन-घोषणाएँ अथवा लेख जारी किया करता था। इसी कारण यहाँ उनका निर्देश स्वतंत्र कुल की भाँति किया जा सका।

३. मथुरा के क्षत्रप

मथुरा के इस क्षत्रप-कुल का इतिहास भी पूर्णतया प्रकाश में नहीं है। फिर भी हमें इस राजघराने के अनेक क्षत्रपों के नाम मालूम हैं। अनेक अभिलेखों से उनकी कृतियों का हमें थोड़ा-बहुत हवाला मिलता है। इनमें से प्राचीनतम क्षत्रप हगान और हगामस नामधारी थे। दोनों में पिता-पुत्र अथवा भाई-भाई का संबंध था—यह निश्चय करना कठिन है। परन्तु जान पड़ता है कि दोनों ने कुछ काल तक सम्मिलित शासन किया था। उनके

रंजुवुल, सोडास

पश्चात् संभवतः रंजुबुल (राजुबुल) ने शासन किया। मथुरा के इस क्षत्रप-कुल में रंजुबुल और उसके पुत्र सोडास सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। मथुरा के पास मोरा ग्राम से प्राप्त अभिलेख में रंजुबुल को महाक्षत्रप कहा गया है। उसके सिक्कों से जान पड़ता है कि उसने पूर्वी पंजाब के यवन राजा स्त्रातो प्रथम और द्वितीय के सिक्कों की नकल की थी। कुछ आश्चर्य नहीं कि उस मिटते हुए राजकुल का रंजुबुल ने ही अन्त किया हो। महाक्षत्रप रंजुबुल के शासन में उसका क्षत्रप-पुत्र सोडास भी सहायता करता था। पिता की मृत्यु के बाद सोडास महाक्षत्रप बना। ब्रिटिश म्यूजियम में प्रदर्शित मथुरा सिंह-मस्तक के

---

1. स्तेन कोनो : C.I.I., खण्ड २, भाग १, नं० १३, पृष्ठ, २३-२९.

अभिलेख[1] से ज्ञात होता है कि तक्षशिला के ताम्रलेख का पडिक (पतिक) जब महाक्षत्रप था, तब सोडास मथुरा का क्षत्रप था। परन्तु इस लेख से दोनों की समकालीनता-मात्र प्रमाणित होती है, उनके व्यक्तिगत शासन-तिथि पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। तक्षशिला के लेख में जो ७८वें वर्ष का उल्लेख है, उसका प्रयोग संवत् के अभाव में इस तिथि को निश्चित करने में नहीं किया जा सकता। अमोहिनी-आयागपट्टवाले लेख में सोडास का विरुद 'महाक्षत्रप' आया है। उसमें तारीख के रूप में ४२ का अंक उल्लिखित है। यदि रैप्सन के मतानुसार हम इसे विक्रम-संवत् में निर्दिष्ट मानें तो सोडास का १७-१६ ई० पू० में राज करना प्रमाणित[2] होता है। पिता-पुत्र दोनों के शासन-काल में अनेक आयागपट्ट (जैन) और मूर्त्तियाँ बनीं तथा श्रद्धालुओं द्वारा समर्पित हुईं। मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में उनमें से कई आज भी प्रदर्शित हैं। सोडास के बाद के क्षत्रपकुलीय राजाओं का वृतान्त अन्धकार में है। उसके उत्तराधिकारियों के विषय में हमारा ज्ञान नितान्त स्वल्प है।

४. महाराष्ट्र का क्षहरात-कुल

कालान्तर में पश्चिमी भारत में भी शकों का एक विख्यात राजकुल प्रतिष्ठित हुआ। महाराष्ट्र के इस शक-कुल को 'क्षहरात' कहते थे। जैसा ऊपर बताया जा चुका है 'महाराय मोग' के क्षत्रप पिता-पुत्र लियक-कुसुलक और पतिक उसके 'छहर' और 'चुक्ष' नामक जिलों के शासक थे। डा० त्रिपाठी का अनुमान है कि महाराष्ट्र के क्षहरात संभवतः छहर के ही रहनेवाले हों।[3] कुछ आश्चर्य नहीं कि तक्षशिला के इस शक-राजकुल की एक शाखा पश्चिमी भारत में जड़ पकड़ गयी हो। क्षहरातों में पहला ज्ञात क्षत्रप भूमक है। महाराष्ट्र के अतिरिक्त उसका अधिकार सौराष्ट्र पर भी था, जैसा कि उसके सिक्कों के वितरण और प्राप्ति से विदित होता है। इस कुल का सबसे प्रसिद्ध क्षत्रप नहपान था।

भूमक

दोनों के सिक्कों के तुलनात्मक परिशीलन से ज्ञात होता है कि भूमक नहपान का पूर्ववर्ती नृपति था। इसके अतिरिक्त उसके सिक्कों की स्पलिरिसिज् और अय के सम्मिलित सिक्कों से समानता, इन पंजाबी शकों से उसकी समकक्षता सिद्ध करती है। इन प्रमाणों से जान पड़ता है कि नहपान भूमक के बाद महाराष्ट्र का क्षत्रप बना।

---

१. स्तेन कोनो : C. I. I., खण्ड २, भाग १, पृ० ३०-४९.

२. कुछ विद्वानों ने इस लेख के अंक ४२ को ७२ पढ़ा है। यदि इस पाठ को हम सही मानें तो सोडास के शासन की यह तिथि १५ ईस्वी होगी। स्तेन कोनो ने इस अंक को विक्रम-संवत् में निर्दिष्ट माना है (Epi. Ind., १४, पृ. १३९-४१)। अधिकतर विद्वानों का मत है कि सोडास ने संभवतः यह तिथि शक-संवत् में दी है। बूह्लर ने इस असुन्दर लेख के अंक को पहले तो ४२ माना (देखिये, Epi. Ind., २, पृ. १९९) फिर इसे छोड़कर शुद्ध पाठ ७२ माना (देखिये, वही ४, पृ. ५५ नोट २)। रैप्सन ने इसे ४२ माना है (देखिये, Cambridge History of India, खण्ड १, पृ. ५७६, नोट १)।

३. History of Ancient India, पृ० २१५, नोट ३.

क्षहरात-राजवंश का दूसरा राजा नहपान हुआ। यह बड़ा प्रतापी था और यद्यपि इसे आंध्र-सातवाहन नृपति गौतमीपुत्र शातकर्णि के हाथों पराजित होना पड़ा, पर यह

नहपान

निस्सन्देह इस कुल का सर्वशक्तिमान् राजा था। इसने भूमक के बाद ही शासन किया, परन्तु भूमक के साथ उसका क्या वास्तविक संबंध था, यह कुछ नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि नहपान शक था। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उसके शकजातीय होने में संदेह किया है। उसकी पुत्री दक्षमित्रा उषवदात (ऋषभदत्त) नामक एक शक-सामन्त को ब्याही थी। उषवदात को उसके एक अभिलेख में स्पष्टतया 'शक' कहा गया है। पुत्री और जामाता दोनों के नाम हिन्दू हैं जिससे प्रमाणित है कि शक लोग भारतीय संस्कृति को बहुधा अपनाने लगे थे। उनके हिन्दुओं में विवाह-संबंध भी होने लगे थे। नीचे बतायेंगे कि किस प्रकार ब्राह्मणराज शातकर्णि का विवाह उज्जैन के यशस्वी महाक्षत्रप रुद्रादामा की दुहिता से हुआ था। अतः केवल पुत्री की शादी शक उषवदात से होने के कारण तो नहपान को शक नहीं कहा जा सकता, परन्तु कुल, नाम, सिक्के आदि के अनुशीलन से उसका शक होना ही युक्तियुक्त जान पड़ता है। नासिक के पाण्डु-लेण और पूना जिले के जुन्नार तथा कार्ले के उषवदात के अभिलेखों से जान पड़ता है कि नहपान महाराष्ट्र के बड़े भूभाग का स्वामी था। ऊपर बताया जा चुका है कि महाराष्ट्र के ये भाग आंध्र सातवाहन नृपतियों के अधीन थे। शातकर्णि राजाओं के लेख इन भागों में उत्कीर्ण मिले हैं। इससे सिद्ध है कि नहपान ने ये भाग आंध्र-सातवाहनों से ही जीते थे। इस काल मालवों के आक्रमण हो रहे थे और उनको रोकने के अनेक प्रयत्न उत्तमभद्र कर रहे थे। नहपान ने उत्तमभद्रों के प्रयत्न में सहायता करने के लिए अपने जामाता उषवदात को भेजा। इस युद्ध में उषवदात ने विजय पायी और उसने अपने श्वसुर और सम्राट् नहपान का आधिपत्य आधुनिक अजमेर के निकट तक फैला दिया। अजमेर के पास पुष्कर (पोखर) तीर्थ में उषवदात ने अनेक दान किये। नहपान के शासन-काल की तिथियाँ ४१वें साल से ४६वें साल तक उसके लेखों में उत्कीर्ण मिलती हैं, परन्तु उनके संवत् का उल्लेख न होने के कारण उनका निश्चय करना कठिन है। फ्रेंच विद्वान् दुब्रोआ[1] ने इन तिथियों को विक्रम-संवत् के अनुसार अंकित माना है। उस दशा में ये ६६ ईस्वी से १०४ ईस्वी तक पड़ीं। परन्तु अधिक संभावना इनके शक-संवत् में अंकित होने की है। यदि ये शक-संवत् की हुई तो मानना होगा कि नहपान ११९-२४ ईस्वी में राज कर रहा था। 'इरीथ्रिय सागर का पेरिप्लस' नामक ग्रीक-ग्रंथ में 'मम्बरस्' अथवा 'मम्बनस्' नामक भारतीय नृपति का उल्लेख है। कुछ विद्वानों ने इस राजा को नहपान माना है। यदि यह ऐक्य माना जाय तो नहपान को ईस्वी सन् की पहली सदी के तीसरे चरण में राज करना चाहिए। उस दशा में उसके लेखों में आयी ४१ से ४६ की तिथियों को विक्रम-संवत् में रखना भी कुछ बहुत अयुक्तियुक्त न होगा। फिर भी अन्य प्रमाणों के अभाव में इस संबंध में अभी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। नासिक के लेख और उसके निकट के जोगलथम्बी स्थान से उपलब्ध सिक्कों के

---

१ Ancient History of Deccan, पृ० १२

अनुशीलन से विदित होता है कि नहपान की शक्ति सातवाहनकुलीय प्रतापी सम्राट् गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि ने कुचल दी।

नहपान के उत्तराधिकारियों का हमें विशेष ज्ञान नहीं है। संभव है, उसके बाद कुछ काल तक महाराष्ट्र के कुछ दुर्बल क्षत्रप शासन करते रहे हों, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उनका अधिकार अत्यन्त परिमित भूभाग पर रहा होगा और क्षहरातों की लक्ष्मी निश्चित रूप से नहपान के बाद श्रीहीन हो गयी। इस कुल के संहारक सातवाहन नृपति थे। दक्षिण के आधिपत्य के अर्थ एक जमाने तक महाराष्ट्र और उज्जैन के क्षत्रपों और आंध्र के सातवाहनों में कशमकश चलती रही थी।

५. उज्जैन के क्षत्रप

शकों का एक राजकुल और था जो कालान्तर में अवन्ती (पश्चिमी मालवा) की राजधानी उज्जैन (उज्जयिनी) में प्रतिष्ठित हुआ। इस कुल का प्रतिष्ठाता यसामोतिक का पुत्र चष्टन था। इस कुल ने पश्चिमी भारत पर सदियों तक राज किया। इसका संबंध संभवतः मथुरा के राजकीय क्षत्रप-कुल से भी था। चष्टन का समय निर्णय करना भी सरल नहीं है। दुब्रोआ का विचार है[1] कि ७८ ईस्वी में शक-संवत् का चलानेवाला चष्टन ही था। उसका यह मत अनेक कारणों से विद्वानों को मान्य न हो सका, परन्तु इतना उनको भी ग्राह्य है कि कच्छ के अन्धाऊ स्थान से प्राप्त अभिलेख में जो तिथि ५२ दी हुई है वह शक-संवत् की ही है। इस मत के अनुसार यह तिथि (७८ + ५२ =) १३० ईस्वी हुई, जो चष्टन के शासन-काल में पड़ी। चष्टन ने शक-परम्परा के अनुसार पहले तो 'क्षत्रप' के विरुद से फिर 'महाक्षत्रप' की हैसियत से राज किया। कुछ लोग उसके 'क्षत्रप' विरुद के कारण कम-से-कम आरंभ में उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है कि चष्टन महाक्षत्रप होने के पूर्व या तो गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि का सामंत-नृपति[2] था या संभवतः कुशानों का।[3] ऊपर हम बता चुके हैं कि केवल क्षत्रप होना इस बात को सिद्ध नहीं करता कि शासक अपने अधिपति का मांडलिक-मात्र है। पिता-महाक्षत्रप के राज्य-काल में भी पुत्र क्षत्रप कहलाता था। केवल इस विरुद से चष्टन का मांडलिक होना ध्वनित नहीं होता। भूगोलविद् तालेमी ने अपने भूगोल में 'ओजेन के तियास्तेनिज' नामक नरेश का उल्लेख किया है। यह नरेश संभवतः चष्टन ही है। चष्टन के सिक्कों पर नहपान के सिक्कों का प्रचुर प्रभाव पड़ा था। यह स्पष्ट है कि चष्टन का राजकुल महाराष्ट्र के क्षहरात-कुल के बाद प्रतिष्ठित हुआ। अन्धाऊ-लेख से डा० भण्डारकर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि चष्टन और रुद्रदामन ने कुछ काल तक सम्मिलित राज किया।[4]

चष्टन

---

१. Ancient History of Deccan, पृ० १६

२. वही, पृ० १७

३. डा० त्रिपाठी : History of Ancient India, पृ० २१७.

४. Indian Antiquary, ४७ (१९१८), पृ० १५४.

दुब्रोआ इस मत से सहमत नहीं हैं और उन्होंने इस लेख को रुद्रदामन् के शासनकाल का माना है।[१]

चष्टन के बाद उसका पुत्र जयदामन् क्षत्रप हुआ। परन्तु वह क्षत्रप-मात्र रह गया। उसने कोई विजय या वीरकार्य सम्पन्न न किया। जयदामन् के पश्चात् उसका पुत्र और चष्टन का पौत्र रुद्रदामन् महाक्षत्रप हुआ। रुद्रदामन् न केवल उज्जैन के क्षत्रप-कुल में वरन् समस्त शकर-राजकुलों में सर्वशक्तिशाली हुआ। उसने अनेक विजयों से अमर ख्याति अर्जित की। शातकर्णि राजाओं को उसने श्रीविहीन कर दिया। गिरनार पर्वत पर जूनागढ़ में उसकी प्रशस्ति खुदी है जो संस्कृत भाषा का प्रथम ओजस्वी गद्य-लेख है। यह लेख शक-संवत् ७२ अर्थात् १५० ईस्वी का है।[२] इस लेख में उसके विक्रम का यश-गान है। रुद्रदामन् ने अपने पराक्रम से 'महाक्षत्रप' के विरुद को स्वायत्त किया।[३] उसने इस यौधेयों की विजय की और दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि नृपति (जो उसका निकट का संबंधी था)[४] को दो-दो बार युद्ध में परास्त किया।[५] इस प्रशस्ति में विजित प्रदेशों की जो तालिका दी हुई है, वह बड़ी विस्तृत है। उत्तरी गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्धुनद का निचला काँठा, उत्तरी कोंकण, मान्धाता का पार्श्ववर्ती देश, पूर्वी और पश्चिमी मालवा और राजपूताना के कुकुर तथा मरु आदि प्रदेश[६]—उसके साम्राज्य में शामिल थे। स्पष्ट है कि रुद्रदामन् की यह विजय अधिकतर शातकर्णि राजाओं के विरुद्ध हुई। ऊपर गिनाये प्रदेशों में अनेक गौतमीपुत्र के साम्राज्य के कभी अंग रह चुके थे। पश्चात्कालीन सातवाहन नृपति तलवार की मूठ बलपूर्वक न पकड़ सके। अपने समकालीन आंध्र-नरेश वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलुमावि को रुद्रदामन् ने दो-दो बार परास्त किया था, यह प्रशस्ति-लेख से ही सिद्ध है। यद्यपि यह आंध्र-नृपति रुद्रदामन् का निकट का संबंधी (संभवतः जामाता) था, पर यह सम्बन्ध उसके विरुद्ध विजेता की विजय के मार्ग में रुकावट न डाल सका। रुद्रदामन् के शासनकाल की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना सुदर्शन झील का पुनरुद्धार थी। इस झील का निर्माण पहले-पहल दो नदियों के सोतों को रोककर चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रान्तीय शासक पुष्यमित्र वैश्य ने कराया था। फिर उसमें से सिंचाई के कार्य के लिए अशोक के प्रान्तीय शासक यवन तुषास्प ने नहरें निकलवायीं। रुद्रदामन् के राज्य-काल में उस सुदर्शन झील के बाँध टूट गये। तब उसने कुलैप के पुत्र 'आनर्त्त और सुराष्ट्र' के अपने पह्लव-शासक सुविशाख

---

१. Ancient History of Deccan, पृ० २७

२. Epigraphia Indica, ८, पृ० ३६-४९.

३. स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना—वही।

४. दक्षिणापथपतेः सातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सादनात्प्राप्तयशसा······, वही।

५. सम्बन्धाविदूरतया······वही।

६. पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र (म) रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषादादीनां समग्राणां······Epigraphia Indica, ८, पृ० ३६-४९.

द्वारा सुदर्शन का पुनरुद्धार कराया। इस बार का बाँध पहले से तीन गुना मजबूत कर दिया गया। रुद्रदामन् अपने इस लेख में गर्व के साथ कहता है कि इस गुरु कार्य का उसने बिना अपनी प्रजापर किसी प्रकार का कर लगाये राजकीय व्यय से संपादन किया।

रुद्रदामन् के बाद लगभग दो सौ वर्षों तक शकों का यह परिवार किसी-न-किसी रूप में राज करता रहा। रुद्रदामन् के ये पिछले उत्तराधिकारी फिर भी दुर्बल थे। उनका इतिहास साधारणतया अन्धकार में है। शक्ति के क्षीण होने से उनको वीर-कर्म सुलभ न हो सके और सहज उदासीन भारतीय इतिवृत्ति ने उनके प्रति कोई उल्लेख उचित न समझा। तीसरी सदी ईस्वी की चतुर्थ दशाब्दी में क्षत्रपों के कृपाण विशेष कुण्ठित हो गये। उनकी राज्यलक्ष्मी विचलित हो चली। ईश्वरदत्त के नेतृत्व में आभीरों का पराक्रम प्रखर हो चला था। उन्होंने अब क्षत्रप प्रान्तों को धीरे-धीरे छीनना शुरू किया। फिर भी क्षत्रपों ने अपना संहार न होने दिया। गुप्तकाल के आरंभ तक ये फिर भी जीवित रहे। 'हर्षचरित' और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का शकराज जिसे कुमारावस्था में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मारा था, संभवतः इस कुल का रुद्रसिंह तृतीय है जिसके अनेक सिक्के मिले हैं। शीघ्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों को उज्जैन और सौराष्ट्र से नष्ट कर 'शकारि' विरुद धारण किया।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. Cambridge History of India, खण्ड १।

२. स्मिथ: Early History of India, चतुर्थ संस्करण।

३. राय-चौधरी: Political History of Ancient India, चतुर्थ सं०।

४. त्रिपाठी: History of Ancient India.

५. C. I. I., खण्ड २, स्तेन कोनो की भूमिका।

६. दुब्रोआ (Dubrouil) Ancient History of Deccan.

७. रैप्सन: Catalogue of the Coins of the Andhra Dynasty, the Western Ksatrapas, etc.

८. जायसवाल: Problems of Saka-Satavana History, JBORS., खण्ड १६, भाग ३-४।

९. Epigraphia Indica, खण्ड २१; ४; १४; १; ८।

१०. Indian Antiquary, खण्ड ३७; ४०।

११. JRAS., १९१३।

१२. Journal of Indian History, खण्ड, १४ (१९३५)—Chronology of Sakas, Pahlavas and Kushans (गोविन्द पाई); स्तेन कोनो—Notes on Indo-Scythian Chronology, वही १९३३।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

कुषाण-काल

सन् ईस्वी की पहली सदी के उत्तरार्द्ध और दूसरी सदी में उत्तर-पश्चिमी भारत में जिस विदेशी जाति ने राज्य किया, उसे कुषाण (कुषण, गुषण) कहते थे। कुषाण कौन थे? शकों के प्रसंग में बताया जा चुका है कि किस प्रकार लगभग १६५ ई० पू० में ह्यु ंग-नु नामक एक तुर्की खानाबदोश जाति उत्तर-पश्चिमी चीन के कान-सू प्रान्त में बसनेवाले यूह्-ची घुमक्कड़ों पर टूट पड़े। इस पराजय के कारण यूह्-चियों को अपने चरागाह छोड़ पश्चिम की ओर भटकना पड़ा। इली नदी की घाटी में बसनेवाली वू-सुन जाति से फिर उनका मुकाबला हुआ और युद्ध में उस घाटी का राजा खेत रहा। यहाँ यूह्-ची जाति दो शाखाओं में विभक्त हो गयी। इनसे से एक तो दक्खिन की ओर बढ़कर तिब्बत की सीमा पर बस गयी और 'छोटी यूह्-ची' अथवा 'सिआव यूह्-ची' कहलायी। 'ता यूह्-ची' नामक मुख्य शाखा अपने पुराने मार्ग से बढ़ती हुई सीर दरिया के काँठे में बसनेवाले शकों से जा टकरायी। परन्तु यूह्-ची स्वयं भी सीर दरिया की घाटी में बहुत काल तक न ठहर सके। इली के काँठे में उन्होंने वू-सुन को हराकर उसके राजा को मार डाला था। वू-सुन हार तो गये थे, परन्तु उन्होंने यूह्-चियों का पीछा न छोड़ा था। सीर की घाटी में उन्होंने उसे जा पकड़ा और वहाँ से शीघ्र उखाड़ फेंका। इसमें यूह्-चियों के प्राचीन शत्रु ह्यु ंग-नु (हूण) जाति ने उनकी बड़ी सहायता की। लगभग १४० ई० पू० में सीर दरिया की घाटी से निकाले जाकर यूह्-ची वक्षुनद के काँठे में घुसे और वहाँ उन्होंने बाख्त्री के निवासियों को तबाह कर डाला। धीरे-धीरे बाख्त्री और सोग्दियाना को जीतकर वे वहाँ आबाद हो गये। धीरे-ही-धीरे इनके वहाँ पाँच भाग हो गये जिनमें से एक का नाम कुषाण था। इन पाँचों में कुछ काल तक वैमनस्य और संघर्ष चलता रहा और अन्त में कुषाण विजयी हुए।

कुषाणों का नेता वांग वीर और दूरदर्शी था। वांग संभवतः प्रसिद्ध कुषाण सरदार और विजेता कुजूल-कदफिसेज ही था। इस राज के अनेक सिक्के मिले हैं, जिनसे उसकी विजयों पर काफी प्रकाश पड़ा है। कुछ सिक्कों पर 'कुजूल कस' खरोष्ठी में और कुछ पर 'हरमाउस' के साथ 'कोजोलो कदफिज' ग्रीक में खुदा मिलता है। बाद की कुछ मुद्राओं पर हरमाउस का नाम नहीं मिलता। ये सिक्के अधिकतर काबुल के आसपास से मिले हैं वे उस घाटी से धीरे-धीरे ग्रीकों के ह्रास और कुषाणों के प्रतिष्ठित होने का इतिहास उपस्थित करते हैं। जान पड़ता है कि यूह्-ची के चारों कबीलों को जीतकर अपने कुषाण कबीले के नेतृत्व में कुजूल ने पहले एक प्रबल जाति बनायी। इनके एक पड़ोसी पार्थव थे, दूसरे काबुल के ग्रीक। पार्थव दोनों के शत्रु थे। कुजूल ने संभवतः काबुल के ग्रीकों से पार्थवों के विरुद्ध सन्धि कर ली। बाख्त्री का युक्रेतिदवाला ग्रीक राजवंश मिट चुका था और उसकी दूसरी शाखा का दीप अपनी दुर्बल लौ से काबुल में टिमटिमा रहा था। यह राजकुल कुषाणों के बढ़ते हुए तेज को न सह सका। कुछ हल्का संघर्ष थोड़े दिनों तक चलता रहा। मित्रता के कृत्रिम भाव कुछ काल तक निबाहे गये।

कुजूल-कदफिसेज

कुजूल ने पहले इतना ही काफी समझा कि काबुल के ग्रीक राजवंश के अन्तिम नृपति हरमाउस के सिक्कों पर उसका भी नाम अंकित रहे, फिर धीरे-धीरे हरमाउस का नाम सिक्कों और काबुल की घाटी दोनों से उसने मिटा दिया। ग्रीकों के राजकुल को बाख्त्री से शकों ने मिटा दिया था। उसकी शाखा अब अफगानिस्तान से भी मिट गयी। पूर्वी पंजाब में जो मिनान्दर का कुल था, उसे शकों ने नष्ट कर दिया। यवन-राजकुलों की सत्ता भारत और उसके परवर्ती देशों से मिट गयी। कुजूल-कदफिसेज काबुल से छुट्टी पाकर पार्थिया की ओर मुड़ा। पार्थव अब भी प्रबल थे। शकों से उन्होंने लोहा लिया था और उनका साम्राज्य अब भी विस्तार के स्वप्न देखता था। कुजूल ने यूह्-ची कबीलों का संगठन कर अपनी शक्ति बढ़ा ली थी। अब काबुल की घाटी जीत लेने के कारण पार्थिया की दो दिशाएँ उसके हाथ में हो गयी थीं। फिर उसका सफल नेतृत्व असाधारण था। उसने पार्थिया पर हमला कर उसे सहमा दिया। फिर उधर से भय का कारण दूर कर उसने भारत की ओर नजर डाली। मार्ग में किपिन (गन्धार) और दक्षिणी अफगानिस्तान पड़ते थे। इन्हें उसने बात-की-बात में जीत लिया। गन्धार और तक्षशिला का पह्लव राजा गुदुफर प्रबल था और उसने अपनी शक्ति तो अन्त तक कायम रखी ही, उसके एकाध उत्तराधिकारी भी गिरते-पड़ते राजा होने का दम्भ करते रहे। गन्धार और सीमा-प्रांत की कुजूल द्वारा यह विजय निस्सन्देह गुदुफर के राज्यकाल के पश्चात् हुई। गुदुफर का समय तख्त-ए-बाही अभिलेख ने ४५ ईस्वी में निश्चित कर दिया है। कुजूल का जीवन-काल संघर्षों और विजयों से भरा था। चीनी लेखकों के अनुसार वह अस्सी वर्ष की लंबी आयु तक जीवित रहा और इस लंबी आयु में वह सदा लड़ता ही भिड़ता रहा। गृह-युद्धों से छुटकारा पाकर उसने एक छोटे-बड़े कुषाण-साम्राज्य की नींव डाली। कुषाण-कुल का वह प्रतिष्ठाता था। प्रथम शती ईस्वी के तृतीय चरण में संभवतः उसने अपनी जीवन-लीला समाप्त की।

वीम-कदफिसेज

कुजूल के बाद उसका पुत्र वीम-कदफिसेज (ओएम, वेम आदि) कुषाणों का राजा हुआ। उसके अनेक सिक्के उपलब्ध हैं जिनके प्राप्ति-स्थानों के प्रसार से विदित होता है कि उसके राज्य का विस्तार बड़ा था। इसके अतिरिक्त महाराज, राजाधिराजवत् आदि जो उसके अनेक विरुद उसके सिक्कों पर मिलते हैं, उनसे भी उसकी शक्ति का बोध होता है। चीनी लेखकों ने उसे भारत का विजेता लिखा है। यद्यपि यह वक्तव्य शब्दशः स्वीकार नहीं किया जा सकता, फिर भी उसकी विजयों के पक्ष में निश्चय इससे प्रमाण मिलते हैं। संभवतः उसने सारे पंजाब और पश्चिमी संयुक्त प्रांत के कुछ हिस्से जीत लिये थे। उसके पूर्वी और भारतीय प्रांतों का शासन उसका प्रतिनिधि राजा करता था। इस कुषाण-वाइसराय ने ताँबे के अनेक सिक्के जारी किये, जो बड़ी संख्या में उत्तर-भारत में अक्सर मिलते हैं। इनपर किसी राजा का नाम न खुदा होने के कारण इन सिक्कों को अज्ञातनामा राजा के सिक्के कहते हैं। वीम-कदफिसेज के सिक्कों से एक विशिष्ट धार्मिक घटना का पता चलता है। वह यह कि यद्यपि कुषाण भारत में नवागत थे, परन्तु हिन्दू-धर्म ने अभी से उनपर अपना प्रभाव डालना आरंभ कर दिया था। हिन्दू-धर्म की यह एक अद्भुत बात रही है कि जब देश की राजनीतिक सत्ता विदेशियों के हाथों में रही है तब भी उसकी

शक्ति भीतर-ही-भीतर विजेताओं पर असर करती रही है। भारत के प्राचीन विजेता प्रायः उसकी संस्कृति के दास होते रहे हैं। वीम ने भारत का पश्चिमोत्तर प्रदेश जीता तो सही, परन्तु वह उसके धर्म के प्रभाव से वंचित न रह सका। उसके सिक्कों के अध्ययन से विदित होता है कि उसने हिन्दू-धर्म स्वीकार कर लिया था। उसके सिक्कों पर 'माहेश्वर' लिखा मिलता है और उनपर एक ओर शिव और नन्दी की आकृति खुदी हुई है जिससे उसका शैव होना प्रमाणित है।

कनिष्क

वीम-कदफिसेज के बाद साधारणतया कनिष्क का राजा होना इतिहासकार मानते हैं। परन्तु वास्तव में कुषाण-तिथिक्रम भारतीय तिथियों में एक कठिन पेंच है। भारतीय तिथियों में जितनी उलझी हुई यह कुषाण-तिथि है, उतनी शायद अन्य तिथियाँ कम हैं। अन्य स्थलों में झगड़ा यदि है तो प्रायः तिथियों के आगे-पीछे होने का ; परन्तु कुषाण-कुल के संबंध में वह झगड़ा तो है ही, उसके अतिरिक्त राजाओं के वंशानुगत क्रम में भी शंकाएँ की जाती हैं। उदाहरणतः फ्लीट,[1] केनेडी और ओत्तो फ्रांक के मतानुसार कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों ने कुजूल और वीम-कदफिसेज से पहले राज किया था। यह सिद्धान्त कुषाण-कुल के सारे वंशक्रम को उलट देता है। यह मत फिर भी गलत है। यह तो माना जा सकता है कि वीम-कदफिसेज और कनिष्क के राज्य-काल में कुछ अंतर रहा हो और उस अंतर में किसी और राजा ने राज किया हो, परन्तु कनिष्क और उसके निकट के उत्तराधिकारियों का कदफिसेज प्रथम और द्वितीय के पूर्व राज करना नहीं माना जा सकता। शुद्ध क्रम यही है—कुजूल, वीम, कनिष्क, वासिष्क, हुविष्क, वासुदेव। काबुल के समीप बेग्रम, गोरखपुर जिले के गोपालपुर स्तूप, बनारस आदि से वीम और कनिष्क दोनों के सिक्के साथ-साथ मिले हैं। दोनों के सिक्कों की तौल, टेकनीक, आकृति और लक्षणों (चिह्नांकों) में अद्भुत समता है।[2] इस प्रमाण के अतिरिक्त तक्षशिला की खुदाइयों के भग्नावशेषों का अनुशीलन कर जो विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है, वह इसके सर्वथा अनुकूल है। कनिष्क और वीम दोनों के काल के खंडहरों की परतें एक साथ हैं जिनसे विदित होता है कि कनिष्क वीम का उत्तराधिकारी था। कनिष्क के संबंध में दूसरी पहेली उसकी शासन-तिथि है। इसको निश्चित करना भी साधारण कार्य नहीं है। उसके समय की अटकल ५८ ई० पू० से लेकर २७८ ईस्वी तक लगायी गयी है।[3] फ्लीट साहब की राय में कनिष्क ५८ ई० पू० के विक्रम-संवत् का चलानेवाला था। डा० रमेशचन्द्र मजुमदार ने उसकी तिथि २४८ ईस्वी मानी है और सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने २७८ ईस्वी। परन्तु इन प्रस्तुत तिथियों की असंभावना स्पष्ट सिद्ध है। साधारणतया विद्वानों का विश्वास है कि कनिष्क ७८ ईस्वी में

तारीख

---

१. JRAS, १९०३, १९०५, १९०६, १९१३।

२. स्मिथ : Early History of India, पृ० २७२ और नीचे का नोट।

३. JRAS., १९१३, १९१४; Indian Historical Quarterly, खण्ड ५, १९२९, पृ० ४९-८०।

प्रारंभ होनेवाले शक-संवत् का चलानेवाला है। इस संवत् का पश्चिमी भारत के शक-कुलों ने बराबर प्रयोग किया, इसीसे इसे शक-संवत् कहते हैं। इसमें तो किसी को सन्देह नहीं कि कनिष्क ने एक साका चलाया था, क्योंकि उसके उत्तराधिकारियों ने उसी गणना को अपने राज्यकाल के तिथि निर्देश में जारी रखा है जिसे कनिष्क ने व्यवहृत किया। दूसरी शती के आरंभ में कनिष्क का राज करना माननेवाले उस काल में चलाये जानेवाले किसी ऐसे संवत् का हवाला नहीं दे सकते, जो उत्तर भारत में शक-संवत् की भाँति आज तक अथवा एक लंबे अरसे तक चलता रहा हो। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि कनिष्क ७८ ईस्वी के आस-पास ही गद्दी पर बैठा। इस निष्कर्ष को एक और प्रमाण भी पुष्ट करता है। यदि चीनी लेखकों का वक्तव्य सही है कि कुजूल-कदफिसेज एक लंबे काल तक राज करके अस्सी वर्ष की आयु में ईसा की प्रथम शती के तीसरे चरण के लगभग मरा, तो वीम-कदफिसेज के राज्य की दौरान निस्सन्देह स्वल्प रही होगी। उस दशा में कनिष्क भी कुजूल से समय की माप में दूर नहीं रखा जा सकता।[1] अतः उसका ७८ ईस्वी के निकट गद्दी पर बैठना युक्तियुक्त है।

कनिष्क की विजय

कनिष्क कुषाण-वंश का सबसे प्रतापशाली राजा था। केवल कुषाण-कुल का ही नहीं, प्रत्युत् भारत के राज-परिवार में भी उसका स्थान बहुत ऊँचा है। वह वीर और लड़ाका था। गद्दी पर बैठने के समय अपने पूर्वजों द्वारा जीता हुआ उसने एक काफी विस्तृत राज्य पाया था जिसे उसने और अधिक फैलाकर एक विशाल साम्राज्य बनाया और उस साम्राज्य को समृद्ध किया। कुजूल-कदफिसेज ने पार्थिया पर आक्रमण किया था, काबुल की घाटी पर अधिकार किया था, किपिन और दक्षिण अफगानिस्तान जीता था। वीम-कदफिसेज ने और पूर्व बढ़कर पंजाब विजय किया और संयुक्त प्रांत की पश्चिमी सीमा भी लाँघ गया था। कनिष्क ने उस सीमा को उत्तर, दक्षिण और पूर्व की ओर और बढ़ाया। काश्मीर की सुन्दर घाटी कनिष्क को बहुत पसंद थी। अपनी दिग्विजय के आरंभ में ही उसने उसे जीता। उसी समय पार्थिया के राजा ने उसपर आक्रमण किया। यह आक्रमण संभवतः उसके शासन-काल के शुरू में ही हुआ होगा कुजूल ने पार्थिया पर हमला किया था। उसके मरने और वीम के शीघ्र बाद पार्थव-नरेश ने बदला लेने की ठानी होगी। आक्रमण के लिए नये राजा का राज्य सुगम होता है। अतः उसने कनिष्क पर संभवतः आरंभ में ही हमला किया। परन्तु कनिष्क ने तुरत पाँसा उलट दिया और पार्थवों को मुँह की खानी पड़ी। कनिष्क का सबसे कठिन संघर्ष चीन से चला और इस संघर्ष के अन्त में कनिष्क को काशगर, खुत्तन और यारकन्द के प्रदेश हाथ लगे। संघर्ष-वृत्तान्त इस प्रकार हैं।

चीन से संघर्ष

२३ ईस्वी में प्रथम हान-कुल का अन्त हुआ। फलतः चीनियों का दबदबा मध्य-एशिया से उठ गया था। परन्तु पचास वर्षों बाद उस वीर जाति ने फिर एक बार पश्चिम की ओर रुख किया। उनका वीर सेनापति पान-चाउ आँधी की भाँति चीन की सीमा से निकलकर आसपास के राज्यों पर टूट पड़ा और उसे उनको सर

1. त्रिपाठी : History of Ancient India, पृ० २२४-२५।

करते देर न लगी। कश्मीर, जो कनिष्क के अधिकार में था, पान-चाउ के खतरे के बाहर न था। कुछ सहमकर, कुछ पान-चाउ की विजयों को धृष्टता समझ कनिष्क ने उससे शक्ति तोलने की ठानी। समीप के राज्यों में उसकी तूती बोलती थी ; आतंक छाया हुआ था। उसने सोचा, शायद धमकी से ही काम निकल जाय। उसने चीन के सम्राट् से बराबरी स्थापित करने के लिए उस देश के सम्राटों का प्रिय विरुद 'देवपुत्र' धारण किया और अपने विवाह के लिए चीनी राजकुमारी माँगी। उसका दूत जब पान-चाउ के पास पहुँचा तब चीनी जेनरल अगली विजयों की चिन्ता में था। कनिष्क का प्रस्ताव सुनकर वह जल उठा। उसने उस अपमान के बदले में कुषाण-दूत को कैद कर लिया। कनिष्क ने जब यह खबर सुनी तब वह एक बड़ी सेना लेकर पामीर लाँघ पूरब की ओर पान-चाउ से लोहा लेने बढ़ा। चीन न तो शौर्य में उससे घटकर था और न उसके पास सेना की कमी थी। जो युद्ध हुआ, उसमें पान-चाउ ने सिद्ध कर दिया कि सैन्य-संचालन में भी वह कनिष्क से बढ़कर है। कनिष्क बुरी तरह हारा और चीन के सम्राट् को कर देने पर बाध्य हुआ। यह सन्धि बड़ी महँगी सिद्ध हुई और उसे बहुत अखरी। इस अपमान के कारण वह भर नींद सो न सका। कुछ वर्ष बाद उसने एक बड़ी सेना लेकर फिर पूर्व की ओर कूच किया और पामीर लाँघ गया। पान-चाउ मर चुका था। उसका पुत्र पान-यांग उसकी सेना का नायक था—युवा और असंयत। कनिष्क ने उसे पराजित कर पुराने अपमान का बदला लिया। पास ही चीन का एक करदायी राज्य था। कनिष्क ने उसे चीन की नेकचलनी का जामिन बनाया और एवज में उसके राजा को अपने कुमार देने पर बाध्य किया। अनुश्रुति तो यह है कि इस एवज में चीन के हान सम्राट् का एक राजकुमार भी था; परन्तु इसकी सत्यता अत्यन्त सन्दिग्ध है। जमानत में आये कुमारों की उसने काफी आवभगत की और उनके सुख से ठहरने के लिए ऋतुचित प्रबन्ध किया। प्रत्येक ऋतु में सुविधाजनक विश्राम के लिए कपिशा (काफिरिस्तान) में शे-लो-क नामक विहार, गान्धार और पूर्वी पंजाब में चीनभुक्ति नामक स्थान चुने गये। इन कुमारों ने भारत में पहले-पहल नाशपाती और आड़ू के पौधे लगाये। हुएन-च्वांग सातवीं सदी में जब शे-लो-क विहार में ठहरा, तो उसने भी उन कुमारों के सम्बन्ध में अनुश्रुतियाँ सुनीं। उसके जीवन चरितकार हुइ-ली का कहना है कि विहार और उसके चैत्य के खर्च के लिए उन्होंने प्रचुर धन दान किया। वह धन 'वैश्रवण' (कुबेर) की प्रतिमा के चरणों के पास भूमि में गाड़ दिया गया। एक राजा ने उस धन को एक बार निकालना चाहा, परन्तु दैवी उपद्रवों के कारण उसे घबड़ाकर हाथ खींच लेना पड़ा। उस जीवनचरित से जान पड़ता है कि हुएन-च्वांग के प्रयास से वह धन विहार के पुनरुद्धार में व्यय किया जा सका।[1]

साम्राज्य

पूर्वोत्तर के अतिरिक्त कनिष्क ने पूर्व की ओर भी अपने साम्राज्य का प्रसार किया। चीनी और तिब्बती ग्रन्थों में सुरक्षित बौद्धानुश्रुतियों से विदित होता है कि उसने साकेत (अयोध्या) और मगध तक

---

१. जीवन-चरित, पृ० ५६-५८; स्मिथ : EHI., चतुर्थ सं०, पृ० २७८-८०

के प्रदेशों पर धावा मारा और पाटलिपुत्र से बौद्ध भिक्षु, दार्शनिक तथा कवि अश्वघोष को अपने साथ ले गया। इस प्रकार कनिष्क का साम्राज्य विस्तृत था। भारत की उत्तरी सीमा के बाहर के प्रदेश अफगानिस्तान, बाख्त्री, काशगर, खुत्तन और यारकन्द उस साम्राज्य के अन्तर्गत थे। भारत के भीतर उसकी सीमाएँ निर्धारित करना कठिन है। फिर भी उसके लेखों के विवरण से हमें उन सीमाओं का कुछ आभास मिलता है। पेशावर और रावलपिंडी[1] के जिलों से तो उसके लेख मिले ही हैं, बहावलपुर की रियासत[2], उन्ड के पास जेदा, मथुरा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, सारनाथ से भी वे प्राप्त हुए हैं। उसके सिक्के तो सारे उत्तरी भारत—बंगाल और बिहार तक—में मिले हैं, जो पंजाब के बाजारों में अभी हाल तक चलते रहे हैं। बंगाल और पूर्वी बिहार को छोड़ कनिष्क के सिक्कों के बाकी प्राप्तिस्थान उसके सामाज्य में पड़ते थे। संक्षेप में उसके भारतीय प्रान्तों में कश्मीर, पंजाब, सिन्ध, संयुक्त-प्रान्त और संभवतः बिहार के भी कुछ पूर्वी भाग थे। जान पड़ता है कि कनिष्क ने दिग्विजय का कार्य गद्दी पर बैठने के साथ ही आरम्भ कर दिया था। सारनाथ में जो उसका लेख मिला है, वह उसके राज्यकाल के तीसरे वर्ष अर्थात् सन् ८१ ईस्वी का है। इससे सिद्ध है कि संयुक्त-प्रान्त के पूर्वी इलाकों का वह गद्दी पर बैठने के तीन साल बाद ही स्वामी हो चुका था, और यदि चीनी और तिब्बती अनुश्रुतियों की बात सही है, तो इसके पूर्व ही वह मगध पर धावा मार अश्वघोष को भी अपने साथ पेशावर ले जा चुका था।

शासन

कनिष्क के शासन पर ऊपर निर्दिष्ट सारनाथवाला लेख कुछ प्रकाश डालता है। उसका शासन प्रान्तीय क्षत्रपों के जरिये होता था। उसके पूर्वी इलाकों के लिए दो क्षत्रप नियत थे। एक की राजधानी मथुरा और दूसरे की संभवतः काशी थी। इस सारनाथवाले लेख में मथुरा के महाक्षत्रप का नाम खरपल्लान और काशी के क्षत्रप का वनष्पर था। साम्राज्य की राजधानी पुरुषपुर अथवा पेशावर थी जहाँ से आसपास के प्रदेशों का शासन संभवतः कनिष्क स्वयं करता था। इसके सिवा कनिष्क की शासन-प्रणाली का हमें कोई ज्ञान नहीं।

सिक्के और धर्म

कनिष्क के सिक्कों पर ग्रीक, ईरानी और हिन्दू अनेक देवताओं—जैसे हेरैक्लिज, सेरापिज, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, शिव आदि की आकृतियाँ और उनके नाम ग्रीक भाषा में खुदे मिलते हैं। इनसे कनिष्क के धर्म का पता नहीं चलता। कई प्रकार के देवताओं के मुद्रांकन का तात्पर्य शायद यह रहा हो कि राज्य में उनका अस्तित्व राजा स्वीकार करता है। अफगानिस्तान और बाख्त्री से पश्चिमी बिहार तक फैले हुए इस साम्राज्य में निस्सन्देह कई धर्मों के अनुयायी बसते थे। बौद्ध-धर्मावलम्बियों का दृढ़ विश्वास है कि कनिष्क बौद्ध था। इस विश्वास के विरुद्ध कोई

---

१. देखिए, 'महाराज कणेष्क' के राज्यकाल के १८वें वर्ष का माणिक्याल अभिलेख—C. I. I. खण्ड २, भाग १, नं० ७६, पृ० १४५-५०।

२. ११वें वर्ष का सुई-विहार-लेख, वही, नं० ७४, पृ० १३८-४१।

प्रमाण भी नहीं है। इसके अतिरिक्त उसके कुछ सिक्कों पर बुद्ध की आकृति भी खुदी मिलती है। अनुश्रुतियों का कहना है कि कनिष्क ने अनेक स्तूप और विहार बनवाये थे। पेशावर के स्तूप का जिसमें उसने बुद्ध की अस्थियाँ रखवायी थीं—चीनी यात्रियों और अलबेरूनी ने हवाला दिया है।[1] कनिष्क द्वारा चौथी बौद्ध-संगीति का अधिवेशन भी इस तर्क को प्रमाणित करता है। कनिष्क के पूर्वज सूर्य और शिव के उपासक थे।

बौद्ध अनुश्रुतियों से विदित होता है कि कनिष्क जब बौद्ध होकर उस धर्म के सिद्धान्तों और बुद्ध के उपदेशों का अनुशीलन करने लगा, तो उसके पारस्परिक सांप्रदायिक विरोधों के कारण उनको समझना उसके लिए बड़ा कठिन हो गया। इन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए अपने गुरु पार्श्व की अनुमति लेकर उसने सर्वास्तिवादिन् शाखा के ५०० भिक्षुओं के महासंघ का अधिवेशन किया। इस अधिवेशन को चौथी बौद्ध-संगीति कहते हैं। तीसरी पाटलिपुत्र में अशोक ने बुलायी थी। इस चौथी संगीति का अधिवेशन कश्मीर के कुण्डलवन-विहार[2] में भिक्षु वसुमित्र की अध्यक्षता में हुआ। वसुमित्र की अनुपस्थिति में अश्वघोष अध्यक्ष का कार्य-संपादन करते थे। इस संगीति के फलस्वरूप बौद्ध-सिद्धान्तों पर अनेक भाष्य संपादित हुए। इनमें 'विभाषा-शास्त्र' मुख्य था। इन भाष्यों को ताम्रपत्रों पर खुदवाकर एक स्तूप में सुरक्षित कर दिया गया। कनिष्क के ही काल में संभवतः बुद्ध की मूर्तियाँ बननी प्रारंभ हुईं, जो पत्थर की तो मिलती ही हैं, कनिष्क के सिक्कों पर भी जिसकी आकृतियाँ खुदी हुई हैं। बुद्ध के मूर्ति-निर्माण से बौद्ध-धर्म के इतिहास में एक नवीन आन्दोलन का प्रारंभ होता है, जिसे 'महायान' कहते हैं। इस महायान का प्रारंभ और उत्थान कनिष्क के ही शासन-काल में हुआ जान पड़ता है। प्राचीन बौद्ध बुद्ध को केवल मानव-गुरु, आचार्य और पथ-प्रदर्शक के रूप में मानते थे। उनकी प्रतिष्ठा अभी देवपद पर न हुई थी। बौद्ध-धर्म के इस प्रारंभिक रूप को 'हीनयान' कहते थे। हीनयान अधिकतर शुष्क सिद्धान्तपरक था। जब तक बौद्ध-धर्म विद्वानों तक सीमित था तब तक हीनयान की प्रतिष्ठा बनी रही; परन्तु साधारण जनता में धर्म का प्रचार हो जाने पर बौद्ध आचार्य भी एक प्रकार की कमी का अनुभव करने लगे। जन-विश्वास तर्क और दर्शन से दूर होता है। साधारण जनता को एक व्यक्तिगत देवता अनिवार्य है जिसको वह अपना दुःख-सुख सुना सके, अपने आपत्ति-काल में जिसकी वह शरण ले सके और जिसके प्रति वह श्रद्धा-भक्ति का पूरा आचरण कर सके। हिन्दू-धर्म के भक्ति-मार्ग में तो

बौद्ध-संगीति

महायान

---

१. देखिए सुंगयुन के सम्बन्ध में बील का हवाला—अनुवाद, भूमिका-पृष्ठ १०३-१०४। फाहियान—बील, भूमिका-पृ० ३२। हुएन-च्वांग—'सि-यु-की', भाग १; बील, भाग १, पृ० ९९, वाटर्स १, पृ० २०४। अलबेरूनी—'कनिक-चैत्य,' अनुवाद (सचाउ), भाग २, पृ० ११।

२. हुएन-च्वांग : सि-यु-की, बील, भाग १, पृ० १५१-५९, वाटर्स, भाग १, पृ० २७०-७८।

इसकी व्यवस्था थी, परन्तु बौद्ध-धर्म में न थी। जब साधारण हिन्दू-जनता बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुई तो भक्ति-मार्ग में परचे होने के कारण उसे एक बड़ी कमी का बोध हुआ। महायान, हिन्दुओं के भक्ति-मार्ग से अनुप्राणित, इसका परिणाम हुआ। बौद्धों का एक (पश्चात्काल में मुख्य) दल बुद्ध की भक्ति द्वारा निर्वाण में विश्वास करने लगा। प्राचीन अर्हत्-सिद्धान्त अब भी कायम रहे, परन्तु महायान उनका एक प्रकार से 'साधारणीकरण' था, साधारण जनता की अभिरुचि के अनुसार उसका इस रूप में अवतरण। जनता चूँकि अपनी प्राचीन क्रियाओं में अभ्यस्त थी, बौद्धों में भी हिन्दुओं की ही भाँति अनेक धार्मिक विधि-क्रियाएँ उठ खड़ी हुईं। बुद्ध की मूर्ति के साथ-साथ ही अनेक 'बोधिसत्त्वों' की भी कल्पना हुई, उनकी भी मूर्तियाँ बनीं और कालान्तर में हिन्दुओं की ही भाँति बौद्धों में भी देवताओं का एक दल और परम्परा बन गयी जिसमें अधिकतर हिन्दू-देवता—शक्र, ब्रह्मा, कुवेर आदि—अपने पुराने नाम से अथवा नाम बदलकर ले लिये गये। द्ध, बोधिसत्वों और अन्य देवताओं की सहस्रों मूर्तियाँ कोरी जाकर साधारण बौद्ध-जनता की उपासना का केन्द्र बनीं।

महायान के इस नये धार्मिक न्दोलन ने, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कला में एक नई धारा बहा दी, एक नये .. को जन्म दिया। प्राचीन बौद्ध-कला में बुद्ध की जातक-कथाओं का प्रदर्शन होता था, पर तु स्वयं बुद्ध की प्रतिमा का उसमें अभाव था। वह अभी भविष्य के गर्भ में थी। बुद्ध की उपस्थिति, कला में, केवल लक्षणों और संकेतों से ही दर्शाई जाती थी। उष्णीष, चरणांक, बोधिवृक्ष, रिक्तासन, छत्र, कमण्डलु, भिक्षापात्र, धर्मचक्र आदि ही बुद्ध के प्रतीक माने जाते थे; परन्तु अब स्वयं बुद्ध की प्रतिमा श्रद्धालुओं की पूजा और तक्षकों (मूर्तिकोरनेवाले) के कलात्मक प्रयास का केन्द्र बनीं। और चूँकि इनका निर्माण एक विशिष्ट शैली में हुआ है और अधिकतर ये गन्धार प्रांत में जिसका केन्द्र पेशावर था, मिली हैं, ये 'गान्धार शैली में कोरी' कहलाती हैं। भारतीय कला में 'गान्धार-शैली' के प्रादुर्भाव का हवाला हम हिन्दू-ग्रीक इतिहास के प्रकरण में दे आये हैं। हिन्दू-ग्रीक-काल में स्वयं बुद्ध की मूर्ति तो न बन सकी, परन्तु भारतीय 'अभिप्रायों' (मॉडेल) के संबंध में वास्तविक तक्षण का टेकनीक ग्रीक होता था। ग्रीक-राजाओं ने यवन (यूनानी) शैली का अपनी कला में प्रयोग किया। वह शैली बाद तक चलती रही और संभवतः इसी शैली में बुद्ध की पहली मूर्ति कनिष्क के शासन-काल में कोरी गयी। इस कला का खास टेकनीक बुद्ध की मूर्तियों के वस्त्र की चुन्नट और उनके केश की ग्रीक-पद्धति में प्रदर्शित है। धीरे-धीरे भारतीय कलाकारों ने ग्रीक-शैली को सर्वथा हिन्दू कर लिया। केश सर्वथा लुप्त हो गये और वस्त्रों की चुन्नट शरीर के अवयवों में खो गयी। ग्रीक-टेकनीक कुषाण-शैली से होता हुआ गुप्त-काल में सर्वथा भारतीय हो गया और बुद्ध का 'अपोलो'-रूप अब भारतीय देवता की एकरूपता में परिणत हुआ। फिर भी भारतीय कला को एक लंबे काल तक गान्धार-शैली प्रभावित करती रही और उसका प्रभाव आज भी मथुरा और अमरावती के प्राचीन मॉडलों में देखा जा सकता है।

गान्धार-कला

कनिष्क हर्ष की भाँति बौद्ध-धर्म का केवल प्रचारक अथवा चन्द्रगुप्त मौर्य की भाँति

केवल विजेता न था, वरन् अशोक की भाँति वह निर्माता भी था। बौद्ध-अनुश्रुतियों में कनिष्क के अनेक निर्माणों का उल्लेख मिलता है। वह अनेक स्तूपों और नगरों का निर्माता माना जाता है। अपनी राजधानी पुरुषपुर में उसने जो विहार और स्तूप बनवाये थे, उनका हवाला ऊपर दे आये हैं। चीनी यात्री सुंग-युन के अनुसार यह स्तूप लकड़ी का था और इसकी ऊँचाई विशाल थी। कुछ काल हुआ, पेशावर से अस्थियों से भरी एक संदूकची मिली थी जिसके ऊपर के लेख[1] से विदित होता है कि यह स्तूप अगिशल नामक एक ग्रीक वास्तु-विशारद की देखरेख में बना था। कनिष्क ने पंजाब में एक नगर भी बसाया था जिसके भग्नावशेष तक्षशिला के पास सिर-सुख नामक स्थान पर आज भी देखे जा सकते हैं। उसने कश्मीर में भी कनिष्कपुर नाम का एक नगर बसाया जिसका उल्लेख कल्हण ने अपनी 'राजतरङ्गिणी' में किया है, और जो आज भी वर्तमान है।

निर्माण-कार्य

कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी, यह ऊपर बताया जा चुका है। उसकी राजधानी में दार्शनिकों का संघट्ट था। पार्श्व, वसुमित्र और अश्वघोष उसकी बुलाई संगीति के प्रमुख नेता थे। प्रसिद्ध दार्शनिक और महायान का प्रवर्त्तक नागार्जुन भी संभवतः इस आकाश का एक नक्षत्र था। भारतीय आयुर्वेद का प्रख्यात चरक शायद इसी काल हुआ था। मातृचेट का नाम भी बौद्ध-अनुश्रुतियों में कनिष्क के साथ संबद्ध है; परन्तु विद्वानों ने दोनों की समकालीनता में संदेह किया है।

कनिष्क के दरबारी

लगभग २३ वर्ष राज करने के बाद कनिष्क का निधन हो गया। अनुश्रुति यह है कि उसकी प्रजा, विशेषकर उसके सरदार उसके युद्धों से थक गये थे और एक रात उन्होंने उसकी हत्या कर डाली।[2] इस प्रकार कनिष्क का अन्त सम्भवतः (७८ + २२ =) १०१ ईस्वी में हुआ; परन्तु यदि आरावाला लेख उसका ही माना जाय तो उसे (७८ + ४१ =) ११९ ईस्वी तक जीवित रहना चाहिये।[3] परन्तु यह मत सही नहीं जान पड़ता।

कनिष्क महान् राजा था। बौद्ध-धर्म का वह एक स्तम्भ हो गया है। हम उसे अधिकतर दो रूपों में देखते हैं। बौद्ध-धर्म के संरक्षक और विजेता के रूप में बौद्ध-धर्म के महान् संरक्षकों में से वह एक है। उस धर्म की उसने काफी उन्नति की। उसके सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के अर्थ उसने चौथी बौद्ध-संगीति बुलायी। उसके महान् दार्शनिकों को उसने आश्रय दिया और उनकी पूजा की। उस धर्म में आदृत स्तूपों और विहारों का उसने निर्माण कराया। कनिष्क का जीवन अधिकतर युद्धों में बीता। वह बड़ा विजेता था और विदेशी राजकुलों में उसका साम्राज्य सबसे बड़ा था। उसने एक साका भी चलाया जिसे शक-संवत् कहते हैं और जिसका व्यवहार उत्तर भारत में पंचांगों में आज भी होता है। कनिष्क

---

१. स्तेन कोनो : C. I. I., खण्ड २, भाग १, नं० ७२, पृ० १३७।

२. Indian Antiquary, खण्ड ३२, १९०३, पृ० ३८८; Early History of India, चतुर्थ सं०, पृ० २८५-८६।

३. स्तेन कोनो : C. I. I. खण्ड २, भाग १, पृ० १२६-६५।

की एक लाल पत्थर की आदमकद मूर्त्ति, जो मथुरा जिले के माट नामक स्थान में पायी गयी थी, आज मथुरा-संग्रहालय में प्रदर्शित है।

वासिष्क

कनिष्क कुषाण-राजकुल का सबसे प्रख्यात और महान् सम्राट् था। उसके उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अधूरा है। मथुरा और साँची से शक-संवत् २४ वें और २८ वें वर्ष के क्रमशः दो अभिलेख मिले हैं। इनमें वासिष्क का नाम लिखा है जिससे ध्वनित है कि कनिष्क के बाद कुषाण-साम्राज्य का स्वामी वही हुआ और उसने कम-से-कम १०१ ई० से १०५ ई० तक राज किया। उसका राज्यकाल १०८ ई० के बाद नहीं रखा जा सकता; क्योंकि उस साल का एक लेख हुविष्क का मिला है जिससे प्रमाणित है कि तब तक वासिष्क के पश्चात् हुविष्क राज करने लगा था। वासिष्क ने प्रमाणतः थोड़े काल राज किया। उसका कोई सिक्का आज तक नहीं मिला है जिससे सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि उसने अपने नाम के सिक्के नहीं चलाये। पर उसके लेखों के वितरण से (मथुरा, साँची) जान पड़ता है कि कनिष्क का साम्राज्य पूरा-पूरा उसके शासन में रहा।

कनिष्क द्वितीय

पेशावर जिले के आरा[1] नामक स्थान से एक लेख मिला है, जो शक-संवत् के ४१वें साल का है। इसमें लिखा है—"वाझेष्क-पुत्र महाराज राजातिराज देवपुत्र कैसर कनिष्क के शासनकाल में ४१ वें वर्ष में"...।[2] यह कनिष्क कौन था ? यह कनिष्क महान् हो नहीं सकता, क्योंकि यद्यपि उस कनिष्क और वीम कदफिसिज के बीच किसी वासिष्क की संभावना नहीं जान पड़ती। वासिष्क के लेख शक-संवत् में दिये हुए हैं जिसे कनिष्क ने चलाया था। इस प्रकार कनिष्क के चलाये संवत् को उसके २४वें और २८वें साल व्यवहृत करनेवाले वासिष्क के बाद उस कनिष्क का ४१वें साल में होना संभव नहीं। फिर वासिष्क के बाद ही हुविष्क आ जाता है और उसकी तिथियाँ उसी शक-संवत् में ३१वें साल से आरंभ होकर ६०वें तक चलती हैं। इससे इस बीच भी वह आदि कनिष्क नहीं आ सकता। यदि यह माना जाय कि ये दोनों अर्थात् वासिष्क और हुविष्क कनिष्क के क्षत्रप थे तब तो वह आदि कनिष्क हो सकता है, परन्तु ऐसा संभव जान नहीं पड़ता; क्योंकि उसके लेखों में खरपल्लान और वनष्पर के अतिरिक्त किसी अन्य क्षत्रप का उल्लेख नहीं है और वासिष्क और हुविष्क के लेख स्वतंत्र राजा के स्पष्ट मालूम होते हैं। इसके अतिरिक्त आदि कनिष्क को यहाँ मानने से यह भी मानना पड़ेगा कि वासिष्क उसके जीवन-काल में ही मर गया (जिसे मानने में खैर कोई दिक्कत न होगी) और हुविष्क ४१ वें साल के बाद कनिष्क के मरने पर गद्दी पर बैठा और सर्वथा स्वतंत्र हुआ। परन्तु हुविष्क के ३०वें और ४१वें वर्ष के बीच के तथा ४१ वें और ६०वें वर्ष के बीच के लेखों में सत्तात्मक

---

१. स्तेन कोनो : C. I. I., खण्ड २, पृ० १६२-६५, नं० ८५ ; Ep. Ind., भाग १४, पृ० १३०-४३।

२. "महरजस रजतिरजस देवपुत्रस (क) इ (स) रस वझेष्क पुत्रस कनिष्कस संवत्शरए एकचपर् (इ) (श) इ सम् २० २० १..."।

(वायसराय और स्वतंत्र नृपति) कोई अन्तर नहीं है। इस कारण यह मानना अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है कि यह कनिष्क संभवतः कनिष्क द्वितीय था, जो या तो उस साम्राज्य में कुछ काल के लिये स्वतंत्र सत्ता रखता था, जो कुछ समय तक हुविष्क का क्षत्रप (वायसराय) था।[1] प्रमाणों के अभाव में इस पहेली को बुझना असंभव है। आरावाले लेख के इस कनिष्क की समस्या ज्यों की त्यों छोड़कर हमें अब हुविष्क के ऐतिहासिक वृत्तान्त की ओर अग्रसर होना उचित होगा। उसके लेखों और सिक्कों के बाहुल्य और वितरण से विदित होता है कि हुविष्क निस्सन्देह प्रतापी और महान् था। कनिष्क द्वारा विजित साम्राज्य की सीमाएँ उसने अधिकतर सुरक्षित रखीं। सिन्ध और पूर्वी मालवा के संबंध में, वहाँ उपलब्ध लेख अथवा सिक्कों के अभाव में कुछ कहना कठिन है। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि उन प्रान्तों पर कुषाण-शासन कुछ शिथिल पड़ गया हो। हुविष्क का शासन अन्त तक काबुल घाटी, कश्मीर, पंजाब, मथुरा और संभवतः पूर्वी संयुक्त-प्रांत पर भी बना रहा। हुविष्क के लेखों का प्रसार बड़ा है। काबुल की घाटी तक में उसके लेख मिले हैं।[2] सिक्कों का क्षेत्र तो उससे भी बड़ा है। हुविष्क के सिक्के हैं भी बड़े सुन्दर। उनपर राजा का सुन्दर चित्र मिलता है। कनिष्क के सिक्कों की ही भाँति उसके सिक्कों पर भी अनेक देवताओं के चित्र-नाम मिलते हैं, यद्यपि बुद्ध की आकृति और नाम उनपर अब नहीं मिलते। पुराने देवताओं के अतिरिक्त कुछ और हिन्दू-देवतों की आकृतिवाले उसके सिक्कों पर मिले हैं—जैसे, स्कन्द, विशाख आदि। कहा नहीं जा सकता कि अपने सिक्कों से हुविष्क ने बुद्ध की आकृति क्यों हटा दी! इसमें सन्देह नहीं कि वह बौद्ध था, क्योंकि उसका मथुरा में बौद्ध-विहार और चैत्य बनवाना प्रसिद्ध है। उसने भी कनिष्क की भाँति हुष्कपुर अथवा हुविष्कपुर[3] नाम का एक नगर बसाया, जो आज भी हुष्कपुर (उष्कुर, जुकुर) नाम से कश्मीर में वर्तमान है। हुविष्क का शासन-काल काफी लंबा था। शक-संवत् के ३१वें से ६०वें वर्ष के बीच (ईस्वी सन् १०६-१३८) काल के उसके लेख मिलते हैं, जिससे स्पष्ट है कि उसने लगभग ३० वर्षों तक राज किया। उसके शासन-काल की सीमाएँ संभवतः १०७ ई० और १३८-३६ ईस्वी के बीच रखी जा सकती हैं, यद्यपि १०६ ई० और १५२ ई० के बीच भी इन सीमाओं के रखने में सिवा शासन-काल के अति विस्तार के और कोई बाधा नहीं जान पड़ती। इनमें १०६ ई० वासिष्क के लेखों में अन्तिम और १५२ ई० वासुदेव के लेखों में प्रथम तिथि है।

हुविष्क के बाद वासुदेव कुषाण-साम्राज्य का अधिपति हुआ। तत्कालीन अभिलेखों के अध्ययन से जान पड़ता है कि शक-काल के ७४वें और ६८ वें वर्षों में वह राज कर रहा था। इनसे स्पष्ट है कि कम-से-कम (७८+७४=) १५२ ई० से लेकर (७८+६८=) १७६ ई० तक तो उसने अवश्य राज किया। संभावना इस बात की भी है कि उसने १५२ ई०

---

१. त्रिपाठी : History of Ancient India, पृ० २३२।

२. C. I. I., भाग २, नं० ८६, पृ०, १६५-७०; Ep. Ind., ११, पृ० २०२-१९।

३. राज तरंगिनी, तरंग १, १६९; हुई-ली, जीवनचरित, पृ० ६८।

से कुछ साल पूर्व राज करना आरंभ कर १७६ ई० के कुछ साल पश्चात् समाप्त किया। इस प्रकार उसके शासनकाल का संभावित जोड़ लगभग ३० वर्ष ठहरता है।

वासुदेव

वासुदेव के शासनकाल में संभवतः कुषाण-साम्राज्य की जड़ें हिलने लगीं। उसके जोड़ कुछ शिथिल हो चले। वासुदेव के लेख केवल मथुरा जिले से मिले हैं और उसके सिक्के केवल पंजाब और संयुक्त-प्रांत से। संभवतः उसके शासन से अफगानिस्तान, कश्मीर, सिन्ध, मालवा आदि निकल गये थे। उसके सिक्कों की विविधता की कमी भी इसी बात का सबूत है। उसके सिक्कों से नना (देवी) की आकृति का प्रायः लोप भी इसे सिद्ध करता है कि वासुदेव का शासन पश्चिमोत्तर प्रदेश और अफगानिस्तान से उठ गया था। उन प्रदेशों और मध्य-एशिया में नना की पूजा होती थी। उसके एक प्रकार के सिक्कों पर पिछली तरफ शिव और नन्दी की आकृति उत्कीर्ण मिलती है जिससे विदित होता है कि कुषाण-राजाओं का धर्म अब बौद्ध से हिन्दू होता जा रहा था। वासुदेव का नाम विष्णु का पर्याय है। इससे सिद्ध है कि कुषाण किस प्रकार धीरे-धीरे हिन्दू-संस्कृति के उपासक होते जा रहे थे। आरम्भ के कुषाण सम्भवतः सूर्य, अग्नि और अन्य मध्य-एशिया के देवताओं के उपासक थे। वीम कदफिसीज ने अपने को 'माहेश्वर' कहा और कनिष्क, वासिष्क तथा हुविष्क बौद्ध थे। पश्चात्कालीन कुषाण-वंश का यह राजा वासुदेव सम्भवतः शैव था।

वासुदेव इस वंश का अन्तिम प्रसिद्ध सम्राट् था। उसके समय में ही कुषाण-राजलक्ष्मी विचलित हो चली थी। उसके उत्तराधिकारी निर्वीर्य्य हुए और उनके हाथ से धीरे-धीरे धरती खिसक चली। वैसे तो कुषाणों का अन्त बहुत पीछे हुआ और उनकी किदार-शाखा हूणादि आक्रमणों के आघात सहती नवीं सदी के मध्य तक काबुल और आसपास के भूभागों में राज करती रही; परन्तु उनके साम्राज्य का तीसरी शती ईस्वी में ही उत्तर भारत से लोप हो गया। काबुल और सीमाप्रांत में अनेक बार कुषाणों को सस्सानी-राजाओं के हाथ पराजित होना पड़ा। अर्दशीर बाबगान (लगभग २२५ ई०-२४१ ई०) तो सिरहिन्द तक चढ़ आया और जूना से बड़ा धन लेकर ही लौटा।[1] भारत में उठती हुई नाग-शक्ति ने कुषाणों का नाश कर दिया और कुषाण-साम्राज्य के खँडहर पर उन्होंने अपने भारशिव-साम्राज्य की नींव डाली।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. स्मिथ : Early History of India,
२. इलियट : History of India, भाग ६।
३. चीनी यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्तों के बील, वाटर्स आदि द्वारा अनुवाद।

---

१. इलियट : History of India, भाग ६ (फिरिश्ता की भूमिका), पृ० ५५५-५८।

४. अल्बेरूनी के 'तहकात-ए-हिन्द' का सचाउ का अनुवाद, भाग २।

५. J R A S., १९०३, पृ० १-६४ (स्मिथ का लेख); १९०६, पृ० २०३ (टामस का लेख); १९१४, पृ० ९७७ (मार्शल का लेख); १९०३, १९०५, १९०६, १९१३ (फ्लीट के लेख)।

६. C. I. I., खण्ड २।

७. EP. Ind., १४; वही, ११।

८. Indian Antiquary, १९०८ (बनर्जी का लेख); १९०३।

९. Indian Historical Quarterly, भाग ५, १९२९।

खंड ५

सोलहवाँ परिच्छेद

हिन्दू-साम्राज्यों का स्वर्णयुग

नाग-वाकाटक-साम्राज्य

गुप्त-साम्राज्य के उदय के पूर्व और कुषाण-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भारत एक ऐसे युग से होकर निकला जिसे प्राचीन भारत के इतिहासज्ञ अभी हाल तक 'अंधकार-युग' कहते थे। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल की अद्भुत ऐतिहासिक खोजों ने एक बड़ी हद तक इस काल का यह नाम निरर्थक सिद्ध कर दिया है।[1] यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि इस काल की अनेक समस्याएँ नितान्त पहेलियाँ हैं। इस अन्तर में दो साम्राज्य खड़े हुए—(१) नाग-साम्राज्य और (२) वाकाटक-साम्राज्य। इनमें से प्रथम का उदय और विस्तार कुषाणों के पतन के शीघ्र बाद और गुप्तों के उत्थान के शीघ्र पूर्व हुआ। वाकाटक गुप्तों के साथ ही साथ अथवा उनसे कुछ ही पूर्व सबल हुए।

१. नाग-भारशिव-साम्राज्य

डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल की राय में कुषाणों के हाथ से तलवार छीनने का श्रेय भारशिव नागों को है। उन्होंने ही प्रथम हिन्दू-साम्राज्य की नींव डाली, यद्यपि उनका साम्राज्य अधिक दिनों तक खड़ा न रह सका। तीसरी और चौथी शताब्दियों का भारतीय इतिहास उन्हीं के खड्ग से लिखा गया। ये अपने को 'भारशिव' (नाग) कहते थे। इसका कारण यह था कि ये शिव के परम भक्त थे और अपनी पीठ पर शिवलिंग का भार वहन करते थे।[2] संभवतः ये पद्मावती

प्रारम्भ

1. History of India—150 A. D. to 350 A. D.; An Imperial History of India.

2. जायसवाल : J B O R S., मार्च-जून, १९३३, पृष्ठ ३ से आगे।

(ग्वालियर राज्य में नरवर के समीप पदमपवाया). के आदिनिवासी थे और वहीं से इधर-उधर फैले। आज के बुन्देलों के अनेक घराने शायद इन भारशिव नागों की ही सन्तति हैं। पुराणों के अनुसार अपने समृद्धि-काल में नागों के चार मुख्य केन्द्र थे—(१) विदिशा (आधुनिक भिल्सा), (२) पद्मावती (पदमपवाया), (३) कान्तिपुरी (कन्तित, जिला मिर्जापुर, यू० पी०) और (४) मथुरा।

वीरसेन

भारशिव-नागों के प्रारम्भिक राजाओं में वीरसेन ने बड़ी ख्याति पायी। वीरसेन ने ही वास्तव में कुषाणों की शक्ति मध्यदेश में सर्वथा लुप्त कर दी। पूर्वी युक्तप्रान्त और पश्चिमी बिहार से तो उनकी सत्ता कब की उठ गयी थी, अब उनके मथुरा के केन्द्र पर भी नागों ने प्रबल आक्रमण किया। अपने मध्य-भारतीय केन्द्र से उठकर नाग कुषाणों के दक्षिणी और पूर्वी इलाकों पर हमला करते और उनके शासकों को निष्प्रभ और सेनाओं को छिन्न-भिन्न कर देते। सारनाथ-काशी आदि के केन्द्र इन्हीं नागों के प्रबल धावों से टूट गये। वीरसेन ने अब कुषाणों की मथुरा पर आक्रमण कर वहाँ से भी उनके बचे-खुचे शक्ति-चिह्न मिटा दिये। उसने भारत में हिन्दू-प्रताप और राज-लक्ष्मी की फिर से प्रतिष्ठा की।

अश्वमेध

इस कुल के व्यक्तिगत राजाओं के विषय में तो हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है ही, मुख्य नरेशों का वृत्तान्त भी हमें प्राप्त नहीं है। भारशिव-नागों की शक्ति का भारतीय राजकुलों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि वे इनके कुल से वैवाहिक संबंध स्थापित करने के लिए लालायित रहते थे। मध्य भारत में एक और उदीयमान कुल वाकाटकों का था। भारशिवराज भवनाग की पुत्री का विवाह वाकाटकराज प्रवरसेन के पुत्र के साथ हुआ। यह विवाह इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया कि इसका उल्लेख सारे वाकाटक-अभिलेखों में हुआ। एक बात और यहाँ ध्यान देने की यह है कि ये दोनों राजकुल भिन्न वर्णों के थे। नाग क्षत्रिय थे और वाकाटक ब्राह्मण। परन्तु दोनों में विवाह-संबंध होना बेजा न समझा गया। इस विवाह के पूर्व ही भारशिव राजा 'गंगा के जल से' जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से अर्जित किया था, मूर्द्धाभिषिक्त' हो चुके थे। इसके पूर्व ही उन्होंने काशी में भागीरथी के तीर पर अश्वमेधानुष्ठानों की परम्परा बाँध दी थी।[1] काशी में जो दशाश्व-मेध घाट आज भी प्रसिद्ध है, वह इन्हीं भारशिव-नागों की कीर्ति का स्मारक है। कुषाणों की शक्ति के ह्रास के बाद लगभग एक शताब्दी तक नागों का सूर्य भारतीय आकाश में चमकता रहा।

कब इनका सर्वथा अन्त हुआ, यह कहना कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बाद की सदियों में भी, इनके प्रताप के क्षीण हो जाने पर भी, इनका हवाला जब-तब मिलता रहा। गुप्तवंशीय सम्राट् समुद्रगुप्त की जो दिग्विजय-प्रशस्ति[2] प्रयाग के अशोकस्तंभ पर खुदी

---

१. पराक्रमाधिगतभागीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां दशाश्वमेधावभृथस्नानानां भारशिवानाम्, C. I. I., भाग ३, देखिए पृ० २३७, २४१, २४५, २४८।

२. वही, भाग ३, नं० १, पृ० १-१७।

है उसमें उसके द्वारा गणपतिनाग, नागदत्त, नागसेन, नन्दिन आदि नाग राजाओं की पराजय का वृत्तान्त खुदा है। नाग कला के उपासक थे और मध्य तथा उत्तर भारत में उन्होंने शिव के अनेक सुन्दर मन्दिर बनवाये। इनके बनवाये मध्य भारत के नचना और खोह के शिव-मन्दिर निस्सन्देह दर्शनीय रहे होंगे। मन्दिरों की निर्माण-शैली में नागों ने एक नई पद्धति का आविष्कार किया। काल और मनुष्य की क्रूरता से आज उनके बनवाये मन्दिर खड़े न रह सके। परन्तु उनके भग्नावशेषों में जो साँस लेती मूर्तियाँ मिल जाती हैं, वे कला की दृष्टि से अनुपम सिद्ध होती हैं। उनके बनवाये शिव-मन्दिर से उपलब्ध शिव का अद्भुत मस्तक और गणों की अनेक मूर्तियाँ प्रयाग-म्युनिसिपल संग्रहालय में सुरक्षित हैं, जो तत्कालीन कला की विस्मयजनक प्रतीक हैं।

२. वाकाटक-साम्राज्य

वाकाटकों का साम्राज्य नागों के कुछ बाद और गुप्तों के कुछ पहले या साथ-साथ ही खड़ा हुआ। इनका प्राचीन स्थान 'वाकाट' बुन्देलखण्ड में था। प्राचीन वाकाट का वर्तमान स्थानापन्न ओड़छा राज्य का 'बागाट' है।[1] पुराणों के वक्तव्य और इस वंश के अभिलेखों के वितरण से स्पष्ट है कि उनकी शक्ति के मध्याह्न काल में वाकाटकों का आधिपत्य बुन्देलखण्ड, मध्य प्रांत, दोनों बरार, आसमुद्र उत्तरी दक्कन पर तो था ही, समीपवर्ती दुर्बल राज्यों पर भी उनका प्रभुत्व था। अजन्ता के एक लेख में इस राजवंश के प्रतिष्ठाता विन्ध्यशक्ति के संबंध में 'द्विज' शब्द प्रयुक्त हुआ है। शास्त्रीय विधानानुसार तो द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों का बोधक है, परन्तु यथार्थ में इसका व्यवहार ब्राह्मण के ही पक्ष में हुआ है। अतः वाकाटकों को ब्राह्मण मानना अयुक्तियुक्त नहीं है। इस कुल के अनेक अभिलेख अजन्ता की भित्तियों पर खुदे मिले हैं।[2]

विन्ध्यशक्ति

इस राजवंश का प्रतिष्ठाता और प्रथम नरेश, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विन्ध्यशक्ति था। तीसरी शती के संभवतः अन्तिम चरण में उसने अपनी शक्ति का विस्तार किया। शायद विन्ध्य पर्वत की श्रृंखला के समीप ही कहीं उसने अपना केन्द्र स्थापित किया। उसके नाम से भी यही ध्वनि निकलती है और कुछ आश्चर्य नहीं यदि विन्ध्यशक्ति का यह नाम वास्तव में उसका विरुदमात्र हो। विन्ध्यशक्ति के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त कम है।

प्रवरसेन प्रथम

विन्ध्यशक्ति का पुत्र प्रवरसेन प्रथम हुआ। प्रवरसेन पुराणों में प्रवीर कहा गया है। प्रवरसेन प्रथम इस कुल में बड़ा प्रतापी और विख्यात राजा हुआ। उसके राजा होने पर शत्रुओं पर आतंक छा गया। वैसे तो उसके पिता ने ही अपने कुल को प्रचुर ख्याति प्रदान की थी, परन्तु प्रवरसेन की विजयों से इस राजवंश

1. जायसवाल : JBORS., मार्च-जून, १९३३, पृ० ६०।
2. स्मिथ : JRAS., १९१४, पृ० ३१७-३८ ; गोविन्द पाई : Journal of Indian History, १५ (१९३५), पृ० १-२६, १६५-२०४।

का यश और फैला। प्रवरसेन ने चार-चार अश्वमेध किये। इनके अतिरिक्त उसने 'वाजपेय', 'बृहस्पतिसव' आदि अन्य यज्ञानुष्ठान भी सम्पन्न किये। उसका प्रताप इतना बढ़ा कि अन्य राजकुल भी उसके कुल से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक हुए। नागों का राजकुल तब कुषाणों के साम्राज्य को ध्वस्त कर उनके पद पर प्रतिष्ठित हुआ था और उत्तर भारत में सर्वशक्तिमान समझा जाता था। भारशिव राजा भवनाग ने अपनी पुत्री का विवाह प्रवरसेन के पुत्र गौतमीपुत्र से किया। इस नये वाकाटक राजकुल के लिए यह विवाह-सम्बन्ध निस्सन्देह अत्यन्त महत्त्व का था। इसलिए उसके सारे लेखों में इसका हवाला दिया गया।

रुद्रसेन प्रथम

गौतमीपुत्र गद्दी पर न बैठ सका और दूसरा राजा प्रवरसेन प्रथम का पौत्र रुद्रसेन प्रथम हुआ। रुद्रसेन सम्भवतः प्रयागस्तंभ का रुद्रदेव है जिसे समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय में हराया था। इसके बाद गुप्त-सम्राट उत्तर और मध्य भारत के स्वामी हो गये और वाकाटक-शक्ति-चक्र की धुरी दक्कन की ओर फिर गयी। रुद्रसेन प्रथम के पुत्र ने कुछ शक्ति का परिचय दिया और कुन्तल (उत्तर कनाड़ा जिला) की विजय की। इस राजा का नाम पृथ्वीसेन था।

पृथ्वीसेन

पृथ्वीसेन के बाद उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय वाकाटक सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसके राज्य-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना यह थी कि उसने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की कुवेरनागा से उत्पन्न पुत्री प्रभावती गुप्ता से विवाह किया।

रुद्रसेन द्वितीय

इस विवाह से वाकाटक-इतिहास-तिथि के विचार से कुछ प्रकाश में आ जाता है। यह विवाह ब्राह्मण-क्षत्रिय विवाह का एक दूसरा नमूना है। इससे वाकाटक गुप्तों के मित्र हो गये और चन्द्रगुप्त द्वितीय को मालवा के शकों को परास्त करने में सुविधा हुई; क्योंकि उन तक गुप्त-सम्राट् का मार्ग वाकाटकों के राज्य से ही होकर पड़ता था। रुद्रसेन द्वितीय के निधन के बाद प्रभावती गुप्त ने अपने नाबालिग पुत्र के नाम पर कुछ काल तक शासन किया। उसके नाम के कुछ शासन मिले हैं। उसके बाद एक के बाद एक कुछ दुर्बल राजाओं ने राज किया। इस कुल का सबसे प्रतापशाली राजा संभवत हरिषेण वाकाटक था जिसने पाँचवीं सदी ईस्वी के अन्त में शासन किया।

हरिषेण

हरिषेण ने अनेक राजाओं को परास्त कर उनके राज्य अपनेः शासन में मिला लिये। कुन्तल, मालवा, कलिंग, कोशल (पूर्वी मध्यप्रान्त), त्रिकूट (सम्भवतः कोंकण), लाट (दक्षिणी गुजरात), आन्ध्र (गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का देश) आदि देशों को उसने अपने साम्राज्य के प्रान्त बना लिये। संभव है, इस प्रशस्ति में कुछ अत्युक्ति हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हरिषेण प्रतापी था और उसने भारत के कटिबन्ध के मध्यवर्ती सारे देश आसमुद्र जीत लिये, यद्यपि उसकी यह विजय चिरस्थायी न हो सकी। दक्षिण में कलचुरियों का दबदबा बढ़ता जा रहा था और शीघ्र छठी शती ईस्वी के दूसरे चरण में उन्होंने वाकाटक-शक्ति की रीढ़ तोड़ दी।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. जायसवाल : History of India—150 A. D. to 350 A. D.
२. वही : An Imperial History of India.
३. स्मिथ : Early History of India.
४. त्रिपाठी : History of Ancient India.
५. J B O R S., मार्च-जून, १९३३।
६. J R A S., १९१४।
७. Journal of Indian History, १४, १९३५।
८. C. I. I., ३।

सत्रहवाँ परिच्छेद

गुप्त-साम्राज्य

गुप्त-साम्राज्य का युग भारतीय इतिहास में असाधारण है। यश और समृद्धि, शक्ति और पराक्रम, ज्ञान और व्यवसाय सब प्रकार से यह काल असाधारण है। मौर्यों की शक्तिसीम शृंखला में केवल चन्द्रगुप्त और अशोक ऐसे थे जो साधारण राज-परिवार से ऊपर उठ सकते हैं, परन्तु गुप्तों में ऐसे असामान्य सम्राटों की संख्या अनेक है। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त, स्कन्दगुप्त, सभी 'महाभूतसमाधियों' से निर्मित थे। गुप्त साम्राज्य का ऐतिहासिक वृत्तान्त इन्हीं महापुरुषों की कीर्ति-कथा है।

गुप्तों के इतिहास के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों को बहुत अन्धकार में भटकना नहीं पड़ता। वैसे तो सारे प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रसंग किसी-न-किसी रूप में प्रमाण की अपेक्षा करते हैं, फिर भी गुप्त-सम्राटों का अनुवृत्त अधिकतर स्पष्ट है। उनकी प्रशस्तियों और अभिलेखों की परम्परा हमारे मार्ग को नितान्त सुगम कर देती है और सामान्य दृष्टि से हम उनके कार्यों का अवलोकन कर सकते हैं। गुप्त-सम्राट् कौन थे, उनका कुल वैश्य, क्षत्रिय अथवा इतर था, यह कहना कठिन है और इस सम्बन्ध में विद्वानों के मत भी अनेक हैं। विष्णुपुराण[1] में वर्णों की उपाधियाँ दी हुई हैं। उसके

वर्ण

अनुसार ब्राह्मणों की उपाधि 'शर्मा' या 'देव', क्षत्रिय की 'वर्मा' या 'त्राता', वैश्य की 'भूति' या 'गुप्त' और शूद्र की 'दास' होनी चाहिए। स्मृतियों की भी इसी से मिलती-जुलती राय है। परन्तु वास्तव में भारतवर्ष में इस विधान का पालन नहीं किया गया है। अतिहिन्दू-काल में भी हम ब्राह्मणों को 'गुप्तों' की उपाधि-संज्ञा से विभूषित पाते हैं। मनस्वी नाटककार भवभूति ब्राह्मण था। इसी प्रकार प्रख्यात ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त

---

१. शर्मादेवश्च विप्रस्य वर्मा त्राता च भूभुजः।
भूतिर्गुप्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्॥ ३, १०, ९॥

भी ब्राह्मण था। हर्ष का पूर्वज भी पुष्पभूति कहलाता था और स्वयं उस सम्राट् की संज्ञा हर्षवर्द्धन था। उसके अन्य पूर्वजों के नाम के साथ भी 'वर्धन' (गुप्त वर्ण की उपाधि) जुड़ा हुआ था। परन्तु चीनी यात्री ह्युएन-च्वांग ने हर्ष को 'बैस-राजपूत' कहा है। इसी प्रकार डा० काशीप्रसाद जायसवाल[1] के मतानुसार गुप्त लोग 'कारस्कर' गोत्र के जाट थे, जो प्रारम्भ में पंजाब से आये थे। उनके प्रतिनिधि आज कक्कड़ जाट हैं। उनके इस मत का आधार 'कौमुदी-महोत्सव' का चण्डसेन है जिसे वह चन्द्रगुप्त प्रथम मानते हैं। परन्तु डा० जायसवाल के तर्क का यह आधार ही अत्यन्त दुर्बल है। ऐसी स्थिति में गुप्तों को जाट मानना अयुक्तियुक्त है। न तो उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर वे जाट माने जा सकते हैं और न उनके नामों के पीछे 'गुप्त' लगा होने से वैश्य। भारतीय अनुश्रुतियों के अनुसार गुप्त-सम्राट् सदा क्षत्रिय माने गये हैं और जब तक इस प्रमाण के विरोध में सबल सामग्री न मिले, तब तक उन्हें क्षत्रिय मानना ही उचित होगा।

१. आरम्भ

गुप्तों का उदय तीसरी सदी ईस्वी के तीसरे चरण में मध्य देश में कहीं हुआ। भारशिव-नागों के बाद जब भारतीय इतिहास-मंच से यवनिका उठती है तब हम गुप्तों को मगध में पाटलिपुत्र और उसके समीपवर्ती प्रदेश का स्वामी पाते हैं। गुप्त-सम्राटों के अभिलेखों की एक विशेषता यह है कि वे उनकी वंशावली के साथ प्रारम्भ होते हैं। इससे हमें उनके नाम अथवा पिता-पुत्र के क्रम में किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता। इन

श्रीगुप्त (लगभग २७५-३०० ई०)

वंश तालिकाओं में सर्वप्रथम नाम श्रीगुप्त का आता है। यह स्पष्ट नहीं है कि यह नाम वास्तव में 'श्रीगुप्त' है अथवा केवल 'गुप्त'। कुछ विद्वानों ने इसे केवल गुप्त माना है; क्योंकि उनका विचार है कि 'श्री' केवल गौरवात्मक संज्ञा है, जो तालिका के प्रत्येक नाम के साथ जुड़ा हुआ है। परन्तु केवल 'गुप्त' नाम, वह भी राजा का कुछ सूना और ओछा जान पड़ता है। फिर 'गुप्त' शब्द का अर्थ है संरक्षित। चन्द्रगुप्त का अर्थ है 'चन्द्रद्वारा रक्षित', समुद्रगुप्त का 'समुद्र द्वारा रक्षित', कुमारगुप्त का 'कार्तिकेय द्वारा रक्षित'। इसी प्रकार अन्य नामों के भी अर्थ हैं। अधिक सम्भव यही है कि इस वंश के पहले राजा का नाम भी कुछ इसी वजन पर श्रीगुप्त हो, जिसका अर्थ हो 'लक्ष्मी द्वारा रक्षित'। प्रारम्भिक राजकुल के 'लक्ष्मी द्वारा रक्षित' होने की कामना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध चीनी यात्री ईत्सिंग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में जो इस राजा का हवाला दिया है, वह है श्रीगुप्त (चे-लि-कि-तो)। इन कारणों से इस राजा का श्रीगुप्त नाम ही सही जान पड़ता है। श्रीगुप्त का विरुद केवल 'महाराज' था जिससे जान पड़ता है कि उसके राज्य का प्रसार साधारण था। संभव है, वह अभी एक करदायी सामन्त ही रहा हो। उसके इलाके मगध में ही थे। इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। ईत्सिंग के वक्तव्य से विदित होता है कि

---

१. J B O R S., १९, मार्च-जून, १९३३।

श्रीगुप्त ने कुछ चीनी यात्रियों के लिए 'मृगशिखावन' नामक एक मन्दिर अथवा विहार बनवाया था। इसके व्यय के अर्थ गुप्तराज ने प्रचुर द्रव्य भी दान किया था। ईत्सिंग ने अपने भ्रमण के समय (६७३-६५ ईस्वी) इस मन्दिर के अवशिष्ट भाग को देखा भी था। उसे तब भी चीन-मन्दिर की संज्ञा प्राप्त थी। ईत्सिंग का कहना है कि इस मन्दिर का निर्माण उसके भ्रमण से ५०० वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था।[1] परन्तु इस वक्तव्य को शब्दशः स्वीकार करने में विद्वानों ने आपत्ति की है।[2] इसे मानने से श्रीगुप्त का समय बहुत पूर्व चला जाता है और बाद की निश्चित तिथियों से उसका असामञ्जस्य हो जाता है। जैसा प्रायः होता है, इसी चीनी भ्रमक की किंवदन्ती के आधार पर ही इस तिथि की गणना गोल-मटोल ५०० वर्ष पूर्व रख दी। उसने अपने वृत्तान्त के इस प्रसंग में स्वयं लिखा है कि उसने 'प्राचीन काल के स्थविरों द्वारा सुनी हुई अनुश्रुति' मात्र का उल्लेख किया है। श्रीगुप्त का शासन-काल विद्वान् साधारणतया २७५ और ३०० ईस्वी के बीच रखते हैं। श्रीगुप्त के राजनैतिक कार्यों का हमें कोई ज्ञान नहीं।

श्रीगुप्त के बाद उसका पुत्र घटोत्कचगुप्त राजा हुआ। जान पड़ता है कि घटोत्कच ने भी राज्य का कुछ विशेष प्रसार न किया और उसका राज्य भी पाटलिपुत्र के समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रहा; क्योंकि उसका विरुद भी पिता की भाँति 'महाराज' ही है। उत्तर विहार के वैशाली नामक स्थान से एक मुहर मिली है, जिसपर 'श्रीघटोत्कचगुप्तस्य' खुदा हुआ है।[3] परन्तु प्रमाणतः यह नाम इस वंश के किसी अन्य पश्चात्कालीन राजा का है। घटोत्कचगुप्त के विषय में हमारा ज्ञान नितान्त न्यून है।

घटोत्कचगुप्त (लगभग ३००-३१९ ई०)

घटोत्कचगुप्त के बाद गुप्तवंश का सूर्य क्षितिज छोड़ ऊपर उठा। उसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम यशस्वी हुआ। पितामह और पिता की अपेक्षा वह कितना महान् था—यह उसके विरुद 'महाराजाधिराज' से ही प्रमाणित है। चन्द्रगुप्त प्रथम ही इस प्रख्यात राजकुल के गौरव और यश का वास्तविक प्रतिष्ठाता था। उसकी प्रसिद्धि और प्रभाव के विस्तार में एक और कारण सहायक हुआ। गंगा पार उत्तर विहार में प्रख्यात लिच्छवियों का निवास था। लिच्छवी बुद्ध-काल और बाद में अपनी परिषदों और संघ-राज्य के कारण बड़े विख्यात हो गये थे। स्वयं बुद्ध ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। बड़े-बड़े राजकुल इनसे वैवाहिक

---

१. बील : JRAS., १८८१, पृ० ५७०-७१ ; Indian Antiquary, १०, पृ० ११० ; एलन : Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties की भूमिका, पृ० १५ (XU).

२. फ्लीट 'श्रीगुप्त' और ईत्सिंग के 'चे-लि-कि-तो' की एकता को नहीं मानते। देखिए, C. I. I., ३, पृ० ८, नोट ३।

३. ब्लोच : Archaeological Survey, Annual Report, १९०३-१९०४, पृ० १०७।

संबंध स्थापित करने को लालायित रहते थे। बड़े-बड़े राजकुलों से इनके संबंध स्थापित थे। चन्द्रगुप्त प्रथम ने इन्हीं लिच्छवियों की कुमारदेवी नामक एक राजकुमारी से विवाह कर अपने कुल को गौरवान्वित किया। चन्द्रगुप्त के ऐश्वर्य और बढ़ती शक्ति में इस विवाह ने बड़ा योग दिया। यह घटना राजनीतिक रूप से इतनी महत्त्वपूर्ण समझी गयी कि चन्द्रगुप्त ने अपने एक प्रकार के सोने के सिक्कों पर इस प्रसंग को उत्कीर्ण कराया।[1] इनपर सामने की ओर अपनी रानी को वलय अथवा मुद्रिका प्रदान करते हुए राजा की आकृति है। इसके दाहिने भाग पर 'चन्द्र' अथवा 'चन्द्रगुप्त' और वाम भाग पर 'कुमारदेवी' अथवा 'श्रीकुमारदेवी' खुदा हुआ है। इन सिक्कों पर दूसरी ओर 'लिच्छवयः' और सिंहवाहिनी दुर्गा की आकृति खुदी है। गुप्त-प्रशस्तियों में गर्व के साथ समुद्रगुप्त के लिए निरन्तर 'लिच्छविदौहित्रः' पद का व्यवहार हुआ है। कुछ आश्चर्य नहीं कि गुप्तवंशीय सम्राटों और स्वयं समुद्रगुप्त ने इस घटना के उल्लेख में अपना गौरव माना हो। एलन का तो मत है कि जिन स्वर्ण मुद्राओं का ऊपर निर्देश किया गया है उन्हें वास्तव में समुद्रगुप्त ने ही अपने पिता के उस चिरस्मरणीय वैवाहिक घटना के स्मारक में तमगों के रूप में ढलवाया।[2] विद्वानों का इस विषय में मतैक्य है कि लिच्छवियों से इस संबंध के कारण ही चन्द्रगुप्त प्रथम का दबदबा बढ़ा और उसे महाराजाधिराज का विरुद धारण करने की क्षमता हो सकी। स्मिथ साहब का तो यहाँ तक कहना है कि इस लिच्छवि-संबंध के फलस्वरूप ही चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र भी प्राप्त हो सका। डा० त्रिपाठी ने स्मिथ के इस सिद्धान्त का विरोध किया है, वह उचित है। क्योंकि, ऊपर जैसा निर्दिष्ट है, प्रसिद्ध चीनी यात्री ईत्सिंग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में चन्द्रगुप्त के पितामह श्रीगुप्त को ही पाटलिपुत्र के स्वामी होने का हवाला दिया है। पाटलिपुत्र का चन्द्रगुप्त का पैतृक होना ही अधिक संभव और स्वाभाविक जान पड़ता है। इसकी पुष्टि निम्नलिखित पुराण-वाक्य से भी होती है—

चन्द्रगुप्त प्रथम (लगभग ३२०-३३५ ई०)

अनुगङ्ग प्रयागं च साकेतं मगधाँस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

इस उद्धृत श्लोक में चन्द्रगुप्त प्रथम की राज्य-सीमाएँ भी दी हुई हैं। वे इस प्रकार हैं—मगध (दक्षिण बिहार), प्रयाग (इलाहाबाद), साकेत (अयोध्या) और इनके आसपास के गंगा-तटवर्ती इलाके। इस उद्धरण से प्रमाणित है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में ही गुप्तों का राज्य सुविस्तृत हो चला था, यद्यपि उत्तर बिहार अब भी उससे बाहर था।

चन्द्रगुप्त ने एक सम्वत् भी चलाया था—गुप्त-संवत्। इसका आरम्भ उसके राज्य-काल

१. JASB., Numismatic Supplement नं० ४७, खण्ड ३, (१९३७), पृ० १०५-११।

२. C. C. G. D., भूमिका, पृ० १८।

के प्रथम वर्ष से प्रारम्भ होता है और इसके पहले साल की दौरान ईस्वी सन् का २६ फरवरी ३२० से १५ मार्च ३२१ तक है। इस नृपति ने संभवतः १५ वर्ष राज किया—३२० ईस्वी से लगभग ३३५ ईस्वी तक।

२. समुद्रगुप्त (लगभग ३३५-३७५ ई०)

चन्द्रगुप्त की मृत्यु के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त राजा हुआ। समुद्रगुप्त बड़े बाप का बड़ा बेटा था। एक गुप्त-अभिलेख से विदित होता है कि समुद्रगुप्त के अनेक भाई थे (तुल्यकुलजाः) जिनमें स्वयं वह सबसे बड़ा न था। उसके पिता ने उसके गुणों से प्रसन्न होकर उसे युवराज बनाया और अपने बाद गुप्त-शासन का राजा मनोनीत किया। जब उसने बाष्पपूरित नेत्रों से देखते हुए इस गुणी पुत्र को हृदय से लगाकर उसे अपनी पृथ्वी के पालन का भार सौंपा, तब भाइयों के मुख मलिन हो गये। बड़ी आशाओं से पिता ने पुत्र को राज्य सौंपा था और उसकी सारी आशाएँ पूर्ण हुईं। समुद्रगुप्त व्यक्तिगत गुणों में गुप्त-सम्राटों की शृंखला में अद्वितीय था। शक्ति, प्रताप और पराक्रम में उसकी समता न थी। कुछ काल से जो अश्वमेधों की परम्परा नष्ट हो गयी थी, उसका उसने पुनरावर्तन कराया।[1] दिग्विजय के पश्चात् अश्वमेध कर उसने उसके स्मारक में एक प्रकार के सोने के सिक्के चलाये, जिसपर मुख भाग की ओर यज्ञ का अश्व यूप के अभिमुख खड़ा है और पृष्ठ-भाग पर सम्राज्ञी की आकृति और सम्राट् का विरुद 'अश्वमेध पराक्रमः' खुदा है।

समुद्रगुप्त का वरण

गुणगणन

समुद्रगुप्त शस्त्र के संचालन में तो असामान्य था ही, क्योंकि युद्धों में अग्रणी होने के कारण उसके शरीर में चोटों के अनेक चिह्न थे। शास्त्र के अनुशीलन में भी उसकी मति प्रखर थी। शास्त्रविदों और गुणीजनों का वह आदर करता था और उनकी संगति करता था। कविता-क्षेत्र में भी 'अनेक काव्य क्रियाओं' द्वारा 'कविराज' के विरुद से वह विभूषित हुआ था।[2] समुद्रगुप्त मधुर गायक और वीणावादक भी था। प्रयागवाली उसकी प्रशस्ति में लिखा है कि अपनी बुद्धि की प्रखरता से उसने देवताओं के गुरु बृहस्पति को और गायन-वादन से तुम्बुरु और नारद को लज्जित कर दिया था।[3] इस कथन की सत्यता इससे भी प्रमाणित है कि उसके एक प्रकार के सिक्कों पर वीणा-वादन करते हुए उसकी आकृति उत्कीर्ण है। समुद्रगुप्त योद्धा, शास्त्रविद्, कवि, गायक और वीणावादक था। संभवतः वह वैष्णव-धर्म का अनुयायी था। उसके प्रशस्ति-लेख में एक संकेत है कि उसके आश्रित

---

१. चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः

२. विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराजशब्दस्य .... —प्रयाग का स्तंभलेख।

३. निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बरुनारदाद्यैः—प्रयाग स्तंभ का प्रशस्तिलेख।

राजा अपने राज्यों की भुक्ति के लिए गरुड़ की आकृतिवाली उसकी मुहर [1] से मुद्रित उसके फरमानों की याचना करते थे। गरुड़ विष्णु का वाहन है। पश्चात्कालीन गुप्त-सम्राटों में से कुछ ने 'परम भागवत' (परम वैष्णव) का विरुद भी धारण किया था।

काच ?

कुछ विद्वानों की राय है कि इस काल में चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसके एक अन्य पुत्र 'काच' ने भी राज किया था। इसका कारण यह है कि समुद्रगुप्त के सिक्कों से मिलते-जुलते कुछ ऐसे सोने के सिक्के भी मिले हैं जिनपर 'काच' (राम ?) खुदा मिलता है। स्मिथ साहब के मतानुकूल यह काच नामक व्यक्ति समुद्रगुप्त का सम्भवतः भाई था।[2] परन्तु इस मत को स्वीकार करना कठिन है, यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार समुद्रगुप्त के भाई थे। इन सिक्कों पर पृष्ठ भाग में जो 'सर्वराजोच्छेता' खुदा हुआ है वह समुद्रगुप्त का विरुद है। डा० त्रिपाठी ने जो इसकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है [3] वह इस मत को प्रायः प्रतिष्ठित कर देता है कि ये सिक्के वास्तव में समुद्रगुप्त के ही हैं, काच के नहीं। यह भी सम्भव है कि समुद्रगुप्त का पहला नाम 'काच' रहा हो और ब्याह में अपने कुल के नामों के ध्वन्यनुरूप उसने 'समुद्रगुप्त' नाम रख लिया हो। सम्भव है, 'आसमुद्रक्षितीश' होने के कारण अपनी दिग्विजय के पश्चात् उसने अपना यह नाम रखा हो।

दिग्विजय

समुद्रगुप्त का महान् कार्य उसकी दिग्विजय था। इसके फलस्वरूप प्रयाग और मगध के बीच के गंगातटवर्ती प्रान्तों और अयोध्या के इलाके का छोटा-सा राज्य फैलकर साम्राज्य हो गया। गुप्त-सम्राटों की कीर्त्ति, ऐश्वर्य और पराक्रम का पहला प्रतिष्ठाता समुद्रगुप्त था। सिंहासन पर बैठने के संभवतः कुछ ही दिनों बाद उसने दिग्विजय की यात्रा की। उसकी विजयों की तालिका प्रयाग के किले में खड़े अशोक के उसी स्तंभ पर खुदी है जिसपर उस शान्तिप्रिय बौद्ध मौर्य-सम्राट के स्नेह-सन्देश खुदे हैं। समुद्रगुप्त की यह प्रशस्ति उसके कवि हरिषेण ने रची थी। इस लेख को प्रयाग का 'प्रशस्ति-लेख' कहते हैं। इसमें सम्राट् के यश के सम्बन्ध में जो 'त्रिदशपति भुवनावास ललित सुख विचरणम्' वाक्यांश का उल्लेख है—उससे फ्लीट साहब ने इस लेख को समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र द्वारा खुदवाया हुआ माना है। परन्तु केवल एक अलंकारिक वाक्यांश के आधार पर यह निष्कर्ष सही नहीं माना जा सकता। समुद्रगुप्त के जीवन-काल में ही, संभवतः ३६० ईस्वी के लगभग, दिग्विजय के पश्चात् और अश्वमेध के पूर्व (क्योंकि अश्वमेध का निर्देश उस प्रशस्ति में नहीं है) यह स्तंभ-लेख खुदा था। इस अभिलेख में तिथि का भी निर्देश नहीं है

---

१. गरुत्मदङ्क स्वविषयभुक्ति शासन याचनात्...।

२. Early History of India, चतुर्थ संस्करण, पृ० २९७, नोट १।

३. History of Ancient India, पृ० २४० : डा० भण्डारकर 'काच' को 'राम' पढ़ते हैं और इन सिक्कों को रामगुप्त के सिक्के मानते हैं—Malaviya Commemoration Volume, पृ० २०४-२०६।

और विजयों का परिगणनमात्र है। उनका पारस्परिक क्रम भी उल्लिखित नहीं है। इतना निस्सन्देह प्रमाणित है कि इन विजयों की मात्राएँ विविध थीं। इन मात्राओं के अनुसार समुद्रगुप्त की विजयों को हम छः भागों में बाँट सकते हैं—(१) उन्मूलित राज्य, जिनका उसने असुर-विजयी नृपति की भाँति सर्वथा नाश (उत्खाय तरसा) कर दिया, (२) आटविक राज्य, जिनके अधिपतियों को उसने सेवक बनने को बाध्य किया, (३) दक्षिणापथ के राज्य, जिनके नरेशों को धर्मविजयी नृपति की भाँति परास्त कर उसने श्रीविहीन तो कर दिया, परन्तु उनके राज्य उसने उन्हें लौटा दिये[1] और (४) 'प्रत्यन्त' तथा (५) गणराज्य जिन्होंने उसकी विजयों और पराक्रम से हतप्रभ होकर स्वयं आत्मसमर्पण कर दिये। (६) इनके अतिरिक्त भारत की सीमा पर अथवा बाहर की कुछ विदेशी शक्तियों ने भी गुप्त-सम्राट के प्रति आत्म-निवेदन किया।

(१) उन्मूलित राज्य[2]—ये राज्य आर्यावर्त के थे और इनकी संख्या नौ थी। समीपवर्ती और 'प्रकृत्यमित्र' होने के कारण समुद्रगुप्त ने संभवतः इनके विरुद्ध ही पहले युद्ध-यात्रा की। इन नवों राजाओं का सर्वथा उन्मूलन कर उसने उनके राज्य अपने शासन में मिला लिये। ये राजा निम्नलिखित थे:—

१. रुद्रदेव। यह शायद वाकाटकराज प्रवरसेन प्रथम (पुराणों का 'प्रवीर') का पौत्र रुद्रसेन प्रथम था।

२. मतिल। बुलन्दशहर से एक मुहर मिली है जिसपर 'मत्तिल' नाम खुदा हुआ है। संभवतः प्रशस्ति का मतिल और मुहर का मत्तिल एक ही व्यक्ति थे।

३. नागदत्त। अज्ञात—संभवतः कोई नागवंशीय नृपति।

४. चन्द्रवर्मन्। इस राजा का व्यक्तित्व अभी तक स्थिर नहीं किया जा सका। कुछ विद्वानों ने इस राजा की समानता राजा सुसुनिया शिलालेख[3] में उल्लिखित पोखरण के राजा चन्द्रवर्मन से ठहराई है, जो संभव हो सकता है। परन्तु मेहरौली लौह-स्तंभ-लेख के चन्द्र से उसकी अभिन्नता सिद्ध करने की चेष्टा नितान्त भ्रमपूर्ण है।

५. गणपतिनाग। पद्मावती का नागवंशीय नरेश। पद्मावती का वर्तमान स्थानापन्न ग्वालियर रियासत में नरवर के समीप पदम-पवाया है।

६. नागसेन। कोई नागवंशीय नृपति।

७. नन्दिन्। अज्ञात—संभवतः कोई नागकुलीय नरेश।

८. अच्युत। अज्ञात। बरेली जिले के रामनगर (प्राचीन अहिच्छत्र) की खुदाई में

---

१. श्रियं जहार न तु मेदिनीम्—कालिदास।

२. विविध समानताओं के लिए देखिए, त्रिपाठी: History of Ancient India, पृ० २४१-४५।

३. Ep. Ind. १३, पृ० १३३; Proceedings of the Asiatic Society of Bengal, १८९५, पृ० १७७ से आगे।

कुछ सिक्के मिले हैं जिनपर 'अच्यु' नाम खुदा मिलता है। लिपि इनकी गुप्तकालीन है। प्रशस्ति का अच्युत संभवतः इन सिक्कों का 'अच्यु' ही है।

९. बलवर्मन्—दीक्षित[1] ने इसे आसाम-नृपति भास्करवर्मन् का पूर्वज और निधानपुर के लेख[2] में उल्लिखित बलवर्मन् से अभिन्न माना है। संभवतः यह अटकल सही है। जायसवाल[3] उसे 'कौमुदी-महोत्सव' का कल्याणवर्मन मानते हैं। उनका विश्वास है कि बलवर्मन् उसी नृपति का दूसरा 'अभिषेक' नाम है। इसे स्वीकार करने में आपत्ति है।

(२) आटविक राज्य—आर्यावर्त के राज्यों का उन्मूलन कर समुद्रगुप्त दक्षिण की ओर बढ़ा। परन्तु दक्षिणापथ के राजाओं के विरुद्ध 'यान' संभव न था, जब तक कि 'मूल' और दक्षिणापथ के राज्यों के बीच के राज्य विजित न हो जायँ। ये बीच के राज्य मध्य-भारतीय वनपरंपरा में कहीं थे। इन आटविक राज्यों के नृपतियों को भी समुद्रगुप्त ने परास्त कर अपना अनुचर बना लिया। इनके नाम अथवा संख्या इस प्रशस्ति में नहीं मिलते।

(३) दक्षिणापथ के राज्य—दक्षिणापथ के राज्य समुद्रगुप्त के मूल से दूर थे। इस कारण उनसे आर्यावर्त्त के समीपवर्ती राज्यों की भाँति किसी प्रकार का भय न था। अतः समुद्रगुप्त ने उनके साथ धर्मविजयी नृपति का-सा आचरण किया। उनकी श्री (Sovereignty) तो उसने हरण कर ली, परन्तु पृथ्वी न ली। पहले उन्हें परास्त कर विजेता ने बन्दी कर लिया फिर उनको उनके राज्य लौटा दिये। इन राजाओं की संख्या बारह थी। ये निम्नलिखित हैं:—

१. कोशल का महेन्द्र। कोशल से यहाँ तात्पर्य महाकोशल से है, जिसका प्रसार मध्य-प्रदेश के बिलासपुर, रायपुर और संभलपुर जिलों पर है।

२. महाकान्तार का व्याघ्रराज। राय चौधरी महाकान्तार को संज्ञावाचक न मानकर मध्यभारत का कोई वनप्रान्त मानते हैं। उनके विचार से यह संभावित वनप्रान्तर जासो राज्य में होगा।[4]

३. कोराल का मन्तराज। कोराल संभवतः दक्षिण भारत का कोराड है। अथवा सोनपुर प्रान्त जिसकी राजधानी महानदी के तट पर ययाति नगरी थी।

४. पिष्टपुर का महेन्द्र। पिष्टपुर मद्रास प्रान्त में गोदावरी जिले का पीठापुरम् है।

५. कोट्टूरगिरि का स्वामिदत्त। कोट्टूर संभवतः गोदावरी जिले का कोठूर है। 'गिरिकोट्टूरक' का एक पाठ-भेद कुछ विद्वानों ने 'पैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्त'

---

१. Proceedings of the Ist Ori. Con., १९२०, भाग १, पृ० १२५।

२. Ep. Ind., १२, पृ० ७३, ७६।

३. JBORS., मार्च-जून, १९३३, पृ० १४२।

४. Pol. Hist. Anc. Ind., चतुर्थ संस्करण, पृ० ४५२। रामदास इस प्रान्त को गन्जाम और विजगापटम की 'झाड़-खण्ड' एजेन्सी के वन-भाग मानते हैं— I.H.Q., खण्ड १, भाग ४, पृ० ६८४।

यहाँ है। इसका अर्थ हुआ 'महेन्द्रगिरि के कोट्टूर और पिष्टपुर का स्वामिदत्त'। परन्तु इसमें प्रश्न यह हो सकता है कि जब अन्य राजाओं के सम्बन्ध में केवल एक-एक स्थान विशेषों का ही:नामोल्लेख है फिर इस सम्बन्ध में दो क्यों ?

६. एरण्डपल्ल का दमन—एरण्डपल्ल गंजाम जिले में चीकाकोल के समीप का एरण्डपल्ली है।

७. काञ्ची का विष्णुगोप। काञ्ची मद्रास के पास का काञ्जीवरम् है।

८. अवमुक्त का नीलराज। अवमुक्त का आज ठीक स्थानापन्न बताना कठिन है। परन्तु 'आव'-जाति के प्रति निर्देश खारवेल के हाथीगुम्फावाले लेख में हुआ है। उसके अनुसार आव प्रान्त की राजधानी गोदावरी के पास पिथुण्डा थी।

९. वेंगी का हस्तिवर्मन्—वेंगी एल्लोर की पेड्डु-वेगी है।

१०. पालक्क का उग्रसेन। पालक्क नेल्लोर जिले में है।

११. देवराष्ट्र का कुबेर। देवराष्ट्र विजगापटम जिले की येल्लमञ्चिली है।

१२. कुस्थलपुर का धनञ्जय। उत्तर अरकाट जिले का कुट्टलुर इस लेख का कुस्थलपुर है।

(४) प्रत्यन्त-राज्य—प्रत्यन्त नृपति सीमाप्रान्त के थे। समुद्रगुप्त की दिग्विजय से इन नृपतियों पर इतना आतंक जमा कि वे अपने आप उस 'प्रचण्डशासन' यशस्वी गुप्त-सम्राट को सब प्रकार के कर प्रदान करने लगे और उसकी आज्ञाओं का पालन करने लगे।[१] उसके प्रति उनका आचरण सर्वथा सामन्त-राजाओं का होने लगा। उसके समीप उपस्थित हो उसे सब प्रकार से सन्तुष्ट करना[२] उनका इष्ट हो गया। प्रत्यन्तों के राज्य निम्नलिखित पाँच थे—समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल और कर्तृपुर।

१. समतट। दक्षिण-पूर्वी बंगाल। इसकी राजधानी कर्म्मान्त थी। कर्म्मान्त कोमिल्ला के पास का बड़-कम्ता है।

२. डवाक। संभवतः ढाका। चटगाँव और टिपरा के इलाकों को भी डवाक कहा गया है। स्मिथ ने इसे बोगड़ा, दिनाजपुर और राजशिले माना है। बरुआ की राय में डवाक आसाम की कोपिली घाटी है।

३. कामरूप। आसाम, जहाँ वर्मनों का राज्य था। हर्षवर्धन के समय में यहाँ का राजा भास्करवर्मन् प्रसिद्ध था, जो हुएन-त्सांग और कन्नौज-नृपति दोनों का मित्र था।

४. नेपाल। नेपाल जो आज भी भारत का सीमावर्ती देश है।

५. कर्तृपुर। कुमाऊँ, गढ़वाल और रुहेलखण्ड[३] के इलाके। कुमाऊँ के कतुरियाराज का संभव है इससे कुछ सम्बन्ध रहा हो। फ्लीट और ऐलेन के मतानुसार

---

१. सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य'''—प्रयाग - स्तंभ का लेख।

२. वही।

३. JRAS., १८९८, पृ० १२८-९९।

कर्तृपुर जलन्धर ज़िले का करतारपुर है। परन्तु इस मत को स्वीकार करना कठिन है। इस वर्ग के जितने राज्यों का हवाला इस लेख में आया है वे सीमान्त के हैं। इसी कारण इनकी संज्ञा 'प्रत्यन्त' भी उसमें दी हुई है और ऊपर बताये शेष सारे राज्य पूर्वी और उत्तरी सीमाओं पर स्थित भी हैं। इसलिए कर्तृपुर को भी हिमालय में कुमाऊँ-गढ़वाल मानना युक्तियुक्त जान पड़ता है।

(५) **गणराज्य**—इन सीमान्त राज्यों की ही भाँति कुछ अराजक गणराज्य भी थे जिन्होंने समुद्रगुप्त की शक्ति और विक्रम के सामने झुक जाना ही उचित समझा। ये राज्य एक प्रकार के पंचायती-राज्य थे जिनमें प्राचीन काल से स्वतन्त्र जातियों का निवास था। इनकी शक्ति और सामरिकता प्रसिद्ध थी। पंजाब, राजपूताना और मध्यप्रान्त इनके मुख्य स्थान थे। ये जातियाँ निम्नलिखित नौ थीं—मालव, आर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खरपरिक। इनके स्थान-परिवर्तन समय-समय पर होते रहे हैं और इन्होंने सामूहिक रूप से बहुधा अभिनिष्क्रमण किया है। नीचे इनके संभावित निवास-स्थान दिये जाते हैं।

१. मालव। यह जाति अत्यन्त सामरिक और दुर्द्धर्ष थी। पंजाब में रावी के आसपास इनका निवास था। ये क्षुद्रकों के पड़ोसी और उनके शत्रु थे। मालव एक जागरूक जाति के थे जो एक हाथ में हँसिया और दूसरे में तलवार धारण करते थे। ई० पू० चौथी शताब्दी में मकदूनिया के प्रसिद्ध विजेता सिकन्दर के आक्रमण के समय इन्होंने उसके दाँत खट्टे कर दिये थे। संभवतः इन्हीं के मारे बाण के घाव से ज्वरग्रस्त वह विजेता बाबुल में मरा था। ग्रीक इतिहासकार इस जाति को 'मल्लोइ' कहते थे। धीरे-धीरे पंजाब छोड़ मालव राजपूताना होते हुए अवन्ती पहुँचे और संभवतः प्रथम शती ई० पू० में ये वहाँ बस गये। अवन्ती का मालवा नाम इन्हीं के आगमन से पड़ा। मालव-संवत् विक्रम-संवत् का दूसरा नाम है, जो प्राचीन काल में सदियों तक इसी नाम से विक्रम-संवत् के स्थान पर प्रयुक्त होता आया है। संभवतः विक्रम इन मालवों का ही सरदार या मुखिया था और शायद अवन्ती की विजय और मालवों के वहाँ बसने के उपलक्ष में विक्रम-संवत् चला था।

२. आर्जुनायन। आर्जुनायन जाति भी मालवों की भाँति ही स्वतन्त्र थी और इसका निवास जैपुर और अलवर राज्यों के पूर्वी इलाकों में था।

३. यौधेय। जैसा नाम से ही ध्वनित है, यौधेय जाति युद्ध-प्रिय थी। युद्ध ही इनकी जीविका था। संभव है, इनका पेशा रुपये लेकर दूसरों के लिए युद्ध करना रहा हो। इनका निवास उत्तरी राजपूताना में था। 'जोहियावाड़' इनके सम्पर्क के किसी शब्द का अपभ्रंश जान पड़ता है। जोहियावाड़ का इलाका बहावलपुर रियासत की सीमा पर आज भी अवस्थित है। भरतपुर रियासत में बयाना के पास विजयगढ़ से प्राप्त एक लेख में यौधेयों का उल्लेख हुआ है।[1] 'बृहत्संहिता' में आर्जुनायन और यौधेय दोनों के भारत के उत्तराखण्ड

---

१. C. I. I., भाग ३, नं० ५८, पृ० २५१-५२।

में बसने की बात लिखी है। इस प्रशस्ति में भी दोनों का उल्लेख साथ-साथ ही हुआ है।

४. मद्रक। मद्रक यौधेयों के उत्तरी प्रदेश में बसते थे। इनकी राजधानी शाकल (आधुनिक स्यालकोट) थी। इससे मद्रकों का दक्षिणी पंजाब में बसना युक्तिसंगत है।

५. आभीर। ये मध्यभारत के निवासी थे। पार्वती और बेतवा नदियों के बीच का देश आज भी उनके नाम पर 'अहिरवाड़' नाम से प्रसिद्ध है। आभीरों की एक अन्य वासभूमि संभवतः सौराष्ट्र और गुजरात भी थी। क्षत्रप-लेखों में उनका उल्लेख अनेक बार मिलता है। इन पिछले प्रान्तों को संभवतः किसी काल में आभीरों ने जीता था, परन्तु इन इलाकों से इस प्रशस्ति-लेख का सम्बन्ध नहीं है। समुद्रगुप्त का दबदबा किसी प्रकार सौराष्ट्र तक पहुँचा हो, इसे स्वीकार करने में आपत्ति हो सकती है यद्यपि ये जातियाँ उसकी विजित नहीं थीं।

६. प्रार्जुन। यह जाति शायद आभीरों की पड़ोसी थी। इनका निवास संभवतः मध्य-प्रान्त के नरसिंहपुर अथवा नरसिंहगढ़ के इलाकों में था।

७. सनकानीक। सनकानीक मध्यभारत में कहीं भिलसा के पास बसते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के उदयगिरि शिलालेख में उसके एक मांडलिक-राजा 'सनकानीक' महाराज का उल्लेख हुआ है।[१]

८. काक। ये मध्य-भारत में सनकानीकों के पड़ोसी थे। संभवतः इस भूमि के ये बड़े प्राचीन बाशिन्दे थे। इनका नाम इतिहास में कम आया है।

९. खरपरिक। ये भी मध्य-प्रान्त के ही निवासी थे। इनकी बस्तियाँ संभवतः उस प्रान्त के दमोह जिले में फैली हुई थीं। बतिहगढ़ के एक लेख[२] में खर्पर जाति का उल्लेख मिलता है। डा० भण्डारकर का मत है कि प्रयाग-स्तंभ के प्रशस्ति-लेख के खरपरिक वास्तव में बतिहगढ़ के खर्पर ही हैं।[३] इस प्रकार आभीर, प्रार्जुन, सनकानीक, काक और खरपरिक जातियाँ पड़ोसी थीं और उनका विस्तार मध्य-भारत और मध्य-प्रान्त के प्रदेशों में था। इनमें आभीरों ने तो एक समय इन इलाकों और पश्चिमी समुद्रतट के सौराष्ट्र, गुजरात आदि पर अपना एक साम्राज्य भी खड़ा कर लिया था।

(६) **विदेशी राज्य**—ऊपर गिनाये साम्राज्य के अन्तर्गत-राज्यों और सीमान्त-राज्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे राज्य भी थे जो संभवतः भारतीय भौगोलिक सीमा के भी बाहर थे। समुद्रगुप्त की विजयों से उनकी स्वतंत्र सत्ता को भी ठेस लगी और उन्होंने भी अपनी वैदेशिक नीति में उस गुप्त-सम्राट् के प्रति मित्रता के भाव प्रकट किये। प्रशस्ति के शब्दों से तो ज्ञात होता है कि प्रत्यन्त-नृपतियों की भाँति ही आतंकित होकर उन्होंने भी आत्म-

---

१. फ्लीट नं० ३।

२. EP. Ind., १२, पृ० ४६, ४७, श्लोक ५।

३. Ind. His. Quar., भाग १, १९२५, पृ० २५८।

समर्पण कर दिया और वे भी कर-भेंट, कन्योपायन[१] आदि से समुद्रगुप्त को संतुष्ट करने लगे। उल्लेख तो उसमें इनके प्रति यहाँ तक है कि अपने राज्यों के भोग के अर्थ वे गुप्त-साम्राज्य के गरुड़ाङ्क से मुद्रित फरमान भी प्राप्त करने लगे।[२] इससे तो उनकी आधिपत्य स्वीकृति का आभास मिलता है। संभव है, प्रशस्ति-लेख के इस वाक्य में कुछ अतिरंजन हो, परन्तु इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि समुद्रगुप्त की इस विजय-यात्रा से उसके अनेक स्वतंत्र पड़ोसी सशंक और संत्रस्त हो उठे हों और उन्होंने उससे बन्धुत्व स्थापित करने में ही अपना कुशल समझा हो। जिन राज्यों ने समुद्रगुप्त का प्रासाद चाहा, अपने राज्य-भोग के लिए 'गरुड़ की मुहर' से मुद्रित उसके साम्राज्य के शासन प्राप्त किये अथवा 'आत्मनिवेदन' और 'कन्योपायन' (कन्याओं की भेंट) से उसे संतुष्ट किया उनके तीन वर्ग हैं—

१. दैवपुत्रशाहिशाहानुशाही, २. शक-मुरुण्ड और ३. सिंहल और अन्य द्वीपों के निवासी।[3]

१. दैवपुत्रशाहिशाहानुशाही। गुप्त-साम्राज्य कम-से-कम उत्तर भारत में अधिकतर कुषाणों के साम्राज्य के भग्नावशेष पर ही खड़ा हुआ था। गुप्तों के भी पूर्व भारशिव नागों ने ही कुषाणों का विध्वंस किया था और गुप्तों के पूर्व ही कुषाण-नृपति भारतीय सीमाप्रांत की ओर सरक गये थे। 'दैवपुत्रशाहिशाहानुशाही' वास्तव में कुषाण सम्राटों का विरुद था। कुषाण-साम्राज्य के पतन के बाद उस कुल के छोटे-छोटे राजा छोटे-छोटे इलाकों पर शासन करने लगे थे। डा० त्रिपाठी[४] की राय में देवपुत्र संभवतः पंजाब में थे और शाही अथवा शाहानुशाही अफगानिस्तान और उसके आसपास की भूमि के स्वामी बन गये थे। देवपुत्रों को शाहियों से अलग मानना कहाँ तक युक्त है, नहीं कहा जा सकता। कनिष्क ने पहले-पहल चीन के सम्राटों की देखादेखी यह उपाधि धारण की थी। 'शाहानुशाही' फारसी विरुद शाहंशाह है जो उसने 'देवपुत्र' के साथ ही धारण किया। वास्तव में दोनों को विरुद ही मानना उचित है। यद्यपि यह सही है कि कुषाण-राजा पश्चात् काल में भी, अपनी साम्राज्य-शक्ति के टूट जाने के बाद भी, इस विरुद से बखाने जाते रहे। इतना ही नहीं, अफगानिस्तान के उस कुषाण-कुटुम्ब की, जिसने सदियों बाद तक वहाँ शासन किया, यही संज्ञा थी। अलबेरूनी ने अपनी 'तहकीक-ए हिन्द' में काबुल काँठे के ६० 'शाही' राजाओं का उल्लेख किया है। अतः यह तो प्रमाणित है कि कुषाणकुलीय पश्चातकालीन राजाओं ने शाही अथवा शाहानुशाही नाम से अफगानिस्तान पर राज्य किया, परन्तु उनसे दैवपुत्रों को अलग करने का सिद्धान्त प्रमाणिक नहीं जान पड़ता।

---

१. दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य···।—प्रयाग-स्तंभ-लेख।

२. गरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनात्······। वही।

३. सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिः······। वही।

४. History of Ancient India, पृ० २२६-२७।

२. शक-मुरुण्ड। इसी प्रकार शक-मुरुण्डों के विषय में भी कुछ कहना कठिन है। संभव है 'दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः' पद में कुषाण-शाहियों, शकों और मुरुण्डों[1] के विविध राजकुलों का निर्देश किया गया हो अथवा उनसे केवल सीमाप्रान्त बसनेवाली उन विभिन्न विदेशी जातियों से तात्पर्य रहा हो जिन्होंने भारतीय प्रान्तों पर कभी राज किया था। शक-मुरुण्डों से केवल शकपतियों का भी बोध हो सकता है। इस प्रशस्ति-लेख से कम-से-कम एक बात सिद्ध है, वह यह कि ये विदेशी जातियाँ उत्तर-पश्चिमी सीमान्त अथवा उसके बाहर रहती थीं और समुद्रगुप्त के पराक्रम से आशंकित होकर उन्होंने उसकी मैत्री की अपेक्षा की।

३. सिंहलादि द्वीपों के निवासी। प्रशस्ति का वाक्यांश इस प्रकार है—'सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिः।' इसमें दो प्रकार के द्वीपवासियों का निर्देश है—सिंहल के निवासियों का स्पष्ट रूप से और अन्य द्वीपों के निवासियों का सामूहिक रूप से। इनमें सिंहल के सम्बन्ध में तो किसी प्रकार का सन्देह हो नहीं सकता। सिंहल आधुनिक लंका (सिलोन) है। शेष 'सर्वद्वीप' कौन-से हैं, यह कहना कठिन है। सम्भव है, इस पद से संकेत मलाया और अण्डमन आदि द्वीपों से हो। मलाया द्वीप-समूह के अनेक द्वीपों में गुप्तकाल में ही हिन्दू-संस्कृति का अधिकाधिक विस्तार हुआ था। सम्भव है, उसके कुछ पूर्व समुद्रगुप्त के शासन-काल में उसकी शक्ति की छाप इन द्वीपों की राजनीति पर लगी हो, और वहाँ के निवासियों ने इस हिन्दू-संस्कृति के पुनरुज्जीवक सम्राट् का प्रश्रय पाया हो।

सिंहल के सम्बन्ध का हमें एक ब्योरा चीनी प्रमाण[2] से भी उपलब्ध है। इससे विदित होता है कि समुद्रगुप्त के समय में सिंहल का राजा मेघवर्ण (३५२-७९ ईस्वी) था। उसने दो बौद्ध-भिक्षुओं को धर्मार्थ बोधगया भेजा। उनको वहाँ अनेक प्रकार की असुविधाएँ हुईं और उन्होंने लौटकर अपने राजा को बताया कि आवभगत की बात तो दूर रही, उस प्रदेश में उनको कहीं ठहरने तक का प्रबन्ध न हो सका। इसपर मेघवर्ण ने गुप्त-सम्राट् के पास रत्नपुरस्सर भेंटों के साथ अपने दूत भेजे और बोधगया में सिंहल के बौद्ध-यात्रियों के ठहरने के लिए एक धर्मशाला बनवाने की आज्ञा माँगी। समुद्रगुप्त की आज्ञा मिल जाने पर मेघवर्ण ने बोधगया में एक सुन्दर विहार बनवाया, जो हुएन-च्वांग के समय में 'महाबोधि-संघाराम' के नाम से प्रसिद्ध था। इस प्रमाण से समुद्रगुप्त का विदेशी राष्ट्रों से परराष्ट्रीय सम्बन्ध तो स्पष्ट है, परन्तु सिंहल अथवा अन्य द्वीपों पर प्रयाग प्रशस्ति में बखानी समुद्रगुप्त की सत्ता कहाँ तक थी, यह कहना कठिन है।

समुद्रगुप्त की इस दिग्विजय के बाद गुप्त-साम्राज्य की प्राचीरें विस्तृत हो गयीं। उसके पिता के समय की सीमाएँ (दक्षिण विहार, प्रयाग, साकेत और गंगातटवर्ती

---

१. जायसवाल: Malaviya Commemoration Volume, पृ० १८५-८७। और देखिए C. C. G. D., भूमिका, पृ० २९-३०।

२. सिल्वाँ लेवी, Journal Asiatique, १९००, पृ० ४०६,४११; स्मिथ: Ind. Ant., १९०२, पृ० १९२-९७।

मध्यदेश) इस नये साम्राज्य के गर्भ में केन्द्रस्थ हो गयी। इनके अतिरिक्त आर्यावर्त के प्रायः सारे राज्य इस साम्राज्य के अन्तर्गत समा गये। इस प्रकार समुद्रगुप्त के साम्राज्य में संयुक्त प्रान्त, बिहार और सम्भवतः पश्चिमी बंगाल आदि तो थे ही, उसके सामन्त-राज्यों की संख्या भी कुछ कम न थी। मध्य भारत और मध्यप्रान्त के आटविक राज्यों, दक्षिणापथ के सुदूर राज्यों, सीमाप्रान्त के प्रत्यन्त-राज्यों, तथा पंजाब, राजपूताना और मध्य-भारत के गण-राज्यों के ऊपर उसका आधिराज्य स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त विदेशी दैवपुत्र-शाहियों, शक-मुरुण्डों और सिंहल आदि द्वीपों पर भी उसका प्रभाव पूर्णतया जम गया। फ्लीट और स्मिथ ने तो दक्षिण-विजय के सम्बन्ध में कोराल को केरल, एरण्डपल्ल को खानदेश (एरण्डोल), पालक्क को पालघाट (पालक्काडु) और देवराष्ट्र को महाराष्ट्र मानकर इस दिग्विजय का विस्तार बहुत बढ़ा दिया है। हमने इस सम्बन्ध में समुद्रगुप्त का विजय-मार्ग पूर्वसागर तटवर्ती माना है। परन्तु यदि फ्लीट और स्मिथ का सुझाव सही हो तो समुद्रगुप्त की विजय पूर्व और पश्चिमी दोनों समुद्रों के बीच की पूरी भूमि पर स्थापित हो जायगी। केरल, महाराष्ट्र, खानदेश आदि सारे मध्यवर्ती प्रान्त उसके साम्राज्य या कम-से-कम प्रभाव के अन्तर्गत हो जायँगे।

साम्राज्य का विस्तार

समुद्रगुप्त महान् विजेता था, अद्‌भुत समर-विशारद। स्मिथ ने उसे 'भारतीय नेपोलियन' की संज्ञा दी है। दिग्विजय को देखते सचमुच ही यह संज्ञा समुद्रगुप्त के लिए उचित ही है। परन्तु नेपोलियन का व्यक्तित्व संभवतः उससे बड़ा था। हम नहीं कह सकते कि यदि समुद्रगुप्त की पैतृक पृष्ठभूमि उसके पीछे न होती तो वह अपनी महत्ता कहाँ तक प्रतिष्ठित कर सकता! इसके विरुद्ध नेपोलियन का अकेला प्रारम्भिक प्रयास प्रसिद्ध है। समुद्रगुप्त ने इस दिग्विजय के उपलक्ष्य में एक अश्वमेध भी किया जिसके अन्त में उसने ब्राह्मणों को अनन्त दान दिये और एक प्रकार के स्मारक-सिक्के चलाये जिनपर सामने अश्व यज्ञ-यूप के सम्मुख खड़ा है और पीछे रानी की मूर्ति के साथ-साथ समुद्रगुप्त का विरुद 'अश्वमेध पराक्रमः' खुदा हुआ है। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारियों ने अपने लेखों में उसके लिए 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्त्तुः' पद का प्रयोग किया है, जिसका भाव यह है कि उसने चिरकाल से उठी हुई अश्वमेध की प्रथा को फिर से संजीवित किया। इसमें तो सन्देह नहीं कि समुद्रगुप्त ने अश्वमेध की प्रतिष्ठा की और गुप्त-राजाओं ने हिन्दू-संस्कृति का पुनरुद्धार किया, परन्तु उस सम्राट् को 'चिरकाल से उखड़े हुए अश्वमेध' की पुनःस्थापना का श्रेय देना सर्वथा उचित नहीं जान पड़ता। हम ऊपर भारशिव-नागों और वाकाटकों का वृत्तान्त लिखते समय बता आये हैं कि दोनों ने अनेक अश्वमेध किये थे। भारशिवों ने गंगा-तट पर काशी में दस अश्वमेध किये जिससे उस घाट की संज्ञा ही 'दशाश्वमेध' हो गयी, जो आज तक वर्तमान है। इसी प्रकार वाकाटकों में प्रवरसेन प्रथम (पुराणों के प्रवीर) ने अकेले चार-चार अश्वमेध किये थे। ये दोनों राजा समुद्रगुप्त से कुछ ही पूर्व हुए थे। हाँ, यह सम्भव है कि उन दोनों राजाओं के अश्वमेध नाममात्र को पूरी क्रियाओं से युक्त रहे हों और समुद्रगुप्त ने

अश्वमेध

उसे पूर्णतया विधिवत् किया हो। उसकी दिग्विजय इसमें सबसे ज्वलन्त प्रमाण है। समुद्रगुप्त के अश्वमेध का अनुष्ठान उसकी दिग्विजय के बाद ही हुआ होगा; क्योंकि प्रयाग के प्रशस्ति-लेख में उसका उल्लेख नहीं है। यदि यह पहले अनुष्ठित हो गया होता, तो इसका हवाला उसमें अवश्य होता।[1]

इसमें सन्देह नहीं कि समुद्रगुप्त महान् विजेता था। परन्तु उसने भारत के गणतन्त्रों की स्वतंत्रता हरण करके जनता के हृदय से उनकी स्मृति मिटा दी। भारतीय प्रजातंत्र के अच्छे-बुरे वे ही उदाहरण थे। समुद्रगुप्त ने उनका नाश कर दिया। एक बार गणतन्त्रों की शक्ति चन्द्रगुप्त और चाणक्य की नीति ने तोड़ी थी, अब समुद्रगुप्त ने तोड़ी। समुद्रगुप्त के ऊपर यह कलंक रह जायगा। तत्कालीन विष्णुपुराणकार कहता है—"इन राजाओं का इतिहास भविष्य में संदेह और विवाद का विषय हो जायगा ठीक उसी प्रकार जैसे राम और अन्य राजाओं का आज हो गया है। काल के स्रोत में सम्राट् खो जाते हैं। उनकी स्मृति धुँधली पड़ जाती है जिन्होंने कभी सोचा था—'भारत हमारा है।' राघव के साम्राज्य को धिक्कार! साम्राज्य को धिक्कार! ऐश्वर्य को धिक्कार!"[2] इससे आगे इतिहासकार नहीं कह सकता।

समुद्रगुप्त के निधन की ठीक तिथि तो ज्ञात नहीं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका शासन-काल काफी लंबा रहा होगा। उसकी दिग्विजय, उसके अश्वमेध, उसकी परराष्ट्रनीति, उसके सिक्कों के प्रसार आदि सबसे यह बात ध्वनित होती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य-काल की पहली तिथि ३८० ईस्वी है।[3] यदि रामगुप्त का शासन-काल नाममात्र का माना जाय तो समुद्रगुप्त ने संभवतः ३७५ ईस्वी तक लगभग ४० वर्षों तक राज्य किया।

३. रामगुप्त (लगभग ३७५ ई०)

समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त राजा हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय के लेखों से जान पड़ता है कि पिता ने उसके गुणों से मुग्ध होकर उसे ही अपने पश्चात् गुप्त-साम्राज्य का कर्णधार नियुक्त किया था। यह 'तत्परिगृहीतः' पद से स्पष्ट है।[4] फिर ज्येष्ठ भ्राता के रहते चन्द्रगुप्त संभवतः पिता का सिंहासन न प्राप्त कर सका। किन कारणों से उसके पिता की कामना निष्फल हो गयी और उसके बड़े भाई रामगुप्त ने राज्य हस्तगत कर लिया, यह हमें विदित नहीं है। परन्तु उसके पूर्व और समुद्रगुप्त के पश्चात् कुछ काल तक रामगुप्त ने शासन किया यह कई प्रमाणों से निश्चित है।

सामग्री

प्रमाण निम्नलिखित पुस्तकों और लेखों से उपलब्ध हैं—(१) देवीचन्द्रगुप्तम्, (२) नाट्य-दर्पण, (३) हर्षचरित, (४) हर्षचरित पर शंकरार्य की टीका, (५) शृंगार-प्रकाश, (६) अमोघवर्ष के सन्जन-पत्र-लेख और (७) मुजमालुत-तवारीख।

---

१. देखिए दिवेकर का लेख, ABR I.; ७, १९२६, पृ० १६४-६५।

२. ४, २४, श्लोक ६४-७७।

३. मथुरा का लेख, Ep. Ind., २१, पृ० १ से आगे।

४. C. I. I., ३, नं० १२, पृ० ५०, पंक्ति १९।

रामगुप्त का नाम गुप्त-राजाओं की शृंखला में अभी हाल ही जोड़ा गया है। आश्चर्य की बात है कि रामगुप्त के नाम के न तो कोई सिक्का ही मिलता है और न गुप्तों की वंश-तालिकाओं में ही उसका नाम मिलता है। इसी कारण समुद्रगुप्त के बाद अब तक चन्द्रगुप्त का वृत्तान्त देने की ही ऐतिहासिक परम्परा रही है। परन्तु ऊपर बतायी पुस्तकों की सामग्री इतनी स्पष्ट है कि उसके सिक्कों और लेखों के अभाव में और वंश-तालिकाओं में उसके नाम की अनुक्ति होने पर भी उसका वर्णन न करना ऐतिहासिक दृष्टि से बेजा होगा। 'मुद्राराक्षस' के रचयिता विशाखदत्त ने एक और नाटक 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाम का लिखा था। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' स्वयं तो आज उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसके उद्धरण रामचन्द्र और गुणचन्द्र द्वारा रचित नाट्यग्रंथ 'नाट्य-दर्पण' में मिलते हैं। सन् १९२४ ईस्वी में फ्रेंच पुराविद् सिल्वाँ लेवी ने इन उद्धरणों को पहले-पहल जर्नल एशियाटिक (Journal Asiatique) में छापकर इस रामगुप्त नामक नृपति का पुनरुद्धार किया। देवीचन्द्रगुप्तम् से पता चलता है कि रामगुप्त पूरा कायर और क्लीव था। समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उसे दुर्बल पाकर किसी शकराज ने उसपर आक्रमण कर उसे आतंकित कर दिया और सन्धि की शर्तों में उसने उससे उसकी सुन्दर रानी ध्रुवस्वामिनी अथवा ध्रुवदेवी माँगी। भय से आक्रान्त रामगुप्त ने शकराज को अपनी पत्नी देनी स्वीकार कर ली। इसपर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने कुल और ध्रुवदेवी के गौरव की रक्षा की। ध्रुवदेवी का वेश बनाकर उस वीर नवयुवक ने नृत्य-वाद्य से प्रतिध्वनित शक-स्कन्धावार में प्रवेश किया। वहाँ उसने आसव से प्रमत्त नवागता प्रिया की ओर स्वागत के अर्थ बढ़ते हुए शकपति के वक्ष में छुरी घुसेड़ दी। फिर संभवतः रामगुप्त का भी बध कर और ध्रुवदेवी का पाणिग्रहण कर उसने पिता के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। बाण के 'हर्षचरित' और उसपर शंकरार्य की टीका से भी इस कथा की सचाई प्रमाणित होती है। हर्षचरित में लिखा है कि "अरिपुर में दूसरे की पत्नी का कामुक शकपति कामिनी-वेशधारी चन्द्रगुप्त द्वारा मारा गया।"[1] इस कथा की ध्वनि और उपसंहार बाद की ऐतिहासिक सामग्री में मिलता है। राजा भोज के 'शृङ्गार-प्रकाश', अमोघवर्ष के ताम्रपत्र और एक मुस्लिम इतिहासकार की 'मुजमालुत-तवारीख' में भी इस कथा की प्रतिध्वनि रक्षित है। इस कथा से सर्वथा यह तो स्पष्ट नहीं होता कि चन्द्रगुप्त ने अपने भाई रामगुप्त को मार ही डाला, परन्तु इतना निश्चित है कि रामगुप्त की गद्दी-विसर्जन अथवा बध से रिक्त अवश्य हो गयी। राष्ट्रकूट-राज अमोघवर्ष प्रथम के सन्जन-ताम्रपत्र में एक श्लोक आया है जिसका आशय यह है कि अमोघवर्ष विक्रमादित्य की ही भाँति पराक्रमी और दानी तो था ही, उससे बढ़कर उसमें यह बात थी कि विक्रमादित्य की भाँति उसने भाई के रक्त से अपने हाथ नहीं रँगे। इस नवीं शती के लेख से चन्द्रगुप्त द्वारा रामगुप्त की हत्या के प्रति संकेत मिलता है, जो संभवतः सही हो।

रामगुप्त का बध कर उसकी पत्नी से विवाह करना तत्कालीन हिन्दू-समाज की उदारता

---

१ अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेशगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत् ॥ हर्ष-चरित—कावेल और टामस का संस्करण, पृ० १९४।

का द्योतक है। विधवा-विवाह का यह एक प्रबल प्रमाण है। इतना ही नहीं कि विधवा ध्रुवदेवी का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ हुआ, वरन् वह उस सम्राट् की प्रधान महिषी हुई और उसका पुत्र कुमारगुप्त ही चन्द्रगुप्त के बाद गुप्त-साम्राज्य का सम्राट् हुआ। एक प्रश्न यहाँ यह अवश्य खड़ा हो जाता है कि रामगुप्त का नाम गुप्त-वंशावलियों में क्यों नहीं मिलता और उसके नाम के सिक्के क्यों नहीं पाये गये ? इसका उत्तर यह है कि गुप्तों की पराक्रमी वंश-परंपरा में बाद के नृपतियों ने उस कायर राजा का नाम देना उचित न समझा। समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, कुमारगुप्त, महेन्द्रादित्य, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य, इस गुप्त-वंश के ऊँचे प्रकाशवान स्मारक-विन्दु हैं। कायर और क्लीव रामगुप्त का स्थान उस कुल की परंपरा ने उसे न दिया। संभवतः उसकी यह कामना थी कि इस दुर्बल राजा का उस सशक्त नामावली से लोप हो जाय। निस्सन्देह उस वीर्यमान् समुद्रगुप्त के सिंहासन पर इस निर्वीर्य्य रामगुप्त का आरोहण अशुभ होता। परन्तु रामगुप्त पिता की गद्दी पर बैठा। यद्यपि उसका राज्य चिरस्थायी न हो सका और शीघ्र पिता की अभिलाषा के अनुसार परिस्थितियों का टक्कर अथवा राज्य के लोभ से उत्तेजित होकर चन्द्रगुप्त ने रामगुप्त का वध कर गुप्त-साम्राज्य स्वायत्त कर लिया। इतना ही नहीं, उसने संभवतः सारे साम्राज्य-पत्रों से उसका नाम भी मिटा दिया। दुर्बल अशुभरूप इस प्रकार के राजाओं के नाम का वंशावलियों से लोप सर्वथा अज्ञात नहीं है। रामगुप्त के सिक्कों का न होना केवल इस बात को प्रमाणित करता है कि उसने बहुत थोड़े काल तक राज किया। उसका थोड़े काल तक राज करना ऊपर के वृत्तान्त से प्रमाणित ही है। कुछ विद्वानों ने गुप्तवंशावलियों से रामगुप्त के नाम के अभाव और उसके चलाये सिक्कों के न होने से जो उसका राजा न होना माना है, वह युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। फिर विशाखदत्त के वास्तु-विशारद का यह नाटक लिखना ही इस कथा की प्रामाणिकता को स्थापित करता है। 'मुद्राराक्षस' के कथानक के गुम्फन और राजनीतिक गुत्थियों के साथ-साथ ही उसके ऐतिहासिक स्थलों की सत्यता निर्विवाद है। 'देवीचन्द्रगुप्तम्' की ऐतिहासिक सत्यता में भी सन्देह नहीं होना चाहिए।

४. चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (लगभग ३७५-४१४ ई०)

ऊपर लिखा जा चुका है कि चन्द्रगुप्त पिता का प्रिय पुत्र था और अपने पिता की ही भाँति वह भी राजा मनोनीत हुआ था। उसके एक लेख में पिता द्वारा चुने जाने की बात 'तत्परिगृहरितः' शब्द में ध्वनित है। फिर भी समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद ही चन्द्रगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वामी न हो सका, उसका भाई रामगुप्त हुआ। किस प्रकार नियति के चक्र कुछ काल तक चलते रहे, किस प्रकार चन्द्रगुप्त ने शकराज से गुप्त-गौरव और ध्रुवदेवी की रक्षा की, और किस प्रकार उसने राज्य तथा ध्रुवदेवी को हस्तगत किया, यह ऊपर बताया जा चुका है।

चन्द्रगुप्त के राज्य-काल का सबसे पहला अभिलेख मथुरा[१] का है जिसपर गुप्त-संवत् में ६१ तिथि दी हुई है। इससे प्रमाणित है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ३८०-८१ ई० (६१ + ३२०) में सिंहासन पर बैठ चुका था। उसके राज्यारोहण की वास्तविक तिथि क्या

---

१ Ep. Ind. २१, पृ० १ से आगे।

थी, यह वर्तमान सामग्री के आधार पर बताना संभव नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उस का राज्यारोहण ३७५ और ३८० ई० के बीच कभी हुआ होगा। चन्द्रगुप्त जब साम्राज्य का स्वामी हुआ तब उत्तर और पश्चिम भारत की राजनीतिक परिस्थिति सर्वथा शान्त न थी—कुछ डाँवाँडोल थी। इसमें सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को साम्राज्य का प्रारंभिक निर्माण न करना पड़ा; क्योंकि समुद्रगुप्त ने ही उसकी विशाल अट्टालिका अपने विक्रम से खड़ी कर दी थी। उसके प्रताप से आर्यावर्त के राजा पृथ्वी से मिट चुके थे, आटविक राजा गुप्त-साम्राज्य के अनुचर हो चुके थे, दक्षिणापथ की श्री मलिनाभ हो चुकी थी, गणराज्यों की शृंखला टूट चुकी थी, प्रत्यन्त-नृपति आतंकित हो चुके थे और परराष्ट्र संत्रस्त। इस प्रकार निस्सन्देह भारत की धरा गुप्त-शक्ति से ही रक्षित और प्रभावित थी। परन्तु समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही परिस्थितियों में अंतर पड़ चला। विजित राज्य स्वाभाविकतया विजेता के निधन के बाद स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न करते हैं। और जब तक कि परतंत्र रहने की सर्वथा काल के दौरान से उनकी आदत न हो जाय, उनको शक्ति से दबा रखने की आवश्यकता होती है। समुद्रगुप्त के लौह-शासन के बाद रामगुप्त का दुर्बल शासन आया। शत्रु, विशेषकर विदेशी शक मौके की ताक में थे। रामगुप्त के गद्दी पर बैठते न बैठते उन्होंने हमला किया और उस नृपति को उनकी शर्तें मंजूर करनी पड़ीं। चन्द्रगुप्त के पराक्रम से निस्सन्देह कुछ देर के लिए विपत्ति टल गयी; परन्तु विद्रोहियों को विद्रोह का चसका लग चुका था। जब तक वे सर्वथा कुचल न दिये जाते, उनका बार-बार सिर उठाना स्वाभाविक था। शकों के तब दो केन्द्र थे—(१) सीमा-प्रान्त-अफगानिस्तान आदि और (२) मालवा तथा पश्चिमी भारत। बंगाल की ओर भी संभवतः विद्रोह की आग भड़की थी और यदि मेहरौली के लौह-स्तंभ का लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय का ही है तो निस्सन्देह चन्द्रगुप्त ने वहाँ के शत्रुओं के संघ को छिन्न-भिन्न करके 'सिन्ध के सातों मुखों को पार कर वाह्लीकों को युद्ध में जीत लिया था।'[1]

राजनीतिक परिस्थिति

नाग-राजाओं का समुद्रगुप्त ने ही प्रायः संहार कर डाला था, वैसे इनमें से कुछ अपनी छोटी-मोटी रियासतें लिये यदि जीवित रहे हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। स्वयं चन्द्रगुप्त ने अपना विवाह कुबेरनागा से किया था, जो किसी नाग-राजा की पुत्री थी। परन्तु उस काल में मध्य-भारत और आसपास के प्रदेशों में वाकाटकों का ब्राह्मण-राजकुल प्रसिद्ध और प्रबल था। किसी भी तत्कालीन राजकुल का उत्थान वाकाटकों की मैत्री के अभाव में कठिन था। वाकाटक-राज्य गुप्त-साम्राज्य के प्रायः दक्षिण और उसके पाश्चात्य-प्रदेशी मालवा के स्वामी शकों के बीच में पड़ता था। इस प्रकार आभीरादि गण-राज्यों के अतिरिक्त भारतीय भूमि पर वाकाटकों, मालवा के शकों, सीमा प्रांत के दैवपुत्र-शाहानुशाही-शकमुरुण्डों आदि का शासन था। शक्ति और प्रभाव के अभाव में शत्रुओं ने रामगुप्त पर आक्रमण किया था। जिस तेजी से चन्द्रगुप्त ने आरंभ में ही मालवा के शकों पर आक्रमण कर उन्हें विनष्ट कर दिया, उससे जान पड़ता है कि

वाकाटक

---

१ शत्रून्समेत्यागतान्वंगेषु...C. I. I.. ३, नं० ३२, पृ० १४१. श्लोक १
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः—वही।

रामगुप्त पर आक्रमण करनेवाले शक सम्भवतः मालव ही थे, यद्यपि यह भी संभव है कि मालव-शकों के साथ गुप्त-साम्राज्य पर इस आक्रमण में सीमाप्रान्तीय शकादिकों ने भी साझा किया हो। मेहरौली-लौह-स्तंभ के गुप्त-लेख से जान पड़ता है कि चन्द्रगुप्त ने ही सीमाप्रान्त के विदेशियों पर भी धावा किया था। मालवा से शकों का निशान मिटाकर भी वह सीमाप्रांत के शकों से अपने साम्राज्य को बिना उनका नाश किये निरापद नहीं कर सकता था। इसलिए संभव है, मालवा के बाद सीमाप्रांत के शकों का भी नाश कर उसने अपनी 'शकारि' संज्ञा सार्थक की हो। इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के समय में एक विद्रोह का झंडा भी खड़ा हो गया था। इसका हवाला उसी मेहरौली-लौह-स्तंभ के लेख में मिलता है जिसका संकेत ऊपर कर आये हैं। उससे प्रमाणित है कि बंगाल में विद्रोहियों का एक संघ[1] खड़ा हो गया था जिसे चन्द्रगुप्त ने तोड़ा। ऊपर के तर्क से प्रमाणित है कि यद्यपि समुद्रगुप्त ने दिग्विजय और अश्वमेध के पराक्रम से एक प्रबल साम्राज्य खड़ा किया था, परन्तु उसकी रक्षा और पालन चन्द्रगुप्त के आवश्यक कर्तव्य थे। राज्यारोहण के कुछ ही काल बाद उसने राष्ट्र के 'रन्ध्रों' को रक्षित करना और उनकी दुर्बलताओं को शक्ति प्रदान करना शुरू किया। शान्ति के कार्यों से पहले सीमाप्रांतों के शंकास्थल द्रष्टव्य थे, इस कारण उसने पहले मालवा के शकों, फिर बंगाल के विद्रोहियों और अन्त में उत्तर-पश्चिमी सीमा के विदेशियों की ओर युद्ध-यात्रा की।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है पश्चिमी भारत के शक-क्षत्रपों से लोहा लेने के लिए वाकाटकों से मैत्री करनी आवश्यक थी; क्योंकि वाकाटकों का राज्य मालवा के मार्ग में पड़ता था और आक्रमण का हित या हानि इच्छामात्र से वाकाटक कर सकते थे। इस कारण चन्द्रगुप्त ने पराक्रम का परिचय देने के पूर्व नीति से काम लेना ही निश्चित किया। कुबेरनागा से उसके प्रभावती गुप्ता नाम की एक कन्या थी। उसने पृथ्वीसेन प्रथम के पुत्र वाकाटक नरेश रुद्रसेन द्वितीय से अपनी कन्या प्रभावती के विवाह का प्रस्ताव किया। यद्यपि यह प्रस्तुत विवाह ब्राह्मण और क्षत्रिय राजकुलों के संबंध में था, फिर भी यह वर्ज्य नहीं था और उन दिनों इस प्रकार के विवाह हुआ करते थे। इसी प्रकार के नाग-वाकाटकों के बीच के एक विवाह का हवाला ऊपर दिया जा चुका है। गुप्त-साम्राज्य का सूर्य भारतीय राजनीति की चोटी पर चमक रहा था। कौन-सा राजकुल उससे संबंध जोड़ प्रकाशित होने के लिए लालायित न रहता था। इस संबंध से दोनों राजकुल गहरे मित्र हो गये। पितामह ने जिस प्रकार लिच्छवियों से अपना विवाह-संबंध कर पहले गुप्त-कुल को गौरवान्वित किया था, चन्द्रगुप्त ने भी वाकाटक-कुल में अपनी कन्या का विवाह कर अपनी शक्ति बढ़ा ली और सेना लेकर अब वह शकों पर टूट पड़ा। उसकी युद्ध-यात्रा भिलसा के रास्ते हुई थी। उसके सान्धिविग्रहिक (मंत्री) साब-वीरसेन के उदयगिरि के

शक-विजय

---

१ यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्—
वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
—C. I. I., ३, नं० ३२, पृ० १४१, श्लोक १।

लेख से प्रमाणित है कि 'सारे जगत् की विजय की इच्छा' करनेवाले (कृतस्त्नपृथ्वीजयार्थेन)[1] राजा ने उधर से ही यात्रा की थी। मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र (काठियावाड़) का शक-क्षत्रप इस काल संभवतः रुद्रसिंह तृतीय था; क्योंकि उसके सिक्कों के बाद उस कुल के राजाओं के सिक्के उन प्रांतों में नहीं मिलते। इसके अतिरिक्त स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उन प्रांतों में चलाने के लिए जो सिक्के ढलवाये थे, वे रुद्रसिंह तृतीय और उसके शीघ्र पूर्व के क्षत्रपों के सिक्कों की नकल में ढले थे। इन सिक्कों के प्रमाण से ही इस शक-संहारक-युद्ध की संभावित तिथि निश्चित की जा सकती है। इनसे विदित होता है कि यह विजय ३६५ ई० और ४०० ई० के बीच कभी हुई होगी।[2] मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र साम्राज्य के भाग हो गये।

संभवतः उसके बाद ही चन्द्रगुप्त बंगाल की ओर बढ़ा। चाहे भारतीय साम्राज्य-केन्द्र दिल्ली रहा हो, चाहे पाटलिपुत्र, बंगाल ने भारतीय सम्राटों को प्रायः सदा बेचैनी दी है। उस काल भी शत्रुओं ने चन्द्रगुप्त को चुनौती देने के लिए समुचित स्थान बंगाल को ही चुना। उन्होंने अपना संघ बनाकर विद्रोह का झंडा खड़ा किया। परन्तु चन्द्रगुप्त ने वह संघ छिन्न-भिन्न कर दिया[3] जिससे बंगाल सर्वथा विजित हो गया। समुद्रगुप्त के प्रयागवाले प्रशस्ति-लेख से विदित है कि उस सम्राट् ने बंगाल की पूरी-पूरी विजय नहीं की थी, वहाँ के नृपति उसके 'प्रत्यन्त' (सीमा)-राज्यों के स्वामी थे और उसने उन्हें केवल आतंकित कर दिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त के दान-पत्र बंगाल के जिलों से उपलब्ध हुए हैं, जिससे सिद्ध है कि बंगाल की पूरी विजय समुद्रगुप्त के पश्चात् और कुमारगुप्त के पूर्व कभी हुई। इस कारण प्रमाणतः यह विजय स्वयं चन्द्रगुप्त ने की जिसका हवाला मेहरौली के स्तंभ-लेख में मिल जाता है। इससे विदित होता है कि चन्द्रगुप्त ने न केवल बंगाल में शत्रुओं का संघ तोड़ा, बल्कि उसे जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया।

बंगाल

इसके बाद चन्द्रगुप्त बिजली की भाँति उत्तर-पश्चिमी सीमा की ओर मुड़ा। शीघ्रता से मध्यदेश लाँघता हुआ वह सिन्धु के सातों मुखों (सिन्धु की सहायक नदियों का क्षेत्र अर्थात् पंजाब) को लाँघ वह्लीकों के देश में जा पहुँचा और वहाँ उसने संभवतः हूणों को धूल चटा दी।[4] समुद्रगुप्त ने अपने प्रत्यन्त-नृपतियों की भाँति ही सीमाप्रांत के इन शक-मुरुण्डों को केवल आतंकित ही किया था, परन्तु चन्द्रगुप्त ने उस शंकास्थल को सर्वथा मिटा देना ही उचित समझा। इस प्रकार सीमाप्रांत के विदेशियों

शक मुरुण्ड आदि

१ C. I. I., ३, पृ० ३५, ३६।

२ त्रिपाठी : History of Ancient India, पृ० २५१; जे एलेन : Com. Sh. Hist. Ind., पृ० ९३।

३. C. I. I., ३, नं० ३२, पृ० १४१, श्लोक १।

४. तीर्त्वा सप्तमुखानि समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका

—C. I. I., ३, नं० ३२, पृ० १४१, श्लोक १।

का भी चन्द्रगुप्त ने नाश किया, ऐसी इस मेहरौली-स्तंभ के लेख से ध्वनि निकलती है। उसमें वह्लीकों को जीतने का उल्लेख है। वह्लीक देश वक्षु (ऑक्सस अथवा आमू दरिया) नद के काँठे का बाख्त्री अथवा ग्रीकों की बैक्ट्रिया है जहाँ उस समय संभवतः हूणों का निवास था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन कालिदास ने अपने रघुदिग्विजय के सिलसिले में हूणों का निवास वक्षुतट पर बताया है और उनका रघुद्वारा जीते जाने का हवाला दिया है। कालिदास भारत की आदर्श सीमा खींच रहे थे। उनको रघु की दक्षिण-विजय का आदर्श समुद्रगुप्त के दक्षिणापथ की विजय में और उसकी उत्तर-विजय का आदर्श इस चन्द्रगुप्त के उत्तरापथ की विजय में मिला था। जान पड़ता है, चन्द्रगुप्त ने वंग विजय के बाद जब उत्तर-पश्चिम की सीमा के विदेशी राज्यों को जीता तब वे कुछ आगे बढ़ने का लोभ भी संवरण न कर सके और वे वक्षु की घाटी में वह्लीक तक पहुँच गये। उनकी यह विजय अवश्य अविश्वसनीय और कल्पनातीत-सी लगती है; परन्तु तत्कालीन अभिलेख और साहित्य दोनों में इस वह्लीक-विजय का हवाला है और इसपर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। इतना अवश्य निश्चित है कि चन्द्रगुप्त की यह विजय सफल आक्रमण-मात्र थी। इन विजित स्थलों पर न तो उसने अपना शासन ही स्थापित किया और न स्थापित करने का प्रयास ही किया। इन स्थानों में सिवा बंगाल, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र आदि के, कहीं उसके अभिलेख अथवा सिक्के भी कहीं नहीं मिले हैं। इससे स्पष्ट है कि ऊपर गिनाये प्रदेशों को छोड़ चन्द्रगुप्त की सीमाप्रांत और वह्लीक-विजय क्षणिक-मात्र थी और ये प्रान्त गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत कभी न आ सके। कुछ लोगों ने वह्लीकों को भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा के अन्दर ही माना है और उनको पंजाब के वह्लीकों से मिलाया है।[1] कुछ पह्लव शक, यवनों की भाँति उनको भी लाक्षणिक विदेशी मानते हैं।[2]

इन विजयों का फल फिर भी गुप्त-साम्राज्य की समृद्धि के अत्यन्त अनुकूल हुआ। मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र की अत्यन्त उर्वरा भूमि गुप्त-साम्राज्य में मिला ली गयी।

विजयों का प्रभाव

इससे इस साम्राज्य का प्रसार तो हुआ ही, देश के व्यापार को भी बड़ा लाभ हुआ। अब तक मध्यदेश का व्यापार दूसरों के हाथ में था जिनसे साम्राज्य के व्यापारी माल खरीदते थे। अब इन प्रदेशों के साम्राज्य में मिला लिये जाने से पश्चिमी समुद्र-तट के व्यावसायिक केन्द्र और पत्तन (बन्दरगाह) गुप्त सम्राटों के हाथ में आ गये। इस काल इन बन्दरगाहों में विदेशों से माल और धन बरसता था। पश्चिमी देशों से यातायात का सिलसिला बँधा हुआ था। उज्जैन व्यापार के राजमार्ग पर बसा था और उत्तर जानेवाले माल की मंडी वहीं थीं। मालवा के हाथ में आ जाने के कारण उज्जैन साम्राज्य की दूसरी राजधानी-सा हो गया। व्यापार अनेक राज्यों से होकर गुजरने के कारण पहले महँगा पड़ता था और व्यापारी हर राज्य की सीमा पर चुंगी देते-देते तबाह हो जाते थे और खरीददार गृहस्थों को भी चीजें महँगी पड़ती थीं; परन्तु अब जगह-जगह से चुंगी

---

१ बसक : History of North Eastern India, पृ० १४, नोट १२।

२ एलेन : C. C. G. D., भूमिका, पृ० ३६।

उठ जाने से व्यापारियों को भी काफी मुनाफा होने लगा और साधारण जनता को भी चीजें सस्ती मिलने लगीं। इस प्रकार उर्वरा भूमि और व्यापार के लाभ से गुप्त-साम्राज्य की समृद्धि बढ़ गयी। इन पश्चिम की विजयों के अतिरिक्त पूर्व की विजय से भी साम्राज्य को बड़ा लाभ हुआ। बंगाल की भूमि मालवा की भूमि से भी अधिक उर्वरा थी और इस 'देश के खलिहान' के साम्राज्य के अन्तर्गत आ जाने से भी धन-धान्य की अभिवृद्धि हुई। इस प्रकार पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के शकों का नाश कर और वंग के शत्रु-संघ को धूल चटाकर चन्द्रगुप्त ने पृथ्वी पर 'एकाधिराज्य'[१] स्थापित कर दीर्घकाल तक (सुचिरं[२]) उसे भोगा। उसके 'विक्रम के अनिल से जलनिधि सुवासित हुए।'[३] सौराष्ट्र और बंगाल जीत लेने पर निश्चय चन्द्रगुप्त पूर्व और पश्चिम दोनों समुद्रों (बंगाल की खाड़ी और अरब सागर) के बीच के देश का स्वामी हो गया। इसके बाद उसका 'विक्रमादित्य' विरुद धारण करना स्वाभाविक ही था। यह विरुद साधारणतया उन राजाओं ने धारण किया था जिनका संबंध विदेशियों की जीत से कभी रह चुका था। स्कन्दगुप्त, यशोधर्मन् आदि ने संभवतः विदेशी आक्रमकों की विजय के बाद ही यह विरुद धारण किया था। पश्चात्काल में विदेशी मुगलों के विरुद्ध किये प्रयत्नों के कारण ही संभवतः हेमू (हेमचन्द्र) ने भी यह विरुद धारण किया था। कालान्तर में शकों के विध्वंस के उपलक्ष्य में भारतीय जनता ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को 'शकारि' संज्ञा से भी विभूषित किया।

यहाँ एक बात पर विचार करने की विशेष आवश्यकता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की विजयों में मालवा आदि और बंगाल की विजय तो अभिलेखों और सिक्कों के प्रमाण से भी सिद्ध है। परन्तु सीमाप्रांत के शकमुरुण्ड वह्लीकादिकों की विजय तथा बंगाल में शत्रुसंघ का संमर्दन जिस आधार पर अवलंबित है वह मेहरौली के लौह-स्तंभ का अभिलेख है। मेहरौली

लौह-स्तंभ का अभिलेख

दिल्ली के समीप कुछ मील पर एक गाँव है जहाँ चौहानों के खंडहर हैं। वहीं कुतुबमीनार के पास लोहे का स्तंभ है जिसपर 'चन्द्र' नामक एक नृपति की प्रशस्ति खुदी है। कुछ विद्वानों ने इस चन्द्र को चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य मानने में आपत्ति की है। बासक[४] और फ्लीट[५] ने चन्द्र को चन्द्रगुप्त प्रथम माना है, राखालदास बनर्जी[६] और हरप्रसाद शास्त्री[७] उसे बंगाल के सुसुनियावाले लेख का पोखरणराज चन्द्रवर्मन माना है और रायचौधरी[८] उसे सदा-चन्द्र अथवा चन्द्रांस मानते

१ देखिए, मेहरौली लौह-स्तंभ का लेख।

२ वही।

३ यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥ वही।

४ History of North-Eastern India, पृ० १३-१८।

५ C. I. I. ३, भूमिका, पृ० १२।

६ Ep. Ind, १४, पृ० ३६७-७१।

७ वही, १२, पृ० ३१५-२१ ; १३, पृ० १३३।

८ Pol. His. of Anc. Ind., चतुर्थ संस्करण, पृ० ४४१, नोट १।

हैं। परन्तु ये विचार केवल अटकलमात्र ही जान पड़ते हैं। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि यह चन्द्रनाम का राजा गुप्तकालीन ही है; क्योंकि जिस लिपि में उसकी यह प्रशस्ति खुदी है, वह निस्सन्देह गुप्तलिपि है। फिर भी चूँकि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत ये नाम गुप्तकालीन ही हैं, इनपर विचार करना आवश्यक हो जाता है। चन्द्र को चन्द्रगुप्त प्रथम मानना तो अत्यन्त भ्रममूलक है; क्योंकि किसी युक्ति से यह मानना असंभव है कि गुप्तराज्य के आरंभकाल में ही उसकी सीमाएँ मगधादि को लाँघकर बंगाल और पंजाब तथा वज्रु के तट तक पहुँच गयी थीं। गुप्त-साम्राज्य की स्थापना तो चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त ने की थी। फिर पुराण॰ वक्तव्य के अनुसार यह सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त का शासन प्रयाग, साकेत और मगधादि देशों पर ही सीमित था। इस कारण यह चन्द्रगुप्त प्रथम नहीं हो सकता। इसी कारण यह चन्द्र पोखरण का चन्द्रवर्मन् भी नहीं हो सकता। फिर संभवतः इस चन्द्रवर्मन् का उल्लेख समुद्र॰ गुप्त की प्रशस्ति के विजित राजाओं में ही हो गया है। इससे उसका वंग और पंजाबादि जीतना संभव नहीं जान पड़ता। रायचौधरी साहब की राय भी इन्हीं कारणों से अत्यन्त संदिग्ध हो जाती है। इस चन्द्र की सबसे अधिक संभावना चन्द्रगुप्त द्वितीय ही होने की है। पहले तो समुद्रगुप्त के वंगादि के आतंकित कर देने के बाद संभव न था कि बंगाल में इतना बड़ा राज्य स्थापित हो सकता, जो पंजाब को जीतकर बाख्त्री तक पर अपनी ध्वजा गाड़ता। दूसरे बंगाल का चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त के राज्य में होना निश्चित और सर्वसम्मत है। फिर जिसने बंगाल जीता, उसी का पंजाब जीतना भी अधिक संभावित है; क्योंकि इस प्रशस्ति में पंजाब जीतकर पंजाब जीतने की बात लिखी है। इस प्रसंग में इस प्रशस्ति के मुख्य विन्दुओं पर भी विचार कर लेना उचित होगा। इस प्रशस्ति में चार श्लोक हैं। इनमें पहला विशेष महत्त्व का है। वह इस प्रकार है :—

> यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागतान्
> वङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे।
> तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
> यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥[1]

इसमें तीन बातें मुख्यतया कही गयी हैं। पहली तो बंगाल में शत्रुओं के संघ को तोड़ना, दूसरी पंजाब की सात नदियों को लाँघकर सीमाप्रांत, वह्लीकादि जीतना और तीसरी बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के बीच की भूमि का स्वामी होना (जलनिधि के जल को अपने विक्रम की सुरभि से सुवासित करना)। ये तीनों बातें उस काल के किसी अन्य राजा के पक्ष में सिद्ध नहीं होतीं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के संबंध में ही ये घटनाएँ संभावित हैं। बंगाल जीतना उसका अन्य प्रमाणों से सिद्ध है, फिर शकों को हराने से अनुश्रुति का उसे 'शकारि' कहना उसके शक-संबंध को ध्वनित करता है। इन शकों में मालव और सीमाप्रान्तीय दोनों हो सकते हैं। उसका पंजाब और वह्लीक जीतना उसके दरबारी कवि कालिदास की रघुदिग्विजय[2] से सिद्ध है और 'दक्षिण जलनिधि' का उसके पराक्रम-वात से

---

[1] C. I. I., ३, नं० ३२, पृ० १४१, श्लोक १।   [2] रघुवंश, सर्ग ४।

बसना उसके मालवा-सौराष्ट्र-विजय को ही प्रगट करता है। यदि उस काल में हमें किसी ऐसे राजा के विषय में सोचना पड़े जिसने बंगाल, पंजाब और वह्लीक जीता हो, और पश्चिमी भारत के शकों को जीतकर जो दोनों समुद्रों के बीच की भूमि का स्वामी बन गया हो, तो हम केवल चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का ही नाम ले सकते हैं और किसी का नहीं। अतः मेहरौली लौहस्तंभ-लेख का 'चन्द्र' चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है।[१] इस प्रकार समुद्रगुप्त ने गुप्त-साम्राज्य खड़ा किया और उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उसे निरापद कर बढ़ाया और समृद्ध किया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य-काल एक और कारण से भी प्रसिद्ध है। उसके शासन-काल में ही प्रसिद्ध चीनी यात्री फा-ह्यान भारत आया था। लगभग १५ वर्षों तक (३९९ ई०-४१४ ई०) वह भारत और उसके समीपवर्ती देशों में घूमता रहा। वह बौद्ध था और अपने धर्म के तीर्थस्थानों के दर्शन और धार्मिक पुस्तकों के प्राप्त्यर्थ वह भारत आया था। तब के जमाने में देशाटन करना अत्यन्त कष्टकर था। मार्ग के कष्ट तो थे ही, साथ ही यात्रा खतरे से खाली न थी।

फा-ह्यान

यह चीनी भिक्षु, गोबी की प्रशस्त मरुभूमि के कष्ट झेलता, खुत्तन और पामीरों से होता हुआ स्वात और गन्धार के मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुआ। पेशावर से वह पंजाब आया और मध्यदेश के नगरों से होता हुआ वह काशी पहुँचा। मार्ग में उसने मथुरा, संकाश्य, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली आदि नगरों और प्रसिद्ध स्थानों का भ्रमण किया। फिर पाटलिपुत्र के विशाल नगर में तीन वर्षों तक ठहरकर उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन और अभ्यास किया। घर वह जलमार्ग से लौटा। पाटलिपुत्र से चलकर वह ताम्रलिप्ति (ताम्लुक, जिला मिदनापुर, बंगाल) पहुँचा और वहाँ जहाज पर चढ़ा। ताम्रलिप्ति प्राचीन काल से बंगाल की खाड़ी का बड़ा बन्दरगाह था। शताब्दियों पूर्व लंका को जाते हुए अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा को अशोक ने यहीं जहाज पर चढ़ाया था। इसे बन्दरगाह से और अनेक सदियों पूर्व जातकों के विजय ने अपने बेड़े का नेतृत्व किया तथा लंका पहुँच वहाँ अपना राज्य कायम किया और लंका का 'सिंहल' नामकरण किया था। उसी ताम्रलिप्ति से चलकर फा-ह्यान सिंहल और जावा होता हुआ चीन पहुँचा। मार्ग में अनेक उपद्रव हुए। एक बार तो इतना तूफान आया कि जान पड़ा, जहाज डूब जायगा। वास्तव में उसको ही पापी समझकर ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने एक बार उसे समुद्र में फेंक देने की भी ठानी; परन्तु सौभाग्यवश आँधी थम गयी और उसकी जान बची। यद्यपि फा-ह्यान बौद्ध भिक्षु था और उसे सांसारिक विषयों से दिलचस्पी कम थी, फिर भी उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में अनेक ऐसी बातें लिखी हैं जिनसे तत्कालीन भारतीय संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। उसका भ्रमण-वृत्तान्त 'फो-क्वो-की'[२]

---

१. स्मिथ इस 'चन्द्र' को चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं। देखिए, J. R. A. S., १८९७, पृ० १-१८।

१. देखिए, बील का—Buddhist Record of the western world, और 'फो-क्वो-की' का अनुवाद।

नामक ग्रन्थ में मिलता है। उसके आधार पर हम तत्कालीन भारत के सम्बन्ध में निम्नलिखित सामग्री पाते हैं।

भ्रमण-वृत्तान्त

इस वृत्तान्त से पता चलता है कि मध्यदेश की जनता प्रायः निरामिष थी और अहिंसा के नियमों का पालन करती थी। मध्यदेश से फा-ह्यान का तात्पर्य संभवतः वर्तमान संयुक्त-प्रान्त, बिहार आदि से था। फा-ह्यान कहता है कि बाजारों में मांस और मदिरा की दूकानें नहीं हैं। लोग सूअर अथवा मुर्गियाँ नहीं पालते, प्याज और लहसुन तक नहीं खाते, शराब नहीं पीते।

सामाजिक

केवल चाण्डाल, जो समाज से बहिष्कृत हैं, वन्य पशुओं का आखेट करते और मांस का विक्रय करते हैं। उन्हें नगर में रहने का अधिकार नहीं है और वे उसके बाहर निवास करते हैं। जब कभी वे नगर के बाजारों अथवा उसके अन्दर के अन्य मुहल्लों में जाना चाहते हैं तब उन्हें लकड़ियाँ बजाकर अपना आगमन सूचित करना पड़ता है जिससे नागरिक (सवर्ण हिन्दू) सचेत हो जायँ और उनके स्पर्श से अपावन न हो जायँ। सिद्ध है कि चाण्डाल प्रमाणतः तब भी अस्पृश्य माने जाते थे।

धार्मिक

फा-ह्यान भारत में तीर्थाटन और धार्मिक ग्रंथों की खोज में आया था। उसका उद्देश्य धर्मपरक होने के कारण उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्तों में धार्मिक प्रसंगों को अधिक गुरुता दी है। कहाँ बौद्ध धर्म सबल था, कहाँ निर्बल, इस सम्बन्ध में उसने सविस्तर सामग्री प्रस्तुत की है। उसका कहना है कि पंजाब और बंगाल में बौद्ध धर्म का बोलबाला था। मथुरा में भी उसकी काफी महिमा थी। वहाँ उसने बीस विहार देखे थे। परन्तु मध्यदेश में उसका ह्रास हो रहा था। वहाँ के नगरों में एक-एक, दो-दो से अधिक विहार न थे। कहीं-कहीं तो इनका सर्वथा अभाव था। हिंदू-धर्म का प्रचार वहाँ अधिक था। स्वयं राजा वैष्णव था। हिन्दू और बौद्ध धर्मावलम्बी मिल-जुलकर रहते थे। राजा उदार था और कहीं साम्प्रदायिक झगड़ों अथवा बेईमानी का भाव देखने में नहीं आता था। राजा कभी अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार न करता था।

राजनीतिक

मध्यदेश की राजनीतिक परिस्थिति और शासन-पद्धति के सम्बन्ध में भी फा-ह्यान ने कुछ वृत्तान्त लिखे हैं। उसका कहना है कि शासन उदार और हल्का था। व्यक्तिगत करों का अभाव था। अति शासन कहीं देखने में नहीं आया। गृहस्थों को अपने घरों और कुलों की रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती थी, न उनको मजिस्ट्रेटों के सामने हाजिर होना या नियमों का पालन करना पड़ता था। राजा प्रजा के आने-जाने पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाता था। जहाँ चाहते, वे जा सकते थे, जहाँ चाहते रुक सकते थे। चीनी कानूनों के बनिस्बत भारतीय फौजदारी के कानून सरल और उदार थे। अपराधियों के साथ नरमी का बर्ताव किया जाता था। अपराधों की गुरुता के अनुसार उनपर भारी अथवा हल्के केवल जुर्माने किये जाते थे। प्राण-दण्ड उठा दिया गया था और राजद्रोह के अपराधी तक को केवल दाहिना हाथ काट

लेने का दण्ड दिया जाता था। शारीरिक यातनाएँ नहीं दी जाती थीं। बाजारों में कौड़ियाँ चलती थीं। देश सुखी था। चोरी बटमारी का कहीं नाम न था।

पाटलिपुत्र नगर के सम्बन्ध में भी फा-ह्यान ने कुछ वृत्तान्त लिखे हैं। वहाँ उसने लगभग तीन वर्षों तक निवास किया था और वहाँ के आचार-विचार, रीति-रिवाज देखने के उसे अनेक अवसर मिले थे। वह लिखता है कि पाटलिपुत्र में एक हीनयान और दूसरा महायान का विहार था, जिनमें छ-सात सौ के लगभग भिक्षु निवास करते थे। बौद्ध दर्शन में ये भिक्षु इतने निष्णात थे कि भारत के प्रत्येक भाग से लोग इनके ज्ञान और त्याग से प्रभावित होकर इनके दर्शन और ज्ञान के लिये आते थे। इनके पास धर्म के जिज्ञासुओं का ताँता लगा रहता था। अशोक का विशाल राजप्रासाद देखकर फा-ह्यान दंग रह गया। वह लिखता है कि यह राजप्रासाद अमानुषी और दैवी शक्तियों द्वारा प्रस्तुत माना जाता था। मगध के निवासी संपन्न और समृद्ध थे और धर्म और दान कृत्यों में वे एक दूसरे की स्पर्धा करते थे। प्रत्येक वर्ष दूसरे मास की अष्टमी को वे बुद्ध और बोधिसत्वों की अलंकृत मूर्तियों का जुलूस निकालते थे। मूर्तियाँ विविध प्रकार से विभूषित और चित्रित प्रायः बीस रथों पर रखी जाती थीं। पाटलिपुत्र नगर में समृद्ध नागरिकों द्वारा एक चिकित्सालय चलाया जाता था जिसमें निर्धन रोगियों को भोजन और औषधि मुफ्त बाँटी जाती थी। इसके अतिरिक्त समृद्ध वैश्यों के अनेक कुल स्वतन्त्र रूप से औषधियों और दान का वितरण करते थे। यहाँ फा-ह्यान का तात्पर्य संभवतः सूत्रों से था। बड़े-बड़े नगरों और राजमार्गों पर यात्रियों के विश्राम के लिए धर्मशालाएँ बनी थीं।[1]

पाटलिपुत्र

गया, कुशीनगर, कपिलवस्तु और श्रावस्ती के प्राचीन समृद्ध नगर अब श्रीहीन हो गये थे। उनके निवासियों की संख्या अत्यन्त क्षीण हो गयी थी और उनमें विहारों और भिक्षुओं का अत्यन्त अभाव था। इन धर्म के प्राचीन पीठों को इस दरिद्र और जर्जर अवस्था में देखकर उस श्रद्धालु भ्रमक को स्वाभाविक ग्लानि हुई।

फा-ह्यान धर्म-जिज्ञासु था। धर्म की पुस्तकों की संप्राप्ति के लिये ही वह भारत आया था। अधिकतर समय उसका बौद्ध तीर्थों में पर्यटन करते बीता। जहाँ तक उसकी समझ में देश की अवस्था आयी, वहाँ तक उसने लिखा। परन्तु उस प्रकार के श्रद्धालु से भूल होनी स्वाभाविक थी; विशेषकर इस कारण भी कि धर्मेतर-प्रसंगों से वह प्रायः उदासीन था। इसी कारण उसके वृत्तान्त में कुछ स्थलों पर भ्रान्तियाँ हो गयी हैं। इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। सामाजिक वृत्तान्त के प्रसंग में जो उसने लिखा है कि लोग मदिरा नहीं पीते और मांस नहीं खाते थे, वह सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता। मांस और मदिरा दोनों का प्रायः खुला और संभवतः असंयत व्यवहार तत्कालीन जनता में होता था, यह साहित्य से सिद्ध है। तत्कालीन कवि कालिदास के ग्रंथों में इसका विस्तृत हवाला मिलता है।

फा-ह्यान के वृत्तान्त पर टीका

---

१. फो-क्वो-की, बील का अनुवाद, २७, पृ० ५६-५७।

'शाकुन्तल' में माढव्य ब्राह्मण होकर भी शूकर का भुना हुआ मांस खाता है और 'मालविकाग्निमित्र' में इरावती मदात्यय से लड़खड़ाती हुई चलती है। इसी प्रकार 'रघुवंश' में नगर के बाह्योद्यानों में नागरिकों के मधुपान की चर्चा है। इस कारण फा-ह्यान का यह कहना लोग मांस-मदिरा का सेवन नहीं करते थे, सर्वथा ग्रहण नहीं किया जा सकता। स्वयं वह नगर के बाहर चाण्डालों द्वारा मांस-विक्रय की बात कहता है। इसी प्रकार क्रय-विक्रय में सर्वथा कौड़ियों का व्यवहार भी स्वीकार करना कठिन है। यह तो माना जा सकता है कि छोटे-छोटे सौदों के लिए मूल्य कौड़ियों में चुकाया जाता था; परन्तु देश में सिक्कों का अभाव था, यह नहीं माना जा सकता; क्योंकि हम जानते हैं कि गुप्तों ने सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के अनन्त संख्या में जारी किये थे। उनके सोने के सिक्के 'सुवर्ण' और 'दीनार'—तो भारतीय मुद्रा-विज्ञान और कला के प्रतीक हैं। शाश्वत धर्माचरण में लगे रहनेवाले विदेशी भिक्षु से यह भ्रम हो जाना स्वाभाविक ही है। धर्मेतर विषयों से तो उसकी इतनी उदासीनता थी कि उसने तत्कालीन राजा का नाम तक कहीं नहीं दिया है।

इसके विरुद्ध कुछ स्थलों पर इस चीनी यात्री के कुछ वक्तव्य अन्य प्रमाणों से सर्वथा मिल जाते हैं। उदाहरणतः उसका राजा को वैष्णव धर्मानुयायी लिखना सर्वथा सही है। हमें गुप्तकालीन अभिलेखों से विदित है कि चन्द्रगुप्त अपने को 'परम भागवत' कहता था। धार्मिक सहिष्णुता के सम्बन्ध में भी उसका वक्तव्य सर्वथा सही है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सान्धि विग्रहिक शाव-वीरसेन और सेनापति आम्रकार्दव क्रमशः शैव और बौद्ध थे; परन्तु उनका वैष्णवेतर होना उनके राजनीतिक उत्थान में बाधा न डाल सका। दण्ड की नम्रता और शासन की निरापदता भी इसी प्रकार प्रमाणित है। शासन का निर्विघ्न चलना और निरापद होना तो स्वयं इस बात से ही सिद्ध है कि इतने लम्बे-चौड़े अपने भ्रमण-क्षेत्र में फा-ह्यान कभी चोरी-डाके का शिकार न हुआ। चाण्डालों की अस्पृश्यता के सम्बन्ध में भी फा-ह्यान का वृत्तान्त यथार्थ है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही भारतीय ख्यातों के वीर नायक हैं। अनुश्रुतियों के अनुसार उनकी सभा में 'नवरत्न' रहते थे। इन नव रत्नों में कुछ तो ऐसे हैं जिनका परस्पर समकालीन होना सर्वथा असंभव है। परन्तु निम्नलिखित व्यक्ति संभवतः उसके समकालीन थे। कालिदास,

नवरत्न

जो भारतीय साहित्य के सबसे बड़े कवि और नाटककार हैं, चन्द्रगुप्त द्वितीय और उसके पुत्र कुमारगुप्त के दरबारी थे। कालिदास को कुछ विद्वानों ने ५७ ई० पू० में भी रखने का प्रयत्न किया है; परन्तु इस निष्कर्ष में अलंघनीय त्रुटि है। 'अमरकोश' के प्रसिद्ध कोषकार और भारतीय आयुर्वेद के स्मरणीय चिकित्सक धन्वन्तरि भी संभवतः चन्द्रगुप्त के समकालीन थे। 'मुद्राराक्षस' और 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के रचयिता विशाखदत्त भी तत्कालीन नाटककार ही प्रतीत होते हैं। इनमें से पहले नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके गुरु मंत्री चाणक्य की नीति-कुशलता का चित्र है, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय की शक-संहारक नीति से मिलता है। 'मुद्राराक्षस' के नायक चन्द्रगुप्त के नाम में अपने आश्रय-दाता के नाम की ध्वनि उत्पन्न कर ही यह अद्भुत नाट्यकार संतुष्ट न हो सका, स्वयं उसके

चरित्र की प्रतिष्ठा के अर्थ भी उसने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक नाटक लिखा। 'मुद्राराक्षस' के नान्दी श्लोक में चन्द्रगुप्त द्वारा पृथ्वी के उद्धार की ध्वनि तो है ही, देवी (रानी ध्रुवस्वामिनी) के रूप में शकपति का स्पष्ट संहार 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का विषय है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य नृपति के गुणों के भारतीय आदर्श के सन्निकट आ जाता है। वह वीर, विद्याव्यसनी, कला और कलावन्तों का आश्रयदाता, विजेता, प्रजापालक और धार्मिक था। उसके उदात्त गुणों के कारण ही कुल-नारी ध्रुवदेवी और गुप्त-कुल के गौरव की रक्षा हो सकी। शकों का तो उसने संहार किया। उनसे उसने केवल ध्रुवस्वामिनी की रक्षा ही न की वरन् भारतीय धरा का भी पुनरुद्धार किया।

चन्द्रगुप्त

उदयगिरि में जहाँ उसके शैव मंत्री शाब वीरसेन का अभिलेख [1] है, उसके पास शिलापट्ट पर वराहावतार का एक चित्र खुदा है, जिसमें वराह भगवान हिरणाक्ष से पृथ्वी का उद्धार करते दिखाये गये हैं। शैव प्रसंग में वह चित्र अयुक्तियुक्त है, परन्तु इस संबंध में वह नितांत प्रासंगिक है कि चन्द्रगुप्त ने वराह भगवान की ही भाँति ध्रुवस्वामिनी के साथ-साथ ही शकों (असुरों) से भारतीय धरा की भी रक्षा की। इस प्रसंग की सार्थकता तब और स्पष्ट हो जाती है जब हम यह जानते हैं कि यह लेख तब खोदा गया था जब चन्द्रगुप्त दिग्विजय के लिए निकले थे और यह मोर्चा शकों के विरुद्ध था। चन्द्रगुप्त 'परम भागवत' थे और उनके अनेक विरुद और नाम थे। 'विक्रमादित्य' के अतिरिक्त उनके प्रति 'विक्रमाङ्क', 'नरेन्द्रचन्द्र', 'सिंहविक्रम', 'सिंहचन्द्र' आदि का भी प्रयोग हुआ है। उनके दो नाम देवगुप्त[2] और देवराज[3] भी थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय की दो रानियाँ थीं। पहली जो संभवतः किसी नागराज की कन्या थी, कुबेरनागा थी, दूसरी उसके भाई रामगुप्त की रानी ध्रुवदेवी अथवा ध्रुवस्वामिनी। कुबेरनागा से उत्पन्न उसकी कन्या प्रभावतीगुप्ता का विवाह वाकाटकराज रुद्रसेन द्वितीय से हुआ था। ध्रुवदेवी से चन्द्रगुप्त को दो पुत्र हुए—कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त। इनमें से कुमारगुप्त (प्रथम) 'महेन्द्रादित्य' का विरुद धारण कर गुप्त-साम्राज्य के सिंहासन पर बैठे और उनके भाई गोविन्दगुप्त वैशाली के 'गोप्ता' हुए। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ४१४ ईस्वी में मरे। चन्द्रगुप्त का अन्तिम लेख [4] साँची का ४१२-१३ ई० (गुप्त संवत् ९३) का है और कुमारगुप्त का पहला लेख बिलसड [5] का ४१५ ई० का है।

५. कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य (४१४-५५ ई०)

ध्रुवदेवी का पुत्र कुमारगुप्त 'महेन्द्रादित्य' का विरुद धारण कर सन् ४१४ ई० (गुप्त संवत् ९४) में गुप्त-साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। समुद्रगुप्त का काल प्रताप का, चन्द्रगुप्त का यश और समृद्धि का तथा कुमारगुप्त का पाक्षिक ह्रास का है। कुमारगुप्त के शासनकाल में कला आदि की सर्वाङ्गीण उन्नति पराकाष्ठा को पहुँच गयी। गुप्त

---

१ C. I. I., ३, पृ० ३५, ३६।

२ चम्मक-पत्र-लेख C. I. I., ३, नं० ५५, पृ० २३७, २४०, पंक्ति १५।

३ वही, नं० ५, पृ० ३२, ३३, पंक्ति ७।

४ फ्लीट, C. I. I., ३, नं० ५।

५ वही, नं० १०।

शक्ति और प्रताप का सूर्य भारतीय आकाश की चोटी पर था। अब वह केवल पश्चिमी क्षितिज पर उतर सकता था।

कुमारगुप्त के सिक्कों की बहुलता और उनकी विविधता तथा उसके अभिलेखों के सुविस्तृत विवरण से सिद्ध है कि उसने आमृत्यु गुप्त-साम्राज्य की चूलें मजबूत रखीं। उसके जीवन की संध्या में निस्सन्देह कुछ चोटें पड़ीं; परन्तु उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने उन सबको विमुख कर दिया। कुमारगुप्त का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक और बंगाल से सौराष्ट्र (काठियावाड़) तक फैला हुआ था[1]। उसके संबंधी और सामन्त साम्राज्य के अनेक प्रान्तों पर उसके शासक के रूप में शासन करते थे। बन्धुवर्मा दशपुर (पच्छिमी मालवा में मन्दसोर) का मांडलिक-नृपति था। उत्तरी बंगाल (पौंड्रवर्धन भुक्ति) का शासक चिरातदत्त था। घटोत्कचगुप्त (गुप्तकुल का कोई व्यक्ति) ऐरिकिण प्रदेश (एरण, मध्य प्रान्त के सौगर जिले में) का शासक था, और सम्राट् का अनुज गोविन्दगुप्त तिरभुक्ति (उत्तर बिहार) में वैशाली का शासक था। इतना ही नहीं, संभवतः कुमारगुप्त ने कुछ विजय भी की थी। यह तो स्पष्टतया ज्ञात नहीं कि उसने किस ओर विजय-यात्रा की थी, परन्तु उसके अश्वमेधानुष्ठान से यह प्रमाणित है। कुमारगुप्त के एक प्रकार के सोने के सिक्कों से उसका अश्वमेध करना प्रमाणित है।

अश्वमेध

कुमारगुप्त के अन्तिम दिन निस्सन्देह सुख से न बीते। जीवन के अन्तिम वर्ष उसे पुष्यमित्रों और संभवतः हूणों के आक्रमण झेलने पड़े। हूणों का आक्रमण तो संभवतः कुमारगुप्त के देहावसान के बाद हुआ; परन्तु पुष्यमित्रों ने निस्सन्देह उस सम्राट् के जीवन-काल में ही गुप्त-साम्राज्य पर प्रबल हमला किया। इस आक्रमण का हवाला हमें सैदपुर भीतरीवाले लेख में मिलता है। उससे पता चलता है कि पुष्यमित्रों ने अपना धन और अपनी सेना बहुत बढ़ा ली थी[2] और उन्होंने साम्राज्य के संकट-काल में, जब संभवतः कुमारगुप्त मरणासन्न थे, उसपर छापा मारा। कुमारगुप्त के अभाव में युवराज स्कन्दगुप्त को गुप्त-सेना का नेतृत्व करना पड़ा। बड़ा भीषण युद्ध हुआ जिसमें स्कन्दगुप्त ने अपनी तपस्या से विजय पायी। उसने अपना जीवन साधारण सैनिकों का-सा बना लिया था और उन्हीं की भाँति वह भी युद्ध-क्षेत्र में रूखी जमीन पर सोकर अपनी रातें काट लेता था।[3] इस प्रकार के तप का जीवन बिताकर उसने गुप्त-कुल की विचलित राज्यलक्ष्मी फिर से प्रतिष्ठित कर दी।[4] पुष्यमित्र इस युद्ध में हारे और संभवतः उसी काल कुमारगुप्त की मृत्यु हो गयी; क्योंकि उस स्तंभ-लेख में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि

पुष्यमित्र-युद्ध

---

१ चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथ्वीं प्रशासति॥

२. समुदितबलकोषान्पुष्यमित्रान्—C. I. I., ३, पृ. ५४, ५५।

३. क्षितितल शयनीये येन नीता त्रियामा···, वही।

४. विचलित कुललक्ष्मी स्तंभनायोद्यतेन; और देखिए—क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः—में श्लेषात्मक ध्वनि; पितरिदिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः; वही।

स्कन्दगुप्त ने अपनी विजय का सन्देश 'पिता के परलोकगमन के पश्चात्'[1] अपनी माता को उसी प्रकार सुनाया जिस प्रकार कृष्ण ने शत्रु को मारकर देवकी को सुनाया था।[2] पुष्यमित्र संभवतः अराजक जाति के थे और उनका किसी प्रकार का गणतन्त्र था। संभवतः वे नर्मदा-तीर के निवासी थे।[3] विष्णुपुराण उन्हें नर्मदा के उद्गम के पास मेकल प्रांत में रखता है।[4] स्कन्दगुप्त ने उनकी शक्ति को तोड़ दिया।

कुमारगुप्त भी अपने पूर्वजों की भाँति धर्म के मामलों में सर्वथा सहिष्णु था। अपना विश्वास उसने अपनी प्रजा पर कभी लादने का प्रयत्न नहीं किया। उसके राज्य में भी पूर्ववत् शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैनादि शान्तिपूर्वक बसते थे। वे अपने धर्मकृत्यों में सर्वथा स्वतन्त्र थे। ब्राह्मण-धर्म का बोलबाला था। सूर्य, विष्णु, शिव, कार्तिकेय आदि की साधारणतया पूजा होती थी। स्वयं कुमारगुप्त संभवतः कार्तिकेय का उपासक था। यह उसके कुछ सोने और चाँदी के सिक्कों से जान पड़ता है।[5] बुद्ध और पार्श्व की प्रतिमाओं की भी प्रतिष्ठा होती थी। इस काल की सर्वतोदर्शनीय मूर्तियों में बौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनों धर्मों की मूर्तियाँ अनन्त संख्या में प्राप्त हैं। कुमार गुप्तकालीन अभिलेखों से विदित होता है कि जनता अनेक सत्र चलाती थी और धर्मकार्यों के लिए प्रचुर दान देती थी।

धार्मिक सहिष्णुता

६. स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५ ई०—४६७ ई०)

लगभग ४० वर्षों के लंबे शासन के बाद संभवतः ४५५ ई० में सम्राट् कुमारगुप्त का निधन हुआ। कुमारगुप्त की मृत्यु के समय अभी पुष्यमित्रों के साथ साम्राज्य का युद्ध चल ही रहा था और इसी कारण स्कन्दगुप्त को अपनी विजय का संदेश पिता को नहीं 'सास्रनेत्रा' माता को देना पड़ा।[6] पुष्यमित्रों को हराने के शीघ्र ही बाद स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य अथवा 'क्रमादित्य' विरुद धारण कर 'राजाओं की पादपीठी पर अपना बायाँ

---

१. पितरि दिवमुपेते···, वही।

२. जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥ वही।

३. फ्लीट : Ind. Ant., १८८९, पृ० २२८।

४. ४. २४. १७; Pol. Hist. of Anc. Ind., चतुर्थ सं०, पृ० ४७९। 'पुष्यमित्रांश्च' के स्थान पर दिवेकर का पाठ है—'युद्धचमित्रांश्च'—A B R I., १९१९-२०, पृ० ९९-१०३।

५. Ind. Hist. Quast., १५, नं० १, मार्च १९३९, पृ० ६।

६. पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥ C. I. I., ३, पृ० ५३-५५।

पाँव रखा' (अर्थात् वह सिंहासनारूढ़ हुआ)।[1] स्कन्दगुप्त का साधारण विरुद तो वास्तव में 'क्रमादित्य' परन्तु उसके कुछ चाँदी के सिक्कों पर 'विक्रमादित्य' पाठ भी मिलता है। साधारणतया विद्वान् स्कन्दगुप्त को देवकी पुत्र मानते हैं यद्यपि इस विश्वास का कोई कारण नहीं है। भीतरीवाले लेख में जो माता के प्रति पुष्यमित्रों के संहार का संदेश है, उसमें 'देवकी' नाम का व्यवहार हुआ है—जिस प्रकार शत्रु को मारकर सवाष्पनयना माता देवकी को कृष्ण ने शत्रुहनन के संदेश से परितुष्ट किया, उसी प्रकार स्कन्द ने अपनी अश्रुनयना जननी को वह सुखद संवाद सुनाया।[2] यही उस वक्तव्य का भाव है। इसमें देवकी का नाम कृष्ण की माता के लिए व्यवहृत हुआ है न कि स्कन्दगुप्त की जननी के लिए।

राज्यारोहण

पुष्यमित्रों को स्कन्दगुप्त ने पिता के जीवनकाल में ही जीता था। तब स्कन्दगुप्त अभी युवराज ही था। इस युद्ध के बाद ही वह गद्दी पर बैठा और दुर्मद राजाओं को उसने पराक्रम से दबा दिया। अब भी गुप्त-साम्राज्य की सीमाएँ पूर्ववत् थीं। अब भी बंगाल और सौराष्ट्र के दूरवर्ती छोरों पर गुप्त-सम्राट् शासन करता था। कहौम अभिलेख[3] से विदित होता है कि स्कन्दगुप्त अब भी सैकड़ों राजाओं का अधिराट् (क्षितिपशतपतिः) था। उसके सिक्कों और अभिलेखों से जान पड़ता है कि पिता के राज्य को अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी स्कन्दगुप्त ने खड़ा रखा। उसके जूनागढ़-वाले लेख से विदित है कि किस प्रकार उसने सौराष्ट्र का गोप्ता नियत करने के लिए अनेक संभावित शासकों के गुणो-दोषों पर निरंतर विचार किया था। मालवा का सामन्त-राज्य अब भी उसके मांडलिक राजकुल के अधिकार में था और अब भी उज्जयिनी साम्राज्य की दूसरी राजधानी की भाँति मानी जाती थी।

राज्य-विस्तार

फिर साम्राज्य की चूलें हिल गयी थीं। जिस साम्राज्य को समुद्रगुप्त ने अपने पराक्रम से स्थापित किया था, जिसे अपने वीर्य से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने संवंधित किया था और अपनी मेधा से समृद्ध किया था, उसे कुमारगुप्त सशक्त न रख सके। सुख और ऐश्वर्य, कला और लास्य का जीवन बितानेवाले कुमारगुप्त के हाथ में तलवार की मूठ टिक न सकी। साम्राज्य के छोरों पर शत्रु सयत्न हो उठा और उनको यद्यपि स्कन्दगुप्त ने अपने विक्रम और अध्यवसाय से तोड़ दिया, परन्तु स्वयं वे पतनभिमुख गुप्त-साम्राज्य की जोड़ें न सम्हाल सके। अपने जीवन को अवश्य उन्होंने उस साम्राज्य की रक्षा में उत्सर्ग कर दिया। पुष्यमित्रों

---

१. 'क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः' का अर्थ फ्लीट ने राजाओं को कुचलकर अनुचर बना लेने के अर्थ में किया है। परन्तु इसका अर्थ राज्यारोहण के अर्थ में अधिक उचित जान पड़ता है। डा० त्रिपाठी का अनुवाद सही है—Hist. of Anc. Ind., पृ० २६१।

२. जितमिति परितोषान्मातरं सास्रनेत्राम्
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः॥

३. C. I. I., ३, नं० १५, पृ० ६५, ६८

के बाद ही स्कन्दगुप्त को उस मानवी झंझावात का सामना करना पड़ा जिसने अनेक साम्राज्यों को चकनाचूर कर दिया था। ऊपर बताया जा चुका है कि किस प्रकार चीन की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर दो घुमक्कड़ जातियाँ टकरा गयी थीं और कैसे हूणों ने यूह्-चियों को मध्य-एशिया के शकों पर उखाड़ फेंका था। इन्हीं हूणों की आसुरी शक्ति और सम्पदा इस काल संसार को कुचल रही थी। पश्चिम की ओर बढ़ते हुए हूणों ने नगर-के-नगर जला दिये थे, प्रान्त-के-प्रान्त उजाड़ दिये थे। उनका सरदार अत्तिल एक हाथ में तलवार, दूसरे में आग लिए यूरोप की ओर बढ़ा था और जहाँ-जहाँ उसके चरण पड़े थे, वहाँ-वहाँ के चराचर उसके विध्वंस की कथा कहते थे। अत्तिल ने दक्षिणी और पूर्वी यूरोप को लहूलुहान कर दिया, रोम की रीढ़ तोड़ दी। उनका दूसरा कबीला अनन्त धाराओं में मध्य-एशिया से दक्षिण की ओर भारत की सीमा की ओर बढ़ा। तिब्बत के पास लगभग १४००० फीट ऊँची हिमालय की बर्फीली दीवार संभवतः वे लाँघ गये। पामीरों में वक्षुनद के काँठे में इस समय उनका आधार था। वहीं से उठ-उठकर टिड्डी दल की भाँति वे भारत की उत्तरी सीमा पर वे गिरने लगे। परन्तु मध्य-एशिया से उनके घोड़ों की बागडोर जो भारत की ओर मुड़ी, तो वह स्कन्दगुप्त के सीने से टकराकर रुक गयी। युद्ध-दुर्मद, रक्तपिपासु, बर्बर कबीलों के सामने विशाल गुप्त-साम्राज्य का लौह-दुर्ग था, न हिला। रोमन-साम्राज्य के जिस बर्बरता ने टखने तोड़ दिये थे, वह एक बार यशस्वी तपोनिष्ठ स्कन्द की चोट से थथम गयी। स्कन्दगुप्त की "भुजाओं के हूणों के साथ समर में टकरा जाने से भयंकर आवर्त बन गया, धरा काँप गयी।"[1] उस प्रबल झंझावात को एक बार तो स्कन्दगुप्त ने अपनी शक्ति चट्टानों से रोक दिया, परन्तु उसके निरंतर वेगवान चपेटों को वह भी न सह सका। कुललक्ष्मी एक बार पहले भी विचलित हुई थी जब वह केवल युवराज था और उसने उसे फिर प्रतिष्ठित कर दिया था। परन्तु हूण-आक्रमण का अनवरत स्रोत गुप्त-साम्राज्य की जड़ों में पैठकर उन्हें ढीला कर दिया। उसके जोड़-जोड़ हिल उठे और अन्त में वह समुद्रगुप्त द्वारा उठाई अट्टालिका गिरकर अपनी ही विशालता के खंडहरों में खो गयी। स्कन्दगुप्त स्वयं संभवतः इन्हीं अनेक आक्रमणों में से किसी एक में लड़ता हुआ मारा गया।

हूणों का आक्रमण

सैदपुर भीतरी के स्तंभ-लेख में हूणों के स्कन्दगुप्त द्वारा हराये जाने का वर्णन मिलता है जिससे सिद्ध है कि उसके शासनकाल के अन्त में ही कभी हूणों का यह प्रलयंकर आक्रमण हुआ था। भीतरी स्तंभ-लेख में उन हूणों का वर्णन आया है जिन्हें स्कन्दगुप्त ने हराया था। जूनागढ़ के शिलालेख में भी 'म्लेच्छों' के प्रति संकेत है। यदि जूनागढ़ के लेखवाले 'म्लेच्छ' और भीतरी स्तंभ-लेख के हूण एक ही जाति के हैं तो इस पहले हूण आक्रमण की तिथि निश्चित की जा सकती है। जूनागढ़ का लेख गुप्त-संवत् १३८ अर्थात् (१३८ + ३२० =) ४५८ ई० का है। इस संकेत के अनुसार स्कन्दगुप्त को हूणों को ४५७-५८ ई० के पूर्व ही हरा देना चाहिए। सौराष्ट्र (काठियावाड़) सचमुच ही साम्राज्य का दुर्बल भाग

---

१. हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता भीमावर्तकरस्य···, C. I. I., ३, पृ० ५४, ५५।

था। विदेशियों का वह एक लंबे काल तक अखाड़ा रह चुका था। अनेक विदेशी आक्रमण भी उसी ओर से हुए थे। इसी कारण स्कन्दगुप्त का उस ओर सतर्क दृष्टि रखना आवश्यक और स्वाभाविक ही था। साम्राज्य का सौराष्ट्र रन्ध्र था, दुर्बल विन्दु और स्कन्दगुप्त उसकी रक्षा के अर्थ सतत जागरूक रहता था। जूनागढ़ के शिलालेख में अंकित है कि किस प्रकार वहाँ का गोप्ता (शासक) चुनने में उसने कठिन परिश्रम किया था, किस प्रकार उसके गुण-दोष के विवेचन में उसने दिन-रात एक कर दिये थे। अन्त में पर्णदत्त को नियुक्त करके उसे उस ओर से शान्ति मिली।

सौराष्ट्र

जूनागढ़ के शिलालेख से स्कन्दगुप्त के शासनकाल की एक और घटना का पता चलता है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में उसके सौराष्ट्र-शासक पुष्यगुप्त वैश्य ने पलाशिनी नाम की नदी का स्रोत रोककर गिरनार पर्वत पर एक जलाशय का निर्माण कराया था। अशोक के समय में उस जलाशय से खेतों की सिंचाई के लिए तत्कालीन प्रान्तीय शासक यवन तुषास्प ने नहरें निकलवायी थीं। शक-संवत् ७२ अर्थात् (७२ + ७८ =) १५० ई० में रुद्रदामन नामक शक-क्षत्रप ने उस जलाशय का अत्यन्त धन व्यय कर पुनरुद्धार कराया[१]। इसके बाँध गुप्त-संवत् १३६ (४५६ ई०) में फिर टूट गये। इस समय स्कन्दगुप्त राज्य करता था। तब सौराष्ट्र प्रान्त का गोप्ता पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित था। अनन्त धन व्यय कर उसने भी फिर से इस जलाशय का पुनरुद्धार कराया।[२] इस घटना के स्मारक में चक्रपालित ने गुप्त-संवत् १३८ (४५८ ई०) में चक्रभृत् (विष्णु) का मन्दिर भी बनवा दिया। इस जलाशय का नाम 'सुदर्शन' था।

सुदर्शन ह्रद

स्कन्द स्वयं वैष्णव था; परन्तु उसने भी अपने पूर्वजों की भाँति अन्य धर्मावलंबियों के प्रति सहिष्णुता रखी। उसकी प्रजा अनेक धर्मों की अनुयायिनी थी और इन संप्रदायों के माननेवाले शांतिपूर्वक परस्पर मेल से एक साथ रहते थे। कहौम के अभिलेख[३] से विदित होता है कि मद्र नाम के एक जैन धर्मावलंबी ने जैन तीर्थंकरों की पाँच मूर्तियाँ बनवायीं। इस मद्र के संबंध में उस लेख का वक्तव्य है कि ब्राह्मणों, गुरुओं और भिक्षुओं के प्रति वह बड़ी श्रद्धा रखता था। मन्दिरों में देवताओं के लिए श्रद्धालु उपासक दीपक जलवाने की व्यवस्था करते थे और उसके व्यय के अर्थ 'अक्षय-नीवी' का वे प्रबन्ध करते थे। अक्षय-नीवी उस मूल-धन को कहते हैं जिसके व्याज पर खर्च चलता है, मूल पर हाथ नहीं लगाया जाता। इस प्रकार के एक दान का हवाला हमें संयुक्त प्रांत के बुलन्द शहर जिले में इन्दौर से मिले पत्र-लेख में मिलता है।[४] इसमें लिखा है कि इन्द्रपुर में दो क्षत्रियों द्वारा बनवाये सूर्य-मन्दिर में दीपक जलाने की एक ब्राह्मण ने व्यवस्था की। स्थानिक तेलियों की श्रेणी के पास उसने कुछ धन 'अक्षय-नीवी' के रूप में रखा जिसके व्याज से उस दीपक का व्यय चलनेवाला था।

धार्मिक नीति

---

१ रुद्रदामन् का लेख, Ep. Ind., ८, पृ० ३६-४९।

२ स्कन्दगुप्त का लेख, C. I. I., ३, नं० १४, पृ० ५६-६५।

३ C. I. I., ३, नं० १५, पृ० ६५-६८।

४ वही, नं० १६, पृ० ६८-७२।

चाँदी के सिक्कों के अध्ययन से स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण और निधन की तिथियों पर प्रकाश पड़ता है। उनसे विदित होता है कि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त के शासन के अन्तिम वर्ष क्रमशः ४५५ और ४६७ ई० थे। अतः स्कन्दगुप्त के राज्यारोहण और निधन की तिथियाँ क्रमशः ४५५ ई० और ४६७ ई० हुई। स्कन्दगुप्त ने संभवतः विवाह न किया था और उसका वंश न चला।

चरित्र

स्कन्दगुप्त असाधारण योग्यता का मनुष्य था। युवराज की अवस्था में ही उसे साम्राज्य की बड़ी-बड़ी सेवाएँ करनी पड़ी थीं। यदि वह न होता तो गुप्त-साम्राज्य कुमारगुप्त के राज्य-काल में ही टूक-टूक हो गया होता। उसने उसे सद्यःमरण से बचा लिया। उसको अपने समय में बड़े-बड़े युद्धों में भाग लेना पड़ा। देवताओं की सेना के नायक का नाम उसने पाया था और उसी पौराणिक पौरुष के साथ उसने आर्य सेनाओं का संचालन और अनार्यों का दमन किया। युद्ध-स्थल में वह प्रायः साधारण सैनिक-सा रहता था। अभिलेखों से सिद्ध है कि प्रायः वह कड़ी पृथ्वी पर बिना बिस्तर के सोकर रातें काट लेता था। आरंभ में ही उसने पुष्यमित्रों की समुदित बल कोष का सामना किया। उनके विद्रोह से गुप्तकुललक्ष्मी विचलित हो चली थी; परन्तु उनका दमन कर उसने राज्यलक्ष्मी की फिर से प्रतिष्ठा की। राज्यारोहण के शीघ्र ही बाद उसे बर्बर हूणों का सामना करना पड़ा। रोमक लेखकों ने अत्तिल और उसके हूणों को 'खुदा का कहर' (Flagellum Dei) कहा है, जिन्होंने विशाल रोमक साम्राज्य के तार-तार बिखेर दिये थे। इनके भारतीय आक्रमण को स्कन्दगुप्त ने आरंभ में विफल कर दिया। गुप्त-साम्राज्य की रक्षा में वह सतत जागरूक रहता था और संभवतः उसी की सेवा में हूण-युद्ध में उसके प्राण भी गये। स्कन्दगुप्त नीतिमान था, इसी से उसे सौराष्ट्र की दुर्बलता का ध्यान आया और वहाँ गोप्ता की नियुक्ति के अर्थ उचित पात्र की चिन्ता में दिन-रात एक कर दिये। जूनागढ़वाले उसके लेख से उसकी नीतिदक्षता प्रमाणित है। स्कन्दगुप्त वीर और नीतिविशारद तो था ही, साथ ही वह तपस्वी भी था। उसके त्याग के प्रमाण ऊपर दिए जा चुके हैं। देवताओं की सेना के नायक स्कन्द की भाँति ही उसने भी अपना विवाह न किया। उसके लेख में यथार्थ ही लिखा है—"राजपुत्रों के गुण-दोषों पर विचारकर स्वयं लक्ष्मी ने उसका वरण किया"—विहाय सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मी स्वयं वरयञ्चकार।

७. पुरगुप्त प्रकाशादित्य

स्कन्दगुप्त के पश्चात् ४६७ ई० में उसका सौतेला भाई पुरगुप्त 'प्रकाशादित्य' और 'विक्रम' का विरुद धारण कर गुप्त-सिंहासन पर बैठा। उसके सिक्कों पर 'प्रकाशादित्य', और 'श्री विक्रमः' दोनों खुदे मिलते हैं।[1] पुरगुप्त स्कन्दगुप्त की विमाता अनन्तदेवी का पुत्र था। सैदपुरी भीतरी से जहाँ स्कन्दगुप्त का स्तंभ खड़ा था, वहाँ से एक मुहर भी मिली है।[2] इस मुहर पर गुप्त-वंशावली दी हुई है, परन्तु विस्मय की बात है कि उसमें स्कन्दगुप्त का

१. JASB., पृ. ९१-९४ ; C.C.G.O., भूमिका, पृ. ५१-५४ (एलेन)।
२. वही, १८८९, पृ० ८४-१०५।

नामोल्लेख नहीं है। इससे कुछ विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि संभवतः दोनों भाइयों में शत्रुता थी और गृह-युद्ध के बाद उन्होंने पैतृक साम्राज्य बाँट लिया था जिसमें से पूर्वी भाग पुरगुप्त को और पश्चिमी स्कन्दगुप्त को मिला था। परन्तु इस मत में कोई दम नहीं मालूम होता। अभिलेखों की वंशावलियों में राजाओं के नाम का अभाव भारतीय इतिहास में सर्वथा अनजाना नहीं है। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि उसमें स्कन्दगुप्त का नाम न हो। संभव है दोनों भाइयों में बनती न रही हो और स्कन्दगुप्त की मृत्यु के बाद जब पुरगुप्त राजा हुआ हो तब उसने इस वंशावली में स्कन्दगुप्त का नाम न रखा हो। यदि स्कन्दगुप्त उसका भाई न होकर पिता होता तब तो वंशावली सीधी पड़ती और वैर होने पर भी उसका नाम देना ही होता। परन्तु भाई होने के कारण उसका नाम न देना सन्देह का विशेष कारण न हो सका; क्योंकि वंशानुक्रम ठीक बना रहा और पिता के पुत्र का स्वाभाविक नामोल्लेख संभव हो सका। यदि इस प्रकार इसका समाधान न किया जाय तो यह प्रश्न उचित ही हो सकता है कि स्कन्दगुप्त को राजधानी के समीप और उसके विजयस्तंभ के मूल में ही पाई गयी मुद्रा में अंकित वंशावली में उसका नाम क्यों नहीं आया? परन्तु इस विचार में निस्सन्देह कोई तथ्य नहीं है कि स्कन्दगुप्त और पुरगुप्त ने साम्राज्य को बाँटकर उसके विविध अंशों पर एक ही काल में शासन किया; क्योंकि अन्य प्रमाणों से प्रमाणित है कि स्कन्दगुप्त आमृत्यु सुविस्तृत गुप्त-साम्राज्य पर शासन करता और उसकी अनेक सीमाओं पर लड़ता रहा। गिरनार के उसके लेख से साम्राज्य की पश्चिमी सीमा तक उसका आधिपत्य प्रमाणित है। इसी प्रकार उसके भीतरी-स्तंभ लेख और बुलन्दशहर जिले के इन्दौर से प्राप्त लेख से सिद्ध है कि संयुक्त प्रांत के पश्चिमी और पूर्वी भागों पर भी वह शासन करता रहा था। भीतरी का स्तंभ तो पाटलिपुत्र के बिलकुल पास ही है। पुरगुप्त के शासन के विषय में हमारे ज्ञान नहीं के बराबर हैं परन्तु उसके विक्रमादित्यवाले विरुद से जान पड़ता है कि उसने भी विदेशियों के साथ सफल लोहा लिया था। उसकी मृत्यु की तिथि का पता नहीं चलता।

८. पुरगुप्त के उत्तराधिकारी

पुरगुप्त के बाद साम्राज्य का सूर्य अपराह्न में चला। शक्ति का काफी ह्रास हो चला था। हूणों के निरन्तर आघात से साम्राज्य के जोड़ शिथिल हो चले थे। अब स्कन्दगुप्त से मनस्वी और पराक्रमी व्यक्ति धरा से उठ चुके थे। 'विक्रमादित्य' आदि विरुद अब भी धारण किये जाते थे, परन्तु व्यर्थ। पुरगुप्त के बाद भी सम्राटों की शृंखला में लगभग आधे दर्जन के राजा हुए। उनके नाम थे—नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, भानुगुप्त, विष्णुगुप्त, वैन्यगुप्त, आदि। इनका संक्षिप्त वृत्तान्त नीचे दिया जाता है।

नरसिंहगुप्त

पुरगुप्त के पश्चात् उसके पुत्र नरसिंहगुप्त बलादित्य ने कुछ काल तक गुप्त-साम्राज्य पर शासन किया। वह पुरगुप्त की रानी वत्सदेवी का पुत्र था। बालादित्य नामधारी एक नृपति ने हूणों को भी हराया था। हुएन्-त्सांग का कहना है कि मगध के राजा बालादित्य ने हूणराज मिहिरकुल को परास्त किया और नालन्दा विश्वविद्यालय में ३०० फीट ऊँचा एक विशाल मन्दिर बनवाया था, जो स्वर्णखचित था

और अपने निर्माण-कौशल के लिए विख्यात था। परन्तु यह नरसिंह बालादित्य हूण-विजेता बालादित्य नहीं है। नरसिंहगुप्त बालादित्य कुमारगुप्त बालादित्य कुमारगुप्त द्वितीय का पिता था। कुमारगुप्त की जानी हुई तिथि ४७३ ई० (गुप्त-संवत् १५४) है और इसके पूर्व ही राज कर चुकने के कारण नरसिंहगुप्त मिहिरकुल का समकालीन नहीं हो सकता।

कुमारगुप्त द्वितीय

नरसिंहगुप्त के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय राजा हुआ। उसकी माता का नाम महालक्ष्मी था। सारनाथ से गुप्त-संवत् १५४ अर्थात् ४७३-७४ ई० का एक लेख मिला है[1] जिसमें राजा कुमारगुप्त का उल्लेख है। इस लेख का कुमारगुप्त ही नरसिंहगुप्त का पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय है। इससे प्रमाणित है कि वह ४७३-७४ ई० में मगध पर शासन कर रहा था। मन्दसोर का प्रसिद्ध लेख इसी राजा के शासन-काल का है। इस लेख में मालव-संवत् में ५२९ तारीख दी हुई है। मालव संवत् और विक्रम-संवत् की गणना एक ही तिथि से की जाती है। इस तिथि से ४७२-७३ का बोध होता है। कुमारगुप्त के शासन-काल में रेशम के जुलाहों की श्रेणी ने दशपुर के सूर्य-मन्दिर का पुनरुद्धार कराया। मूल मन्दिर कुमारगुप्त प्रथम के शासन-काल में ४३६-३७ ई० में बना था।[2] इस मन्दसोर के काव्यबद्ध लेख का रचयिता कवि वत्सभट्टी था।

बुधगुप्त

ऊपर के तीन सम्राटों के नाम भीतरी की मुद्रा पर खुदे मिले हैं। इन तीनों के राज्यकाल स्वल्प ही थे। गुप्तवंश का दूसरा राजा कुमारगुप्त के बाद बुधगुप्त हुआ। सारनाथ के एक लेख से विदित होता है कि गुप्त संवत् १५७ अर्थात् ४७६-७७ ई० में यह नृपति राज कर रहा था[3]। इससे यह भी स्पष्ट है कि पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त के शासन-काल का जोड़ कुल ८ वर्ष हुआ। भीतरीवाली मुहर पर खुदे नामवाले गुप्त सम्राटों से बुधगुप्त का क्या संबंध था, यह कहना कठिन है, परन्तु हुएन्-त्वांग के वक्तव्यानुसार उसे कुमारगुप्त के दादा पुरगुप्त का भाई होना चाहिए। हुएन्-त्वांग का कहना है कि बुधगुप्त शक्रादित्य का पुत्र था। महेन्द्रादित्य कुमारगुप्त प्रथम का विरुद था और विरुदों अथवा नामों का पर्याय से बदल जाना साधारण बात थी। चन्द्रगुप्त को शशिगुप्त भी इसी कारण कहते थे। इसलिए संभव है, बुधगुप्त कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र और स्कन्दगुप्त तथा पुरगुप्त का भाई रहा हो। पिता के बाद चार राज्य-कालों के पश्चात् उसका राज्यारोहण आश्चर्यजनक न होना चाहिए; क्योंकि पिछले तीन राजाओं की शासन-अवधि तो कुल ८ साल थी और स्वयं स्कन्दगुप्त ने बारह वर्षों (४५५-६७ ई०) से अधिक राज न किया था। इस प्रकार पिता के २० वर्षों बाद राज करना कुछ आश्चर्य की बात नहीं, विशेषकर जब यह संभव हो कि वह पुरगुप्त का छोटा भाई रहा हो। इस हुएन्-त्वांग के वक्तव्य के संबंध में एक बात यह भी कही जा सकती है कि संभव है, उसने कुमारगुप्त द्वितीय के स्थान में कुमारगुप्त प्रथम का ही विरुद-मात्र

---

१. Aun, Rep. Arch. Surv., १९१४-१५, नं० १५, पृ० १२४।
२. मन्दसोर का प्रस्तर-लेख, C. I. I., ३, नं० १८, पृ० ७९-८८।
३. C. I. I., ३, नं० २१, पृ० १२१-२६।

कह दिया हो। तब बुधगुप्त कुमारगुप्त द्वितीय का पुत्र ठहरेगा। बुधगुप्त का कुमारगुप्त प्रथम और कुमारगुप्त द्वितीय से चाहे जो संबंध भी रहा हो, एक बात तो स्पष्टतया प्रमाणित है कि हूण-आक्रमणों के गुप्त-साम्राज्य को खतरे में डाल देने पर भी गुप्त-नृपति अभी तक उसके दूरवर्ती प्रान्तों पर भी अपना शासन बनाये रहे। प्रान्तों, उनके शासकों और अभिलेखों के वितरण से सिद्ध है कि बुधगुप्त का शासन-विस्तार पूर्ववत् था। उत्तरी बंगाल पर उसके गोप्ता ब्रह्मदत्त और जयदत्त का शासन था, पूर्वी मालवा का शासक उसका मांडलिक नृपति महाराज मातृविष्णु था, और कालिन्दी (यमुना) तथा नर्मदा के बीच की भूमि पर उसके अन्य सामन्त महाराज सुरश्मिचन्द्र का शासन था। बुधगुप्त के अभिलेख दिनाजपुर (बंगाल) जिले के दामोदरपुर[1], बनारस जिले के सारनाथ, और सौगर जिले (मध्य प्रान्त) के एरण[2] नामक स्थान से मिले हैं, जिससे बंगाल और मालवा तथा मध्य भारत तक के प्रांतों पर उसका शासन होना निश्चित है। बिहार इनके अन्तर्गत आ ही जाता है। फिर पाटलिपुत्र उसकी राजधानी होने से भी इस प्रांत का उसके अधीन होना अनिवार्य है। गुजरात और सौराष्ट्र के संबंध में प्रमाणाभाव में अवश्य कुछ कहा नहीं जा सकता। पूर्वेतिहास के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मालवा जिसका रहा है, उसी के ये दोनों प्रांत भी रहे हैं।

बुद्धगुप्त के बाद संभवतः भानुगुप्त गद्दी पर बैठा। इन दोनों का पारस्परिक संबंध हमें ज्ञात नहीं है। भानुगुप्त के शासन-काल में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। हूणों ने गुप्तों से उनकी मालवा की उर्वरा भूमि छीन ली। यह इस प्रमाण से सिद्ध है मातृविष्णु बुधगुप्त का सामन्त

भानुगुप्त

शासक था, परन्तु उसका छोटा भाई धन्यविष्णु हूणराज तोरमाण का मांडलिक था।[3] ५१० ई० (गुप्त संवत् १९१) के एरण-लेख से विदित होता है कि 'अर्जुन के समान पराक्रमी श्री भानुगुप्त के साथ उसका सेनापति गोपराज एरण में आया और शत्रु से लड़कर वीरगति लाभ की।'[4] यह 'प्रसिद्ध युद्ध' जिसमें गोपराज मारा गया संभवतः हूणों के विरुद्ध ही लड़ा गया था। इससे प्रगट है कि मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि से गुप्तों का अधिकार पहले-पहल भानुगुप्त के समय में उठा और वहाँ के स्वामी (कम से कम मालवा के) कुछ काल के लिए हूण हो गये। बुद्धगुप्त के सिक्कों से विदित होता है कि ४९४-९५ ई० (गुप्त-संवत् १७५) उसके जीवन का अन्तिम वर्ष था। इस अन्दाज से भानुगुप्त का शासन-काल लगभग ४९५ ई० से ५१० ई० तक रहा।

गुप्त-साम्राज्य का सूर्य अब धीरे-धीरे डूब चला था। भानुगुप्त के समय में उसके दक्षिणी और पश्चिमी प्रान्त बिखर गये। कुछ सिक्कों और एक मुहर से एकाध और राजाओं के नाम मालूम हुए हैं, परन्तु उनके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। इनमें से कुछ के नाम

---

१. Ep. Ind., १५, पृ० १३४-४१।

२. C. I. I., ३, नं० १९, पृ० ८८-९०।

३. वही, नं० ३६, पृ० १५८-६१।

४. वही, नं० २०, पृ० ९१-९३।

विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य और वैण्यगुप्त द्वादशादित्य हैं। इनमें से पहला नाम नालन्दा से मिली एक मुहर पर भी अंकित है। वहाँ इसे 'कुमार' का पुत्र कहा गया है। संभव है, यह 'कुमार' कुमारगुप्त द्वितीय हो। इन राजाओं का शासन बंगाल, बिहार और संभवतः संयुक्त प्रांत के कुछ पूर्वी भागों तक ही सीमित था। बाद में अवश्य एक और गुप्तकुल मगध तथा मालवा में उठ खड़ा हुआ था। सम्राटोंवाले मूलगुप्त कुल से स्पष्ट करने के लिये इस मागध-मालव कुल को उत्तर गुप्त-काल कहते हैं।

गुप्त-साम्राज्य के पतन के कारण

गुप्त-साम्राज्य के पतन के अनेक कारण थे; परन्तु उनमें से प्रमुख कारण हूणों का आक्रमण था। कुछ काल तक उनके हमले निरन्तर एक के बाद दूसरे होते रहे। उनकी चोटों से साम्राज्य के तार-तार बिखर गये। इसके अतिरिक्त कुमारगुप्त का विलास भी एक कारण था। राज-कार्यों में उसकी रुचि कम हो गयी थी। पुष्यमित्रों ने उसकी शक्ति में विरक्ति देख साम्राज्य पर आक्रमण किया। स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य के साधनों को एकत्र कर उन्हें दबा तो दिया, परन्तु अपनी शक्ति इस तरह नष्ट कर देने से फिर हूणों का सामना करना कठिन हो गया। उत्तर-कालीन राजाओं में स्कन्दगुप्त की भाँति कोई राजा क्रियाशील और पराक्रमी भी नहीं हुआ जो हमलों से साम्राज्य की रक्षा कर सकता। मालवा के हाथ से निकल जाने से साम्राज्य की समृद्धि नष्ट हो गयी। मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र की भूमि बड़ी उर्वरा थी और उनके संपर्क से पश्चिमी देशों से व्यापार साम्राज्य के केन्द्र से होता था। अब वह संबंध भी छिन्न-भिन्न हो गया। समृद्ध देश कभी संस्कृति की मूर्द्धा पर था। समृद्धि से कला का उत्कर्ष हुआ और विलास की मात्रा बढ़ी। शक्ति क्षीण हो चली। राजनीति से न तो राजा को कोई दिलचस्पी रह गयी, न जनता को। सो संस्कृति का समुदय, कला का उत्कर्ष और विलास की मात्रा भी गुप्त-साम्राज्य में पतन के कारण हुए। इनके अतिरिक्त एक कारण और भी था। साम्राज्य का पञ्जर प्रान्तों से बना था और वह मांडलिक-राज्यों का समूह बन गया था। इन प्रान्तों के शासक बहुधा स्थानीय सामन्त राजा थे, जो दुर्बल होने के कारण समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के अधीन हो गये थे। केन्द्रीय शक्ति के क्षीण होते ही उनका बिखर जाना स्वाभाविक ही था। आक्रमणकारियों से उनका मिल जाना भी कुछ अनिवार्य न था, जैसे वे एक अधिपति के अधीन रहे वैसे दूसरे के भी अधीन रह सकते थे। प्रान्तों में परस्पर किसी प्रकार की सहानुभूति न थी। एक के ऊपर आक्रमण का प्रभाव अधिकतर दूसरों पर न पड़ता था। गुप्त-शासन की नम्र दण्डनीति ने संभवतः आन्तरिक अवसरवादी शत्रुओं को भी धृष्ट कर दिया था। इन अनेक कारणों से हिन्दू-काल का सबसे विशाल साम्राज्य टूक-टूक हो गया।

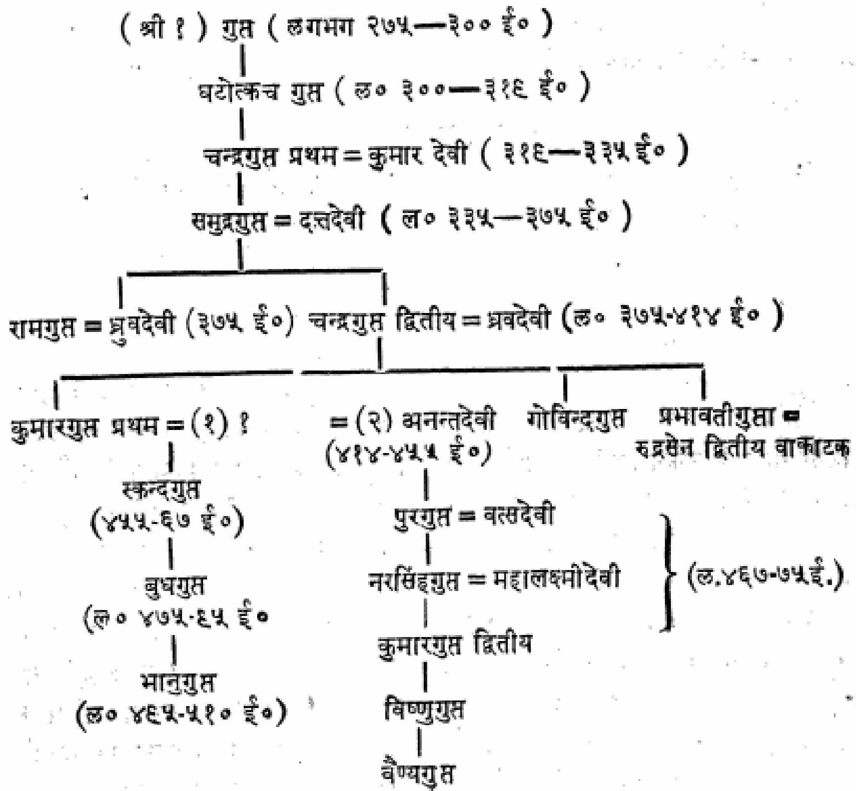
इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. रैप्सन: Cambridge History of India.
२. रायचौधरी: Political History of Ancient India, चतुर्थ संस्करण
३. स्मिथ: Early History of India.
४. त्रिपाठी: History of Ancient India.

५. भण्डारकर : A Peep into the Early History of India.
६. बनर्जी : The Age of the Imperial Guptas.
७. बसक : The History of North-Eastern India.
८ बील : Traslation of Travels of Fa-hien.
९. मुकर्जी : Men and Thought in Ancient India.

परिशिष्ट

गुप्त-सम्राट-कुल



अट्ठारहवाँ परिच्छेद

गुप्तकालीन संस्कृति

गुप्त-काल भारतीय इतिहास में अत्यन्त समृद्धि, सुख और शान्ति का है। विद्वानों ने इसे 'स्वर्ण-युग' की संज्ञा प्रदान की है और इसकी तुलना पेरिक्लियन, आगस्टन और एलिजाबेथन कालों से की है। निस्सन्देह गुप्तों का शासन-काल भारतीय इतिहास में असामान्य है। दीर्घजीवी सम्राटों ने इस युग में शास्त्रों को आदर्श बना उनके आदेशों के अनुरूप आचरण किया। दिग्विजय, अश्वमेधादि का अनुष्ठान कर उन्होंने भारतीय धरा को एक छत्र के नीचे लाने का प्रायः सफल उद्योग किया और एक लंबे काल तक उसका पितावत् शासन किया। विदेशियों को उन्होंने प्रायः देश से बाहर कर दिया और देश में शान्ति, सुव्यवस्था और सुरक्षा स्थापित की। उनके शासन-काल में, भारत में राजनीतिक, साहित्यिक, धार्मिक, कला-संबंधी सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। नीचे उस उन्नति का वृत्तान्त दिया जाता है।

राजनीतिक

ऊपर फाह्यान के भ्रमण-वृत्तान्त का हवाला देते हुए लिखा जा चुका है कि गुप्त-शासन बड़ा सरल था। व्यक्तिगत कर उठा दिया गया था। प्रजा के एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने में किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न थे और न उसे मजिस्ट्रेटों के सामने हाजिर होना पड़ता था। दण्ड-विधान सरल था। प्रायः सारे अपराधों का दण्ड जुर्माना में चुकाया जाता था—बड़े अपराधों का बड़े जुर्मानों में, छोटों का छोटों में। राजद्रोह तक के अपराधी का केवल दाहिना हाथ काट लिया जाता था। प्राण-दण्ड सर्वथा उठा दिया गया था। राज्य की आय अधिकतर खेतों की उपज पर निर्भर थी और लगान सिक्कों अथवा अन्न के रूप में ली जाती थी। सरकारी नौकरों और पदाधिकारियों के वेतन नियत थे, जो उचित समय पर नियम से दिये जाते थे।

फाह्यान

गुप्तकालीन अभिलेखों से भी हमें इस काल की शासन-व्यवस्था का प्रचुर ज्ञान होता है। उत्तर बिहार के बसाढ़ (वैशाली) नामक गाँव से एक मुहर[1] मिली है। उसमें भी अनेक गुप्त-पदाधिकारियों के पदादि प्रगट मिले हैं। राजा साम्राज्य का केन्द्र था और उसके शासन में वह अनेक मन्त्रियों से सहायता लेता था। मन्त्रियों को उनके गुणों को देख-समझकर वह स्वयं नियुक्त करता था, परन्तु कुलागत मंत्रियों का भी अभाव न था। उदयगिरि के शिलालेख से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त का सांधि-विग्रहिक (संधि और युद्ध का मंत्री) शाब-वीरसेन का 'साचिव्य' (मंत्रित्व) 'अन्वयप्राप्त'[2] (वंशागत) था। इसी प्रकार करमदण्डा लेख[3] से विदित है

अभिलेख

---

१ भारतीय पुरातत्त्व विभाग की सालाना रिपोर्ट, १९०३-१९०४, पृ० १०१-२०।

२. अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः—C. I. I., ३, नं० ६, पृ० ३४-३६।

३. EP. Ind. १०, पृ० ७० से आगे।

कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री शिखरस्वामिन का पुत्र पृथ्वीसेन कुमारगुप्त प्रथम का सचिव था। इसी काल में होनेवाले कवि कालिदास ने भी कुलागत मंत्रियों का 'मौल' शब्द में संकेत किया है। इन मंत्रियों में कुछ युद्ध और गृह दोनों प्रकार का उत्तरदायित्व सम्हालते थे, और युद्ध में वे राजा का अनुगमन करते थे। उदयगिरि के लेख से यह सिद्ध है, यद्यपि केवल इस लेख के आधार पर ही यह निष्कर्ष निश्चित रूप से नहीं स्वीकार किया जा सकता। वीरसेन युद्ध-मंत्री था, इसलिए उसका राजा के साथ युद्ध-क्षेत्र में जाना असाधारण नहीं है।

साम्राज्य शासन के अर्थ अनेक 'देशों' और 'भुक्तियों' में विभक्त था, जो प्रांतों की भाँति शासित होते थे। इनके शासकों को 'उपरिक महाराज' अथवा 'गोप्ता' कहते थे और इनकी नियुक्ति राज-परिवार या विशिष्ट कुलों से होती थी। समर्थ अधिकारी ही इस गुरु-भार के वहनार्थ चुने जाते थे। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़वाले शिलालेख से ज्ञात होता है किस प्रकार दिन-रात एक करके गुण-दोषों पर निरंतर विचारकर उस नृपति ने सौराष्ट्र के 'गोप्ता' की नियुक्ति की थी। प्रांतों के भी 'विषय' (जिले) आदि छोटे-छोटे भाग थे, जिनसे शासन-कार्य में आसानी होती थी। प्रान्तीय शासन में योग देने के लिए अधिकारियों के क्रमिक पद थे। बसाढ़ से प्राप्त मुहर पर इन पदाधिकारियों की एक तालिका खुदी है। इसमें 'कुमारामात्य', 'महादण्डनायक', 'विनयस्थिति-स्थापक', 'भटाश्वपति', 'दण्डपाशाधिकरण', 'महाप्रतिहार' आदि परिगणित हैं। इनमें से कुमारामात्य संभवतः कुमार अथवा राजकुल से नियुक्त गोप्ता का सलाहकार सचिव होता था। महादण्डनायक सेनापति की संज्ञा थी। विनयस्थिति-संस्थापक संभवतः प्रांत की शान्ति रखने के लिये नियुक्त पदाधिकारी था। भटाश्वपति पैदल और घुड़सवार-सेना का नायक था। दण्डपाशाधिकरण पुलिस-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी के दफ्तर का नाम था और महाप्रतिहार राजप्रासाद के रक्षक का।

दामोदरपुर से उपलब्ध ताम्र-पत्र से विदित होता है कि जिले का शासक 'विषयपति' कहलाता था और उसकी नियुक्ति गोप्ता करता था। गोप्ता के ही प्रति वह संभवतः उत्तरदायी भी होता था। जिले के सदर मुकाम को 'अधिष्ठान' और उसके दफ्तर को 'अधिकरण' कहते थे। विषयपति भी अपने शासन में एक प्रकार की परिषत् से सहायता पाता था। ये सलाहकार तत्स्थानीय जनता के प्रतिनिधि-से होते थे, जैसे नगर-सेठ, सार्थवाह (मुख्य व्यापारी), प्रथम-कुलिक (मुख्य मिस्त्री) और प्रथम-कायस्थ (मुख्य लेखक)। इन अधिकारियों और सलाहकारों के अतिरिक्त प्रांतों में कुछ अधिकारी और भी थे जिनके कार्य से शासन की सुचारुता में सहायता मिलती थी। 'पुस्तपाल' इन्हीं में से एक प्रकार के अधिकारी थे जिनका काम रेकार्ड रखना था। इनके यहाँ सब प्रकार के खेतों और जमीनों का ब्योरा, मिल्कियत आदि दर्ज रहती थी और इनकी जानकारी तथा स्वीकृति के बिना भूमि-संबंधी कोई लेन-देन नहीं हो सकता था। भूमि की बिक्री के विषय में पहले खरीदार को पुस्तपाल के पास अर्जी देनी पड़ती थी और जब वह तत्संबंधी भूमि की चौहद्दी आदि के विषय में सरकार को अपनी रिपोर्ट दे लेता तभी उसका क्रय-विक्रय संभव था।

स्थानीय शासन की व्यवस्था पूर्ववत् ही थी। 'ग्राम' अब भी स्थानीय शासन का

आधार था। पञ्चामण्डली अथवा पंचायत की सहायता से ग्राम की व्यवस्था 'ग्रामिक' करता था। ग्राम के वृद्धों की मदद से वह वहाँ की शांति और रक्षा का प्रबन्ध करता था।

साहित्यिक

संस्कृत भाषा का बोलबाला था। ब्राह्मण-धर्म और संस्कृति में उसका विशिष्ट स्थान था। जब उनका पुनरुद्धार हुआ तब इस देव-भाषा का समादृत होना स्वाभाविक ही था। वास्तव में तो क्षत्रप-काल में ही इसकी उन्नति आरंभ हो गयी थी और उज्जैन के महाक्षत्रप रुद्रदामन् ने जूनागढ़ में अपना लंबा लेख इसी भाषा में लिखवाया था। १५० ई० का यह लेख संस्कृत-भाषा के गद्य की पहली परिमार्जित शैली उपस्थित करता है। फिर भी इसका गौरव गुप्तों के शासन-काल में विशेष प्रकार से बढ़ा जब उनके शिला-लेखों, स्तंभ लेखों और ताम्र-पत्र-लेखों की भाषा संस्कृत हो गयी। अपने सिक्कों तक पर उन्होंने छन्दयुक्त भाषा में संकेत-लेख खुदवाये। इस काल में बौद्ध दार्शनिकों ने भी अपनी प्राचीन पाली छोड़ इसमें ही ग्रन्थ लिखे। वसुबन्धु और दिङ्नाग इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

साहित्य के क्षेत्र में इस काल में जितनी उन्नति हुई, उतनी न तो कभी पहले हुई थी, न पीछे हुई। बड़े-बड़े मेधावी लेखक, कवि आदि इस युग में हुए जिन्होंने अपने ज्ञान और अनुशीलन से संस्कृत भाषा और साहित्य को समृद्ध किया। इस युग के सम्राट् न केवल साहित्यिकों और मेधावियों के संरक्षक थे, वरन् वे स्वयं भी, मेधावी, विद्या-विषयी और कलाधुरीण थे।

समुद्रगुप्त, वसुबन्धु, दिङ्नाग, हरिषेण

समुद्रगुप्त सदा विद्वानों का साथ करता था, स्वयं वह कवि था और काव्यक्षेत्र में अपनी अनेक स्फुट कविताओं से कविराज संज्ञा से लांछित हुआ था। शास्त्रों में उसकी अकुण्ठिता-बुद्धि थी, वीणा-वादन में वह निष्णात था। उसकी दिग्विजय की महिमा उसके समकालीन कवि हरिषेण ने गायी। यह रक्त-रंजित प्रशस्ति उसी प्रयाग-स्तंभ पर उत्कीर्ण है जिसपर प्रियदर्शी अशोक के शान्ति के संदेश खुदे हैं। हरिषेण की शैली कठिन और किंचित् दुरूह है, परन्तु प्रशस्ति-काव्य में उसकी यह रचना अपना स्थान रखती है। गंभीर बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु समुद्रगुप्त का समकालीन था और संभवतः उसका संरक्षित मित्र भी। प्रचंड मेधावी और बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग भी संभवतः इसी समुद्रगुप्त का समकालीन था। वह कम-से-कम गुप्त-काल की किसी दशाब्दी में तो अवश्य जीवित था। अनुश्रुतियों के अनुसार, उसने कालिदास की कविता की कठिन आलोचना की थी और उसकी प्रखर मेधा ने तत्कालीन अनेक कवियों के हृदय में भय के शूल उठा दिये थे।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन-काल ने तो इस साहित्यिक क्षेत्र में पिता के शासन-काल से भी अधिक ख्याति पायी है। ख्यातियाँ उसे 'नवरत्नों' का संरक्षक कहती हैं। ये नवरत्न कौन थे, आज कहना कठिन है और जो नाम इस संबंध में गिनाये जाते हैं, वे समय की गणना से निश्चय विरोधी हैं। परन्तु कालिदास निस्सन्देह[1] इन नव-रत्नों में सबसे देदीप्यमान रत्न थे। वैसे तो इस कवि की तिथि के संबंध में भी अनेक मत हैं और कुछ

---

१ देखिए इस परिच्छेद के अन्त का परिशिष्ट।

लोगों ने उसे ५७ ई० पू० के किसी विक्रमादित्य की राजसभा का सदस्य माना है, परन्तु अनेक कारणों और प्रमाणों से उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम का समकालीन मानना ही युक्तिसंगत है। इस महाकवि ने समुद्रगुप्त की दक्षिणापथ-विजय,[1] और

चन्द्रगुप्त, कालिदास, विशाखदत्त, अमरसिंह, धन्वन्तरि

चन्द्रगुप्त द्वितीय की उत्तरापथ-विजय[2] को एकत्र कर अपने 'रघुवंश' में रघुदिग्विजय की आदर्श-सीमाएँ निर्धारित कीं। इस महाकवि का रचना-काल चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त प्रथम की शासन-अवधियाँ हैं। वाल्मीकि ने जिस काव्यकला का आरंभ किया था, कालिदास ने उसे मूर्धाभिषिक्त किया। उनकी कृतियाँ कल्पना, भावाभिव्यक्ति, पदलालित्य आदि में प्रतीक हैं—काव्य में भी, नाट्य-कला में भी। उनकी कुल सात कृतियाँ-उपलब्ध हैं, चार काव्यात्मक और तीन नाटक। रघुवंश, कुमार-सम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार काव्य हैं, और अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी तथा मालविकाग्निमित्र नाटक। 'कौन्तलेश्वरदौत्य' नामक एक और रचना के प्रमाण मिलते हैं, परन्तु स्वयं यह कृति उपलब्ध नहीं। कालिदास संभवतः काश्मीर के थे, परन्तु कारणवश उन्हें बाद में मालवा में रहना पड़ा था।

चन्द्रगुप्त द्वितीय और कालिदास के ही समसामयिक संभवतः विशाखदत्त थे। इनके माण्डलिक नृपति होने के प्रमाण मिलते हैं। विशाखदत्त भी उच्च कोटि के नाट्यकार थे। उनका 'मुद्राराक्षस' राजनीतिक वस्तु (प्लाट—)—वितन्वन में संसार के साहित्य में अपना सानी नहीं रखता। हाल में इनके एक और 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक नाटक के प्रति संकेत मिले हैं। प्रसिद्ध कोषकार और 'अमरकोश' के रचयिता अमरसिंह भी चन्द्रगुप्त के ही रत्नों में से जान पड़ते हैं। भारतीय आयुर्वेद का प्रमुख चिकित्सक धन्वन्तरि ने संभवतः इसी काल अपने विज्ञान का प्रसार किया था। उसकी निपुणता इतनी बढ़ गयी थी कि उसका उल्लेख आज की अनुश्रुति में देवताओं की श्रेणी में होने लगा है।

गुप्तों के उत्तरकालीन शासन में भी अनेक मेधावी कवि और वैज्ञानिक विद्वान् फूले-फले। कुमारगुप्त द्वितीय का समकालीन और मन्दसोर-काव्यलेख का रचयिता वत्सभट्टि इस काल का अग्रगण्य कवि था। गणित और ज्योतिष का ज्ञान भी इस युग में खूब बढ़ा।

वत्सभट्टि, आर्यभट्ट, बराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त

आर्यभट्ट (जन्म ४७६ ई०), बराहमिहिर (५०५—५८७ ई०) और ब्रह्मगुप्त (५६८ ई०) ने इन क्षेत्रों में अत्यधिक उन्नति की। आर्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि की जो अनुमानतः माप की, वह आज भी प्रायः सही मानी जाती है। शाकद्वीपीय ब्राह्मण बराहमिहिर ने ज्योतिष के क्षेत्र में प्रचलित, देशी और विदेशी, अनेक सिद्धान्तों का विवेचन किया। ब्रह्मगुप्त ने प्राचीन गणितज्ञों की अद्भुत समालोचना की और अपने ज्ञान की प्रतिष्ठा की।

गुप्त-शासन-युग में ही ब्राह्मण-धर्म के ग्रन्थों का पुनरुद्धार किया गया। पुराणों के

---

१ देखिए प्रयाग-स्तंभ का प्रशस्ति-लेख।

२ देखिए मेहरौली के लौह-स्तंभ का लेख।

इतिहास को गुप्त-काल तक तत्कालीन किया गया। मनुस्मृति भी जोड़-घटाकर आज के परिमाण में लाई गयी। याज्ञवल्क्य, बृहस्पति तथा नारद स्मृतियों में भी समयानुकूल अनेक परिवर्तन किये गये। सूत्रों पर टीकाएँ तथा भाष्य लिखकर नई प्रचलित सामाजिक प्रथाओं का अनुमोदन किया गया।

पुराण-स्मृतियाँ

शिक्षा की शैली के विषय में हमें विशेष ज्ञान नहीं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका फल सुन्दर हुआ। कालिदास और दिङ्नाग, अमरसिंह और धन्वन्तरि, आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त पैदा करनेवाली पाठ्य पद्धति निश्चय स्तुत्य रही होगी। समकालीन कालिदास के ग्रन्थों के प्रमाण और गुप्तकालीन अभिलेखों से विदित होता है कि गुरुओं की 'आचार्य', 'उपाध्याय' आदि संज्ञा थी और विद्वान्-पण्डित 'भट्ट' कहलाते थे। इसी प्रकार छात्रों को 'शिष्य' और 'ब्रह्मचारी' कहते थे। पढ़ने के विषय काफी विस्तृत थे। सामान्य रीति से चौदह विद्याओं का परिगणन होता था, जिनमें चार वेद, छः वेदाङ्ग, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्र थे। इनके अतिरिक्त व्याकरण, महाभारत-रामायणादि भी थे। पाणिनि के व्याकरण का अभिलेखों में 'शालातुरीय' उल्लेख मिलता है, और महाभारत का 'शतसाहस्री-संहिता'। महाभारत के इस दूसरे पर्याय से ज्ञात होता है कि प्राचीन 'जय' अब 'महाभारत' हो गया था और उसमें वर्तमान एक लाख श्लोक निबद्ध हो चुके थे। इन विषयों के अतिरिक्त अन्य विषय भी पढ़ाये जाते होंगे जिनका हवाला हमें अभिलेखों अथवा कालिदास में नहीं मिलता। परन्तु कुछ ही बाद आनेवाले चीन-पर्यटक ई-त्सिंग ने जो नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्यापित विषयों का वर्णन किया है, उनका विस्तार प्रचुर है। नालन्दा विश्वविद्यालय का, जो हुएन्-त्सांग और हर्षवर्धन के समय में इतना विख्यात हो गया था, सूत्रपात इसी काल में हुआ था। संभव है, और पूर्व से वहाँ भिक्षुओं का निवास रहा हो, परन्तु उसकी ख्याति विशेषकर तभी से बढ़ी जब शकादित्य (संभवतः कुमारगुप्त प्रथम) ने वहाँ एक विहार बनवा कर उसे उपहृत किया। तदनन्तर गुप्त-कुलीय पिछले राजाओं ने भी उसमें अपनी रुचि व्यक्त की। बुधगुप्त, तथागतगुप्त, बालादित्य आदि राजाओं ने ग्रामों और धन-धान्य के दान से उसे सर्वथा संपन्न और समृद्ध कर दिया। हर्षवर्द्धन के पूर्व ही उसकी ख्याति इतनी बढ़ गयी थी कि वहाँ देश-विदेश सर्वत्र के विद्यार्थी ज्ञानार्थ उपस्थित होते थे जिनकी दार्शनिक शंकाओं का निष्णात विद्वान् समाधान करते थे।

शिक्षा

नालन्दा

धार्मिक

धार्मिक दृष्टि से गुप्तकाल प्राचीन और वर्तमान की सन्धि-स्थल पर खड़ा है। प्राचीन ब्राह्मण-धर्म के सुविहित आदेशों पर तात्कालिक धर्मशास्त्रियों ने वर्तमान का आरोप किया। हिन्दू-धर्म का आधुनिक रूप बहुत अंश में इसी युग में सँवारा गया। प्राचीन धर्म अनेक प्रकार से देशी और विदेशी विकारों से विकृत हो गया था। उसका गुप्त-सम्राटों ने पुनरुद्धार किया। पुराणों को तो उन्होंने नये सिरे से सम्पादित कराया ही, स्मृतियों के विस्तृत

सम्पादन की जो विशेष आवश्यकता थी, उनको भी नयी आवश्यकताओं के अनुसार उन्होंने नये सिरे से घटाया-बढ़ाया। विदेशी संस्कृतियों के भारतीय संस्कृति से अनेकधा संघर्ष हुए थे। उनके परिणाम से ब्राह्मण-धर्म और भारतीय समाज वंचित न रह सके। अनेक विदेशियों ने ब्राह्मण-धर्म में दीक्षा ली थी, भारतीय संस्कृति को अपनाया था। इससे वे तो प्रभावित हुए ही, उनके संपर्क से भारतीय समाज भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। भारतीय धर्म और समाज में बाहरी प्रभावों को जज्ब कर लेने की अद्भुत क्षमता थी; परन्तु इन प्रभावों की कोई-न-कोई छाप उनपर लगती ही रही और अन्त में हिन्दू-धर्म की नयी काया निर्मित हुई।

हिन्दू-धर्म का विकास

स्वयं गुप्त-सम्राट् प्रायः वैष्णव थे और अपने को 'परम भागवत' कहते थे। विष्णु की वे उपासना करते थे और उसके उन्होंने संभवतः अनेक मन्दिर भी बनवाये। बौद्ध और जैन-धर्मों के विरोध में उन्होंने कभी हठधर्मी न की और उनके प्रति सदा सहिष्णुता का बर्ताव किया; फिर भी उन दोनों का ह्रास होता ही गया। अन्त में जब हिन्दू-धर्म ने अपने अवतारों की शृङ्खला में बुद्ध को भी स्थान दिया तब तो उसकी कोई स्वतंत्र स्थिति ही नहीं रह गयी। बौद्धों के विश्वास-पुराण हिन्दुओं के ही हो गये थे और अब जो बुद्ध भी अवतार मान लिये गये, तो राम-कृष्ण के सामने उनकी स्थिति ही नहीं रह गयी। देश में अनन्त संख्या में हिन्दू-देवताओं की मूर्तियाँ कोरी जाने लगी। देवों, उपदेवों, देवियों, उपदेवियों की मूर्तियों का अनन्त विस्तार हुआ। विशेषकर पूजे जानेवाले देवता विष्णु, शिव, कार्तिकेय और सूर्य थे; देवियाँ लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती आदि थीं। गंगा और यमुना का देव-मूर्तियों के रूप में प्रादुर्भाव इसी काल में हुआ। अनेक प्रकार के प्राचीन यज्ञों के पुनरुद्धार और अनुष्ठान होने लगे। उनमें अश्वमेध, वाजपेय, अग्निष्ठोम, आप्तोर्याम, अतिरात्र पञ्चमहायज्ञ मुख्य थे।

पुण्य कमाने की आशा से हिन्दू इस युग में 'सत्रों' की व्यवस्था करते थे और ब्राह्मणों को सुवर्ण और 'अग्रहार' (गाँव) दान करते थे। मन्दिरों में मूर्तियों की पूजा के अर्थ वे 'अक्षय-नीवी' नाम की एक रकम जमा करते थे जिसके सूद से उनके पास सदा दीप जलता रहता था। बौद्ध और जैन लोग भी बुद्ध और तीर्थंकरों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराते थे। बौद्ध लोग विहारों का निर्माण करते थे और उनके व्यय के अर्थ धन दान करते थे।

सामाजिक स्थिति में भी विशेष सुधार हुआ था। अन्तर्जातीय भोजन और विवाहादि न तो वर्जित ही थे, न वर्जित किये ही जा सकते थे। जातियों के आन्दोलन और संस्कृतियों के संघर्ष में ऐसा होना संभव भी न था। अन्तर्जातीय विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। क्षत्रिय नाग राजाओं और ब्राह्मण वाकाटक राजाओं तथा क्षत्रिय गुप्त-नृपतियों और ब्राह्मण वाकाटक-नरेशों के परस्पर विवाह-संबंध का उल्लेख यथास्थान ऊपर किया जा चुका है। विधवा अथवा विवाहित नारी का पति रहते दूसरे विवाह का प्रमाण भी उपलब्ध है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने शकराज का निधन कर अपने भाई रामगुप्त को मार अथवा उसके जीते ही उसकी पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह किया था, यह विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक से प्रगट है। इस प्रकार के विवाह का बालक अनौरस भी नहीं समझा जाता था, जैसा कि उपर्युक्त विवाह से प्रसूत कुमारगुप्त के राज्यारोहण से प्रमाणित है।

सामाजिक

बौद्ध और जैन-धर्मों का ह्रास हो चला था। जैसा फाह्यान ने लिखा है—पंजाब और बंगाल में तो संभवतः बौद्ध-धर्म पूर्ववत् हरा-भरा था, परन्तु मध्यदेश में उसका ह्रास अधिक हो चला था। राजा तो वैष्णव थे ही, प्रजा भी अधिकतर वैष्णव या शैव थी और पौराणिक धर्म को मानती थी। बौद्ध-धर्म की सरलता नष्ट हो चुकी थी और उसके विहार षड्यन्त्रों के केन्द्र बन गये थे। हिन्दू-धर्म की ही भाँति उसमें भी पौराणिक पद्धति और जन-विश्वास का इतना प्रचार हो गया था कि उस धर्म से उसको पृथक् करना कठिन हो गया था। अब जब बुद्ध हिन्दुओं की अवतार-श्रेणी में ले लिये गये तब तो उसकी स्वतंत्र सत्ता का और भी अभाव हो गया। फिर भी गुप्त राजा बौद्ध और जैन-धर्मों के प्रति उदार और सहिष्णु थे। ऊपर लिखा जा चुका है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेनापति आम्रकार्दव बौद्ध था, जिससे प्रमाणित है कि साम्राज्य के उच्च पद धर्म के अनुसार नहीं वितरित होते थे और बौद्धों को भी उन्हें पाने का अधिकार था। संरक्षकता के अभाव में जैनों की निस्सन्देह बड़ी हानि हुई, फिर भी उनके अनुयायियों की कमी न थी और उनके तीर्थंकरों की हजारों मूर्तियाँ गुप्तकाल में कोरी और प्रतिष्ठित की गयीं।

बौद्ध और जैन धर्म

गुप्त सम्राटों ने भारतीय सिक्कों के मुद्रण में बड़ी उन्नति की। उनके सिक्के सुघराई और कला के प्रतीक हैं। पहले तो उनके सिक्के कुषाण सिक्कों के अनुरूप रोमन आधार पर बने, पर बाद में विदेशी वजन छोड़ उन्होंने भारतीय वजन अपनाया और उनकी आकृति आदि भी सर्वथा भारतीय कर ली। उनके, सोने, चाँदी और ताँबे, तीनों प्रकार के सिक्के मिलते हैं। ताँबे के सिक्के निस्सन्देह अत्यल्प संख्या में मिलते हैं, शायद इसलिए कि हल्के सौदों के लिए बाजार में कौड़ी चलने के कारण उनकी आवश्यकता कम होती थी। चाँदी के सिक्के भी सारे देश में न चलकर केवल मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र आदि प्रान्तों में चलते थे, जहाँ शकों का राज्य रह चुका था। शक राजाओं ने चाँदी के सिक्के चलाये थे। उनका नाश कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उनके ही सिक्कों के अनुरूप, अधिकतर उनके ही सिक्कों को फिर से अपने नाम और आकृति मुद्रित कर चलाया। गुप्तों के स्वर्ण के सिक्के तो बहुत ही सुन्दर हैं। सोने के सिक्के दो प्रकार के थे। एक तो 'दीनार' दूसरे 'सुवर्ण'। दीनार, रोमन और कुषाण आधार पर बने थे, सुवर्ण सर्वथा भारतीय आदर्श के अनुरूप। इनपर एक ओर तो राजा की किसी विशेष मुद्रा में आकृति और विरुद तथा दूसरी ओर लक्ष्मी-कार्त्तिकेय आदि की मूर्ति खुदी रहती। चन्द्रगुप्त प्रथम के एक प्रकार के सिक्कों पर राजा रानी को ब्याह की अँगूठी देता दिखाया गया है। समुद्रगुप्त के कई प्रकार के सिक्कों पर किसी पर वह वीणा-वादन में रत है, किसी पर उसके अश्वमेध के अश्व के यूप के सामने आकृति है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के एक प्रकार के सिक्कों पर धनुष से व्याघ्र मारते हुए उसकी आकृति खुदी है और उसपर 'व्याघ्रपराक्रमः' उनका विरुद है। स्कन्दगुप्त के एक प्रकार के सिक्कों पर सकच्छ मुद्रा में धोती पहने धनुष-बाण धारण किए घुँघराले बालोंवाली उनकी आड़ी आकृति है जिसके चारों ओर लेख है—परमभागवत महाराजाधिराज श्रीस्कन्दगुप्त विक्रमादित्यः। गुप्त सम्राटों के सिक्कों के लेख अधिकतर उपजाति आदि छन्दों के खण्ड हैं, जो भारतीय मुद्रा-शैली में असाधारण है।

सिक्के

कला

गुप्त-युग में ललित-कलाओं का असाधारण विकास हुआ। संगीत और काव्य-कला का ऊपर निर्देश किया जा चुका है। ऊपर के वक्तव्यों से प्रमाणित है कि किस प्रकार गुप्त सम्राट् इन कलाओं की संरक्षा करते थे और किस प्रकार समुद्रगुप्त विशेष रूप से उनमें दिलचस्पी रखता था। इनके अतिरिक्त वास्तु, भास्कर्य, चित्रण आदि कलाओं में भी अभूतपूर्व उन्नति हुई जिसका संक्षिप्त हवाला नीचे दिया जाता है।

वास्तु

वास्तु-कला ने इस काल में स्तुत्य उन्नति की थी। यद्यपि काल और मनुष्य दोनों के प्रहार से तत्कालीन इमारतों का आज अभाव है, फिर भी जो आज खड़ी हैं, उनकी निर्माण-शैली गुप्तकालीन वास्तु-विशारदों के प्रति हममें आदर के भाव भरती है। आज भी उस काल के दो मन्दिरों के अवशेष झाँसी जिले के देवगढ़ में और कानपुर जिले के भीतरगाँव में खड़े हैं। देवगढ़ के मन्दिर की मूर्तियाँ अत्यन्त सजीव और तक्षण-कला में विचक्षण हैं। भीतरगाँव का मन्दिर ईंटों का बना था जिसकी एक-एक ईंट सुन्दर डिजाइनों से खचित थी। इसके दो-दो फुट लम्बे-चौड़े खानें अनेक सजीव और सुन्दर वैष्णव-शैव धर्म की उभरी हुई मूर्तियों से भरे थे। इस मन्दिर की हजारों उत्खचित ईंटें और पकाई मिट्टी के खानें लखनऊ संग्रहालय में रखे हुए हैं। अजन्ता की कुछ गुफाएँ भी इस काल में ही खोदी गयी थीं जिनसे इस युग की निर्माण-कुशलता का पता चलता है।

मूर्तिकला

मूर्ति-कला की जितनी उन्नति गुप्त-युग में हुई, उतनी भारतीय इतिहास के किसी अन्य युग में न हुई। सहस्रों की संख्या में हिन्दू-देवो-देवताओं की प्रतिमाएँ तत्कालीन श्रद्धालुओं की धार्मिक आवश्यकताएँ पूरी करती रहीं। सारे धर्मों की मूर्तियों के कोरनेवाले प्रायः वही तक्षक होते थे, इस कारण प्रायः सभी मूर्तियाँ सुन्दर हैं। सुघड़ता, मुद्रांकन, सजीवता आदि में गुप्तकालीन मूर्तियाँ भारतीय मूर्तियों में अद्वितीय हैं। ग्रीक और कुषाण प्रभावों से भारतीय तक्षक (sculptor) अब सर्वथा उन्मुक्त हो गया था। घुँघराले केश, तुंग नासिका, दृढ़ नुकीला चिबुक उस काल की मूर्तियों की पहचान है। गुप्तकाल की सुन्दर कृतियों में सारनाथ की धर्मचक्र प्रवर्तन-मुद्रा में और मथुरा संग्रहालय की अभयमुद्रा में कोरी बुद्ध-प्रतिमाएँ विस्मय की वस्तुएँ हैं। इस काल की मृण्मूर्तियाँ (terracottas) भी अद्भुत शक्ति और सजीवता की परिचायिका हैं। इनकी हजारों चित्रित आकृतियाँ उपलब्ध हैं। पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों का तो अनन्त विस्तार इस युग में हुआ ही, धातु की भी अनेक प्रतिमाएँ आज उपलब्ध हैं, जो गुप्तकालीन तक्षकों और धातु-शिल्पियों की कला की परिचायिका हैं। कुम्रहार और अन्य स्थलों से प्राप्त बुद्ध और अन्य देवताओं की पुरुषाकार मूर्तियाँ अपनी सजीवता का प्रतीक आप हैं। मेहरौली-लौह-स्तंभ धातु-शिल्प का एक विस्मयजनक आदर्श खड़ा करता है। सदियों तक धूप और वर्षा में खड़ा रहता हुआ भी इसपर कहीं जंग का नाम नहीं।

चित्रण-कला के क्षेत्र में भी गुप्त-काल ने अपना साका चलाया। तत्कालीन कवि

कालिदास ने अपने ग्रंथों में अनेक स्थलों पर भित्ति-चित्रों से विभूषित भवनों और दरीगृहों का उल्लेख किया है। अजन्ता के गुहा-मन्दिरों के अनेक भित्ति-चित्र इसी

चित्र-कला

काल में चित्रित किये गये थे। अजन्ता के चित्र संसार के सर्वसुन्दर चित्रों में माने जाते हैं। ग्वालियर-राज्य की बाग नामक गुहाओं के भित्ति-चित्र भी इसी काल के हैं और दल-सचीवता में वे अपने उदाहरण आप हैं। गुप्तकाल का चित्रकार अपनी रेखा-शक्ति, वर्णचातुर्य, भावोल्लेख, आदि में अपना सानी नहीं रखता। सदियों तक उसकी छेनी और तूलिका का मूर्तिमान विकास भारतवर्ती देशों और द्वीपों में होता रहा है।

परिशिष्ट

कालिदास का समय

कालिदास के काल की दो सीमाएँ सरलता से निर्धारित हो जाती हैं। प्राचीनतम सीमा तो कवि के नाटक 'मालविकाग्निमित्र' से स्थिर हो जाती है, क्योंकि इसमें शुंगवंश के प्रतिष्ठाता सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र और उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा के शासक अग्निमित्र का वर्णन है। पुष्यमित्र का शासन-काल संभवतः ई० पू० १४८ तक समाप्त हो चुका था। इस कारण चूँकि कालिदास ने उसके बेटे अग्निमित्र के रनिवास का वर्णन किया है, वे ई० पू० १४८ से पूर्व नहीं रखे जा सकते। इसी प्रकार उनकी निचली सीमा ६३४ ई० के ऐहोल लेख से सीमित हो जाती है; क्योंकि इस लेख में उनके नाम का उल्लेख है।

दूसरी शती ई० पू० के पक्ष में प्रमाण पुष्ट नहीं हैं। फिर हमें इस बात का भी विचार रखना होगा कि कालिदास महर्षि पतञ्जलि के समकालीन नहीं हो सकते; क्योंकि उनके ग्रंथों में योगसूत्रों का प्रचुर ज्ञान सिद्ध है। कालिदास तक इन सूत्रों की परम्परा-सी बन चुकी थी जिससे वे अवगत थे। इस परम्परा के निर्माण में समय लगा होगा, शताब्दियाँ बीती होंगी। और इधर पतञ्जलि का काल निश्चित हो चुका है। ई० पू० द्वितीय शती में वे पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उन्होंने उस राजा का अश्वमेध कराया था जैसा 'महाभाष्य' के एक उदाहरण—इह पुष्यमित्रं याजयामः—से सिद्ध है। यदि सूत्रकार पतञ्जलि भाष्यकार पतञ्जलि से भिन्न हुए तो कठिनाई और बढ़ जाती है, क्योंकि तब सूत्रकार पतञ्जलि को ई० पू० द्वितीय शतीवाले कालिदास से बाद रखना होगा। इसके अतिरिक्त यह भी है कि ख्याति के अनुसार कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए; परन्तु शुंगों में किसी राजा की उपाधि 'विक्रमादित्य' न थी।

एक सिद्धान्त ५७-५६ ई० पू० के संबंध का है। इसके समर्थक अनेक विद्वान् हैं; परन्तु इसे स्वीकार करने में भी कई कठिनाइयाँ हैं जिनका समाधान संभव नहीं जान पड़ता। यह सिद्धान्त बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता कि ५७-५६ ई० पू० में विक्रम-संवत् विक्रमादित्य नामक किसी राजा द्वारा चलाया गया, जो कालिदास का संरक्षक भी था। परन्तु ई० पू० प्रथम शती में होनेवाले विक्रमादित्य नामक किसी ऐसे राजा को हम नहीं जानते

जो इतना प्रतापी हुआ हो और जो शकों को निकालकर 'शकारि' कहला सके और एक संवत् चला सके। कुछ लोगों ने तो इस बात पर भी संदेह किया है कि विक्रम-संवत् ई० पू० पहली सदी में चलाया गया। वास्तव में इस संवत् का पहले-पहल प्रयोग (जाने हुए आँकड़ों से) इसके चलाये जाने के समय (प्रथम शती ई० पू० का मध्य) से प्रायः हजार वर्ष बाद के एक लेख में हुआ है। प्रथम शती ई० पू० वाले सिद्धान्त के दो प्रबल समर्थक हैं—रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य और प्रोफेसर क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय। रायबहादुर के प्रमाणों[1] का पूर्णतया खंडन श्री के० जी० शंकर[2] ने किया है। प्रो० चट्टोपाध्याय के प्रमाणों का निचोड़ यह है कि प्रथम शती ईस्वी में होनेवाले और कुषाण सम्राट् कनिष्क के समकालीन दार्शनिक और कवि अश्वघोष की कृतियों और कालिदास के वक्तव्यों में काफी समता है जिससे सिद्ध है कि इनमें से किसी एक ने दूसरे की नकल की है। इस संबंध में वे कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर बताते हुए कहते हैं कि चूँकि अश्वघोष ईसा की पहली सदी में हुए, कालिदास ई० पू० प्रथम शती में हुए होंगे। परन्तु इस सिद्धान्त के विरोध में अनेक प्रमाण पर्वत की तरह अचल हैं जिनपर यहाँ विचार किया जा सकता है।

प्रोफेसर साहब का विचार है कि जब कोई दार्शनिक कविता लिखने पर बाध्य होगा तब वह निश्चय किसी कवि की नकल करेगा।[3] परन्तु इसका ही क्या प्रमाण है कि अश्वघोष ने बाध्य होकर ही कविता लिखी? इसका कोई प्रमाण नहीं है। उसने स्वेच्छा से अपनी काव्य-प्रतिभा के प्रतीक 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' विद्वान् समीक्षकों के सामने रख दिये हैं। जो भी समीक्षक उनपर आलोचनात्मक दृष्टि डालेगा, उसे यह मानना होगा कि चाहे यह दार्शनिक कवि शैली की प्रौढ़ता, भाषा के माधुर्य और वस्तु-कार्य के निर्माण में अमुक कवि से उत्कृष्ट न निकले; परन्तु उपर्युक्त दोनों काव्य किसी प्रकार भी निम्नकोटि के न ठहरेंगे और प्रो० चट्टोपाध्याय तो स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि अश्वघोष प्रथम श्रेणी का कवि है।[4] शंकर का उद्धरण देते हुए आप कहते हैं कि अश्वघोष में अनेक पुनरुक्तियाँ हैं जिनसे उसका 'नौसिख' होना जाहिर है।[5] परन्तु स्वयं कालिदास की कृतियों में अनेक पुनरुक्तियाँ हैं, हालाँ कि उनका अपूर्व मेधा का कवि होना सर्वमान्य है। 'कुमारसंभव' के सातवें सर्ग में 'रघुवंश' के सातवें सर्ग के अनेक श्लोक कवि ने जैसे-के-तैसे रख लिये हैं।[6] वास्तव में सभी साहित्यकारों के कुछ न कुछ ऐसे पद और भाव होते हैं जिनके प्रति उनका विशेष झुकाव होता है। उन्हें वे बार-बार प्रयुक्त भी करते हैं। प्रो० चट्टोपाध्याय का विचार है

१ Annals of the Bhandarkar Institute, जुलाई १९२०, पृ० ६३-६८।

२ वही, अगला अंक, पृ० १८९ से आगे।

३ The Date of Kalidasa, पृ० ८३।

४ वही, पृ० १०६।

५ वही, पृ० ८७।

६ रघु०, ५—११, कुमार०, ५६—६२; रघु०, १९, कुमार०, ७३।

कि कालिदास के श्लोक (कुमार० ७, ६२; रघु० ७, ११) का व्यवहार दो बार अश्वघोष ने किया है। वे पूछते हैं--"क्या इससे साफ जाहिर नहीं होता कि चोर कौन है ?" फिर वे कहते हैं कि "आचारवादी भिक्षु (कालिदास के) 'मद्य की सुरभि' को यत्नपूर्वक (मतलब से) भुला देता है।"[१] प्रो० चट्टोपाध्याय ने अर्थवशात् एक ही तर्क को दो विरोधी विचारों के अर्थ प्रयोग किया है। प्रसन्नतापूर्वक वे यहाँ शारदारंजन राय का उद्धरण देते हैं—"इस विचार से प्रबलतया अनुमान यह होता है कि कालिदास ही इन समान विचारों के कर्त्ता हैं। यदि ऐसा न होता तो वे इस प्रकार इन तुल्यात्मक भावों और पदों का प्रदर्शन न करते। चोर कभी चुराई वस्तुओं का प्रदर्शन नहीं करता।"[२] परन्तु प्रश्न यह है कि चोर है कौन—कालिदास या अश्वघोष ? वह जो अपनी चोरी छिपा लेता है या वह जो उसका प्रदर्शन करता है ? यदि अश्वघोष ने कालिदास के पद चुराये होते तो क्या वह उनका बार-बार प्रयोग कर उन्हें प्रदर्शित करते ? और क्या इसी तर्क के सहारे यह नहीं कहा जा सकता कि चोर वास्तव में चुराये हुए पदों का बार-बार प्रयोग करेगा जिससे संसार को विदित हो जाय कि वे उसी के हैं, किसी और के नहीं ? वे उसके आवश्यक परिधान हैं जिन्हें वह प्रायः धारण करता है। बाकी 'मद्य की सुरभि' 'आचारवादी भिक्षु' जान-बूझकर भुला नहीं देता वरन् वह उसकी भावना ही नहीं कर सकता। उधर कालिदास पर अपने युग की छाप है। अपने समय को भूलना किसी कवि के लिए कठिन होता है। कालिदास भी अपनी भावनाओं में समकालीनता को प्रत्यक्ष करते हैं। मद्य-पान उनके समय में एक साधारण बात थी। इस प्रकार वास्तव में अश्वघोष वक्तव्य के अंश को छिपाते नहीं वरन् स्वयं उनके पदों को अपने देश-काल की कमजोरियों के साथ जोड़ उनमें अपनी समसामयिक प्रवृत्तियों को झलका देते हैं।

प्रो० चट्टोपाध्याय यह भी कहते हैं कि "चूँकि 'सौन्दरनन्द' उसकी प्रथम कृति है, इसलिए अश्वघोष ने उस काव्य के अंत में क्षमा-प्रार्थना में कुछ पंक्तियाँ कही हैं। 'बुद्धचरित' लिखते समय कवि का यश प्रतिष्ठित हो चुका था, इसलिए उसे फिर क्षमा-याचना की आवश्यकता न पड़ी।"[३] परन्तु क्षमा-याचना क्या संस्कृत के प्रत्येक कवि के काव्यारंभ में एक आवश्यक परंपरा नहीं बन गयी है ? और क्या यश प्राप्त कर लेने के बाद संस्कृत का कोई कवि इस पद्धति का सर्वथा त्याग कर देता है ? क्या स्वयं कालिदास अपनी पूर्णविकसित प्रज्ञा के प्रतीक 'रघुवंश' के प्रारंभ[४] में उसी पद्धति का प्रयोग नहीं करते ? और क्या नौसिखुए कवि के संबंध में ही यह प्रणाली आवश्यक रही है ? इस विषय पर भी हम कालिदास पर ही निर्भर करेंगे। 'मालविकाग्निमित्र' नाटकों में कालिदास का प्रथम प्रयास है। परन्तु उसके आरंभ में क्या वे समीक्षा के साधारण आँकड़ों को चुनौती नहीं दे देते ? और क्या हम उस मनस्वी कवि भवभूति के दृप्त शब्दों में समालोचकों के प्रति चुनौती नहीं पढ़ते। "तान्प्रति नैषयत्नः। उत्पत्स्यते ममतु कोऽपि समानधर्मा, कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी !"[५] विद्वान् लेखक फिर यह कहते हैं कि अश्वघोष ने अपने काव्यों

---

१ Date of Kalidasa, पृ० ८८। २ वही, पृ० ८४।

३ वही, पृ० ९०। ४ देखिए पृ० १, २, ३। ५ मालतीमाधव; १, ८।

में जो शाक्यों के पूर्वेतिहास और नन्द के जन्म तथा उसके पूर्वजों का उल्लेख किया है, वह अनावश्यक है। वह रघुवंश की नकल में ऐसा करता है।[1] परन्तु इसके उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि किसी ऐतिहासिक काव्य की पूर्वस्थिति मात्र क्या दूसरे कवि को (पहले की नकल में) अपने काव्य में वंशावलि देने पर बाध्य कर देगी ? और क्या चरित के आरंभ में वंशावलि देने की यह पद्धति संस्कृत-साहित्य में अनजानी है ? क्या बाणभट्ट अपने 'हर्षचरित' के आरंभ में उसी पद्धति का अनुसरण नहीं करते ? इसी प्रकार प्रोफेसर चट्टोपाध्याय ने अश्वघोष की एक त्रुटि से भी अपना पक्ष पुष्ट करना चाहा है। वे कहते हैं— "उपमा वृषभ के स्कंध से दी जाती है न कि सिंह के स्कंध से। अश्वघोष ने नन्द को कन्धे सिंह के और नेत्र वृषभ के दे दिये हैं। कालिदास दिलीप के नेत्रों का वर्णन नहीं करते, परन्तु उसके कन्धों की समता वृषभ के कन्धों से करते हैं। अश्वघोष ने (अपनी चोरी में) भिन्नता लाने का प्रयत्न किया, परन्तु उलटे उससे उसने अपनी साहित्यिक चोरी स्पष्ट कर दी।"[2] आगे भी वे कहते हैं[3]—"अथवा हम यह समझ लें कि अश्वघोष की यह 'भिन्नता' उसकी दुर्बल स्मरण-शक्ति से प्रादुर्भूत हुई है !" इस वक्तव्य में पहले तो बिना किसी प्रमाण के अश्वघोष का कालिदास से 'लेना' मान लिया गया है, फिर उस दोषपूर्ण प्रतिज्ञा पर यह कल्पित निष्कर्ष रखा गया है जो दूसरी गलती है। यदि वास्तव में इस तुलनात्मक प्रसंग में कोई त्रुटि है तो उसे कवि का सहज दोष मान लेने में कौन-सी रुकावट है ? और यदि सच पूछें तो सिंह के कन्धे इतने चौड़े होते हैं कि उनकी समता वीर के कन्धों से दी जा सके और वृषभ के नेत्र तो सचमुच ही बहुत बड़े होते हैं जिनका प्रयोग गाँवों की भाषा में अद्यावधि होता है। 'ग्राम्य'-दोष परंपरा से वर्जित है, परन्तु इस परंपरा के बनने में भी समय लगता है। जो 'ग्राम्य' होकर भी अश्वघोष के समय में निन्द्य न था, वही कालिदास के समय तक काव्य-शैली और संस्कृति के विकास के कारण दोष हो गया। कालिदास के समय तक इसकी पारंपरिक स्थिति हो गयी। विद्वान् प्रोफेसर के उस वक्तव्य पर कि 'शायद भिन्नता का कारण अश्वघोष की विस्मृति हो' विचार करने से निस्सन्देह उनकी सारी 'प्रतिज्ञा' ही गिर जाती है। क्या यह सोचना कुछ अजब न होगा कि अश्वघोष के सामने कालिदास की कृतियों की एक हस्तलिपि भी न थी ? आखिर यह तो स्वाभाविक ही है कि जब कोई किसी कवि की कृतियों से उसके कुछ पदों को 'उड़ा' लेता है और उन्हें पचा जाने के लिए उनमें आवश्यक परिवर्तन करता है तब उसके पास कम से कम उस कवि की कृतियों की एक प्रति तो होनी चाहिए। फिर इतनी चोरी कर लेने के बाद तो कम-से-कम उसे उसकी शैली में ऐसा सिद्धहस्त हो जाना चाहिए और उसकी स्मरण-शक्ति उन कृतियों के संबंध में तो ऐसी तीव्र हो जानी चाहिए कि उससे अपने 'मॉडल' के प्रति ऐसी भद्दी भूल न हो जाय जैसी प्रो० चट्टोपाध्याय ने बतायी है।

उनका कहना है कि अश्वघोष द्वारा वर्णित मार-विजय कालिदास के 'कुमारसंभव'

---

१ Date of Kalidasa, पृ० ९२। २ वही, पृ० ९४, नोट।

३ वही, पृ० ९४।

के 'काम-वर्णन' पर अवलंबित है[1]। परन्तु सत्य इसके ठीक विपरीत भी हो सकता है; क्योंकि यह घटना बुद्ध के जीवन में एक विशिष्ट स्थान रखती है। विद्वान् प्रोफेसर की यह युक्ति विशेष कुतूहल पैदा करती है, जब वे कहते हैं कि कालिदास में काम द्वारा रति के चरणों का आलक्तक से रँगा जाना देखकर ही अश्वघोष में सुन्दरी को, अपने गालों को चित्रित करने की कल्पना उठती है। इतना जरूर है, वे कहते हैं, कि उन्हें किसी और से (नन्द से) न रँगवाकर स्वयं रँगती है। यह अश्वघोष का कालिदास के ऊपर एक सुधार है।[2] और इस संबंध में विद्वान् लेखक ने जयदेव का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—स्मरगरलखण्डनं ममशिरसिमण्डनं देहि पदपल्लवमुदारम्।[3] परन्तु यह अश्वघोष का कालिदास के ऊपर सुधार तो नहीं वरन् यह तो कालिदास और जयदेव दोनों में इस कारण मिलता है कि दोनों ही वात्स्यायन के बाद हुए हैं। बाकी शिव और उमा के विवाह की नारद द्वारा, और बुद्ध की महानता[4] की असित द्वारा भविष्यद्वाणी के संबंध में सीधा समाधान यह है कि बुद्ध की कथा में इस घटना का स्थान पिछले साहित्य में प्रचुर महत्त्व का है और यह सीधे बौद्ध कथाओं से ली जा सकी होगी। प्रोफेसर फिर कहते हैं कि "अन्ततः और भी बाद का 'सूत्रालङ्कार' (दिव्यावदान में सुरक्षित उसके तीनों प्रसंगों—पृ० ३५७-६४, ३८२-८४, ४३०-३३ से पता चलता है) प्रथम श्रेणी का एक ग्रन्थ है जिसपर कालिदास का प्रभाव बिलकुल ही नहीं है।"[5] इस स्वीकृति से वास्तव में उनकी सारी युक्तियाँ मिट्टी हो गयीं; क्योंकि यदि अश्वघोष कालिदास के प्रभाव बिना सर्वांगसुन्दर और प्रथम श्रेणी का काव्य प्रस्तुत कर सके तब क्या वही बिना उसके प्रभाव के अपने अपेक्षाकृत असुन्दर काव्यों को स्वयं नहीं रच सकते थे? अपनी आखिरी दलील की दौरान में और संभवतः अपने स्वीकरण से उत्पन्न समस्या से बचने के लिए विद्वान् लेखक एक नोट[6] में कहते हैं कि "तीसरे प्रसंग की संघ के प्रति अशोक के दान की कहानी 'रघुवंश' के पाँचवें सर्ग में वर्णित रघु के विसर्जन की कथा से प्रभावित हुई होगी।" इस वक्तव्य से श्री चट्टोपाध्याय का तर्क और भी अयुक्तियुक्त हो जाता है। श्रद्धालु बौद्ध के लिए उदाहरणार्थ अशोक का त्याग क्या अधिक निकट और 'अशोकावदान' का कथाविस्तार क्या प्रचुर न था? और बौद्ध पण्डित होने के नाते अश्वघोष क्या उनका पण्डित न था? इस प्रकार विद्वान् प्रोफेसर के शब्दों का सहारा लेते हुए यह कहा जा सकता है कि "इस प्रकार की समताएँ स्वाभाविक ही होती हैं जब दो कथा-प्रसंगों में समता होती है, और उन समताओं का आधार निश्चय करके प्रभाव ही नहीं होता।"[7]

उसी लेख में उठाये कुछ प्रश्नों का हवाला दे देना यहाँ श्रेयस्कर होगा। ऐतिहासिकों के समान दोष से श्री चट्टोपाध्याय भी मुक्त न रह सके। उन्हीं के भाँति वे भी कहते हैं कि खारवेल ने पुष्यमित्र के साम्राज्य में बड़ा उपद्रव मचा रखा था।[8] खारवेल के लेख में 'बहसति मित्र'

---

१ वही, पृ० ९७।
२ वही, नोट।
३ वही।
४ वही, पृ० १००।
५ वही, पृ० १०६।
६ वही।
७ वही, पृ० ९२।
८ वही, पृ० ११७।

का नाम आया है और चूँकि पहले केवल इस दूसरे राजा के नाम के सिक्के मिले थे 'बहसति' (बृहस्पति) को 'पुष्य' मानकर बहसतिमित्र को पुष्यमित्र मान लिया गया था। परन्तु अब चूँकि पुष्यमित्र के नाम के सिक्के भी उपलब्ध हो गये हैं, इसलिए अब भी इस राजा को खारवेल के हाथीगुंफावाले लेखवाला बहसतिमित्र मानना युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि कम-से-कम इस प्रमाण के आधार पर तो पुष्यमित्र और खारवेल समकालीन नहीं हो सकते। बाकी रहा चन्द्रगुप्त द्वितीय को उज्जयिनी का राजा[1] समझने का विरोध। तो वह तो आसानी से सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि चन्द्रगुप्त अवन्ति और सौराष्ट्र जीतकर वहाँ का राजा हो गया था। शिलालेखों[2] से प्रमाणित है कि स्कन्दगुप्त तक गुप्तों का आधिपत्य उस प्रान्त पर बना रहा। प्रो० चट्टोपाध्याय ने एक बात और कही है कि "कालिदास ने ज्योतिष-संबंधी अपना ज्ञान विशेष रूप से प्रदर्शित किया है जिससे उस प्रान्त में उस विद्या का विशेष प्रचार ज्ञात होता है और साथ ही उसका वहाँ हाल ही का प्रसार भी।"[3] इसका उत्तर साधारण है। यदि ज्योतिष के वे लाक्षणिक शब्द प्रथम शती ई० पू० में जाने गये तब हमें एक लम्बा काल बीच में इसलिए छोड़ना होगा जिसमें प्रथम प्रचार के बाद वे इतने जनप्रिय हो सकें कि काव्य-प्रसंगों में प्रयुक्त होने पर जनसाधारण द्वारा समझे जा सकें। इस कारण भी कालिदास प्रथम शती ई० पू० के नहीं हो सकते।

कालिदास के ई० पू० प्रथम शती में होने के विरुद्ध कुछ और प्रमाण नीचे दिये जाते हैं।

१. अपने ग्रंथों के लंबे प्रसार में कहीं भी कालिदास शकों का उल्लेख नहीं करते। यदि वे ई०पू० प्रथम शती में हुए होते तो 'गार्गीसंहिता' के युगपुराण[4] वाले स्कंध में वर्णित उस शक-आक्रमण का वे उल्लेख अवश्य करते जो मगध पर ई० पू० ३५ के लगभग हुआ था। सीमाप्रांत की ओर से आनेवाला यह आक्रमण अत्यन्त प्रबल और भयानक था। इसमें इतनी संख्या में मागध पुरुष मारे गये थे कि रक्षा करने और हल चलाने के लिए तक पुरुष न थे। ये काम स्त्रियाँ ही करने लगी थीं और उन्हें अनेक के लिए एक पुरुष पतिरूप में वरण करना पड़ा था। यह आक्रमण अम्लाट[5] के नेतृत्व में हुआ था जो कदाचित् शकराज अय (Azes ई० पू० ५८-ई० पू० ११) का प्रान्तीय शासक था।

२. कालिदास के ग्रन्थों से जो देश में पूर्ण शान्ति और समृद्धि का पता चलता है वह प्रथम शती ई० पू० की राजनीतिक अशान्ति में कभी संभव न था। प्रथम शती ई० पू० में हिन्दू-ग्रीक और शक-राजाओं का पंजाब में शासन था।

---

१ वही, पृ० १९३।

२ जूनागढ़ और मन्दसोर के शिलालेख।

३ Date of Kalidasa, पृ० १६२।

४ JBORS., खण्ड १६, भाग १, पृ० २१, पंक्ति ५१ और पश्चात्; वही, पृ० ४१।

५ वही, पृ० २१, पंक्ति ५८।

३. उस कवि के ग्रंथों में पौराणिक संदर्भों की अनन्त संख्या सुरक्षित है जो पुराणों के संहितारूप में स्थित किये जाने के बाद ही संभव था। और इन पुराणों के अधिकतर संस्करण गुप्तकाल में ही संकलित हुए। ई० पू० प्रथम शती में कालिदास के ग्रन्थोंवाला उनका रूप अभी नहीं बन पाया था।

४. देवी-देवताओं की अनन्त मूर्तियों और उनके मन्दिरों का जो अथक वर्णन कालिदास ने अपने ग्रन्थों में किया है वे मूर्तियाँ प्रथम शती ई० पू० की न होकर गुप्तकालीन ही हो सकती हैं। प्रतिमा-पूजन तो निस्सन्देह बहुत पूर्व काल में ही चल पड़ा था, परन्तु हिन्दू-देवी-देवताओं की प्रतिमाओं का अनन्त संख्या में निर्माण कुषाण काल के पश्चात् ही संभव हो सका। इसका प्रधान कारण यह था कि मूर्तियों की संख्या का यह परिमाण बौद्धों के महायान-संप्रदाय के प्रवर्तन के बाद ही संभव हो सका। महायान एक भक्तिमार्ग था जिसका प्रवर्तन संभवतः नागार्जुन ने कुषाणराज कनिष्क के समय में किया। इसी कारण नागार्जुन के पहले की यानी ईसा की पहली सदी के पहले की हिन्दू-मूर्तियाँ भारत भर में एकाध ही उपलब्ध हैं। गुप्तकाल के पूर्व प्रायः यक्ष-देवताओं की प्रतिमाओं की ही पूजा होती थी। यही कारण इस बात का भी है कि अश्वघोष के काव्यों में देव-मूर्तियों का इतना प्रचुर वर्णन नहीं मिलता जितना कालिदास के ग्रन्थों में। इससे भी कालिदास की अश्वघोष से उत्तर-कालीनता सिद्ध होती है और हमें यह ज्ञात है कि अश्वघोष ई० सन् प्रथम शती का था।

इन विपरीत प्रमाणों के कारण हमें कालिदास को ई० पू० प्रथम शती में रखने का विचार छोड़ देना पड़ेगा। इसी प्रकार श्री होर्न्ले,[१] महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री[२] और डा० देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर[३] का ईसा की छठी सदीवाला विचार भी—जिसके अनुसार कालिदास यशोधर्मन् के समकालीन हो जाते हैं—डा० ए० बी० कीथ[४] और बी० सी० मजुमदार[५] द्वारा पूर्णतया असिद्ध किया जा चुका है और उसे हमें छोड़ ही देना पड़ेगा। होर्न्ले और पाठक द्वारा प्रस्तुत 'कुंकुम' वाला प्रमाण भी सर्वथा खण्डित हो जाता है जब हम 'रघुवंश' के चौथे सर्ग में 'सिन्धु' के स्थान में 'वङ्क्षु'[६] का पाठ स्वीकार कर लेते हैं। हूणों ने ४२५ ई० में वङ्क्षुनद पार कर लिया था और वे उसकी घाटी में बस चुके थे। तभी वे ईरान के राजा बहरामगोर के हाथ पराजित हुए थे और उनके और फारस के बीच की सीमा वङ्क्षु नदी निर्धारित कर दी गयी थी। इससे पहले ३५० ई० में ही हूणों ने फारस पर आक्रमण किया था जब शापूर महान्[७] ने उन्हें भगा दिया था। इस कारण इसकी बिलकुल

---

१ JRAS, १९०९, पृ० १०९ से आगे।

२ JBORS, १९१६, पृ० ३१ आदि।

३ Annals of the Bhandarkar Institute, १९२७, खण्ड ८, पृ० २००-२०४।

४ JRAS, १९०९, पृ० ४३३ आदि।

५ वही, पृ० ७३ आदि। JBORS, १९१६, पृ० ३८९।

६ मेघदूत की भूमिका; JBBRAS, १९, पृ० ३५-४३।

७ Ind. Ant. १९१९, पृ० ६६।

ही आवश्यकता नहीं कि कालिदास को इसलिए छठी सदी में घसीटा जाय जिससे हूणों को भारत पर आक्रमण करने और काश्मीर में बसने का अवकाश मिल जाय। तब वे ठीक वहाँ बसे थे जहाँ कालिदास के रघु और मेहरौली-लौहस्तंभ के 'चन्द्र' ने उन्हें पराजित किया था। और चूँकि मन्दसोर-लेख के कवि वत्सभट्टि[1] ने कालिदास की नकल की है। कालिदास को कम-से-कम ४७२ ई० से पूर्व तो रखना ही होगा क्योंकि यह लेख इसी सन् में खोदा गया था।

कालिदास ने कुमारगुप्त के शासन-काल में होनेवाले हूणों और पुष्यमित्रों के आक्रमणों का उल्लेख नहीं किया है इस कारण श्री मनमोहन चक्रवर्ती[2] की पाँचवीं सदी ईसवी के अन्तवाली तिथि भी छोड़ देनी पड़ेगी। इस प्रकार कालिदास का समय खिंचकर ४०० ई० के आस-पास ही रह जाता है। और चूँकि उस कवि ने अनेक प्रसंगों में वात्स्यायन के भावों का अनुकरण किया है—वे वात्स्यायन के बाद ही रखे जा सकते हैं। वात्स्यायन का काल सामान्यतया तीसरी सदी ईसवी में माना जाता है। इस कारण हमारा कवि उसके बाद का ही ठहरता है, लगभग ४०० ई० का। इस निष्कर्ष से भण्डारकर,[3] कीथ[4] और स्मिथ[5] सहमत हैं।

नीचे कुछ ऐसे प्रमाणों का उल्लेख किया जाता है जो कालिदास की गुप्तकालीनता प्रमाणित करते हैं।

कालिदास की भाषा और भावों तथा गुप्तकाल के अभिलेखों में आश्चर्यजनक समता दिखाई देती है जो केवल प्रासंगिक नहीं हो सकती। कभी-कभी तो ऐसे पदपदान्त मिलते हैं जो सर्वथा समान रूप से दोनों में व्यवहृत हुए हैं। चक्रवर्ती[6] और बसक[7] ने दोनों की समानता भली भाँति दिखला दी है। इसी प्रकार डा० एफ० डब्ल्यू० टामस ने भी कालिदास के कितने ही ऐसे पदों का उल्लेख किया है जो 'गुप्' धातु[8] से बने हैं। और यद्यपि टामस और हमारे मत में थोड़ा अन्तर है फिर भी उनके प्रयास से एक बात तो हमारे पक्ष में सिद्ध हो ही जाती है। वह यह है कि कालिदास को उन पदों के प्रयोग से स्नेह था जो 'गुप्' धातु से बनते हैं। यह गुप्तों की संरक्षकता के कारण भी हो सकता है। कालिदास के ग्रन्थों में निर्दिष्ट गुप्तकालीन सामाजिक, धार्मिक, ललितकलासंबंधी समानताएँ तो अनन्त हैं।[9] यहाँ पर हम इस प्रकार की केवल तीन समानताओं का उल्लेख करेंगे। गुप्तमुद्राओं के ऊपर छपे लेख—समरशत विततविजयो जितरिपुर अजितो दिवं जयति'[10]

---

१ मन्दसोर का लेख, पृ० ३१ और ऋतुसंहार, २, ३।

२ JRAS., १९०३; पृ० १८३ ; वहीं, पृ० १५८।

३ JBBRAS. , २०, पृ० ३९९। ४ संस्कृत-साहित्य का इतिहास, पृ० ८२।

५ E.H.I., चतुर्थ सं०,पृ० ३२१। ६ JRAS,१९०३,पृ० १८३,१९०४,पृ०१५८।

७ Pro. of the 2nd Ori. Con,; पृ० ३२५।

८ JRAS., १९०९, पृ० ७४०।

९ ये समानताएँ मेरी India In Kalidasa में उपस्थित की गयी हैं।

१० समुद्रगुप्त, ध्वजाधारी, सामने की ओर।

'राजाधिराजः पृथिवीविजित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः'[१], 'क्षितिमवजित्य सुचरितैर् दिवं जयति विक्रमादित्यः'[२] आदि कालिदास के 'पुरा सप्तद्वीपो जयति वसुधामप्रतिरथः'[३] से बहुत कुछ मिलते हैं। गुप्त-मुद्राओं के ऊपर खचित मयूरारोही कार्त्तिकेय[४] शायद गुप्त-सम्राटों के कुलदेवता थे। कालिदास ने कुमार और स्कन्ध[५] का कई बार उल्लेख किया है और उनके 'मयूरपृष्ठाश्रयिणागुहेन'[६] में तो मानो गुप्त सिक्कों का कार्त्तिकेयवाला अभिप्राय (motif) से अनूदित हो गया है।

कालिदास के ग्रंथों में देश और समाज में राजनीतिक शान्ति और आर्थिक समृद्धि पूर्णतया दृष्टिगोचर होती है। वैभव का जीवन, ललितकलाओं और साहित्य का व्यसन पूर्णतया संरक्षित शासन में ही संभव है। और इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास का समय विभूति-जनक और समृद्ध शासन का है। यह अवस्था उस काल में गुप्त-शासन की थी।

धार्मिक सहिष्णुता जो गुप्त-सम्राटों के अभिलेखों में मिलती है और चीनी यात्री फाह्यान द्वारा वर्णित है वह कालिदास के ग्रंथों द्वारा भी पूर्णतया समर्थित है। वे पौराणिक ख्यातें और जन-विश्वास जो कालिदास में भरे पड़े हैं गुप्तकाल में ही अधिकतर संकलित हुए थे। हिन्दू-देवप्रतिमाओं का अनन्त विस्तार गुप्तकाल और कालिदास के ग्रंथों में समान वस्तु है। प्राग्गुप्तकाल में यक्षों और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का ही आधिक्य था। कालिदास ने कुषाणकालीन शालभंजिका यक्षी-मूर्तियों से संयुक्त रेलिंगों का उल्लेख किया है।[७]

कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने कालिदासकृत 'कौन्तलेश्वरदौत्य' नामक नाटक का उल्लेख किया है।[८] इसमें कालिदास का विक्रमादित्य द्वारा कुन्तल (दक्षिण महाराष्ट्र) देश के राजा के पास दूत बनाकर भेजा जाना लिखा है। लौटकर कालिदास ने जो कुछ एक श्लोक के द्वारा बताया है वह श्लोक राजशेखर की 'काव्यमीमांसा', भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और 'शृंगारप्रकाश' में भी मिलता है।[९] यह कौन्तलेश्वरदौत्य नामक नाटक आज उपलब्ध

---

१ चन्द्रगुप्त द्वितीय, अश्वमेध मुद्रा, सामने की ओर। २ वही छत्रमुद्रा, सामने की ओर। ३ शाकुन्तल, ७, ३७। ४ कुमारगुप्त, मयूरमुद्रा, पीछे की ओर।

५ रघु०, २-३, ३७-७५; ३-१६, २३, ५५; ५-३१, ६-२, ४; ७—१,१५,६१; ९—२४,२५,२६; १०—८३; १४—२२; कुमार०, ३—२४,२५, २६। ६ रघु०. ६—४।

७ स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥
— रघु०, १६—१७।

८ देखिए 'औचित्यविचार चर्चा'।

९ असकल हसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या मुकुलित नयनत्वाद्व्यक्त कर्णोत्पलानि ।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणाम् त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥

नहीं। 'भरतचरित'[1] के अनुसार 'सेतुबन्ध' नामक प्राकृत काव्य की रचना कुन्तलेश ने की।[2] इसकी 'रामसेतुप्रदीप' नाम की टीका से सिद्ध है कि 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन था जिसके काव्य को विक्रमादित्य ने कालिदास द्वारा शुद्ध कराया। कुन्तल पर तब वाकाटक-कुल का शासन था। उसी वंश का, 'सेतुबन्ध' का रचयिता प्रवरसेन, चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता और उसके दामाद वाकाटकराज रुद्रसेन का पुत्र और कुन्तल का राजा था। इसलिए कुन्तलेश प्रवरसेन, कालिदास और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य तीनों समकालीन हुए।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है हमारा कवि वात्स्यायन के पश्चात् हुआ होगा क्योंकि उसने उसके शृंगारिक वर्णनों का अनुकरण किया है। वात्स्यायन का काल विद्वानों ने ईसा की तीसरी सदी में रखा है। इधर ख्याति परंपरा से कालिदास को किसी विक्रमादित्य का समकालीन होना चाहिए। परन्तु ईसा की तीसरी सदी के बाद और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पहले चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिवा और कोई विक्रमादित्य नहीं। अतः कालिदास को चन्द्रगुप्त के समय लगभग ४०० के होना चाहिये।

कालिदास को ग्रीक ज्योतिष के लाक्षणिक शब्द 'जामित्र'[3] (Diametron) का ज्ञान है। इसलिए इस कवि को गुप्तकाल में ही होना चाहिये जिसे ग्रीक-ज्योतिष-शब्दों के देश में प्रथम परिचित और पूर्णतया प्रचरित होने के अर्थ पूरा समय मिल सके।

हूणों को रघु ने उनके स्वदेश, वक्षुतीर पर, पराजित किया। उस घाटी में हूण लगभग ४२५ ईसवी में बसे थे जब बहरामगोर के विजयी होने पर हूणों की सीमा वक्षु नदी हुई थी। बाख्त्री की विजय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने की थी जैसा चन्द्र के मेहरौली-लौहस्तंभ से सिद्ध है। जान पड़ता है, 'रघुवंश' ४२५ ईसवी के तुरत बाद लगभग ४३० के रचा गया। और 'रघुवंश' कवि की मेधा का पूर्ण विकसित रूप होने से कदाचित् उसकी अन्तिम रचना थी।

नीचे तक्षण (भास्कर्य, Sculpture) संबंधी कुछ प्रमाण रख देना युक्तिसंगत होगा।

कालिदास ने शाकुन्तल में भरत की जलपक्षियों की तरह की गुँथी उँगलियोंवाले हाथ (जालग्रथितांगुलिः करः)[4] का वर्णन किया है। जालग्रथितांगुलिकरोंवाली मानव प्रतिमाएँ नितान्त न्यून हैं और जो एकाध हैं भी वे केवल गुप्तकाल की हैं। लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित मानकुवर का बुद्ध इस पक्ष में उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है।

---

१ जलाशयास्यान्तरगाधमार्गमलब्धरन्ध्रं गिरिचौर्यवृत्या।
लोकेष्वलंकान्तमपूर्वसेतुं बबन्धकीर्त्या सह कुन्तलेशः॥
त्रिवेंद्रम-सीरिज का, सर्ग १।

२ कीर्तिप्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥—हर्षचरित

३ कुमार०, ७, १।　　४ ७, १६।

इसकी उँगलियाँ जालग्रथित हैं। इससे भी स्पष्ट उसी संग्रहालय की अन्य प्रतिमाएँ (नं० बी० १० और दूसरी एक फुट ऊँची अभय मुद्रा में सिंहासन पर बैठी) हैं। और चूँकि साहित्य में केवल कालिदास ऐसी उँगलियों का वर्णन करते हैं और भास्कर्य में केवल गुप्तकाल में ऐसी प्रतिमाएँ कोरी गयीं, दोनों गुप्तकाल के ही हैं।

कालिदास ने चमरधारिणी[1] गंगा और यमुना का उल्लेख किया है। इन नदियों का यह चमरवाही प्रतिमारूप कुषाणकाल के अन्त और गुप्तकाल के आरंभ में प्रगट हुआ। ये मूर्तियाँ मथुरा[2] और लखनऊ[3] के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। समुद्रगुप्त के सिंहप्रतीक सिक्कों पर पीछे की ओर, गंगा की मूर्ति उत्खचित है।[4]

प्राक्कुषाणकालीन मूर्तियों के छत्र पश्चात्काल में प्रतिमा के पृष्ठ-भाग से उठते हुए प्रभामण्डलों (halo) के रूप में बदल गये, शायद रिलीफ की असुविधा के कारण। कुषाणकालीन प्रभामण्डल सादे या कभी-कभी किनारे पर तरंगित रेखाओं के साथ प्रस्तुत होते थे। बाद, गुप्तकाल में, इन प्रभामण्डलों पर विशेष ध्यान देकर उन्हें अनेक 'अभिप्रायों' (motifs) से भर दिया गया। इनमें प्रकाश (किरण) की लहरें विशेष उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला का यह विशेष विकास और प्रभामण्डल की ज्वालामयी स्फुरित रेखाओं ने कालिदास को खास तौर पर आकर्षित किया। इस काल के छायामण्डल या प्रभामण्डल को कालिदास ने एक सांकेतिक नाम—स्फुरत्प्रभामण्डल[5]—दिया जो पहले प्राप्य न था। इस प्रकार के प्रभामण्डलों पर बनी तम को दूर करनेवाली वाणरूपिणी प्रकाश-रश्मियाँ लखनऊ संग्रहालय की गुप्तकालीन अनेक मूर्तियों में देखी जा सकती हैं। नं० बी० १०, जे० १०४, जे० ११७, और बी० ३५६ पर तो मानो कवि का वर्णन सजीव हो उठा है।

कुमारसम्भव में वर्णित[6] शिव की समाधि कुषाणकालीन वीरासनमुद्रा में बैठी बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं में अद्भुत समानता है।

ऊपर दिये प्रमाणों से यह सर्वथा सिद्ध हो जायगा कि कालिदास गुप्तकालीन कवि थे। जो शान्ति उनके काव्यों में दर्शित है वह कालिदास को स्कन्दगुप्त के राज्यकाल और कुमारगुप्त के शासनकाल से विलग कर देती है, क्योंकि तब पुष्यमित्रों और हूणों के आक्रमण आरंभ हो गये थे। इस कारण कालिदास के समय की पिछली अंतिम सीमा ४४९ ईसवी में निर्धारित की जा सकती है, क्योंकि पुष्यमित्रों का युद्ध संभवतः ४५० ईसवी में लड़ा गया था।[7] परन्तु कवि ने यदि कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनों की ओर अस्पष्ट रूप से संकेत किया

---

१ कुमार०, ७, ४२।

२ नं० १५०७ महोली से प्राप्त गंगा की मूर्ति और नं० २६५९ कटरा केशवदेव से प्राप्त यमुना की।

३ यमुना नं० ५५६३। ४ देखिए एलेन, पृ० LXXIV.

५ रघु०, ३, ६० ; ५, ५१ ; १४, १४ ; कुमार०, १, २४। ६ ३,४५-५०।

७ स्मिथ: E.H.I., चतुर्थ संस्करण, पृ० ३२६।

है तो संभव है कि वह स्कन्दगुप्त के जन्म तक जीवित रहा हो। कवि ने काफी लिखा है और यदि मानें कि वह वृद्धावस्था तक जीवित रहा, संभवतः सत्तर साल तक, तो ४४५ ईसवी के लगभग उसकी मृत्यु मानते हुए उसका जन्म हम ३७५ ई० के निकट रख सकते हैं। इस प्रकार यदि यह तर्क सही है, तो कालिदास समुद्रगुप्त के शासनकाल में जन्म लेकर संभवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल के पूरे दौरान और कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य के राज्यकाल के एक बड़े भाग तक जीवित रहे। तब उन्होंने स्कन्दगुप्त का जन्म भी देखा होगा, क्योंकि पुष्यमित्रों को पराजित करते समय स्कन्दगुप्त की आयु कम-से-कम बीस वर्ष की तो अवश्य रही होगी और यदि कालिदास ने अपना कवि-जीवन पचीसवें वर्ष से आरंभ किया तो उनका 'ऋतुसंहार' संभवतः ४०० ईसवी के लगभग लिखा गया होगा और उनका क्रियात्मक काल उस लंबे समय से संबद्ध रहा होगा जिसे इतिहासकार भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहते हैं।

इस परिशिष्ट के लिए साहित्य

उपाध्याय : India In Kalidasa.

उन्नीसवाँ परिच्छेद

गुप्त-साम्राज्य के पश्चात्

गुप्त-साम्राज्य के भग्नावशेष एक बार फिर सचल हो चले। अनेक प्रान्तों ने स्वतन्त्र होकर अपने-अपने राज्य खड़े कर लिये। गुप्तों का साम्राज्य विजितों का एक सामन्त-संघ-सा था। सामन्तों ने अब अपने-अपने ढब अख्तियार किये। (१) वलभी में सेन, (२) मगध में उत्तरकालीन गुप्त, (३) मालवा में हूण, (४) कन्नौज में मौखरी और (५) थानेश्वर में वर्धन शक्तिमान हुए। जब देश के एक छोटे दायरे में अनेक छोटे राष्ट्र होते हैं तब उनमें संघर्ष चलता है, एक दूसरे को निगल जाने के प्रयत्न करता है। गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद का लगभग एक सदी का इतिहास ऊपर बताये राज्यों के बीच कशमकश का इतिहास है। केन्द्रीय शक्ति की दुर्बलता अनेक बार प्रान्तीय शासकों की स्वतन्त्रता का कारण सिद्ध हुई है। गुप्त-साम्राज्य के बाद भी देश उसी सामान्य दशा को प्राप्त हुआ। इन नये खड़े होनेवाले राज्यों में सौराष्ट्र का राज्य पहला था। हम पहले इस राजकुल के इतिहास का उल्लेख करेंगे।

१. वलभी के सेन

पाँचवीं शती ईसवी की अन्तिम दशाब्दियों में सेनापति भट्टारक ने सौराष्ट्र में एक नये राजकुल की नींव डाली। इस राजघराने की राजधानी वलभी थी जिसका नाम भावनगर के पास 'वाला' आज भी सुरक्षित है। इस घराने का एक नाम 'मैत्रक' भी

बताया जाता है।[1] स्मिथ साहब की राय में यह कुल ईरानी था।[2] परन्तु जान पड़ता है कि इस विद्वान् को 'मैत्रक' शब्द के कारण यह ईरान सम्बन्धी भ्रम हो आया। वास्तव में भट्टारक-वंश भारतीय था और इसका निवास काफी अरसे से सौराष्ट्र में था। इस राजकुल के अनेक अभिलेख पाये गये हैं। बहुधा गुप्त-संवत् अथवा गुप्त-वलभी संवत् में ही इन लेखों में तिथियों का उल्लेख हुआ है। परन्तु इनसे तत्कालीन राजनीतिक अथवा सामाजिक इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता, केवल राजाओं के नामों की एक शृंखला हमारे सामने आ जाती है। फिर भी उपलब्ध सामग्री से जैसे-तैसे इस राजकुल के शासन का कुछ ब्योरा दिया जा सकता है। यद्यपि अनेक स्थलों पर उसकी सत्यता सीमित और सन्दिग्ध होगी। उन सभी छोटे राजकुलों का इतिहास अँधेरे में है जिसको समझना कठिन है और लिखना और कठिन। अस्तु।

भट्टारक और उसका प्रारम्भिक उत्तराधिकारी सर्वथा स्वतंत्र न थे। भट्टारक के तीन पुत्रों ने क्रमशः सौराष्ट्र पर राज किया। इनके नाम थे—द्रोण सिंह, ध्रुवसेन प्रथम और धरपट्ट। भट्टारक और धरसेन प्रथम तो केवल 'सेनापति' कहलाते थे, परन्तु भट्टारक के अन्य तीन पुत्रों का विरुद 'महाराज' हुआ। फिर भी वे भी सर्वथा स्वतन्त्र नहीं थे और द्रोणसिंह के सम्बन्ध में तो मलिया ताम्रपत्र में उल्लेख है कि स्वयं सम्राट् ने उसका अभिषेक कराया।[3] जान पड़ता है कुछ काल तक उन्होंने गुप्तों या उनके विध्वंसक हूणों का आधिपत्य माना। बाद में जैसे-जैसे इस कुल की शक्ति बढ़ती गयी इसके राजा वैसे-वैसे स्वतन्त्र होते गये।

ध्रुवसेन द्वितीय

चीनी यात्री हुएन् त्सांग ने हर्ष के समय में जब वलभी का भ्रमण किया तब वहाँ ध्रुवसेन द्वितीय राज कर रहा था। यात्री लिखता है कि "राजा क्षत्रिय, मालवा के पूर्व नृपति शीलादित्य का भतीजा और कान्यकुब्ज के शीलादित्य का जामाता है। उसका नाम ध्रुवभट है। वह अनुदार विचारों का है परन्तु सद्धर्म का उपासक है।" मालवा का शीलादित्य संभवतः वलभी का धर्मादित्य (लगभग ५६५-६१२ ई०) है। मालवा का पश्चिमी भाग अब तक वलभी के राजघराने के शासन में शामिल हो चुका था। हुएन्-त्सांग के लेख से जान पड़ता है कि हर्ष ने ध्रुवसेन द्वितीय पर आक्रमण कर उसे वलभी छोड़ने पर बाध्य किया। भड़ोच के राजा दद्दा द्वितीय की पहले तो उसने शरण ली बाद में उसी की सहायता से अपने पैतृक सिंहासन पर उसने फिर अधिकार कर लिया। फिर जान पड़ता है हर्ष ने भी उससे मित्रता रखनी ही उचित समझी और उसे अपनी पुत्री ब्याह दी। प्रयाग में मित्र राजा की हैसियत से हर्ष के विसर्जन-अधिवेशन में इस वलभी नृपति का भाग लेना हुएन्-त्सांग स्वीकार करता है।[4]

---

१. दे: The Maitrakas of Valabhi, Ind. His. Quar, ४, (१९२८), पृ० ४५३-७४।

२. Oxford History of India, पृ० १६४।

३. C. I. I., ३, नं० ३८, पृ० १६५, १६८।

४. वाटर्स, २, पृ० २४६; बील, २, पृ० २६७।

ध्रुवसेन द्वितीय अथवा ध्रुवभट का पुत्र धरसेन चतुर्थ समर्थ और शक्तिमान नरेश हुआ। इस कुल का सम्भवतः वह सबसे प्रबल राजा था। उसने परमभट्टारक, परमेश्वर, चक्रवर्ती, महाराजाधिराज आदि अनेक उन्नत विरुद धारण किये। संभवतः इसी धरसेन की संरक्षता में कवि भट्टी ने अपना 'भट्टिकाव्य' लिखा जो काव्य के साथ-साथ व्याकरण-ग्रन्थ भी है। धरसेन विजेता था और गुजरात के ऊपर उसने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसने एक दानपत्र ६४९ ईसवी में भरुकच्छ (भड़ोच) के 'विजयस्कन्धावार' से प्रकाशित किया।[1] इससे सिद्ध है कि जिस दद्दा द्वितीय के यहाँ कभी धरसेन के पूर्वज ने शरण ली थी, उसके उत्तराधिकारियों का स्वत्व अब वलभी की सीमाओं में खो चुका था।

धरसेन चतुर्थ

धरसेन चतुर्थ के पश्चात् लगभग एक शताब्दी तक वलभी में उसके कुल के राजा राज करते रहे। अन्तिम राजा शीलादित्य सप्तम था जिसकी तिथि उसके एक लेख से ७६६ ईसवी उपलब्ध हुई है। पिछले नृपतियों के कार्यों का ब्यौरा हमें उपलब्ध नहीं। वलभी भी नालन्दा की भाँति ही शिक्षा और ज्ञान का केन्द्र था। तीन सदियों तक मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र पर राज कर वलभी का यह राजकुल अरबों की शक्ति का शिकार हो गया।

२. मगध के उत्तरकालीन गुप्त

मगध और, बाद में, मालवा में एक गुप्तकुल का कुछ सदियों तक शासन बना रहा। इसका आरम्भ कहाँ से हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु कुछ विद्वानों का यह मत कि संभवतः वे प्राचीन गुप्त-सम्राटों के ही वंशज थे—युक्तिसंगत जान पड़ता है। कुछ ही पहले जहाँ साम्राज्य-भोक्ता उस विशाल गुप्त-कुल ने शासन किया था वहाँ उसी नाम से परन्तु सर्वथा अन्य स्वतन्त्र कुल का राज करना अनैतिहासिक जान पड़ता है। उन पूर्व गुप्तों का सर्वथा उन्मूलन हो जाना इतिहास नहीं जानता। इस कारण इस बात को मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि विशाल गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद उसी कुल का शासन मगध की अत्यन्त संकुचित सीमाओं में चलता रहा। इस कुल के दो राजाओं के लेख गया जिले के अफसाड नामक और शाहाबाद जिले के देव-बरणार्क नामक स्थान से मिले हैं जिनसे इस राजवंश का पता चला है। इनमें से पहला लेख आदित्यसेन[2] का और दूसरा जीवित गुप्त[3] द्वितीय का है।

इस राजवंश का प्रतिष्ठाता कृष्णगुप्त था। उसके उत्तराधिकारी हर्षगुप्त और जीवितगुप्त प्रथम थे। जान पड़ता है कि साम्राज्य-भोक्ता गुप्तों के शासन के अन्त्य

---

१. खेड़ा (खैरा) दान-पत्र—देखिए Ind. Ant., १५, (१८८६), पृ० ३३५-४० ।

२. C. I. I., ३, नं० ४२, पृ० २००-२०८।

३. वही, नं० ४६, पृ० २१३-१८।

वर्षों में, उनके रहते ही इस मागध राजकुल का आरम्भ हो गया था। इस मागध गुप्त-राजकुल और कन्नौज के मौखरी-राजवंश में प्रबल शत्रुता थी और अन्त तक दोनों में मरणान्तक संघर्ष चलता रहा। इन राजकुलों का इतिहास पारस्परिक संघर्ष का इतिहास है। इस संघर्ष के फलस्वरूप ही मागध तथा मालव गुप्त-कुल ने मौखरी-वंश का अन्त किया। फिर स्वयं उसका उन्मूलन भी मौखरियों के संबंधी और थानेश्वर के वर्धन-राजकुल के प्रतिनिधि हर्ष ने किया। अफसाड के लेख से ज्ञात होता है कि ईशानवर्मन् मौखरी को कुमारगुप्त तृतीय ने पराजित किया। हरहा[1] के अभिलेख में इस ईशानवर्मन् की तिथि ६११ दी हुई है। यह तिथि संभवतः मालव संवत् की है। अतः कुमारगुप्त तृतीय का शासनकाल ६११ अर्थात् ५५४ ईसवी के लगभग पड़ा। कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त और जीवितगुप्त प्रथम ने संभवतः ५१० ई० और ५५४ ई० के बीच राज किया। अर्थात् इन तीनों का शासनकाल गुप्तसम्राट् भानुगुप्त की मृत्यु और कुमारगुप्त तृतीय के राज्यारंभ के बीच कभी होना चाहिए। अस्तु।

कृष्णगुप्त, हर्षगुप्त, जीवितगुप्त प्रथम

इन ऊपर बताये तीनों राजाओं के बाद कुमारगुप्त तृतीय मगध की राजगद्दी पर बैठा। उसने अपने समकालीन मौखरि-नृपति ईशानवर्मन् को हराकर उसके राज्य का कुछ भाग स्वायत्त कर लिया। मरने पर इस राजा की अन्त्येष्टि[2] प्रयाग में हुई जो मौखरियों के अधिकार में था। कुमारगुप्त के बाद दामोदरगुप्त राजा हुआ। मौखरियों से युद्ध अब भी चल रहा था। दामोदरगुप्त पराजित हुआ और युद्ध में मारा गया[3]। मौखरिराज ने मगध का एक बड़ा भाग अपने राज्य में मिला लिया। मागध गुप्तों ने मगध छोड़ दिया।

कुमारगुप्त, दामोदरगुप्त

मगध पर मौखरियों का कब्जा हो जाने के बाद दामोदरगुप्त के पुत्र महासेनगुप्त ने मालवा की शरण ली। हर्षचरित के अनुसार उसने वहाँ एक नये राजकुल की नींव डाली। पूर्वी मालवा के माण्डलिक नृपति 'परिव्राजक महाराज' कहलाते थे और अब भी वे गुप्त नृपतियों को ही अपना अधिराट् मानते थे।[4] महासेनगुप्त ने मालवा में अपनी शक्ति दृढ़ करके प्रसर की नीति अपनाई। उसने कामरूप (आसाम) के नृपति सुस्थितवर्मन् के विरुद्ध युद्ध-यात्रा की और अपनी सेना लिये वह लौहित्य[5] (ब्रह्मपुत्र) नद तक बढ़ता चला गया। उसके पुत्र देवगुप्त ने भी पिता की प्रसर-नीति जारी रखी। सुस्थितवर्मन् के पराभव की स्मृति अभी कामरूप में बनी थी और उसे मौखरियों से लोहा लेना था। मौखरियों का थानेश्वर

मालव गुप्तकुल

महासेनगुप्त, देवगुप्त

---

१ Ep. Ind., १४, पृ० ११०, २०।

२ C. I. I. ३, पृ० २०६, नोट ३।

३ C. I. I., ३, पृ० २०३ से आगे।

४ वही, नं० २५, पृ० ११२-१६; ३१, पृ० १६५-३९; Ep. Ind., १५, पृ० १२५।

५ C. I. I., ३, नं० ४२, पृ० २०३, २०६, पं० १०-११।

के राजकुल से वैवाहिक संबंध स्थापित हो जाने के कारण दोनों राजवंशों में मैत्री हो गयी थी। और अब पीछे शत्रु छोड़कर कन्नौज पर आक्रमण करना नीतियुक्त न था। इससे देवगुप्त ने कामरूप के सहज शत्रु बंगाल से मैत्री कर ली। बंगाल के राजा शशांक की मैत्री दोनों रूप में अपेक्षित थी, सुस्थितवर्मन् को रोकने तथा कन्नौज के विरुद्ध सहायता के अर्थ। देवगुप्त ने कन्नौज पर आक्रमण कर मौखरिराज ग्रहवर्मन् को मार डाला तथा उसकी विधवा राज्यश्री (हर्ष की भगिनी) को कारागार में डाल दिया। हर्ष के बड़े भाई और थानेश्वर के राजा राज्यवर्धन ने देवगुप्त से इसका प्रतिशोध लिया। उसने देवगुप्त को परास्त किया और संभवतः युद्ध में उसे मार भी डाला। परन्तु शशांक ने धोखा देकर राज्यवर्धन का बध कर दिया। देवगुप्त के बाद मालवा का गुप्तकुल लुप्त हो गया।

'हर्षचरित' से विदित होता है कि यद्यपि मालवा का गुप्त-राजकुल वहाँ से तो उठ गया, परन्तु एक बार फिर उसकी जड़ें मगध की पैतृक भूमि में जा लगीं। माधवगुप्त, जो हर्ष का बाल्य मित्र था, मगध का कन्नौज की ओर से शासक हुआ। शशांक से बदला लेने का हर्ष ने बीड़ा उठाया था, फिर उसका भय भी उसे कम न था। इसलिए उसने मगध को बंगाल और अपने राज्य के बीच मध्यवर्ती दुर्ग-राज्य की भाँति प्रतिष्ठित किया।

आदित्यसेन

माधवगुप्त का पुत्र आदित्यसेन मगध की गद्दी पर बैठा। आदित्यसेन इस उत्तरकालीन गुप्त-कुल का संभवतः सर्वशक्तिमान नृपति था। हर्ष के जीवन-काल में तो उसने अपनी स्थिति सामन्त की ही बनाये रखी, परन्तु उसकी मृत्यु के बाद ही उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी और सम्राटों के विरुद धारण किये। उसने एक अश्वमेध भी किया जिससे प्रमाणित है कि उसने कुछ भूमि भी विजय की होगी। एक लेख में वह आसमुद्रपृथ्वी का स्वामी कहा गया है। वह कम-से-कम ६७२ ई० तक जीवित था[1]। आदित्यसेन की मृत्यु के बाद गुप्तों की राज्यलक्ष्मी विचलित हो गयी। उसके बाद भी कुछ राजाओं ने इस कुल की पैतृक भूमि पर कुछ काल तक शासन किया, परन्तु उनकी दशा निरन्तर शोचनीय होती गयी। जीवितगुप्त द्वितीय इस कुल का अन्तिम नरेश था। उसके बाद मगध का गौरव धूमिल हो गया। शताब्दियों तक मगध साम्राज्यों के उत्थान-पतन का केन्द्र रहा था और पाटलिपुत्र उसकी राजधानी। परन्तु, अब गुरुता का केन्द्र पाटलिपुत्र से हटकर कन्नौज हो गया।

३. मालवा के हूण

हूणों का पहले यथोचित हवाला दिया जा चुका है। १६५ ई० पू० के लगभग वे उत्तर-पश्चिमी चीन से चले थे और वे जहाँ-जहाँ पहुँचे वहाँ-वहाँ उन्होंने कुहराम मचा दिया। ४५५ ईसवी के लगभग उन्होंने भारत पर भी आक्रमण किया, परन्तु स्कन्दगुप्त की बलिष्ठ भुजाओं ने भारत के सिंहद्वार पर अर्गला का काम किया और कुछ समय तक उनकी बाढ़ रुकी रही। ४८४ ई० में एक बार फिर वे अपनी निवास-भूमि वक्षु की

---

१ वही, नं० ४२, पृ० २०९-२१०।

घाटी से निकले और फारस पर उन्होंने छापा मारा। ईरानियों को हराकर उनके बादशाह फिरोज को उन्होंने तलवार के घाट उतार दिया और अब उनकी राह पर किसी प्रकार का अवरोध न रहा।

अब उन्होंने एक बार फिर भारत की ओर रुख किया और टिड्डी दल की नाईं वे इस देश पर टूटने लगे। ४८४-८५ ई० में उनके अनेक हमले हुए। गुप्त-सेना की हरावल सँभालने और गरुड़ध्वज धारण करनेवाला स्कन्दगुप्त अब न था। गुप्त-साम्राज्य हूणों की अनवरत चोटों से टूक-टूक हो गया। हूणों के ये हमले जिस सरदार के नेतृत्व में हुए उसका नाम तोरमाण था। तोरमाण का उल्लेख कल्हण की 'राजतरंगिणी' और भारतीय अभिलेखों में हुआ है और उसके अनेक सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। तोरमाण ने पश्चिमी भारत से गुप्त-साम्राज्य का शासन उठा दिया। मध्य-भारत के अनेक भाग उसके राज्य में शामिल हो गये। बुद्धगुप्त के बाद जब भानुगुप्त राज कर रहा था तभी संभवतः यह राजनीतिक उथल-पुथल हुई, क्योंकि मातृविष्णु के एक अभिलेख से सिद्ध है कि ४८४-८५ ई० में मालवा अभी बुद्धगुप्त के ही शासन में था और मातृविष्णु उस गुप्त-नृपति का सामन्त-नरेश[1] था। परन्तु शीघ्र ही बाद जब उसका अनुज उस भूभाग पर शासन करने लगा तब वह मालव भूमि निस्सन्देह हूणों के हाथ में चली गयी थी। वहाँ का माण्डलिक नरेश धन्यविष्णु ने एक वराह-मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी और उसके अभिलेख में तोरमाण के राज के प्रथम वर्ष का हवाला दिया।[2] निश्चय अब अधिराट बदल गये थे। एरण-लेख में जो भानुगुप्त के सेनापति गोपराज का एक प्रसिद्ध युद्ध में मारे जाने की बात लिखी है[3] वह युद्ध ५१० ई० में संभवतः इस तोरमाण के विरुद्ध ही लड़ा गया था।

तोरमाण

तोरमाण के बाद उसका पुत्र मिहिरगुल गद्दी पर बैठा। वह पिता से अधिक नृशंस था और क्रूरता के कार्यों से बड़ा प्रसन्न होता था। हुएन्-त्सांग और कल्हण दोनों ने उसकी क्रूरता का वर्णन किया है। चीनी-यात्री लिखता है कि मिहिरगुल बौद्धों के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार करता था। उन्हें वह मरवाता और उनके विहारों तथा स्तूपों को जलवा देता था। उसका एक विचित्र व्यसन हाथियों का वध कराना था। हाथी पहाड़ की चोटी पर चढ़ाकर नीचे गिरा दिये जाते थे। गिरते हुए हाथियों का कातर चिग्घाड़ उसे बड़ा प्रिय लगता था। हुएन्-त्सांग का वक्तव्य है कि उसने मगध के राजा बालादित्य पर आक्रमण किया, पर पराजित होकर बन्दी हो गया। बालादित्य ने उसपर दया करके उसे मुक्त कर दिया। मिहिरगुल तब कश्मीर के दरबार में पहुँचा और वहाँ के राजा ने उसका बड़ा सत्कार किया; परन्तु उस कृतघ्न हूण ने धूर्तता से उसे मारकर उसका राज्य हड़प लिया। परन्तु एक वर्ष से अधिक वह वहाँ राज न कर सका और उसकी शीघ्र मृत्यु हो गयी। किस बालादित्य ने मिहिरगुल को पराजित किया था, यह कहना कठिन है। परन्तु तिथियों की पारस्परिक असंभावना से इतना कहा जा सकता है कि यह बालादित्य मगध

मिहिरगुल

---

१ वही, नं० १९, पृ० ८८-९०। २ वही, नं० ३६, पृ० १५८-६१।
३ वही, नं० २०, पृ० ९१-९३।

का नरसिंह बालादित्य नहीं था। राखालदास बन्धोपाध्याय[1] ने देववर्णार्क[2] और सारनाथ[3] के लेखों के बालादित्य को हूण विजेता माना है; क्योंकि उनमें इस नाम के एक महाराजाधिराज का हवाला मिलता है। बालादित्य तत्कालीन राजाओं का सामान्य विरुद हो गया था।

इस मिहिरगुल के प्रति मालवा के राजा यशोधर्मन् के मन्दसौर के स्तंभ-लेख में भी निर्देश है। उसमें लिखा है कि मिहिरगुल ने जनेन्द्र यशोधर्मन् के 'चरण पूजे'।[4] संभव है

यशोधर्मन्

कि बालादित्य के अतिरिक्त यशोधर्मन् ने भी मिहिरगुल को पराजित किया। यशोधर्मन् कौन था, यह कहना कठिन है। परन्तु इतना सही है कि गुप्तों के बाद उसने कम-से-कम मध्य भारत में एकच्छत्र शासन स्थापित किया। उसका विरुद भी विक्रमादित्य था। उसके ऊपर बताये स्तंभ लेख में लिखा है कि उसने अपने राज्य की सीमाओं को लाँघकर उन देशों तक को जीता जो गुप्तों के शासन से भी बाहर थे और जिनमें हूण तक प्रवेश न कर सके थे।[5] लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्रगिरि (उड़ीसा) और हिमालय से पश्चिमी सागर के बीच के सारे राजा उसकी अभ्यर्थना करते थे।[6] प्रमाणित है कि यह सम्राट् मालवा का था और अधिकतर उसके प्रताप और शासन का प्रसार हूणों की मालवा-भूमि पर ही हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसकी प्रशस्ति में अतिरंजन है; परन्तु यह निश्चित है कि उसने मिहिरगुल को पराजित कर मालवा में हूणों की शक्ति तोड़ दी। संभवतः उनको मालवा से निकालने के ही उपलक्ष्य में उसने अपना विक्रमादित्य विरुद धारण किया। मन्दसौर में उसका एक और ५३३-३४ ई० का लेख मिला है।[7]

मिहिरगुल संभवतः ५४७ के लगभग मरा और उसके मरते ही भारत में हूण-शक्ति टूट गयी। फिर भी सदियों तक भारत में हूणों का अस्तित्व बना रहा। धीरे-धीरे वे हिन्दू समाज में घुल-मिल गये और आज की हिन्दू-जाति के अनेक स्तर हूणों की देन हैं।

४. कन्नौज के मौखरी

कन्नौज के मौखरी-राजाओं के कुल की प्राचीनता पाणिनि, पतञ्जलि[8] और लेखों[9] से ध्वनित है। 'हर्षचरित'[10] और हरहा-लेख[11] से उनका क्षत्रिय होना सिद्ध है। गया के

१ Prehistoric, Ancient and Hindu India, पृ० १९४

२ जीवितगुप्त द्वितीय का लेख, C.I.I., नं० ४६, पृ० २१३-१८।

३ प्रकटादित्य का लेख, वही; नं० ७९, पृ० २८४-८६।

४ चूणापुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्। C.I.I., ३, नं० ३३, पृ० १४६, १४८।

५ ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधाक्रान्तिदृष्टप्रतापै-
र्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा। वही।

६ वही।

७ C.I.I., ३, नं० ३५, पृ० १५०-५८।

८ त्रिपाठी : History of Kanauj, प्रकरण २।

९ Arch. Sur. Ind. Rep., १५, पृ० १६६—मौर्य-ब्राह्मी में मुहर।

१० Hc. C. T., पृ० १२८। ११ Ep. Ind., १४, पृ० ११९, श्लोक ३।

मौखरियों को जायसवाल इन प्राचीन मौखरियों की सन्तान मानते हैं। परन्तु गया के मौखरी वैश्य हैं। यदि जायसवाल का अनुमान सही है तो यह मानना होगा कि वर्णों की स्थिति काल के अनुसार घटती-बढ़ती रही है। प्राचीन मौखरी निस्सन्देह क्षत्रिय थे। कोटा-राज्य से प्राप्त तीन लेखों में मौखरियों के एक 'महासेनापति' कुल का उल्लेख है।[1] ये लेख संभवतः २३८ ई० के हैं। बराबर और नागार्जुनी[2] शिलालेखों में भी तीन मौखरी सामन्तों का उल्लेख पाँचवीं सदी ईसवी की लिपि में हुआ है। इनसे विदित है कि मौखरियों का विस्तार उत्तर-भारत में प्रचुर था। सबसे शक्तिशाली मौखरी-राजकुल निस्सन्देह कन्नौज का था।

इस कुल के पहले तीन राजा संभवतः अपने समकालीन उत्तरयुगीन मागध गुप्तों के सामन्त-नृपति थे। दोनों कुलों में इन तीन राजाओं के राज्य-काल में परस्पर विवाह-संबंध भी हुए। ईशानवर्मन् ने अपने कुल को यशान्वित किया। उसकी प्रशस्ति[3] में लिखा है कि उसने आंध्रों को परास्त किया और गौड़ों को अपनी सीमा के भीतर रहने को बाध्य किया। शर्ववर्मन् उसके बाद गद्दी पर बैठा। उसने अपने समय के मागध गुप्तराज दामोदरगुप्त को हराकर मार डाला[4] और उस कुल को मगध छोड़कर मालवा की शरण लेनी पड़ी। उसके बाद अवन्तिवर्मन् और ग्रहवर्मन् क्रमशः राजा हुए। ग्रहवर्मन् ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री से ब्याह किया। मालव गुप्तराज देवगुप्त ने ग्रहवर्मन् को मारकर उसकी विधवा राज्यश्री को कारागार में डाल दिया। ग्रहवर्मन् के बाद कन्नौज का राज्य हर्ष द्वारा थानेश्वर के शासन में मिला लिया गया। मौखरियों का शासन-काल ५५४ ई० से ६०६ ई० तक है। वे शुद्ध ब्राह्मण-धर्म के माननेवाले थे।

ईशानवर्मन्

शर्ववर्मन

ग्रहवर्मन्

इस परिच्छेद के लिये साहित्य

१. बनर्जी : Prehistoric, Ancient and Hindu India.
२. C.I.I., ३।
३. स्मिथ : Oxford History of India.
४. त्रिपाठी : History of Kanauj.
५. त्रिपाठी : History of Ancient India.

---

१ वही, १३, नं० ७, पृ० ४१-५१।
२ C.I.I. नं० ४८-५०, पृ० २२१-२८।
३ Ep. Ind., १७, पृ० ११७, १२०, श्लोक १३।
४ C.I.I., ३, नं० ४२, पृ० २०३, २०६, पंक्तियाँ ८-९।

बीसवाँ परिच्छेद

हर्षवर्धन का साम्राज्य

हर्षवर्धन का इतिहास अपेक्षाकृत प्रकाश में है; क्योंकि गुप्त-सम्राटों की ही भाँति उसके कुल की कीर्ति गानेवाले अनेक अभिलेख और साहित्यिक कृतियाँ हैं। इस काल की ऐतिहासिक सामग्री की प्रचुरता इसलिए भी बढ़ जाती है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल में आनेवाले फाह्यान की ही भाँति इस नृपति के समय भी हुएन्-त्सांग नामक एक चीनी यात्री ने भारत का भ्रमण किया और उसने जो कुछ देखा, उसका अपने भ्रमण-वृत्तान्त में वर्णन किया। इस कुल के इतिहास की सामग्री दो भागों में बाँटी जा सकती है—(१) पुरातत्त्व-संबन्धी और (२) साहित्य-संबन्धी। पुरातत्त्व-संबन्धी सामग्री अधिकतर पाषाण-मूर्ति-ताम्रपत्रादि लेखों से संपर्क रखती है और साहित्यिक सामग्री दो प्रकार की है—देशी और विदेशी। देशी साहित्य में विशिष्ट स्थान हर्ष के दरबारी कवि बाणभट्ट के 'हर्षचरित' का है। विदेशी साहित्य चीनी है, जो चीनी पर्यटक हुएन्-त्सांग और उसके जीवनचरितकार हुइ-ली ने प्रस्तुत की है। हुएन्-त्सांग के भ्रमण-वृत्तान्त का नाम है 'सि-यु-की।'

सामग्री

बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' के चार परिच्छेदों में हर्ष के पूर्वपुरुषों का वर्णन किया है। इनमें शिव का परम भक्त पुष्पभूति प्रथम है। इस कुल का राज्य प्रारंभ में श्रीकण्ठ अर्थात् थानेश्वर के चतुर्दिक् फैला हुआ था। हर्ष के अभिलेखों में पुष्पभूति का नाम नहीं मिलता। उनमें उससे पूर्व के केवल चार राजाओं के नाम दिये हैं। नरवर्धन इनमें सबसे पहला है जिसने इस श्रीकण्ठ के हुए राजकुल की प्रतिष्ठा की। उसके पौत्र आदित्यवर्धन ने मगधाधिपति दामोदरगुप्त की पुत्री महासेनगुप्ता से विवाह किया। पिता के मारे जाने के बाद महासेनगुप्ता के भाई महासेनगुप्त ने मगध छोड़कर मालवा में एक नये गुप्त-कुल की स्थापना की थी। आदित्यवर्धन के संबंध में इसके सिवा और कुछ हम नहीं जानते। आदित्यवर्धन के बाद उसका पुत्र और हर्ष का पिता प्रभाकरवर्धन थानेश्वर का नृपति हुआ। प्रभाकरवर्धन ने इस कुल के यश का विस्तार किया। प्रभाकरवर्धन वीर और लड़ाका था। उसका सारा जीवन लड़ते ही बीता। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उसकी विजय की सीमाएँ क्या थीं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसका संघर्ष दूरस्थ राजनीतिक शक्तियों से हुआ जिनमें हूण, सैन्धव, गुर्जर, गन्धार, लाट (दक्षिण गुजरात) मुख्य थे। वास्तव में थानेश्वर की भौगोलिक स्थिति इस प्रकार की अवश्य थी कि उसका इन शक्तियों से संघर्ष हो, परन्तु प्रभाकरवर्धन की इनपर विजय पाने का प्रमाण नहीं मिलता। स्वयं हर्ष के समय के थानेश्वर-राज्य की चौहद्दी हुएन्-त्सांग केवल १२०० मील के अन्तर्गत बताता है। इससे सिद्ध है कि प्रभाकरवर्धन ने इनपर विजय नहीं पायी, हाँ, अपनी उद्धत शक्ति से उनको बेचैन कर देना संभव है। 'हर्षचरित' की अपने

आरंभ

प्रभाकरवर्धन

नायक के पिता के प्रति यह उक्ति[1] केवल प्रशस्तिवाचक है। प्रभाकरवर्धन के राज्य उत्तर-पश्चिम में हूणों से, उत्तर में हिमालय से, पूर्व में मौखरियों के कन्नौज से, पश्चिम और दक्षिण में पंजाब और राजपूताना से सीमित था। प्रभाकरवर्धन ६०५ ई० में मरा।

राज्यवर्धन

पिता के मरने के समय हर्ष का बड़ा भाई राज्यवर्धन उत्तर-पश्चिम में हूणों से लोहा ले रहा था। अभी उनसे उसकी लड़ाई चल ही रही थी कि प्रभाकरवर्धन का देहान्त हो गया और उसे शीघ्र थानेश्वर लौटना पड़ा। राज्यवर्धन का अभिषेक हुआ, परन्तु अभी उसका टीका भी न सूखा था कि उसे खबर मिली कि मालव, नरेश देवगुप्त ने उनकी भगिनी राज्यश्री के पति ग्रहवर्मन् मौखरी को मारकर कन्नौज पर अधिकार कर लिया है और राज्यश्री को कारागार में डाल दिया। झट राजधानी का भार हर्ष पर छोड़ राज्यवर्धन एक बड़ी सेना लेकर बदला लेने के लिए देवगुप्त पर चढ़ दौड़ा। युद्ध में उसने मालव नरेश को पराजित कर संभवतः उसे मार भी डाला। परन्तु देवगुप्त के मित्र गौड़ाधिपति ने धोखे से राज्यवर्धन की हत्या कर मित्र के वध का प्रतिशोध लिया। 'हर्षचरित' का वक्तव्य है कि शशांक ने राज्यवर्धन को अपनी पुत्री ब्याह देने की इच्छा प्रगट की और बाद में उस अतिथि के रूप में आये निःशस्त्र थानेश्वर-नृपति का उसने अपने स्कन्धावारों में हत्या कर दी।[2]

थानेश्वर का राजकुल विपत्तियों से लड़ रहा था। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद ही निकट-संबंधी ग्रहवर्मन् का निधन हुआ और विधवा राज्यश्री अपनी राजधानी के ही कारागार में बन्दिनी हुई। और अब नवनृपति राज्यवर्धन की भी हत्या हो गयी। हर्ष को थानेश्वर का राज्य स्वीकार करना पड़ा। उसने भाई का मृत्यु-संदेश सुनते ही प्रतिज्ञा की कि जब तक वह शशांक से बदला न लेगा, दम न लेगा और अपनी विशाल सेना के साथ उसने कन्नौज की ओर प्रस्थान किया। गौड़ाधिपति ने जैसे ही उसके यान की खबर सुनी, उसकी कठिनाइयाँ बढ़ाने के लिए उसने राज्यश्री को मुक्त कर दिया और स्वयं गौड़ को लौट गया। राज्यश्री कन्नौज से बाहर निकल गयी। हर्ष उसे कन्नौज में न पाकर उसकी खोज में चला। शशांक के विरुद्ध यात्रा उसने कुछ काल के लिए स्थगित कर दी। इतना निस्सन्देह सही है कि हर्ष शशांक के विरुद्ध अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका; क्योंकि प्रमाणों से स्पष्ट है कि शशांक कम-से-कम ६१९ ई० तक जीवित रहा और अग्रहारों के गाँव आदि दान करता रहा। हर्ष ने अपने सेनापति भण्डी से सुना कि राज्यश्री विन्ध्य पर्वत की ओर देखी गयी है। इसलिए वह उधर बढ़ा और अत्यन्त खोज के बाद उसने अपनी भगिनी को खोज निकाला। वह जंगल में अग्नि जलाकर आत्महत्या करने की तैयारी में थी कि भाई ने उसे पकड़ लिया और समझा-बुझाकर कन्नौज लाया।

---

1 हूणहरिणकेसरी सिन्धुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरः गन्धाराधिपगन्धद्विपकूटपाकलः लाटपाटवपाटच्चरः मालवलक्ष्मीलतापरशुः···। हर्षचरित, कलकत्ता संस्करण, पृ० २४३-४४।

2 वही, पृ० ४३६।

कन्नौज की अवस्था राजा के अभाव में अच्छी न थी। कुछ काल तक तो उसपर देवगुप्त और शशांक का अधिकार रहा था। परन्तु जब हर्ष ने कन्नौज और शशांक के विरुद्ध यात्रा की थी, उसी समय उसने गौड़-नरेश के सहज शत्रु कामरूप (आसाम) के राजा भास्करवर्मन से सन्धि कर ली थी। इससे शशांक का मूल अब सुरक्षित न रह गया था। फिर उसने यह भी सोचा कि मित्र की मृत्यु के बाद पश्चिम में प्रबल शत्रु के विरोध में पड़ोसी शत्रु के खतरे में राजधानी छोड़कर ठहरना नीति-विरुद्ध होगा। इस कारण वह शीघ्र गौड़ लौट गया और कन्नौज हर्ष के अधिकार में आ गया। अब प्रश्न यह था कि राजा कौन हो? 'हर्षचरित' का वृत्तान्त तो इस सीमा तक पहुँचकर समाप्त हो जाता है। परन्तु हुएन्-त्सांग के लेख से विदित होता है कि राज्यश्री ने राज करने से इनकार कर दिया। बुद्ध की शिक्षाओं का उसपर बड़ा प्रभाव हुआ था और उसने उस धर्म के आदेशों के सम्मुख ऐश्वर्य-सुख तुच्छ समझा। देश में अराजकता देख कन्नौज के मंत्रियों ने रक्षा के लिए हर्ष की ओर देखा और उनके नेता पोनी ने मौखरि-राजमुकुट उसे प्रदान किया[1]। परन्तु राजमुकुट स्वीकार करना हर्ष को उचित नहीं जान पड़ा। लोगों के बाध्य करने पर उसने बौद्ध-देवताओं का स्मरण किया। कहा जाता है कि बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की ओर से उसे रक्षकमात्र के रूप में कन्नौज के ऊपर शासन करने का आदेश मिला। तब उसने 'कुमार' और 'शीलादित्य' के विरुद धारण कर वहाँ शासन करना प्रारम्भ किया। परन्तु एक ही राजा का दो स्थानों में भिन्न रूप से राज करना सम्भव न था और दोनों का एक हो जाना अनिवार्य ही था। कुछ काल के उपरान्त हर्ष ने कन्नौज और थानेश्वर के राज्यों को सम्मिलित कर लिया और अपनी राजधानी वह थानेश्वर से कन्नौज उठा ले गया, जो इस काल उत्तरी भारत के ऐश्वर्य का केन्द्र हो चला था। इसके बाद उसने सम्राटों के विरुद भी धारण कर लिये।

कन्नौज

हुएन्-त्सांग का वक्तव्य है कि छः वर्षों तक निरन्तर युद्ध करने के बाद हर्ष ने पाँचों भारतीय प्रान्तों को जीत लिया[2] और तीस वर्षों तक उसने शान्तिपूर्वक राज्य किया।[3] वास्तव में यह कहना कठिन है कि उसके इन युद्धसंगत छः वर्षों की गणना उसके शासन-काल के आरम्भ से की जानी चाहिए अथवा किसी अन्य वर्ष से। यात्री का वक्तव्य भी इस संबंध में स्पष्ट नहीं है, बल्कि बील का अनुवाद तो इस प्रकार है कि 'तीस वर्षों' के बाद उसने तलवार म्यान में की और सर्वत्र शक्तिपूर्वक राज किया।[4] परन्तु इन वक्तव्यों से कोई बात स्थिर नहीं की जा सकती; क्योंकि न तो इन युद्धों का काल ६०६ ई० और ६१२ ई० के बीच और न ही ६०६ ई० तथा ६३६ ई० के बीच ही रखा जाता है; क्योंकि ऐहोल के लेख से ज्ञात है कि चालुक्य-युद्ध ६३४ के शीघ्र ही पूर्व कभी हुआ और अन्य प्रमाणों से प्रमाणित है कि कंगोदा (गंजाम जिला) का युद्ध ६४३ ई० के

हर्ष के युद्ध

---

१ बील का अनुवाद, १, पृ० २१०-११; वाटर्स का अनुवाद, १, पृ० ३४३।

२ बील, वही, पृ० २१३; वाटर्स, वही, पृ० ३४३।

३ वाटर्स, वही, पृ० ३४३। ४ बील, १, पृ० २१३।

लगभग उसने लड़ा था। यदि हर्ष ६४८ ई० में मरा तो यह युद्ध उसके जीवन-काल के पिछले पहर में आता है। इस कारण यात्री के उस छः वर्ष अथवा तीस वर्ष के आधार पर उस राजा के युद्धों की तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती। हर्ष की मुख्य युद्ध-यात्राएँ चार जान पड़ती हैं—(१) ध्रुवभट (ध्रुवसेन द्वितीय), (२) पुलकेशिन द्वितीय चालुक्य, (३) सिन्धुराज और (४) शशांक के विरुद्ध। इनमें ध्रुवभट के विरुद्ध तो हर्ष विजयी हुआ, इसका हुएन्-त्सांग ने स्पष्ट उल्लेख किया है। उसका कहना है कि पहले तो वलभी-नरेश हार-कर भड़ोच के दद्दा द्वितीय की शरण में चला गया; परन्तु शीघ्र उसकी मदद से वह लौटा और अपना राज्य उसने शक्ति से लौटा लिया। जान पड़ता है, बाद में हर्ष ने इस राजा को अपनी पुत्री ब्याह दी और ध्रुवभट हर्ष की प्रयाग-परिषद् में जामाता और मित्र की हैसियत से शरीक हुआ। पुलकेशिन द्वितीय चालुक्य के साथ हर्ष का जो युद्ध हुआ, उसमें हर्ष की हार हुई। हर्ष अपने को उत्तरा-पथ का राजा समझता था। पुलकेशिन की शक्ति का भी दक्षिण में साका चलता था और वह हर्ष की ही भाँति दक्षिणापथ का स्वामी था। निस्सन्देह हर्ष का वल्लभी की ओर बढ़ना उसे अच्छा न लगा होगा। दोनों में जो संघर्ष हुआ, उसमें पुलकेशिन की सेना ने हर्ष की गज-सेना काट डाली[1] और चालुक्यराज विजयी हुआ। नर्मदा संभवतः दोनों राज्यों की सीमा बनी। पुलकेशिन की प्रशस्ति ऐहोलवाले लेख में ६३४ ई० की खुदी हुई है जिससे विदित होता है कि यह युद्ध ६३४ ई० के कुछ पूर्व हुआ होगा।[2] इस युद्ध और हर्ष की पुलकेशिन द्वारा पराजय का वर्णन हुएन्-त्सांग ने भी किया है। सिन्ध के राजा से भी हर्ष की मुठभेड़ हुई। यह सम्भवतः उसका तीसरा युद्ध था। 'हर्षचरित' के वक्तव्यानुसार वह इसमें विजयी हुआ और उस राजा की 'लक्ष्मी उसने स्वायत्त' कर ली।[3] युद्धों के तिथि-क्रम से तो शशांक के साथ हर्ष का संघर्ष पहले होना चाहिए। इस गौड़-नृपति के साथ उसका प्रत्यक्ष युद्ध हुआ कि नहीं यह कहना कठिन है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दोनों में दीर्घ काल तक संघर्ष चलता रहा। ऊपर बताया जा चुका है कि शशांक की सहायता से मालव देवगुप्त ने मौखरि-नृपति ग्रहवर्मन् को मार डाला था। इसपर हर्ष के अग्रज राज्यवर्द्धन ने गुप्तराज को परास्त कर उसका वध किया था। फिर अपने मित्र की मृत्यु का प्रतिशोध शशांक ने राज्यवर्द्धन की धोखे से हत्या कर लिया था। हर्ष ने भाई का बदला लेने के लिए शशांक का सर्वनाश करने का बीड़ा उठाया। परन्तु कन्नौज की विपन्नावस्था और भगिनी राज्यश्री के लोप ने उसे गौड़ाधिपति के विरुद्ध न बढ़ने को लाचार किया। वह केवल उसके पड़ोसी शत्रु कामरूपंतपति भास्करवर्मन् से सन्धि कर चुप रह गया था और गौड़ाधिपति इस सन्धि से अपने लिए खतरा समझ

---

१ युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः। Ep. Ind., ६, पृ० ९,१०, श्लोक २३।

२ ऐहोल का लेख, Ep. Ind., वही।

३ अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीः आत्मीकृता—हर्षचरित कलकत्ता सं पृ० २१०-११।

तथा हर्ष को थानेश्वर से कन्नौज की ओर बढ़ता देख गौड़ लौट गया था। दोनों में वास्तविक मुठभेड़ न होती। ६१९ ई० के गंजाम-लेख[1] से स्पष्ट है कि इस तिथि तक शशांक स्वच्छन्द विचरता रहा और अन्त में संभवतः उसकी स्वाभाविक मृत्यु हुई। बंगाल और उड़ीसा की विजय हर्ष शशांक की मृत्यु के उपरान्त ही कर सका।

साम्राज्य का विस्तार

हर्ष की दिग्विजय के फलस्वरूप उत्तर भारत के किन-किन प्रान्तों पर उसका राज्य स्थापित हुआ, यह अब बताया जा सकता है। 'हर्षचरित' के रचयिता ने हर्ष को 'सकलोत्तरापथनाथ' कहा है। परन्तु सारे उत्तर भारत का सम्राट् हर्ष नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चीनी यात्री हुएन्-त्सांग ने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में अनेक ऐसे स्वतन्त्र राज्यों का उल्लेख किया है, जो हर्ष की शासन-परिधि से बाहर थे। उनको छोड़कर अनेक अन्य उद्धृत प्रान्तों के परिगणन से जान पड़ता है कि हर्ष का साम्राज्य काफी विस्तृत था। अनेक स्थानों से उसके लेख मिले हैं। थानेश्वर में उसका पैतृक राज था ही और इसके शासन में कुरुक्षेत्र के आसपास के जिले और पूर्वी राजपूताने के इलाके थे। मौखरियों का राज्य संयुक्त-प्रान्त तथा मगध के भी कुछ भाग पर था। इस कारण कन्नौज का शासन हर्ष के हाथ लग जाने से वे प्रान्त भी उसके साम्राज्य में शामिल हो गये। हर्ष ने चीन को जो अपने दूत भेजे थे, उस दौत्य-सम्बन्धी परचों में भी उसे 'मगधराज' कहा गया है। बाँसखेरा और मधुबन के लेखों से अहिच्छत्र (रामनगर, बरेली जिला) तथा श्रावस्ती की भुक्तियों का उसके साम्राज्य में होना सिद्ध है। हुइ-ली के हुएन्-त्सांग के जीवन-चरित से विदित होता है कि हर्ष ने जयसेन नामक एक बौद्ध-विद्वान् को उड़ीसा के अस्सी नगरों की आय दान में दी थी।[2] इससे उसका उड़ीसा का स्वामी होना भी सिद्ध है। राजमहल (पहले बंगाल अब बिहार) के कजंगल नामक स्थान पर जो हर्ष ने अपना दरबार किया था, इससे उसका उस भूभाग का स्वामी होना भी प्रमाणित है। बाण, हुएन्-त्सांग, हुइ-ली तथा अभिलेखों के आधार पर हर्ष को पूर्वी पंजाब और पूर्वी राजपूताना, संयुक्त-प्रान्त, बिहार, बंगाल और गंजाम तक उड़ीसा का स्वामी कहा जा सकता है। इस परिगणन की सीमा में चीनी यात्री द्वारा निर्दिष्ट भारतीय 'पञ्चप्रान्त' प्रायः आ जाते हैं। अनुवृत्ततया से ये पञ्चप्रान्त निम्नलिखित हैं—(१) सौराष्ट्र (अथवा पंजाब), (२) कान्यकुब्ज, (३) मिथिला (अथवा बिहार), (४) गौड़ (अथवा बंग) और (५) उत्कल।

हर्ष का शासन-विधान

हर्ष का साम्राज्य अपेक्षाकृत बड़ा था और उसके शासन का उचित प्रबन्ध आवश्यक था। उसकी युद्धनीति में सेना का स्थान काफी महत्त्वपूर्ण था; क्योंकि जो देश शक्ति से जीते गये थे, शक्ति से ही उनका अवरोध आवश्यक था। अधिकतर भारतीय साम्राज्य सामन्त-राज्यों के संघ होते आये थे और उनको एकत्र रखना बहुधा केन्द्रीय सम्राट् की शक्ति और सूझ की बात रही थी। यदि यह केन्द्रीय शक्ति समर्थ

सेना

---

१ Ep. Ind., ६, पृ० १४४, १४६। २ हुइ-ली, जीवनचरित, पृ० १५४।

रही, तब तो उनको संयुक्त रखनेवाली शृंखला भी दृढ़ रही और यदि वह दुर्बल हुई तो सामन्त राज्य देखते-देखते बिखर गये। इस वक्तव्य की सत्यता मौर्य, गुप्तादि साम्राज्यों के पतन से प्रमाणित है। स्वयं हर्ष के साम्राज्य का अन्त इसी चरम सत्य को घोषित करता है। इसी शक्ति को सक्षम बनाये रखने के लिए उसने अपनी सैन्य-शक्ति को दृढ़तर किया। हुएन्-त्सान का कहना है कि हर्ष ने अपने गजों की संख्या ६०,००० और अश्व-सेना को १००,००० तक बढ़ा ली। तभी, कम-से-कम उसके जीवन भर, इस साम्राज्य का नियन्त्रण सम्भव हो सका।

यात्राएँ

हर्ष ने अपने शासन-कार्य में प्राचीन भारतीय नृपतियों को आदर्श बनाया और प्रजा के हितार्थ निरन्तर परिश्रम करने का उसने व्रत लिया। दिन को उसने धार्मिक और शासन-सम्बन्धी कृत्यों के सम्पादनार्थ विभाजित किया। प्रजार्थसाधक इस राजा के लिए दिन वास्तव में पूरा न पड़ता था।[1] वह इस बात को समझता था कि जब तक वह प्रजा की आवश्यकताओं को न समझ सकेगा, उनकी पूर्ति उसके लिए सम्भव न हो सकेगी। इसलिए उसने अशोक की भाँति अपने साम्राज्य में यात्राएँ करनी शुरू कीं। इन यात्राओं के बीच वह प्रजा की दशा का अध्ययन करता था, अपराधियों को दण्डित और पुण्यात्माओं को पुरस्कृत करता था।[2] चीनी यात्री हुएन्-त्सांग इन्हीं यात्राओं में से एक के समय हर्ष को मिला था। हर्ष की इस यात्रा-व्यवस्था से प्रजार्थसाधन में उसकी तत्परता जान पड़ती है। उसकी शासन-नीति का यह यात्रा एक विशिष्ट अंग थी।

राजा

साम्राज्य का शासन अधिकतर पूर्व पद्धति से ही होता था। सम्राट् उसका केन्द्र था और कम-से-कम व्यवहार में उसका स्वामी था। उसकी रक्षा और शासन में वह सतत जागरूक रहता था और कार्य में उसके मंत्री उसको सहायता करते थे। राजा साधारणतया अपने कार्यों में स्वच्छन्द था। शासन-व्यवस्था के अर्थ साम्राज्य पूर्ववत् प्रान्तों, माण्डलिक-राज्यों में विभक्त था। इन प्रान्तों को 'भुक्ति' कहते थे और इनके शासक 'राजस्थानीय' अथवा 'उपरिक महाराज' होते थे।

प्रान्त

जिन अधिकृत राज्यों का शासन स्वयं सम्राट् अथवा उसके प्रतिनिधि-शासक न करते थे, उनकी व्यवस्था उनके अधिपतियों के हाथ में रहती थी, जो 'सामन्त' अथवा 'महासामन्त' कहलाते थे। हर्ष का मित्र और उत्तरकालीन गुप्त-कुल का राजा माधवगुप्त मगध का ऐसा ही सामन्त-शासक था। प्रान्त अनेक 'विषयों' (जिलों) में बँटे हुए थे और विषय विविध 'पथकों' (तहसील, ताल्लुक) में। शासन का आधार अब भी 'ग्राम' था।

'हर्षचरित' और हर्ष के अभिलेखों से विदित होता है कि अनेक महान् पदाधिकारी उसके साम्राज्य-शासन में उसकी सहायता करते थे। इनका पद मन्त्रियों के अधिकार का था। इनमें से प्रसंगवश उल्लिखित कुछ के नाम इस प्रकार हैं—महासन्धिविग्रहाधिकृत (सन्धि और युद्ध का मंत्री), महाबलाधिकृत (सेना का सचिव), सेनापति, बृहदश्ववार (अश्वसेना

---

१ वाटर्स, १, पृ० ३४४ ; बील, १, पृ० २१५। २ वही।

का नायक), कटुक (गजसेना का नायक), महाप्रतीहार (राजप्रासाद का शासक और रक्षक), साम्राज्य के विविध विभागों के 'अध्यक्ष', मीमांसक (जज अथवा सरकारी वकील ?), विषयपति (जिलाधीश) और भोगिक अथवा भोगपति (साम्राज्य की आय आदि वसूल करनेवाला कर्मचारी)। दूत भी सम्भवतः इन्हीं उच्चाधिकारियों में से एक था। इनके अतिरिक्त साम्राज्य के शासन-कार्य में हाथ बँटानेवाले अनेक अन्य निम्नकोटि के पदाधिकारी और राजपुरुष थे। एक प्रकार के साधारण कर्मचारियों को 'आयुक्तक' कहते थे। जो युद्ध के समय सैनिक स्वल्प काल के लिए भरती किये जाते थे, उनको 'चाट' और वैतनिक मुस्तकिल सैनिकों को 'भट' कहते थे। संदेशवाहकों की संज्ञा 'दीर्घध्वग' थी। इनके अतिरिक्त हर्ष की सेक्रेटरियट के रेकार्डों के सम्हाल के लिए 'अक्षपटलिक' नियुक्त थे। लेखक और करणिक (क्लर्क) भी इस शासन के अंग थे और अनेक प्रकार से वे इसमें योग देते थे।

अधिकारी-वर्ग

कर-व्यवस्था सामान्य थी। व्यापार की वस्तुओं पर स्थान-स्थान पर चुंगी और घाटों पर खेवा[1] तथा भूमि की उपज का छठा भाग राजा के कोष में जाता था। शुल्क-दण्ड से भी राज्य की आय बढ़ती होगी। इस प्रकार आया हुआ धन शासन के विविध कार्यों, राजा की विविध आवश्यकताओं और अनेक धार्मिक दान-कृत्यों[2] पर व्यय होता था।

दण्डनीति कठोर थी। गुप्त-शासन की उदारता नष्ट हो चुकी थी और मौर्य-शासन की कठोरता ने उसका स्थान ले लिया था। राजद्रोह और कानून के विरुद्ध आचरण करनेवालों के लिए सामान्य दण्ड आजीवन कारावास था। अपराधियों को समाज का अंग समझा ही नहीं जाता था।[3] व्यभिचारादि के लिए नाक, कान, हाथ अथवा पैर काट लेने की दण्ड-व्यवस्था थी। इन अपराधों के लिए जब तब देशनिकाले अथवा वनवास का दण्ड भी दिया जाता था।[4] छोटे अपराधों की सजा जुरमाना थी। अपराधी की निर्दोषिता अथवा अपराध प्रमाणित करने के लिए अग्नि, जल, विष आदि का व्यवहार किया जाता था। 'हर्षचरित' का वक्तव्य है कि त्योहारों और विशिष्ट अवसरों पर बन्दियों को कारावास से मुक्त किया जाता था। इतना कठोर शासन होने पर भी देश में चोर-डाकुओं का सर्वथा अभाव न था। स्वयं हुएन्-त्सांग को डाकुओं ने दो-दो बार लूट लिया था। एक बार तो उसकी जान पर ही आ बनी थी। इसके विरुद्ध गुप्त-काल में शासन सरल और दयापूर्ण होता हुआ भी इतना निरापद था कि फाह्यान गुप्तों के विस्तृत साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक बिना एक बार भी आपद झेले भ्रमण कर सका था। फिर भी साधारणतया प्रजा को व्यक्तिगत स्वतंत्रता सुलभ थी। उन्हें अपने परिवार की मौर्य-काल की भाँति रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती थी, न उनसे बेगार ही ली जाती थी। लोग परस्पर सद्भाव से रहते थे और जघन्य अपराधों की संख्या स्वल्प थी।[5] यद्यपि यह नहीं

दण्डनीति

---

१ वाटर्स, १, पृ० १७६।

२ वाटर्स, १, पृ० १७६ ; प्रयाग के पंचवर्षीय दान आदि। ३ वही, पृ० १७२।

४ वही ; बील, १, पृ० ८३-८४। ५ वाटर्स, १, पृ० १७२।

कहा जा सकता कि यह न्यूनता कठोर दण्डनीति का फल थी। इसका कारण संभवतः जनता का आचारपूत जीवन था। हुएन्‌त्सांग स्वयं कहता है—"वे कभी अन्य की कोई वस्तु अनुचित रीति से नहीं लेते और दूसरों के प्रति अपने व्यवहार में वे आशातीत सज्जनता दिखाते हैं। अगले जन्म में इस जन्म के किये पापों के परिणाम से वे डरते हैं...वे धोखा नहीं देते और दिये हुए वचन को पूरा करते हैं।[1]

परराष्ट्र-नीति

हर्ष की परराष्ट्र-नीति सराहनीय थी। अपनी दिग्विजय के समय उसने चाहे एक बार कटुता का व्यवहार किया हो, परन्तु विजित हो जाने के बाद सामन्त राज्यों के प्रति उसका व्यवहार दयापूर्ण और मैत्री का था। यही कारण है कि उसके साम्राज्य से सटे हुए और अन्य सन्निकट कोणों में भी नितान्त छोटे-छोटे राज्य भी स्वतंत्र रह सके और हर्ष ने उनके प्रति मित्र-सा आचरण किया। हुएन्‌त्सांग ने इस प्रकार के निम्नलिखित राज्यों का उल्लेख किया है—(१) जलन्धर, (२) वैराट, (३) मथुरा, (४) मतिपुर (बिजनौर जिले में मन्दावर) और (५) कपिलवस्तु। इनके अतिरिक्त जो अनेक संपन्न और अपेक्षाकृत सुदृढ़ राज्य थे, उनका परिगणन चीनी यात्री ने इस प्रकार किया है—(१) कश्मीर, (२) नेपाल, (३) कामरूप, (४) वल्लभी, (५) भड़ोच, (६) सिन्ध, (७) गुर्जरदेश, (८) उज्जैन (मालवा), (९) बुंदेलखण्ड, (१०) महेश्वरपुर (ग्वालियरवर्ती देश), (११) सुवर्णगोत्र का देश, (१२) महाराष्ट्र और (१३) कपिशा।[2] इनमें से सुवर्णगोत्र का देश स्थिर करना कठिन है। महाराष्ट्र के स्वामी चालुक्यराज पुलकेशिन के साथ जो संघर्ष हुआ था, उसमें हर्ष के पल्ले हार पड़ी थी। सिन्ध देश को जीतकर, जैसा पहले बताया जा चुका है, हर्ष ने उसकी लक्ष्मी (कर-रूप में धन) तो ले ली थी (हुएन्‌त्सांग की स्वतंत्र राज्यों में किये उसकी गणना से प्रमाणित), परन्तु उसे अपने साम्राज्य का अंग नहीं बनाया था। भड़ोच के राजा के प्रति निस्सन्देह हर्ष का भाव मैत्री का नहीं हो सकता था; क्योंकि उससे पराजित वल्लभी-नरेश ने वहाँ शरण ली थी। वल्लभी से पहले तो हर्ष का युद्ध हुआ था और वहाँ के राजा ध्रुवभट को भड़ोच के दद्दा द्वितीय के यहाँ शरण लेनी पड़ी थी; परन्तु बाद में जब उस नृपति की सहायता से ध्रुवभट ने वल्लभी के सिंहासन पर फिर अधिकार कर लिया, तब हर्ष ने इतनी दूर के राज्य पर चढ़ाई करना उचित न समझा। उसे उसने मित्र बना लेने में ही सुनीति समझी। वल्लभी-नरेश को उसने अपनी पुत्री भी ब्याह दी। इसी कारण प्रयाग के अधिवेशन में हम उसे हर्ष के मित्रों में पाते हैं। कामरूप (आसाम) का राजा भास्करवर्मन्, गौड़ाधिपति शशांक और मालवाधिपति देवगुप्त दोनों का शत्रु था—शशांक का पड़ोसी होने के नाते और देवगुप्त का इस कारण कि उसके पिता महासेनगुप्त ने भास्करवर्मन के पिता सुस्थितवर्मन् पर कभी आक्रमण किया था। भाई की हत्या के बाद शशांक की ओर बढ़ने के पूर्व हर्ष ने इस कामरूप-नृपति से सन्धि कर ली थी और दोनों की मित्रता आमृत्यु बनी रही।

---

१ वही, पृ० १७१, बील, १, पृ० ८३।

२ देखिए त्रिपाठी : History of Ancient India, पृ० २९८-९९।

प्रयाग के अधिवेशन में अन्य मित्र-राजाओं के साथ भास्करवर्मन् भी था। केवल एक बार हर्ष और भास्करवर्मन् में जरा वैमनस्य हो गया था। कामरूप के राजा के यहाँ पहले हुएन्-त्सांग का निवास था। हर्ष ने जब उस चीनी पर्यटक की प्रशंसा सुनी, तब उसे अपने यहाँ बुलाने के लिए भास्करवर्मन के पास उसने दूत भेजा। कामरूपदेश ने कहलवाया कि सम्राट् यदि हमारा मस्तक चाहें तो उसे भेज सकता हूँ, परन्तु हुएन-त्सांग को नहीं। इसपर हर्ष ने उत्तर दिया कि मस्तक भेज दो। भास्करवर्मन् ने लाचार होकर हुएन्-त्सांग को उड़ीसा भेज दिया, जहाँ हर्ष डेरा डाले पड़ा था। नेपाल के संबंध में कुछ कहना कठिन है। हर्षचरित में एक प्रसंग में कहा गया है—"अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलभुवो दुर्गाया गृहतः करः।" इसके दो अर्थ हो सकते हैं—(१) परमेश्वर हर्ष ने हिमालय के एक दुर्गम राज्य (अथवा दुर्ग) से कर वसूल किया अथवा (२) परमेश्वर हर्ष ने यहाँ हिमालय में उत्पन्न प्रबल राजा की दुहिता से विवाह किया। पहले तो यही स्थिर करना कठिन है कि यह हिमालय का दुर्ग अथवा तुषारधवलित राज्य कौन-सा है ? फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस वक्तव्य का संबंध वास्तव में हर्ष के विवाह से है अथवा आक्रमण से। इससे केवल एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि इस नैपाल अथवा जो भी हिमालयवर्ती देश था, उससे उसका संबंध स्थापित हो गया था, चाहे वह जामाता के रूप में हो, चाहे अधिराट् के रूप में। हर्ष की परराष्ट्र नीति में बस एक उल्लेखनीय प्रसंग और रह गया है। वह है—उसका चीन से मैत्री का प्रयास। इस काल चीन में तांग-कुल का राज्य था। इस कुल के सम्राट् ताइ-त्सुंग के पास हर्ष ने ६४१ ई० में एक ब्राह्मण दूत भेजा। उसका यह कार्य संभवतः पुलकेशिन् द्वितीय के विरोध में था। उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी दक्षिणापथनाथ चालुक्यराज ने फारस के राजा खुसरू के पास अपना दूत भेजा था, जिसका उल्लेख अरब-इतिहासकार तबरी ने किया है[१] और जिसके उत्तर में फारस-सम्राट् के दौत्य का चित्रण अजन्ता की एक गुफा में अंकित है। 'सकलोत्तरापथनाथ' हर्ष ने भी फारस के नरेश के विरोध में चीन के सम्राट् को अपना मित्र बनाया। उसके दौत्य के उत्तर में चीन से भी दूत आये,[२] परन्तु जब वे कन्नौज पहुँचे, तब तक हर्ष का देहान्त हो चुका था और उसके मंत्री अर्जुन ने उसके साम्राज्य को तहस-नहस कर डाला था।

दौत्य

हुएन्-त्सांग का भ्रमण-वृत्तान्त

हुएन्-त्सांग चीनी यात्रियों में प्रमुख था। ६२९ ई० में वह चीन से स्थलमार्ग से चलकर रेगिस्तान की मुसीबतें सहता भारत आया। सोलह वर्षों तक वह भारत के विविध प्रांतों और राज्यों में भ्रमण करता रहा। उसके मित्रों में से कुमारराज भास्करवर्मन्, और कन्नौज-राज हर्षवर्धन विशिष्ट थे। उनके दरबार में कुछ काल तक वह ठहरा रहा। हुएन्-त्सांग स्वयं बौद्ध-दार्शनिक था और उसने अपनी तर्कशक्ति का नालन्दा और कन्नौज में विस्तार किया

---

१ JRAS., N. S. ११, (१८७९), पृ० १६५-६६।

२ E. H. I., चतुर्थ संस्करण, पृ० ३६६।

था। नालन्दा में तो वह अनेक वर्षों तक रहकर बौद्ध-दर्शन का अध्ययन करता रहा। वह कहता है कि उस विश्वविद्यालय में बौद्ध-धर्म के प्रबल दार्शनिक और निष्णात भिक्षु अध्यापन करते थे और भारत के कोने-कोने से दर्शनादि के विद्यार्थी ज्ञानार्जन के लिये वहाँ आते थे। हुएन्-त्सांग का कहना है कि इस विश्वविद्यालय के देशी-विदेशी विद्यार्थियों की संख्या दस हजार[1] थी और इसके विविध विभागों में एक ही समय सौ आचार्य ज्ञानोपदेश करते थे। इसके शिक्षण-विषयों का विस्तार बड़ा था, परन्तु दर्शन उनमें मुख्य था। उद्भट दार्शनिक कभी कभी यहाँ के दार्शनिकों को चुनौती देते थे और फलस्वरूप उनके शास्त्रार्थ श्रोतव्य होते थे। इस प्रकार के एक शास्त्र का हवाला स्वयं अपने विषय में हुएन्-त्सांग ने दिया है। जब वह वहाँ ठहरा हुआ था, तब किसी लोकायत (अनीश्वरवादी) दार्शनिक ने बौद्ध-धर्म के विरुद्ध घोषणा करते हुए चुनौती दी कि जो उसे हरा देगा उसे वह अपना मस्तक प्रदान करेगा। इसपर चीनी भिक्षु ने उसकी चुनौती स्वीकार कर ली। शास्त्रार्थ में लोकायत हार गया और उसने अपना मस्तक सामने बढ़ा दिया, परन्तु हुएन्-त्सांग ने उसे क्षमा कर दिया। हुएन्-त्सांग ने यात्रा तीर्थ करने और बौद्ध-धर्म के ग्रन्थों का संग्रह करने के लिए की थी। सोलह वर्ष भ्रमण करके वह अनेक ग्रन्थों की हस्तलिपियाँ लेकर स्वदेश लौटा। प्रयाग के अधिवेशन के बाद घोड़ों पर उन ग्रन्थों और अनेक मूर्तियों को लादकर ६४५ ई० में हर्ष ने उसे विदा किया और उसकी रक्षा का भार उदित नामक उत्तर भारत के एक राजा को सौंपा। जिस स्थल-मार्ग से हुएन्-त्सांग भारत आया था, उसी से वह चीन लौट गया। भारत के विषय में उसने एक लंबा वृत्तान्त छोड़ा है, जिसका उपयोग हर्ष के इतिहास में यथोचित किया गया है। शेष नीचे दिया जाता है। हुएन्-त्सांग का दृष्टिकोण स्वाभाविकतया धार्मिक है।

(हाशिया: श्रमण; नालन्द)

फाह्यान ने पाटलिपुत्र का विशेष वर्णन किया था, हुएन्-त्सांग ने कन्नौज के प्रति अपना आदर दिखाया। कन्नौज अब पाटलिपुत्र का गौरव स्वायत्त कर चुका था। उसमें ब्राह्मण और बौद्ध-धर्मावलंबी दोनों ही थे। हीनयान और महायान दोनों संप्रदायों के सौ विहारों में लगभग दस हजार भिक्षु निवास करते थे। इसके विरुद्ध ब्राह्मण-धर्मावलंबियों के मन्दिरों की संख्या लगभग दो सौ थी और स्वयं उनके अनेकों-हजारा नगर प्रायः पाँच मील लंबा और सवा मील चौड़ा था। मनुष्य और प्रकृति दोनों ने उसके निर्माण में भाग लिया था। उसके उद्यानों और निर्मल जल-पूरित सरोवरों की शोभा अकथनीय थी। नागरिकों के भवन साधारण, स्वच्छ और सुन्दर थे। नागरिक दर्शनीय थे और उनके वस्त्राच्छादन सुचिक्कन और रेशमी। नागरिकों के संबंध में इस चीनी यात्री ने विशेष उत्साह से लिखा है। उसका कहना है—"उनकी वाणी स्पष्ट और शुद्ध है, उनकी वाक्यावली देवताओं की भाँति तरल और ललित है। उनका उच्चारण स्फुट और अकृत्रिम जो अन्य नगरवासियों के लिए आदर्श उपस्थित करता है।"[2] कन्नौज पहले

(हाशिया: कन्नौज)

---

१ जीवन-चरित, पृ० ११२। २ वाटर्स, 1, पृ० ३४३, बील, 1, पृ० २०७।

मौखरियों की राजधानी थी। फिर हर्ष के वहाँ का राजा हो जाने के बाद वर्धनों की राजधानी भी थानेश्वर से उठकर यहीं आ गयी। इस विशाल नगर में हर्ष ने अनेक धार्मिक कृत्य किये।

कन्नौज में हुएन्-त्सांग के रहते ही हर्ष ने महायान संप्रदाय के सिद्धान्तों के प्रचारार्थ एक महान् अधिवेशन किया। हर्ष उस समय यात्रा में था। चीनी यात्री और कामरूपेश्वर भास्करवर्मन् के साथ गंगा के दक्षिणी तट पर चलकर हर्ष तीन महीनों में कन्नौज पहुँचा। वहाँ भारतीय पञ्चप्रान्तों के अट्ठारह राजाओं, हजारों अन्य धर्मावलंबियों ने उसका स्वागत किया।[१] इस धार्मिक योजना में भाग लेने के लिए हर्ष द्वारा निमंत्रित होकर ये उपस्थित हुए थे। इस अधिवेशन के लिए दो विशाल पर्ण-मण्डप और एक उत्तुंग चैत्य का निर्माण किया गया था। प्रत्येक मण्डप में एक-एक हजार व्यक्ति बैठ सकते थे और चैत्य-स्तम्भ के बीच में बुद्ध की सोने की हर्षकाय मूर्ति पधराई गयी थी। इस अधिवेशन के आरम्भ में विशाल गज पर बुद्ध की गज भर ऊँची स्वर्ण-मूर्ति का जुलूस निकाला गया। हर्ष और भास्करवर्मन् इस मूर्ति के अनुचर क्रमशः शक्र (इन्द्र) और ब्रह्मा बने। उनके पीछे गजारूढ़ राजाओं और साम्राज्य के कर्मचारियों तथा विशिष्ट अतिथियों की कतार थी। जुलूस के बाद हर्ष ने बुद्ध-मूर्ति की पूजा की और एक सार्वजनिक भोज दिया। तदनन्तर हुएन्-त्सांग ने महायान के सिद्धान्तों का प्रकटन आरम्भ करते हुए उनको खुली सभा में अकाट्य बताया और अपने तर्क को काटने के लिए विधर्मियों को ललकारा। पाँच दिनों तक कोई सामने न आया और भिक्षु तन्मयता से अपने सिद्धान्तों का उद्‌घाटन करता रहा। अन्त में कुछ अन्य धर्मावलंबियों ने उसके वधार्थ षड्‌यन्त्र करना आरम्भ किया। परन्तु हर्ष को इसकी गन्ध मिल गयी और उसने तत्काल घोषणा की कि जो उसके अतिथि को स्वल्प हानि भी पहुँचायगा, उसका तुरन्त वध कर दिया जायगा।[२] अट्ठारह दिनों तक फिर धर्म की व्याख्या चलती रही और किसी प्रकार का अनिष्ट न हुआ। परन्तु अन्त में सहसा चैत्य-स्तम्भ में आग लग गयी[३] और स्वयं हर्ष की हत्या करने का प्रयत्न किया गया। प्रमाणतः इस अधिवेशन का मन्तव्य महायान को यशान्वित करना था और किसी अन्य साम्प्रदायिक द्वारा उसके सिद्धान्तों पर आक्षेप स्वाभाविकतया वर्ज्य और अनभीष्ट था। हर्ष और उसके अतिथि के प्रति अन्य धर्मावलंबियों का विरुद्धाचरण सर्वथा अस्वाभाविक न था। 'सि-यु-की' का वक्तव्य है कि हर्ष ने अप्रसन्न होकर पाँच सौ ब्राह्मणों को बन्दी कर निर्वासित कर दिया। शेष क्षमा कर दिये गये।[४] हर्ष ने हुएन्-त्सांग के दार्शनिक ज्ञान से प्रसन्न होकर उसे रत्नों से पुरस्कृत करना चाहा, परन्तु तपस्वी भिक्षु ने कुछ स्वीकार न किया।

कन्नौज का महायान-अधिवेशन

इसके बाद हर्ष ने चीनी भिक्षु को 'महामोक्ष-परिषद्' के अधिवेशन में आमन्त्रित किया। यह परिषद् हर पाँचवें वर्ष प्रयाग में त्रिवेणी के संगम पर हुआ करती थी, जिसमें हर्ष

---

१ जीवनचरित, पृ० १७७। २ वही, पृ० १८०।

३ बील, १, पृ० २१९। ४ वही, पृ० २२१।

अर्जित कोष का दान किया करता था। इस प्रकार का यह छठा अधिवेशन था। हुएन्-त्सांग ने उसमें भाग लेना स्वीकार कर लिया। इसमें वल्लभी के ध्रुवभट, कामरूप के भास्करवर्मन् और अन्य नृपति भी थे। इनके अतिरिक्त श्रमण, ब्राह्मण, लोकायत, निर्ग्रन्थ और दरिद्र दूर-दूर से आये हुए थे, जिनकी संख्या प्रायः पाँच लाख थी। ढाई महीनों तक यह अधिवेशन चलता रहा। पहले दिन बुद्ध की मूर्ति प्रतिष्ठित कर रत्नादिकों से उसकी अर्चना की गयी। दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः सूर्य और शिव मूर्तियों की पूजा हुई; परन्तु उनपर बुद्ध की पूजा किये आधे मूल्य के रत्न ही चढ़ाये गये। चौथे दिन बौद्ध भिक्षुओं को अभूतपूर्व दान दिया गया। फिर बीस दिनों तक ब्राह्मणों के प्रति हर्ष ने अपने दान-विसर्जन किये। तदनन्तर के दस दिन उसने जैन-लोकायतादिकों को दान देने में बिताये। दस दिनों तक इसी प्रकार के विसर्जन अन्य संन्यासियों के प्रति हुए और शेष तीस दिनों तक हर्ष दरिद्रों, यतीमों को धन बाँटता रहा। अब तक राजकोष का धन समाप्त हो चुका था और तब हर्ष अपने पहने वस्त्राभूषणों पर टूटा।[1] भारतीय नरेश का यह अपार्थिव अभूतपूर्व विसर्जन कृत्य था। उसका त्याग देख दिशाएँ मूक थीं। आकाश निःशब्द! यात्री स्तब्ध! ७५ दिनों तक यह दान-लीला जो चलती रही थी, बौद्ध-पौराणिकों ने उसकी प्रशस्ति कही, गाथाओं ने उसकी अक्षय कीर्ति गायी और इतिहासकारों ने उसकी परिषद् अमर कर दी। परन्तु दूर के गाँवों में नरकंकाल अपने खेतों में अन्न-कणों की खोज में फिरते रहे, अपनी विडम्बना पर अमानवी अट्टहास करते रहे और उनके विक्षिप्त उल्लास पर उनके दारिद्र्य का प्रेताण्डव होता रहा। प्रत्येक पाँच वर्षों के बाद होनेवाले इस महामोक्ष परिषद् की ज्वाला में प्रजा की गाढ़ी कमाई स्वाहा होती रही और उस अनन्त जनसम्पदा को अनुत्तरदायी हर्ष खुली मुट्ठियों इस जीवन में लुटाता और आगामी जीवन की नींव जमाता रहा। अनन्त लघु कृमियों के संघट्ट पर एक विशालकाय कीट अकेला उलट रहा था।

महामोक्ष-परिषद्

हुएन्-त्सांग के वर्णन से विदित होता है कि इस काल बौद्ध, ब्राह्मण और जैन तीनों धर्मों का भारत में प्रचार था। इनमें से जैन-धर्म का अवसान हो रहा था। केवल वैशाली, पुण्ड्रवर्धन और समतट में दिगम्बर जैनों की संख्या प्रचुर थी। यात्री लिखता है कि बौद्ध-धर्म का प्रचार प्रचुर था और अनेक स्थानों में वह उन्नति कर रहा था। केवल कोशाम्बी, श्रावस्ती और वैशाली में उसका ह्रास हो रहा था। महायान-संप्रदाय हीनयान से उन्नति में कहीं आगे था। यात्री अपने धर्म के अठारह संप्रदायों का उल्लेख करता है, जो अपने सिद्धान्तों में सर्वथा परस्पर-विरोधी थे।[2] हुई-ली का कहना है कि भारत में तब अनेक प्रकार के संन्यासी थे, जिनको भूत, कापालिक, जुतिक, सांख्य, वैशेषिक आदि कहते थे। यात्री के वर्णन का यह प्रसंग 'हर्ष-चरित'[3] द्वारा भी सर्वथा अनुमोदित हो जाता है। उसमें केशलुञ्चक, पाशुपत, पाञ्चरात्रिक, भागवत आदि परिव्राजकों का हवाला मिलता है। ब्राह्मण-धर्म के विशिष्ट केन्द्र काशी और प्रयाग थे और

धार्मिक स्थिति

---

१ जीवनचरित, पृ० १८३-८७। २ वाटर्स, १, पृ० १६२।

३ H. C. T. पृ० ३३, ४९, २३६।

इसके मुख्य देवता शिव और विष्णु, जिनके अनेक मन्दिर थे और जिनकी पूजा बड़ी धूम-धाम से होती थी।[१] ब्राह्मण अग्नि और गाय के प्रति श्रद्धा करते तथा सौभाग्य और समृद्धि के लिए अनेक अनुष्ठान करते थे।[२] अनेक दर्शनों के अनुयायी इस काल में विद्यमान थे।[३] हुएन्-त्सांग कहता है कि परिव्राजक अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार क्रियानुष्ठान करते और वेश धारण करते थे। वे अपना जीवन-यापन भिक्षा से करते थे और सत्य की खोज में उन्हें सब प्रकार के शारीरिक कष्ट स्वीकार थे।[४]

हर्ष का व्यक्तित्व

धर्म

हर्ष के व्यक्तिगत धर्म के विषय में कुछ विद्वानों ने सन्देह किया है। उनका विचार है कि वह बौद्ध नहीं, हिन्दू था। उसके तीन पूर्वज सूर्य के उपासक थे और वह स्वयं कम-से-कम अपने २५ वें शासन-वर्ष (६३१ ई०) तक 'परम माहेश्वर' (शिव का पूजक) था।[५] प्रयाग के अधिवेशन में भी उसने सूर्य और शिव की मूर्तियाँ पूजीं। परन्तु यह सन्देह निराधार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हर्ष अशोक अथवा कनिष्क की भाँति 'सद्धर्म' का प्रचारक तो न था, परन्तु उसका उपासक वह अवश्य था। इसमें उसके अनेक कृत्य प्रमाण हैं। कश्मीर देश से उसने बुद्ध का दाँत बलपूर्वक हरण करके कन्नौज के संघाराम में रखा।[६] प्रति वर्ष बौद्ध-सिद्धान्तों के मनन और विश्लेषण के अर्थ वह बौद्ध-भिक्षुओं का अधिवेशन करता था। उसने विहार और स्तूप भी बनवाये थे।[७] पशुओं का हनन और मांस-भक्षण उसने अपने राज्य में दण्डनीय अपराध घोषित किये।[८] उसका पुण्यशालाएँ बनवाना और दरिद्रों में निःशुल्क भोजन तथा औषधि वितरण भी संभवतः बौद्ध-प्रभाव से ही अनुप्राणित थे।[९] परन्तु निस्सन्देह हर्ष धार्मिक मामलों में असहिष्णु और कट्टर न था। हिन्दू देवताओं और ब्राह्मणों आदि का भी आदर करता था। प्रयाग के अधिवेशन में उसने सूर्य और शिव की मूर्तियाँ पूजीं तथा ब्राह्मणों और अन्य धर्मावलंबियों को भोजन कराया तथा दान दिये।

हर्ष विद्वानों का आदर करता था और स्वयं नाट्यकार था। नालन्दा का प्रख्यात विद्या-केन्द्र उसकी संरक्षता में उन्नति कर रहा था। राजकीय खेतों की आय का चौथा भाग वह विद्वानों को पुरस्कृत करने में व्यय करता था।[१०] जयसेन नामक एक बौद्ध विद्वान् को उसने उड़ीसा के अस्सी नगरों की वार्षिक आय दान कर दी, यद्यपि जयसेन ने उसे लेना स्वीकार न किया।[११] उसके दरबार में बाणभट्ट, मयूर और मातंग-दिवाकर-से प्रख्यातनामा कवि थे। बाण 'हर्षचरित', 'चण्डीशतक' और 'कादम्बरी' के पूर्वार्द्ध का रचयिता था और मयूर

---

१ वही पृ० ४४। २ वही, पृ० ४४-४५; ७१, ९०, १३०। ३ वही, पृ० २३९।
४ वाटर्स, 1, पृ० १६०-६१। ५ बाँसखेरा और मधुवन के लेख।
६ जीवनचरित, पृ० १८१, १८३। ७ वाटर्स 1, पृ० ३४४।
८ वही; बील, 1, पृ० २१४। ९ वही।
१० वाटर्स, 1, पृ० १७६ ; बील, 1, पृ० ८७। ११ जीवन चरित, पृ० १५४।

'सूर्यशतक' का। स्वयं हर्ष को 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली' तथा 'नागानन्द' नामक तीन नाटकों का रचयिता कहा जाता है। बाण[1] सोड्ढल[2] (ग्यारहवीं शती) और जयदेव[3] (१२वीं शती) ने उसकी काव्य-प्रतिभा की बड़ी प्रशंसा की है। कुछ विद्वानों ने ऊपर बताये नाटकों को हर्ष की रचना होने में संदेह किया है। यह सन्देह वास्तव में प्राचीनों ने भी किया था। ग्यारहवीं शती के मम्मट और सत्रहवीं शती के नागोजी तथा परमानन्द ने भी कभी इस प्रकार के सन्देह किये थे। उनका कहना था कि संभवतः ये नाटक धावक नामक कवि के थे और उसने धन के लोभ से उन्हें हर्ष के नाम से प्रकाशित किया। इन परस्पर-विरोधी प्रमाणों के रहते हुए कुछ निश्चय रूप से कहना कठिन है, यद्यपि यह सत्य है कि अनेक राजाओं ने भारती की सेवा की है और अपनी रचनाओं से यश का विस्तार किया है।

विद्या-व्यसन और विद्वानों का संरक्षण

प्रायः चालीस वर्ष राज्य करके हर्ष ६४७ या ६४८ में मरा। उसके मरते ही उसका विशाल साम्राज्य तितर-बितर हो गया। कामरूप (आसाम) के भास्करवर्मन् ने कर्णसुवर्ण और उसके आसपास की भूमि पर अधिकार कर लिया और वहाँ उसने भूमि दान की।[4] मगध में माधवसेन के पुत्र आदित्यसेन ने स्वतंत्रता घोषित कर साम्राज्योचित विरुद धारण किये और अश्वमेध किया।[5] कश्मीर में करकोटक और राजपूताना में गुर्जर प्रबल हो उठे। हर्ष के साम्राज्य के भग्नावशेष पर अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य उठ खड़े हुए और वे भारत की साम्राज्य-सत्ता को स्वायत्त करने के लिये परस्पर संघर्ष करने लगे। महोदय (कन्नौज) फिर भी उत्तर भारत का केन्द्र बना रहा और अनेक राजकुल 'महोदयश्री' को अपनाने के लिए सन्नद्ध हुए। आगे की अनेक सदियों का इतिहास कन्नौज की छीना-झपटी का इतिहास है।

हर्ष के कोई पुत्र नहीं था। इससे उसकी मृत्यु के बाद अवसर पाकर उसके मंत्री अर्जुन (अरुणाश्व) ने कन्नौज के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। इसी समय हर्ष के दौत्य के उत्तर में चीनी सम्राट् के भेजे दूत राजधानी में पहुँचे। अर्जुन ने उनको मरवा डाला; परन्तु उनका नेता वांग-हुएन्-त्से किसी प्रकार बचकर निकल भागा। तिब्बत के राजा स्रांग-त्सान्-गम्पो और नेपाल की सहायता से उसने अर्जुन को दो बार हराया। उसे पकड़कर वह चीन ले गया और सम्राट् की सेवा में उसने भेंट की।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. त्रिपाठी : History of Ancient India.
२. त्रिपाठी : History of Kanauj.

---

1 Hc. C. T., पृ० ५८, ६५।
2 उदयसुन्दरीकथा, पृ० २ (गायकवाड़ सीरिज का नं० ११)।
3 प्रसन्नराघव, १, २२।
4 EP. Ind., १२, पृ० ६६।
5 C. I. I. ३, पृ० २१२-१३।

३. स्मिथ : Early History of India, चतुर्थ संस्करण।
४. बील : Translation of *Travels.*
५. वाटर्स : Translation of *Travels.*
६. हुइ-ली : Life of Huen-Tsang.
७. टामस और कावेल : Translation of *Harsacarita.*
८. Proceedings of Indian History Congress.
९. संकालिया : The University of Nalanda.
१०. *Epigraphia Indica*, ४, ६, १२।

खण्ड ६

हिन्दू-मध्य-काल

इक्कीसवाँ परिच्छेद

राजपूत-काल

१. यशोवर्मन्

हर्ष की मृत्यु के ७५ वर्ष बाद तक कन्नौज का इतिहास तमाच्छादित है। ७२५ ई० के लगभग सहसा एक शक्तिमान नृपति कन्नौज के सिंहासन पर आरूढ़ होता है। वह है यशोवर्मन्। वह किस राजकुल का है, यह कहना अत्यन्त कठिन है। कुछ विद्वानों ने उसे मौर्य-कुल का और अन्यों ने मौखरि-राजवंश का बताया है; परन्तु वास्तव में दोनों विचारों में कोई सही नहीं जान पड़ता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यशोवर्मन् उस काल का शक्तिमान राजा था। वह कश्मीर के दिग्विजयी नृपति ललितादित्य मुक्तापीड़ का समकालीन था। उसने चीनी सम्राट् के पास सन् ७३१ ई० में अपना दूत भेजा था। 'गौड़वहो' का रचयिता यशोवर्मन् को असाधारण विजेता कहता और उसे अनेक विजयों का गौरव प्रदान करता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्राकृत काव्य के कवि ने नायक की प्रशस्ति में अतिरंजन किया है; परन्तु निस्सन्देह उसका मगधराज से मुठभेड़ सत्य वृत्तान्त पर अवलंबित है। यह 'मगधनाथ' संभवतः जीवितगुप्त द्वितीय था, जिसे यशोवर्मन् ने कठिन समर के बाद परास्त किया था। यशोवर्मन् स्वयं भी सदा गौरवान्वित न रह सका और कश्मीर-नृपति ललितादित्य मुक्तापीड़ ने ७३३ ई० में उसे परास्त कर दिया। यशोवर्मन् ने संभवतः ७२५ ई० से ७५२ ई० तक राज किया। उसके वंशज नाममात्र के राजा थे।

यशोवर्मन् विद्वानों का आदर करता था। प्राचीन भारतीय साहित्य के दो विख्यात निर्माता—भवभूति और वाक्पतिराज—उसके समकालीन थे। भवभूति कवि और नाट्यकार

थे। उनकी कृतियाँ तीन हैं—(१) 'उत्तर रामचरित', (२) 'मालती माधव' और (३) 'महावीरचरित'। वाक्पति ने प्राकृत में गौड़वहो लिखा।

२. आयुध-कुल

यशोवर्मन् की मृत्यु के लगभग बीस वर्षों बाद कन्नौज के सिंहासन पर एक नये कुल का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे विद्वान् आयुध-कुल कहते हैं। आयुध-कुल वास्तव में किसी वंश-विशेष का नाम नहीं था, बल्कि इस कुल के राजाओं के नाम के अन्त में 'आयुध' शब्द जुड़ा मिलने के कारण ही इसकी यह संज्ञा हो गयी है।

वज्रायुध

आयुधों के कुल का कुछ पता नहीं। इतना अवश्य निश्चित विदित है कि आयुध वंश में तीन राजा हुए—(१) वज्रायुध, (२) इन्द्रायुध और (३) चक्रायुध। इनमें से वज्रायुध का नाम 'कर्पूरमंजरी'[१] में स्पष्ट उल्लिखित है। इस समय में वज्रायुध का कश्मीरी समकालीन नृपति जयापीड़ विनयादित्य (७७९-८१० ई०) था। कश्मीरी राजाओं को मध्यदेश पर आक्रमण करने का चस्का लग गया था। ललितादित्य मुक्तापीड़ ने ही इधर का मार्ग खोल दिया था। जयापीड़ विनयादित्य ने कन्नौज पर चढ़ाई करके वज्रायुध को परास्त कर दिया। कश्मीर के इस नृपति ने कन्नौज के किस राजा को हराया, यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता; परन्तु इतना निस्सन्देह है कि वह वज्रायुध अथवा इन्द्रायुध में से कोई था। वज्रायुध संभवतः ७७० ई० के लगभग कन्नौज की गद्दी पर बैठा था। यदि विनयादित्य का आक्रमण उसके राजकाल के आरंभ में हुआ तो उसका कन्नौज-प्रतिद्वन्द्वी वज्रायुध रहा होगा, वरन् इन्द्रायुध। इन्द्रायुध, जैसा कि जैन 'हरिवंश'[२] से प्रमाणित है, ७८३-८४ ई० में राज कर रहा था। ध्रुव राष्ट्रकूट ने भी कन्नौज पर चढ़ाई की। कन्नौज गंगा-यमुना द्वाब का स्वामी था। इससे कश्मीरी, पाल, राष्ट्रकूट, सभी उसपर अपनी आँख गड़ाये हुए थे। विनयादित्य के लौटते-न-लौटते ध्रुव राष्ट्रकूट (७७९-९४ ई०) पहुँचा और उसने कन्नौज-नृपति को हराकर अपनी विजय के उपलक्ष्य में अपने परिच्छद (राज-चिह्नों) में गंगा और यमुना को भी स्थान दिया। ध्रुव को द्वाब-विजय करके लौटते देख धर्मपाल चुप बैठा न रह सका। उत्तर भारत का वह अपने को अधिराट् समझता था और इस दक्षिणापथ के नृपति का उसका अंकागतवृत्ति हड़प जाना उचित न जान पड़ा। वह कन्नौज पर चढ़ दौड़ा। इन्द्रायुध उसके ताप को न सह सका और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। धर्मपाल ने उसे केवल हराकर ही न छोड़ा, वरन् सिंहासनच्युत भी कर दिया। उसके स्थान पर उसने चक्रायुध को राजा बनाया।

इन्द्रायुध

परन्तु राष्ट्रकूट-नृपति को यह राजनीतिक व्यवस्था पसन्द न आयी। धर्मपाल ने उत्तर भारत में अधिराट् का स्वत्व ग्रहण कर लिया था, जो राष्ट्रकूटों को स्वीकार न था। इस कारण दोनों कुलों में संघर्ष अनिवार्य हो गया। अमोघवर्ष के सन्जन लेख से विदित

---

१ अंक १, ५, पृ० ७४, १६६ (कोनो और लन्मान का संस्करण)।

२ Bom. Gaz., १, २, पृ० १९७, नोट २; Ind. Ant., १५, पृ० १४१-४२।

होता है कि धर्मपाल और चक्रायुध दोनों ने गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट (ल० ७६४ ८१४ ई०) को आत्मसमर्पण कर दिया।[१] गोविन्द ध्रुव का पुत्र था। पाल-राष्ट्रकूट-संघर्ष ने द्वाब की प्रजा को तबाह कर डाला और कन्नौज के राजा का दुर्बल होना दोनों की लोभाग्नि में इंधन का काम करने लगा। उसपर एक तीसरा राजकुल भी दाँत गड़ाये था। वह था प्रतीहारों का। प्रतीहार-राज द्वितीय ने मौका पाकर चक्रायुध पर आक्रमण किया। युद्ध में उसकी विजय हुई। उसने कन्नौज जीतकर अपने राज्य में मिला लिया और वहाँ प्रतीहार-कुल की प्रतिष्ठा की।[२] 'महोदयश्री' उसकी हो गयी; परन्तु अब संघर्ष, पाल-राष्ट्रकूट-प्रतीहार वंशों में तीन-तरफा हो गया।

चक्रायुध

३. प्रतीहार-सम्राट्

प्रतीहार सम्राटों का मूल निवास जोधपुर रियासत में मन्दौर था। वहीं पहले-पहल हरिचन्द के कुल ने डेरा डाला और एक छोटे इलाके पर राज करना शुरू किया। शीघ्र इनकी दो शाखाएँ और हो गयीं—उज्जैन और कन्नौज की; परन्तु संभवतः वही घराना तीनों स्थानों पर राज करता था, केवल समय-समय पर राजधानियाँ तीन हुईं। जैन 'हरिवंश'[३] के अनुसार जिस गुर्जर वत्सराज ने अवन्ती में शासन किया था, वह नागभट द्वितीय का पिता था। अमोघवर्ष प्रथम के सन्जन-लेख में भी प्रतीहार-राज को 'गुर्जरराज'[४] ही कहा गया है। राजोर के लेख[५] में प्रतीहारों के प्रति 'गुर्जरप्रतीहारान्वयः' पद का प्रयोग हुआ है जिससे भी उनका गुर्जर होना सिद्ध है। इसी प्रकार अरब-इतिहासकारों ने भी उन्हें गुर्जर ही कहा है। प्रतीहारों के कुछ लेख[६] अवश्य उन्हें सूर्यवंशी और लक्ष्मण से उत्पन्न कहते हैं; परन्तु उनके इस वृत्तान्त पर विश्वास करना कठिन है। यदि वे गुर्जर जाति के हैं, जो ऊपर दिये अनेक प्रमाणों से सिद्ध है, तो निस्सन्देह वे विदेशी थे और हूणों से कुछ ही पीछे मध्य-एशिया से आकर राजपूताना और गुजरात आदि में आ बसे थे। उनके संबंध से ही गुजरात का यह नाम पड़ा। बाण के 'हर्षचरित' से पूर्व संभवतः भारतीय साहित्य में गुजरात का यह नाम नहीं मिलता, जिससे जान पड़ता है कि यह नाम उसे भारत में गुर्जरों के आने के बाद ही मिला।

विदेशी राजकुल

नागभट प्रथम इस कुल का पहला नृपति था। वह सशक्त नृपति जान पड़ता है; क्योंकि उसने सिन्ध के मुसलमानों को परास्त किया और भड़ोच तक चढ़ाई की।[७] दूसरा

---

१ Ep. Ind., १८, पृ० २४५, २५३, श्लोक २३।

२ वही, पृ० १०८, ११२, श्लोक ९।

३ Bom. Gaz., १, २, पृ० १९७, नोट २; Ep. Ind., ६, पृ० १९५-९६।

४ Ep. Ind., १८, पृ० २४३, २५१, श्लोक ९।

५ वही, ३, पृ० २६३-६७।

६ वही, १८, पृ० ९५, ९७, श्लोक ४; वही, पृ० १०७, ११०, श्लोक ३।

७ वही, १२, पृ० २०२, २०४, पं० ६४।

शक्तिशाली नरेश वत्सराज हुआ, जो संभवतः नागभट का प्रपौत्र था। अपने कुल को यशान्वित करने का श्रेय इसी राजा को है। उसने छोटी-मोटी अनेक लड़ाइयाँ जीतीं, परन्तु उसकी विशिष्ट विजय गौड़-नृपति धर्मपाल के ऊपर हुई।[1] परन्तु स्वयं वत्सराज को भी राष्ट्रकूट-राज ध्रुव से परास्त होकर मरुभूमि की शरण लेनी पड़ी। गुर्जर-प्रतीहारों का उत्कर्ष आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में आरंभ हुआ था और वत्सराज का देहान्त संभवतः ८०५ ई० में हुआ।

नागभट, वत्सराज

वत्सराज के बाद उसका पुत्र नागभट द्वितीय राजा हुआ और गद्दी पर बैठते ही उसने अपने समकालीन राजाओं के साथ संघर्ष करना शुरू कर दिया। पहली मुठभेड़ उसकी पिता के शत्रुओं, दक्षिण के राष्ट्रकूटों से हुई, जिसमें उसे मुँह की खानी पड़ी। वत्सराज को ध्रुव ने परास्त किया था, नागभट को गोविन्द तृतीय ने हराया। यह वास्तव में उत्तर भारत की राजधानी कन्नौज (महोदयश्री) के लिए, राष्ट्रकूट, पाल और प्रतीहार— तीन प्रमुख राजशक्तियों का संघर्ष था। तीनों कुलों में संयोग-वश इस काल दुर्मद शासक हुए थे। नागभट पहले तो परंपरा के अनुसार कुल-शत्रुओं के विरुद्ध दक्षिण की ओर बढ़ा; परन्तु उधर गोविन्द के कारण उसकी प्रसर-लिप्सा सफल न हो सकी, तब वह पूरब की ओर बढ़ा और कन्नौज के दुर्बल नरेश चक्रायुध को भगाकर उसने उसकी राजधानी पर अधिकार कर लिया। ८१४ ई० में गोविन्द की मृत्यु हो जाने के कारण राष्ट्रकूट चुप रह गये; परन्तु चक्रायुध का संरक्षक गौड़ाधिपति धर्मपाल प्रतीहार का यह उत्कर्ष न देख सका। दोनों में बिहार के मुंगेर नामक स्थान पर घोर संग्राम हुआ, जिसमें नागभट विजयी हुआ। इस विजय ने उत्तर भारत में नागभट की शक्ति जमा दी और आंध्र, विदर्भ कलिंग, सिन्ध आदि के राजाओं ने उससे मित्रता की। नागभट के ग्वालियरवाले लेख[2] से विदित होता है कि उसने उत्तरी काठियावाड़, मालवा (पश्चिमी) और कौशाम्बी (इलाहाबाद जिले में) जीती और हिमालय के किरातों तथा सिन्ध के अरबों को परास्त किया।

नागभट द्वितीय

नागभट के पश्चात् कन्नौज की गद्दी पर रामभद्र बैठा, परन्तु उसने कुल की प्रतिष्ठा खो दी। अनेक प्रान्त शीघ्र उसके हाथ से निकल गये। परन्तु भाग्यवशात् उसका पुत्र मिहिर भोज, जो ८३६ ई० के लगभग राजा हुआ, बड़ा प्रबल हुआ। उसने शीघ्र कुल की विचलित राज्यलक्ष्मी को दृढ़ किया और पिता द्वारा खोए अनेक प्रान्त फिर से अपने राज्य में मिला लिये। इस प्रकार बुन्देलखण्ड[3] और गुर्जरत्राभूमि[4] (मारवाड़) फिर से प्रतीहारों के प्रान्त बन गये। उत्तर में भी उसकी सीमा गोरखपुर[5] के संपन्न देश के पार हिमालय तक जा पहुँची। उसके दानपत्रों के वितरण से जान पड़ता है कि

मिहिर भोज

---

१ वही, ६, पृ० २४१, २४८, श्लोक ८; Ind. Ant., ११, पृ० १५७, १६१, पं० १२। २ Ep. Ind., १८, पृ० १०८, ११२, श्लोक ११।

३ वही, १९, पृ० १५-१९ (बराह ताम्रपत्र)।

४ वही, ५, पृ० २०८-१३ (दौलतपुर, मध्यप्रान्त)।

५ वही, ७, पृ० ८५-९३ (कहला ताम्रपत्र)।

मिहिर भोज मध्यदेश का सबसे यशस्वी शासक था। परन्तु इस कारण ही उसे कुल के पुराने शत्रुओं पाल और राष्ट्रकूट-राजाओं के संघर्ष में आना अनिवार्य था। गौड़ के सिंहासन पर इस समय पिता से भी अधिक युद्ध-दुर्मद और नीतिकुशल नृपति देवपाल था। उसकी प्रसर-लिप्सा असीम थी और कन्नौज की ओर आँख लगाये था। उधर उसका रुख करना अपने पिता धर्मपाल की पराजय और अपमान के प्रतिशोध के लिए भी स्वाभाविक था। युद्ध जो हुआ तो उसमें देवपाल ने 'गुर्जरनाथ के दर्प को खर्व कर दिया।'[1] मिहिर भोज नीतिविशारद था। उसने झट पूर्व की ओर से मुँह मोड़ लिया। इस सम्बन्ध में उसने अपने पूर्वज नागभट द्वितीय की नीति अपनायी। नागभट ने दक्षिण में राष्ट्रकूटों से मुँह की खाकर पूर्व की ओर रुख किया था। मिहिर भोज पूर्व में पराजित होकर राष्ट्रकूटों की ओर बढ़ा। राष्ट्रकूटों ने 'महोदयश्री' का मोह अभी छोड़ा न था और जब वे कन्नौज को स्वायत्त न कर सके, तब समय-समय पर उन्होंने उसके समृद्ध नगरों पर छापे मारने शुरू किये थे। दक्षिण राजपूताना और मालवा की भूमि को रौंदता हुआ भोज नर्मदा तक जा पहुँचा। इस दशा में उसका राष्ट्रकूटों से टकरा जाना स्वाभाविक ही था, परन्तु फिर भी उनकी मुख्य शाखा चुप कर गयी। लेकिन उनकी गुजरात-शाखा, जिसकी अधिकतर भूमि प्रतीहारराज ने जीती थी, चुप न रह सकी। ध्रुव द्वितीय धारावर्ष अपनी विशाल सेना लिये निकला और मिहिर भोज को परास्त होना पड़ा। यह युद्ध ८६७ ई० के पूर्व ही लड़ा गया था।[2] अब राष्ट्रकूटों की मुख्य शाखा भी जागी और कृष्ण द्वितीय सयत्न हुआ। परन्तु कृष्ण और भोज कुछ काल तक समर द्वन्द्व में गुँथे रहे—स्पष्ट हार-जीत किसी की न हो सकी। मिहिर भोज निस्सन्देह शक्तिशाली नृपति था और उसने करनाल[3] और पश्चिम-दक्षिण में सौराष्ट्र (काठियावाड़) तक[4] अपनी विजय-पताका फहरायी। ८५१ ई० में लिखता हुआ अरब-पर्यटक सुलेमान भोज के शासन की प्रशंसा करता है। उसका कहना है कि भोज का शासन निरापद था और उसके राज्य में चोर-डाकुओं का सर्वथा अभाव था। उसका राज्य समृद्ध था। भोज को उसने सिन्ध के अरबों के प्रति अनुदार और इस्लाम का भारत में सबसे प्रबल शत्रु कहा है।[5] मिहिर भोज प्रायः आधी शताब्दी तक राज कर संभवतः ८८५ ई० में मरा।

मिहिर भोज की मृत्यु के बाद उसका पुत्र निर्भयराज महेन्द्रपाल प्रथम ८८५ ई० के लगभग कन्नौज का राजा हुआ। पिता की ही भाँति महेन्द्रपाल भी उत्साही विजेता था और उसने अपनी प्रबलता से गौड़ के पालों की शक्ति तोड़ दी। उसके अभिलेखों से प्रमाणित है कि उसने पालों से मगध और उत्तर बंगाल छीन लिया। ऊना[6] (जूनागढ़ स्टेट) के

१ Ep. Ind., २, पृ० १६३; १६५, श्लोक १३.।
२ Ind. Ant., १२, पृ० १६४, १८९, श्लोक ३८.।
३ Ep. Ind., १, पृ० १८४-१९०.।
४ Ind. Hist. Quart., ५, (१९२९), पृ० १२९-३३.।
५ इलियट : History of India, १, पृ० ४.।
६ Ep. Ind., ९, पृ० १-१०।

लेखों से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल ने सौराष्ट्र पर अधिकार कर लिया था और वहाँ बलवर्मन और अवनिवर्मन द्वितीय योग नामक माण्डलिक नृपति राज करते थे। इन लेखों से प्रगट है कि ८९३ ई० और ८९९ ई० तक कम-से-कम उसका अधिकार उस प्रदेश पर बना रहा था। पेहोवा[1] (करनाल) के लेख से प्रमाणित है कि महेन्द्रपाल भी अपने पूर्वजों की ही भाँति कुरुक्षेत्र की भूमि पर अपना अधिकार सुरक्षित रख सका। इन लेखों से सिद्ध है कि उसके साम्राज्य का प्रसार पश्चिम से पूर्व में पूर्वी पंजाब से पश्चिमी बंगाल तक और उत्तर से दक्षिण में गोरखपुर के समीप हिमालय की तराई से नर्मदा तक था। केवल उत्तर-पश्चिम में उसकी शक्ति को कुछ धक्का पहुँचा। 'राजतरङ्गिणी' के एक श्लोक से विदित होता है कि 'अधिराज' भोज (मिहिर भोज) ने पंजाब में ठक्किय कुल के कश्मीरी राजा से उसके कुछ इलाके छीन लिये थे। परन्तु महेन्द्रपाल के शासन-काल में कश्मीरी नृपति ने उन्हें फिर से जीत लिया।[2] इस घटना के अतिरिक्त महेन्द्रपाल के राज्य-काल में सीमाओं का किसी प्रकार ह्रास नहीं हुआ।

महेन्द्रपाल प्रथम निर्भयराज

निर्भयराज साहित्यकारों का संरक्षक था। उसके दरबार में विद्वान् साहित्यिक और कवि राजशेखर का निवास था। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा', 'कर्पूरमञ्जरी', 'बालरामायण', और 'बालभारत' नामक ग्रन्थों की रचना की। महेन्द्रपाल ९१० ई० के लगभग मरा।

महीपाल

महेन्द्रपाल के बाद उसके साम्राज्य का स्वामी उसका पुत्र भोज द्वितीय हुआ। परन्तु उसका राज्यारोहण निर्विघ्न संपन्न न हो सका। पिता के मरते ही उसके भाई महीपाल ने भी सिंहासन के लिए जोर मारा। महीपाल भोज की विमाता का पुत्र था। भोज ने चेदिराज कोकल्ल[3] की सहायता से पिता का सिंहासन प्राप्त तो अवश्य कर लिया, परन्तु उसपर वह अधिक दिनों तक बैठ न सका। महीपाल ने चन्देलराज हर्षदेव[4] की सहायता से कन्नौज के राज्य पर अधिकार कर लिया। भोज ने मुश्किल से एकाध वर्ष शासन किया था कि उसका राजदण्ड छिन गया। महीपाल संभवतः ९१२ ई० में गद्दी पर बैठा। कन्नौज की राजनीतिक परिस्थिति देख राष्ट्रकूट फिर सजग हुए और इन्द्र तृतीय ने कन्नौज नगर को तहस-नहस कर डाला।[5] अभी प्रतीहार इस आक्रमण से सँभले भी न थे कि पालों ने हमला किया और शोणनद तक की सारी भूमि फिर अपने राज्य में मिला लिया। इन्द्र ने अपने सामन्त नरसिंह चालुक्य के साथ प्रयाग तक के देश को मनमाना लूटा था। अब पालों के आक्रमण ने प्रतीहार-राज्य के जोड़-जोड़ ढीले कर दिये। फिर भी महीपाल धीर और नीति-कुशल नरेश था। उसने राष्ट्रकूटों और पालों के अत्याचार चुपचाप सह लिये और मौके की उम्मीद में बैठ रहा। 'प्रचण्ड-पाण्डव' काव्य के एक श्लोक[6] से विदित होता है कि जिस अवसर की प्रतीक्षा में वह बैठा था, वह उसे

---

१ Ep. Ind. १, पृ० २४१-५० (प्रशस्ति) २ १, ५, १५१

३ वही, पृ० २५६, २६४, श्लोक १७ ; वही, २, पृ० ३०६, श्लोक ७।

४ वही, १, पृ० १२२, पंक्ति १०।

५ वही ७, पृ० ३८, ४३ श्लोक १९। ६ १; ७।

मिला और उसने कुछ देश जीते। उस श्लोक में जिस विजित राज्यों और प्रान्तों के नाम दिये हुए हैं, वे इस प्रकार हैं—नर्मदा और अमरकंटक की मेखला, उड़ीसा, केरल (मालाबार), कुलुत कुन्तल आदि। कहने की आवश्यकता नहीं कि अतिरंजन इस प्रशस्ति का प्राण है। इससे केवल इतना जान पड़ता है कि अपने उत्कर्ष के लिए वह सयत्न रहा और कुछ इलाके उसने जीते; परन्तु कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट ने फिर एक बार उसकी आशाओं पर पानी फेर दिया। उत्तर की ओर बढ़कर उसने प्रतीहार नृपति के राज्य को विशेष खतरे में डाल दिया।[1] अरब-पर्यटक अल्-मसऊदी ने महीपाल के शासन-काल में सिन्ध-भ्रमण किया और ९४३-४४ ई० में अपना भ्रमण-वृत्तान्त लिखा। उसमें उसने प्रतीहारराज की शक्ति की सराहना की है।[2] ९४४ ई० के लगभग महीपाल का देहान्त हुआ और महेन्द्रपाल द्वितीय राजा हुआ।

महेन्द्रपाल द्वितीय ने अपना पैतृक राज्य दो-तीन वर्ष किसी प्रकार सँभाला; परन्तु उसके उत्तराधिकारी देवपाल (लगभग ९४८ ई०) के समय में साम्राज्य बिखर चला। सबसे पहले चन्देलों[3] ने सिर उठाया। फिर विजयपाल और राज्यपाल के समय अन्य स्वतंत्र राष्ट्र भी उठ खड़े हुए। दसवीं शती के अन्त में भारत पर मुसलमानी हमले होने लगे थे, जिनकी चोट राज्यपाल के इलाकों पर भी पड़ी।[4] जयपाल और आनन्दपाल ने जब मुसलमानों से लड़ने के लिए राज्यों की सेनाएँ संगठित कीं तब राजपाल ने भी क्रमशः ९९१ ई० और १००८ ई० में अपनी सेना भेजी। पहली बार सुबुक्तगीन और दूसरी बार उसके पुत्र महमूद ने हिन्दू सेनाओं के पैर उखाड़ दिये। महमूद ने १०१८ ई० में कन्नौज पर भी चढ़ाई की। राज्यपाल मैदान छोड़ गंगा पार भाग गया। इसपर चन्देल नृपति गण्ड ने अपने पुत्र को सेना देकर उसके विरुद्ध भेजा। राज्यपाल मारा गया और उसका पुत्र त्रिलोचनपाल कन्नौज का स्वामी हुआ।[5] महमूद अगले साल फिर लौटा और त्रिलोचनपाल की बुरी हार हुई। इस कुल का अन्तिम राजा यशपाल था, जिसके १०३६ ई० के एक लेख से जान पड़ता है कि प्रतीहारों की किसी-न-किसी प्रकार उस साल तक सत्ता बनी रही।

महेन्द्रपाल, देवपाल, विजयपाल, राज्यपाल

४. गहडवाल-नृपति

गुर्जर-प्रतीहार-साम्राज्य के भग्नावशेष पर सात राज्य खड़े हुए—(१) अन्हिलवाड के चालुक्य, (२) जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देल, (३) ग्वालियर के कच्छपघात,

---

१ History of Kanauj, पृ० २६७-६८।
२ इलियट: History of India, १, पृ० २१-२३।
३ Ep. Ind. पृ० १२६-२८, १३२-३३ श्लोक २३, ३१।
४ ब्रिग्स्: History of the Rise of the Mohemmedan Power १, पृ० १८, ४६।
५ History of Kanauj, पृ० २८५-८७।

(४) डाहल के चेदि, (५) मालवा के परमार, (६) दक्षिण राजपूताना के गुहिल और (७) शाकम्भरी के चाहमान। इनके अतिरिक्त कनौज की केन्द्रीय भूमि पर गहडवालों की प्रधान शाखा प्रतिष्ठित हुई। यह राजपूतों का आठवाँ कुल था। १०३० ई० और १०८० ई० के बीच कन्नौज केन्द्रीय मध्य-देश राजनीतिक दस्युओं की क्रीड़ाभूमि हो गया। गांगेयदेव चेदि, उसके पुत्र कर्ण और भोज परमार ने अपने उपद्रवों से उसे क्षत-विक्षत कर डाला। १०३३ ई० में पंजाब के अफगान-शासक निआल्तिगिन ने काशी तक धावा मारा। इस मात्स्यन्याय की उथल-पुथल में मध्य-देश की प्रजा पिसती रही, तब चन्द्रदेव नामक गहडवाल-वीर ने अपने 'विक्रम से प्रजा की विपत्ति दूर की।'[1]

गहडवाल कौन थे—यह कहना कठिन है। कुछ विद्वानों ने उन्हें राष्ट्रकूटकुलीय कहा है, परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि अपने अभिलेखों में गहडवालों ने कहीं अपने को सूर्य-अथवा चन्द्रवंशीय राजपूत नहीं कहा। उनकी ख्यातें अवश्य उन्हें ययातिवंशीय कहती हैं। उनका मूल चाहे जो हो, इतना सत्य है कि उनके राजकुल की नींव चन्द्रदेव ने १०८० ई० और १०८५ ई० के बीच गोपाल नामक व्यक्ति को हराकर डाली।[2] उसकी राजधानी कन्नौज थी। चूँकि उसने आरम्भ में ही सम्राटों के विरुद धारण कर लिये, स्पष्ट है कि वह स्वतंत्र नृपति था। अपने अभिलेख में वह अपने को काशी, अयोध्या, कान्यकुब्ज (कन्नौज) और इन्द्रस्थान (दिल्ली) का त्राता[3] कहता है, जिससे इन स्थानों का उसकी राज्य-सीमाओं के अन्तर्गत होना सिद्ध है। पूर्व में उसने बंगाल के सेनवंशीय नृपति विजयसेन को काशी की ओर बढ़ने न दिया। लगभग पन्द्रह वर्षों के शसक्त शासन के बाद चन्द्रदेव संभवतः ११०० ई० में मरा और उसका पुत्र मदनपाल राजा हुआ, जिसके संबंध में हमारा ज्ञान अत्यन्त न्यून है।

चन्द्रदेव

चन्द्रदेव का पौत्र और मदनपाल का पुत्र गोविन्दचन्द्र गहडवाल-वंश का सर्वशक्तिमान राजा था। वह १११४ ई० के कुछ ही पूर्व कन्नौज के सिंहासन पर बैठा। राजा होने के पूर्व ही वह राज-कार्य में काफी कुशल हो गया था, क्योंकि पिता के शासन-काल में अधिकतर वही राज-काज करता था। ११०९ ई० के पूर्व गजनी के सुल्तान मसूद तृतीय ने तुगातिगिन के सेनापतित्व में, जो सेना भेजी थी, युवराज की अवस्था में ही गोविन्दचन्द्र ने उसे मार भगाया था।

गोविन्दचन्द्र

गोविन्दचन्द्र ने मगध, और पूर्वी मालवा[4] भी जीत लिया। पटने[5] और मुँगेर[6] जिलों से उपलब्ध उसके लेखों से जान पड़ता है कि वहाँ उसने भूमि दान किया था। इन विजयों से उस नृपति का यश इतना बढ़ा कि दूर-दूर के नरेश उसकी मित्रता के अर्थ

---

१ Ind. Ant., १८, पृ० १६,१८, पंक्ति ४.।

२ वही, १७, पृ० ६१-६४; वही, २४,पृ०१७६; JASB., ६१, पृ० ६० के आगे।

३ Ind. Ant., १५, पृ० ७,८, श्लोक ५; १८ पृ० १६, १८, पंक्ति ४.।

४ रम्भामञ्जरी (बंबई), पृ० ४।   ५ JBORS., २, ४, पृ० ४४१-४७।

६ Ep. Ind., ७, पृ० ९८, ९९।

लालायित रहने लगे। कश्मीर के जयसिंह और गुजरात के सिद्धराज जयसिंह उसके मित्रों में से थे। दक्षिण के चोलों से भी संभवतः उसका सद्भाव था। उसका विशेष संघर्ष बंगाल के सेनों से चला, जो पालों के स्थानापन्न थे और जिनसे उसने मगध का अधिकांश छीना था। गौड और कन्नौज का संघर्ष पुराना था और यद्यपि राजकुल बदल गये थे, उनका संघर्ष अभी जारी था। गोविन्दचन्द्र के शासन-काल में उसके संधिविग्रहिक (मंत्री) लक्ष्मीधर ने व्यवहार (कानून) के ऊपर 'कल्पतरु' (कृत्य-कल्पतरु) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। ११५४ ई० के कुछ बाद गोविन्दचन्द्र का देहान्त हुआ।

गोविन्दचन्द्र के पश्चात् उसका पुत्र विजयचन्द्र कन्नौज की गद्दी पर बैठा। विजयचन्द्र ने भी अपने पिता की ही भाँति मुसलमानी आक्रमण का प्रतिरोध किया[1] और अपने शासन-काल में उसने मुसलमानों को अपनी भूमि पर पाँव न रखने दिया। अलाउद्दीन गोरी ने अमीर खुसरो को गजनी से निकाल दिया था। खुसरो ने लाहौर पर कब्जा कर लिया और उसके अथवा उसके बेटे खुसरो मलिक के नेतृत्व में मुसलमानी सेना पूर्व की ओर बढ़ी। विजयचन्द्र ने उसे शीघ्र मार भगाया। बिहार में भी उसने अपनी शक्ति पूर्ववत् बनाये रखी। 'पृथ्वीराजरासो' में तो उनकी विजयों की एक खास तालिका दी हुई है, यद्यपि उसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। बल्कि, विग्रहराज वीसलदेव के एक लेख से ज्ञात होता है कि उस चाहमान-नृपति ने दिल्ली उससे छीन ली।[2]

विजयचन्द्र

विजयचन्द्र के बाद गहडवाल-वंश में दो राजा और हुए। इनमें एक तो उसका पुत्र जयचन्द्र था, दूसरा उसका पौत्र हरिश्चन्द्र। जयचन्द्र बड़ा तेजस्वी और वीर नृपति था। ११७० ई० में वह सिंहासनारूढ़ हुआ। वह विजेता भी था। कहा जाता है कि उसने देवगिरि के यादव-राजा पर चढ़ाई की, अन्हिलवाड़ के सिद्धराज को दो बार परास्त किया, आठ सामन्त नृपतियों को बन्दी किया और यवन शिहाबुद्दीन को अनेक बार हराया। इसमें सन्देह नहीं कि इस उक्ति में अतिरंजन है। विशेषकर अन्तिम वक्तव्य तो सरासर झूठ है; क्योंकि इतिहासप्रसिद्ध बात यह है कि शिहाबुद्दीन गोरी ने उसे युद्ध में हराकर मार डाला; परन्तु इन विजयों में कुछ निश्चय सत्य के आधार पर अवलंबित है। जयचन्द्र ने राजसूय किया था, जिस अवसर पर कुछ देश जीतना आवश्यक था। डाक्टर त्रिपाठी का कहना है कि चूँकि चन्देल और चौहान आदि अनेक शक्तिशाली राज्य समीप ही उठ खड़े हुए थे, यह मानना होगा कि जयचन्द्र का राज्य काफी सीमित था। परन्तु इस मत को स्वीकार करने में कठिनाई होगी। चन्देल तो प्रतीहारों के बाद ही प्रबल हो गये थे और वीसलदेव चौहान ने जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के समय में ही कन्नौज से दिल्ली छीन ली थी। इतना ही नहीं, दिल्ली और साँभर के चौहान-नृपति पृथ्वीराज तृतीय ने चन्देलों पर छापा मारना भी शुरू कर दिया। परन्तु जहाँ तक जान पड़ता है, चन्देल और चौहान दोनों ही जयचन्द्र से शक्ति और राज्य-विस्तार में छोटे थे।

जयचन्द्र

---

१ Ind. Ant., १५, ७,९, श्लोक ९।

२ JASB., ५५, १, पृ० ४२, श्लोक २२।

कन्नौज अब भी साम्राज्य का केन्द्र समझा जाता था और अब क्या राजपूत और क्या मुसलमान आक्रमक 'महोदयश्री' को स्वायत्त करने को लालायित रहते थे। उत्तर भारत में अब भी गहड़वाल-कुल ही प्रमुख समझा जाता था। कुछ आश्चर्य नहीं कि उस कुल के जयचन्द्र ने पृथ्वीराज के सामान्य कुल में अपनी पुत्री नहीं ब्याहनी चाही। राजसूय के अन्त में जयचन्द्र ने बेटी का स्वयंवर भी ठाना था। स्वयंवर के अवसर पर सहसा पृथ्वीराज पहुँच-कर जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता को ले भागा। इस कारण जयचन्द्र उससे जला-भुना था।

इसी अवसर पर देश के इतिहास में एक और घटना घटी। ११९१ ई० में गोर के सुल्तान शिहाबुद्दीन ने भारत पर हमला किया। अनेक राजाओं की सेना लेकर तलावड़ी के मैदान में पृथ्वीराज ने उसे हरा दिया। शिहाबुद्दीन दूसरे वर्ष फिर लौटा और इस बार उसने पृथ्वीराज को परास्त कर मार डाला। जयचन्द्र ने उसकी सहायता न की। ११९४ ई० में शिहाबुद्दीन कन्नौज की ओर बढ़ा। वृद्ध जयचन्द्र अपनी सेना लेकर चन्दावर और इटावा के मैदान में उससे मिला। घमासान युद्ध के बाद वीरता से लड़ता हुआ जयचन्द्र मारा गया। परन्तु शिहाबुद्दीन ने उसके पुत्र हरिश्चन्द्र को गद्दी पर बैठा दिया। पता नहीं कि इस अन्तिम नृपति ने कब तक कन्नौज पर शासन किया। परन्तु, इसमें सन्देह नहीं कि लगभग तीस वर्षों बाद १२२६ ई० तक कन्नौज मुसलमानों के हाथ में था।

जयचन्द्र के साथ इतिहास में बड़ा अन्याय हुआ है। सदियों से उसके ऊपर जुल्म हुआ है। उसका नाम भारतीय समाज में शत्रु से मिले देशद्रोही का पर्याय हो गया है, जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। केवल 'पृथ्वीराजरासो' के आधार पर जिसकी रचना सोलहवीं सदी में समाप्त हुई है, जयचन्द्र को देशद्रोही ठहराना अनुचित है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि उसने शिहाबुद्दीन को आमन्त्रित किया था अथवा उससे मिल गया था। पृथ्वीराज की उसने सहायता न की, यह सही है; परन्तु जिनकी पुत्री जबर्दस्ती उठा ली गयी हो, ऐसे अनेक पिता जयचन्द्र का आचरण कर सकते हैं। यदि वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं पर विचार किया जाय, तो ज्ञात होगा कि जयचन्द्र वीर था और कायरता दूसरी ओर जा बैठेगी। यह जानी हुई बात है कि वीर की भाँति मुसलमानों का संहार करते हुए जयचन्द्र मारा गया। इसके विरुद्ध पृथ्वीराज के सम्बन्ध में मुसलमान ऐतिहासिकों का कहना है कि जब उसकी सेना में भगदड़ मच गयी और उसने देखा कि सर्वनाश हो गया, तब हाथी से कूदकर वह घोड़े पर भागा। शत्रुओं ने उसका पीछा किया। 'सरसुती के किनारे वह पकड़ा गया और वह जहन्नुम रसीद हुआ'।

जयचन्द्र के दरबार में संस्कृत के विख्यात महाकवि श्रीहर्ष का निवास था जिसने 'नैषधचरित' नामक नल-दमयन्तीसंबंधी महाकाव्य और 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' नामक तर्क-ग्रन्थ लिखा।

५. शाकम्भरी के चाहमान (चौहान)

चाहमान-नृपति अग्निकुलीय हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि राजपूतों के 'अग्नि से उत्पन्न' चारों कुल वास्तव में विदेशी हैं। भारत में आने पर हिन्दू-समाज में प्रवेश करने के लिए उनको अग्नि-संबंधी किसी व्रतानुष्ठान से शुद्ध किया गया। इन्हीं चार अग्निकुलों में

से शाकम्भरी (साँभर) के चाहमान भी हैं। 'हम्मीर-महाकाव्य' और 'पृथ्वीराज-विजय' में उनका आदि पुरुष सूर्य-पुत्र चाहमान कहा गया है। साहित्यिक अनुसंधान से उनका ऐतिहासिक आदिपुरुष वासुदेव जान पड़ता है। ९७३ ई० के हर्ष-पाषाण-लेख में इस वंश के राजा गुवक प्रथम का लेख मिलता है।[1] यह गुवक प्रतीहार-नृपति नागभट द्वितीय का समकालीन था। इस कुल के राजाओं का संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है।

बारहवीं सदी के आरंभ में अजयराज ने अजयमेरु (अजमेर) नामक नगर बसाया। ११५३ ई० में विग्रहराज चतुर्थ वीसलदेव इस कुल का विख्यात राजा हुआ। मेवाड़ के बिजोला नामक स्थान से प्राप्त लेख[2] से विदित होता है कि इस राजा ने गहड़वालों से दिल्ली

वीसलदेव

छीनकर अपने राज्य में मिला लिया। इससे निश्चय कन्नौज की पश्चिमात्य सत्ता संभवतः नष्ट हो गयी होगी। विग्रहराज उद्भट विजेता माना गया है। कहते हैं कि उसने हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के सारे देश जीत लिये।[3] निस्सन्देह यह वक्तव्य प्रशस्तिमात्र है, यद्यपि दिल्ली छिन जाने से गहड़वालों के सारे पश्चिमोत्तर प्रदेश चौहानों के हाथ में आ गये होंगे। कुछ आश्चर्य नहीं कि उत्तर में उन्होंने हिमालय के चरण छू लिये हों। विग्रहराज विद्वानों का आदर करता था और स्वयं कुशल कवि था। वह 'हरकेलि-नाटक' का रचयिता है। यह नाटक पूरा उपलब्ध नहीं है, परन्तु इसके कुछ भाग अजमेर के पास के 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नाम की एक मस्जिद में जड़े पाषाण-खण्ड पर खुदे मिले हैं। यह मस्जिद वीसलदेव के बनवाये एक संस्कृत-कालेज के स्थान पर खड़ी है। विग्रहराज के दरबारी महाकवि ने 'ललित-विग्रहराज' नामक नाटक लिखा। ११६४ ई० में विग्रहराज का देहान्त हुआ।

पृथ्वीराज तृतीय इस कुल का सबसे प्रसिद्ध नृपति था। उसने ११७९ ई० से ११९२ ई० तक राज किया। 'पृथ्वीराजरासो' में उसका विस्तृत वृत्तान्त दिया हुआ है। यह काव्य

पृथ्वीराज तृतीय

प्राचीन हिन्दी में लिखा है और इसका रचयिता पृथ्वीराज का मित्र-कवि चन्द्र (चन्दबरदाई) माना जाता है। परन्तु इसके अनेक भाग सोलहवीं सदी में लिखे या जोड़े गये थे। इससे उनकी सामग्री ऐतिहासिक दृष्टि से नितान्त अविश्वसनीय है। स्वयं प्राचीन भागों पर भी निर्भर करना उचित नहीं जान पड़ता। इसके प्राचीन भाग भी इतने अतिरंजित हैं कि उनको प्रशस्तिवाचक काव्यों का आदर्श कहा जा सकता है। इस महाकाव्य ने पृथ्वीराज को अद्भुत और अनुचित प्रसिद्धि प्रदान की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पृथ्वीराज वीर था, परन्तु उससे कहीं बढ़कर अनन्त संख्या में वीर हुए और उनकी ख्याति इतनी न हो सकी जितनी उसकी है। इतना जरूर है कि उसकी वीरता के साथ विलास का भी मिश्रण था जिससे साधारण जनता के हृदय में उसने अधिक घर किया। वह साधारण जनसमाज में घर-घर के गीतों का नायक हो गया। परन्तु

---

१ Ep. Ind., २, पृ० ११६-२०।

२ JASB. ५५, १, पृ० ४२, श्लोक २२।

३ Ind., Ant., १९, पृ० २१९।

यदि हम उसके कृतियों पर विचार करें तो उनका गौरव कुछ असाधारण न सिद्ध होगा। 'पृथ्वीराजरासो' के अनेक स्थलों से प्रमाणित है कि उसके अनेक युद्ध नारी के कारण हुए। स्वयं संयोगिता के हरण में उसके अनेक वीर और कुशल सेनापति (कन्ह-कैमास आदि) खेत रहे। जयचन्द्र के साथ उसकी स्वाभाविकतया ही नहीं बनती थी। गहड़वाल नृपति का घराना कन्नौज का सम्राट्-कुल माना जाता था और कन्नौज भारत की राजधानी। जयचन्द्र पृथ्वीराज को तुच्छ समझता था। राजसूय के अन्त में कन्नौज-नृपति ने अपनी पुत्र संयोगिता का स्वयंवर रचा। उस अवसर पर पृथ्वीराज एकाएक पहुँचकर संयोगिता को ले भागा। इस कारण दोनों राजकुलों का वैमनस्य और बढ़ गया।

पृथ्वीराज वीर और विजेता था। उसने चन्देल नरेश परमार्दि (परमल) पर आक्रमण कर बुन्देलखण्ड के महोबा आदि अनेक दुर्गों पर अधिकार कर लिया। गुजरात के चालुक्य-राजा भीम द्वितीय को भी संभवतः उसने परास्त किया। परन्तु वास्तव में पृथ्वीराज तृतीय के शासन-काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना शिहाबुद्दीन गोरी की चढ़ाई है। यह आक्रमण भारत के इतिहास में अत्यन्त महत्त्व की घटना है, जिसके परिणामस्वरूप यहाँ मुसलमानी राज्य की स्थापना हुई और भारतीय जनता में एक नयी जन-संख्या का प्रादुर्भाव हुआ जिसने उसकी धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। शिहाबुद्दीन गोर का सुल्तान हो गया था और उसने गजनी पर अधिकार कर सुबुक्तगिन तथा महमूद के प्रख्यात राजकुल का अन्त कर दिया था। मध्य-एशिया में भी उसने कई प्रान्त जीत लिये थे। अब उसकी प्रसर-लिप्सा भारत की ओर भी बढ़ी। उसने भारत को जीतकर यहाँ भी अपने कुल की प्रतिष्ठा करनी चाही। एक विशाल सेना लिये पंजाब लाँघता वह प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र के प्रशस्त तरावड़ी के मैदान में आ उतरा। पृथ्वीराज को हाथियों के शिकार का बड़ा शौक था। उस समय वह नर्मदा के जंगलों में हाथियों का आखेट कर रहा था। सुल्तान के सिन्धु लाँघने की खबर सुनते ही वह उत्तर की ओर बढ़ा। युद्ध-दुर्मद राय पिथौरा अपने चौहान योद्धाओं को लिये तरावड़ी के मैदान में आ धमका। लोहे की वृत्ति पर जीनेवालेराजपूतों की आन अफगानों पर विदित न थी। पिथौरा अपनी कुमक लिये अफगानों पर टूट पड़ा। चौहान रिसालों की पहली चोट ने ही शिहाबुद्दीन की हरावल तोड़ दी। घोड़े और सवार, नेजे और तबर, सरदार और सैनिक वहीं ढेर हो गये। जो बचे, उनके पैर उखड़ गये। अफगानों ने सिन्धु के उस पार दम लिया।[१]

शिहाबुद्दीन सन् ११६१ ई० में हार गया था, परन्तु उसे अपनी हार भूली नहीं। दिन-रात उसकी पराजय उसे धिक्कारने लगी। भागे हुए सरदारों की उसने बड़ी बेइज्जती की और उनसे जीते-जी मैदान न छोड़ने की शपथ करायी। ११६२ ई० में अपनी विशाल सेना लिये पानीपत के मैदान में वह फिर आ धमका। भारत की ओर बढ़ने का संदेश सुनते ही पृथ्वीराज ने देश के राजाओं से सहायता माँगी थी। अनेक राजाओं ने विदेशी यवन के

---

१ ब्रिग्स्, फिरिश्ता, History of the Rise of the Mohemmedan Power १, पृ० १७२।

विरुद्ध सेनाएँ भेजीं और पृथ्वीराज उन्हें लिये फिर युद्ध के लिए मैदान में उतरा। कन्याहरण के कारण क्रुद्ध जयचन्द्र ने उसकी सहायता न की। चौहानों ने पूर्ववत् मृत्यु-वेग से शिहाबुद्दीन की सेना पर हमला किया और कुछ आश्चर्य नहीं कि हिन्दू फिर जीत जाते, परन्तु सतर्क शिहाबुद्दीन ने पहले से सधी हिकमत से काम लिया। व्यूहबद्ध सेना को पीछे हटने की आज्ञा दी। व्यूहबद्ध सेना पीछे हटी। राजपूतों ने समझा, शत्रु भाग रहा है। अपनी कतारें छोड़ उन्होंने तितर-बितर होकर शत्रु का पीछा किया। व्यूहबद्ध शत्रु सहसा पीछे मुड़ा और उसने प्रबल आक्रमण किया। राजपूतों की कतारें टूट गयी थीं। इसका वेग वे नहीं सह सके। चोट-पर-चोट पड़ने लगी। राजपूत गिरने लगे। हजारों की तादाद में वे मारे गये। सन्ध्या तक मैदान राजपूतों की लाशों से भर गया। भगदड़ मच गयी थी। स्वयं पृथ्वीराज सर्वनाश देख हाथी छोड़ घोड़े पर चढ़कर भागा। परन्तु 'सरसुती के किनारे पकड़ा जाकर जहन्नुम रसीद हुआ।' मुसलमानों ने अजमेर और दिल्ली पर कब्जा कर लिया। शिहाबुद्दीन ने अजमेर की गद्दी पर पृथ्वीराज के बेटे को सालाना कर[1] देने के वचन के बदले बैठा दिया। परन्तु चाचा हरिराज के कारण उसे अजमेर छोड़ रणथंभोर जाना पड़ा। वहाँ उसका कुल १२०१ ई० तक राज रहा। कुतुबुद्दीन ने हरिराज को हराकर चौहान शासन का अन्त कर दिया।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. त्रिपाठी : History of Kanauj.

२. त्रिपाठी : History of Ancient India.

३. स्मिथ : Early History of India.

४. इलियट : History of India, Vol. I.

५. ब्रिग्स्, : फिरिश्ता : History of the Rise of the Mohemmedan Power Vol. I.

६. Bombay Gazeteer, Vol. 1. Part 2.

---

१ वही पृ० १७५।

बाईसवाँ परिच्छेद

पूर्वी सीमा के राज्य

१. नैपाल

आज नैपाल का राज्य अल्मोड़ा से दार्जिलिंग तक लगभग ५०० मील लंबा फैला हुआ है। परन्तु प्राचीन काल में इसकी लंबाई गंडक और कोसी के बीच केवल बीस मील और चौड़ाई पन्द्रह मील थी। भारत से भी अधिक इस देश का संबंध तिब्बत और चीन से रहा। केवल समय-समय पर भारतीय नृपति इससे अपना संपर्क जोड़ते रहे। अशोक ने अपनी पुत्री चारुमती और जामाता देवपाल क्षत्रिय के साथ नैपाल-भ्रमण किया और वहाँ उसने स्तूप खड़े किये तथा ललितपाटन नाम का एक नगर भी बसाया। भारतीय इतिहास में भारत का नैपाल से दूसरा संबंध गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में हुआ। प्रयागवाली उसकी स्तंभ-प्रशस्ति में इस राष्ट्र का सीमाप्रांतीय करदायी राज्यों में उल्लेख है। अशोक और समुद्रगुप्त के बीच के काल में हमें इसके इतिहास का पता नहीं चलता। नैपाल की 'वंशावली' में इस कालान्तर में आभीर, किरात, सोमवंशीय और सूर्यवंशीय राजाओं के शासन का उल्लेख है। परन्तु इन वंशावलियों से तिथिपरक इतिहास का शोध करना अत्यन्त कठिन है। पाँच-पाँच सौ वर्षों तक के अन्तर इन्होंने डाल दिये।

आरंभ

नैपाल के इतिहास का ठीक ज्ञात हमें ठाकुरी-राजकुल के शासन-काल से होता है। ठाकुरी-कुल के हाथ में नैपाल का राज्य छठी शती ईस्वी के अन्त अथवा सातवीं सदी के आरंभ में आया। अंशुवर्मन् इस कुल का पहला नृपति था। पहले तो वह लिच्छवि-नरेश शिवदेव का मंत्री था; परन्तु जिस प्रकार आज नैपाल में अधिकतर राजनीतिक अधिकार मंत्री के हाथ में हैं तब भी उसी प्रकार मंत्री अंशुवर्मन् नैपाल का यथार्थतः स्वामी था। शीघ्र उसने राजदण्ड भी धारण कर लिया और पुराने राजकुल का अन्त कर उसने अपने ठाकुरी-कुल की प्रतिष्ठा की। उसने एक संवत् भी चलाया जिसका प्रारंभ ५९५ ई० में माना जाता है। अंशुवर्मन् ने संभवतः चालीस वर्षों तक राज किया। उसने अपनी कन्या का विवाह तिब्बत के प्रसिद्ध सम्राट् स्रांगत्सान्-गम्पो के साथ किया। हिन्दू होते हुए भी उसे इस प्रकार के विवाह से परहेज न था। नहीं कहा जा सकता कि हर्षवर्द्धन का भी किसी प्रकार का संबंध नैपाल से था कि नहीं, परन्तु इस ऊपर लिखे विवाह से प्रमाणित है कि नैपाल का संबंध तिब्बत से भारत की अपेक्षा अधिक घना था।

ठाकुरी-कुल

अंशुवर्मन्

इस काल के बाद लगभग तीन सदियों का इतिहास अंधकार के गर्भ में है। सिवा इसके कि इस अन्तर के अधिकांश काल में नैपाल तिब्बत के प्रभाव में रहा, हम उस देश के विषय

में कुछ नहीं जानते। ८७६-८० ई० में एक और संवत् नैपाल में चलाया गया। अठारहवीं सदी के आरंभ से मिलनेवाले हस्तलिखित ग्रन्थों में अनेक राजाओं के नाम मिलते हैं; परन्तु उनको काल-क्रम से सुलझाना कठिन है। बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तिरहुत (उत्तर बिहार) के कर्णाटराजा नान्यदेव ने नैपाल पर अधिकार कर लिया। फिर अन्ततः १७६८ ई० में इस देश पर गुरखों का स्वत्त्व हुआ जो इस भू-भाग पर अब तक बना हुआ है। इस काल में नैपाल का व्यापार चीन, तिब्बत और भारत के साथ खूब चला। पहले तो इस देश का धर्म बौद्ध था, फिर उसी धर्म का महायान-तांत्रिक संप्रदाय प्रबल हो गया। परन्तु आज हिन्दू-धर्म ने बौद्ध-धर्म को सर्वथा इस भूमि से उठा दिया है। हिन्दू-धर्म का शैव-संप्रदाय इस समय वहाँ अधिक मान्य है।

उत्तर-काल

२. बंगाल के पाल

बंगाल चौथी शती ई० पू० में नन्दों और मौर्य के अधिकार में था। कुषाणों का साम्राज्य मगध की पश्चिमी सीमा तक ही पहुँच सका। गुप्तों ने फिर एक बार मगध का प्रभुत्व गौड़ पर जमाया और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने विद्रोहियों का एक संघ बुरी तरह बंगाल में पराजित किया। मौखरियों के समय में गौड़ स्वतंत्र थे। उनके राजा शशांक ने अपने कुल के यश का विस्तार किया। मगध को रौंदता वह कन्नौज तक जा पहुँचा। हर्ष के भाई राज्यवर्द्धन की हत्या कर उसने कन्नौज पर भी अधिकार कर लिया। हर्ष के आसाम से सन्धि कर लेने पर वह बंगाल लौट गया और थानेश्वर के राजा के प्रतिशोध के प्रण के बावजूद भी वह ६१९ ई० तक अच्छे प्रकार अपने देश पर राज करता और उसकी सीमाएँ बढ़ाता रहा। उड़ीसा पर गंजाम तक उसने अधिकार कर लिया। वह बौद्धों का भयंकर शत्रु था। उनके अनेक विहार उसने विध्वंस कर दिये और बोधगया का बोधिवृक्ष काटकर उसकी जड़ जला दी जिसमें वह फिर पनप न सके। उसकी मृत्यु पर हर्ष ने बंगाल पर अधिकार कर लिया, परन्तु हर्ष के बाद जब उसके साम्राज्य के प्रान्त तितर-बितर हो गये, बंगाल भी उससे बाहर निकल गया। कर्णसुवर्ण पर कामरूप के नृपति और हर्ष तथा हुएन्-त्सांग के मित्र भास्करवर्मन् ने अधिकार कर लिया। इसके बाद बंगाल में मात्स्यन्याय का राज हुआ और सातवीं सदी में वह राजनीतिक दस्युओं का क्रीड़ास्थल बना रहा। कन्नौज के यशोवर्मन्, काश्मीर के ललितादित्य, कामरूप के श्रीहर्ष आदि ने उसे लूटा और रौंद डाला। अपनी दयनीय दशा से ऊबकर जनता ने आठवीं सदी ईस्वी के तृतीय चरण में गोपाल नामक एक उदात्त वीर को अपना राजा चुना।

पूर्व-काल

इस निर्वाचन से स्पष्ट है कि पालों का कुल संभवतः साधारण था। पालों के अभिलेखों से भी उनके प्राचीन होने का पता नहीं चलता। खलीमपुर के लेख से केवल इतना जान पड़ता है कि उनका आदि पुरुष वप्यट दयितविष्णु का पुत्र था। इन दोनों में से किसी के इतिहास का पता नहीं। उस वंश का पाल नाम संभवतः केवल इस कारण पड़ा कि उस कुल के राजाओं के नामान्त में पाल शब्द

पाल

जुड़ा मिलता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, इस कुल का प्रतिष्ठाता गोपाल था। ७६५ ई० के लगभग वह गद्दी पर बैठा। उसका शासन-काल संभवतः लंबा न था। गोपाल बंगाल की अराजक दशा का अन्त करने में समर्थ हुआ, इसमें सन्देह नहीं। वह संभवतः बौद्ध-संप्रदाय का अनुयायी था। लामा तारानाथ का कहना है कि उसने ओदन्तपुर का बौद्ध-विहार बनवाया। ओदन्तपुर पटने जिले में राजगिर और नालन्दा के समीप बिहार नामक स्थान था। आज भी वह स्थान बिहार के नाम से ही विख्यात है।

गोपाल

गोपाल की मृत्यु के बाद उसका पुत्र धर्मपाल बंगाल की गद्दी पर बैठा। उसके राज्य का आरंभ ७७० ई० के आसपास माना जा सकता है। धर्मपाल इस कुल का विख्यात राजा हुआ और उसने दूर-दूर तक अपने यश का विस्तार किया। वह अथक लड़ाका था। उसके समय में ही कन्नौज की गद्दी के लिए राष्ट्रकूटों, प्रतीहारों और पालों में तीनतर्फा संघर्ष छिड़ा, जो एक लंबे काल तक चलता रहा। कुछ देर तक तो ऐसा जान पड़ा, जैसे धर्मपाल उत्तर भारत में सर्वशक्तिमान् नृपति हो जायगा। संभवतः उसी ने मगध पर भी अधिकार कर लिया। मगध को लाँघता वह सहसा कन्नौज पहुँचा और वहाँ इन्द्रायुध को गद्दी से उतारकर उसने चक्रायुध को कन्नौज का राज्य प्रदान किया। उत्तर भारत के प्रायः सभी राजकुलों ने धर्मपाल की कन्नौज-संबंधी राजनीतिक व्यवस्था स्वीकार कर ली, परन्तु राष्ट्रकूटों को यह मान्य न हो सकी। ध्रुव राष्ट्रकूट ने गंगा-यमुना के द्वाब में धर्मपाल को परास्त कर भगा दिया।[1] अमोघवर्ष के संजन लेखों के अनुसार धर्मपाल को अपने सामन्त चक्रायुध के साथ गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट से भी परास्त होना पड़ा। इसके पूर्व ही अवन्ती और मन्दौर (माड़वार—जोधपुर) के प्रतीहार नृपति वत्सराज ने उसे एक बार परास्त किया था। राष्ट्रकूटों की चोटों से जब धर्मपाल और चक्रायुध धूल चाटने लगे थे, तभी वत्सराज का शूर तनय नागभट द्वितीय पूर्व की ओर बढ़ा और उसने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। धर्मपाल फिर एक बार बंगाल से निकला और कन्नौज की ओर बढ़ा। नागभट ने जिस राज्य को जीता था, उसकी रक्षा करने को उसके बाहु में शक्ति थी। धर्मपाल को अपनी ओर बढ़ते देख वह भी शत्रु की ओर बढ़ा। शत्रु की भूमि पर युद्ध करना उसने उपादेय समझा। उत्तर बिहार में मुद्‌गगिरि (मुंगेर) नामक स्थान में दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई। घोर समर के बाद धर्मपाल को परास्त होना पड़ा[2] और नागभट ने अपनी राजधानी कन्नौज कर ली। प्रतीहारों का प्रताप उत्तर भारत पर छा गया। परन्तु धर्मपाल के शासन में मगध और उत्तर बिहार संभवतः अब भी बने रहे। अपनी पराजयों के बावजूद भी धर्मपाल शक्तिमान नृपति था। धर्मपाल भी पिता की भाँति ही बौद्ध था और उसने भी अनेक मन्दिर और बौद्ध-विहार बनवाये। उसने उस विक्रमशिला के शिक्षा-केन्द्र की, स्थापना की जो नालन्दा की भाँति प्रसिद्ध हो गया। विक्रमशिला भागलपुर जिले में था। धर्मपाल ने एक लंबे काल तक राज किया। लामा तारानाथ के मत से उसके

धर्मपाल

---

१. Ep. Ind., १८, पृ० २४४, २५२, पृ० १४।

२. Ep. Ind., १८, पृ० १०८, ११२, श्लोक १०।

राज्य-काल की दौरान चौंसठ साल है और खलीमपुर के अभिलेख के अनुसार केवल बत्तीस वर्ष। खलीमपुर की गणना संभवतः सही है, यद्यपि चालीस-पैंतालीस साल उसका राज करना सर्वथा असंभव नहीं; विशेषकर इसलिए कि उसके पिता गोपाल ने थोड़े ही समय तक शासन किया था, संभवतः केवल पाँच वर्ष।

धर्मपाल के बाद पालवंश का सर्वशक्तिमान नृपति देवपाल राजा हुआ। पिता की प्रसर नीति पुत्र ने भी जारी रखी, परन्तु धर्मपाल की भाँति हार उसके हिस्से न पड़ी। देवपाल के अभिलेख उसे हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के देश का स्वामी कहते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि उसने सेतुबन्ध रामेश्वर तक अपनी राज्य-सीमा[1] फैला ली; परन्तु निस्सन्देह इस लेख का तात्पर्य केवल प्रशस्तिवादन है। रामेश्वर तक पहुँचना तो दूर रहा, हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के देश के भी अनेक स्वामी थे। प्रतीहार-सम्राटों का सारा साम्राज्य प्रायः इसी देश में पड़ता था। फिर विन्ध्य पर्वत के उत्तर में अनेक बार राष्ट्रकूटों का स्वत्व स्थापित हो गया था। परन्तु जैसा कि बदल के स्तंभ-लेख से प्रगट है, उसने अपने मंत्रियों, दर्भपाणि और केदार मिश्र की सलाह से उत्कलों का उन्मूलन कर दिया और हूणों, द्रविड़ों तथा गुर्जरों को तितर-बितर कर दिया।[2] यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि किस हूणों के साथ देवपाल का संघर्ष हुआ था; परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने गुर्जर-राज मिहिरभोज का दर्प चूर्ण कर दिया और उसको अपने राज्य की सीमाओं में रहने को बाध्य किया। भागलपुर-वाले लेख से भी सिद्ध है कि देवपाल ने अपने भाई जयपाल के नेतृत्व में सेना भेजकर उत्कल (उड़ीसा) और प्राग्ज्योतिष (कामरूप—आसाम) पर अधिकार कर लिया।[3] उड़ीसा पर अधिकार करते समय राष्ट्रकूट अथवा अन्य किसी द्रविड़-शक्ति से यदि देवपाल का संघर्ष हो गया हो, तो आश्चर्य नहीं। परन्तु जैसा कि उसके स्तंभलेख से प्रमाणित है वह उस संघर्ष में भी विजयी हुआ। नालन्द-ताम्रपत्रों से विदित है कि देवपाल ने राजगृह-विषय

देवपाल

में चार और गया-विषय में एक गाँव धर्मार्थ दान किये।[4] इससे यह प्रमाणित है कि मगध पर अन्त तक उसका शासन बना रहा। उसी लेख से यह भी जान पड़ता है कि सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) और यवद्वीप (जावा) आदि के राजाओं से भी उसकी मैत्री थी। ऊपर बताये द्वीपों के नृपति बलपुत्रदेव ने नालन्दा के समीप एक बौद्ध-विहार बनवाया था। देवपाल ने उसके व्यय के अर्थ प्रचुर धन दान किया। देवपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसने मगध में अनेक मन्दिर और विहार बनवाये तथा उनके व्यय के लिए दान किये। नालन्दा के शिक्षा-केन्द्र पर उसकी विशेष कृपा थी और उसके लिए भी उसने काफी धन दिया। देवपाल संभवतः ८५५ ई० के लगभग मरा। पिता की ही भाँति उसने भी दीर्घ काल तक शासन किया।

---

१. वही, पृ० ३०४-३०७।

२. वही, २, पृ० १६०-६७।

३. Ind. Ant., १५, पृ० ३०४-१०।

४. Ep. Ind., १७, पृ० ३१०-२७।

नारायणपाल इस वंश का दूसरा राजा हुआ। उसने प्रायः ५५ वर्षों तक राज किया। ९१२ ई० के लगभग उसका देहान्त हुआ। उसके शासन-काल में पाल-साम्राज्य की काफी क्षति हुई। फिर भी अपनी पुरानी सीमाओं को बनाये रखने का वह भगीरथ प्रयत्न करता रहा। उसका प्रतीहार समकालीन महेन्द्रपाल प्रथम था। उसके लेखों के वितरण से जान पड़ता है कि मगध और उत्तरी बंगाल दोनों ही शीघ्र प्रतीहारों के हाथ में आ गये। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि राज्यारंभ में नारायणपाल ने अपनी शक्ति कायम रखी। भागलपुर से जो उसका लेख मिला है, उससे प्रमाणित है कि उत्तर बिहार उसके शासन-काल के सत्रहवें साल तक उसके अधिकार में बना रहा और उस साल उस प्रान्त का एक गाँव उसने एक शिव-मन्दिर के व्यय के उपलक्ष में दान किया।[1] इस वर्ष के शीघ्र बाद ही उसका स्वत्व संभवतः मगध और उत्तर बंगाल से उठ गया होगा। यह निश्चित है कि प्रतीहार-साम्राज्य की यह विजय महेन्द्रपाल प्रथम के समय में ही हुई होगी; क्योंकि उसके पूर्ववर्ती नृपति मिहिरभोज को नारायणपाल के पूर्ववर्ती नरेश देवपाल ने अपनी भूमि पर चप्पा भर भी बढ़ने न दिया था। फिर भी उत्तर बंगाल और मगध के प्रतीहारों के हाथ में चले जाने और पूर्व बंगाल को चन्द्र-कुल के दबा लेने के कारण निश्चय नारायणपाल का राज्य अत्यन्त सीमित हो गया होगा। महेन्द्रपाल की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्रों भोज द्वितीय तथा महीपाल में कन्नौज के सिंहासन के लिये युद्ध छिड़ गया। उनके उस गृह-युद्ध का नारायणपाल ने फायदा उठाया और शीघ्र उद्दण्डपुर (बिहार) पर उसने अपना अधिकार कर लिया। उसके उत्तराधिकारी राज्यपाल ने भी काफी सतर्कता से काम लिया। प्रतीहारों और राष्ट्रकूटों में प्रबल संघर्ष चल रहा था। इन्द्र तृतीय राष्ट्रकूट ने प्रतिहारों के राज्य पर सशक्त आक्रमण किया था। अवसर देख राज्यपाल ने शोणनद के सारे पूर्ववर्ती देश पर कब्जा कर लिया। राष्ट्रकूट-आक्रमण संभवत ९१६-१७ ई० में हुआ था। पालवंश का यह पैतृक पुनरुद्धार उस वर्ष के आसपास हीः हुआ होगा। राज्यपाल संभवतः ९३६ ई० के लगभग मरा। उसके राज्य काल की अवधि ९१२ ई० और ९३६ ई० के मध्य रखी जा सकती है।

नारायणपाल

राज्यपाल

विग्रहपाल द्वितीय का पुत्र महीपाल प्रथम भी पाल-कुल का एक समर्थ राजा हुआ। उसके शासन-काल में दो बड़ी घटनाएँ हुईं। एक तो यह कि उसने कम्बोजकुलीय नृपति से उत्तर बंगाल छीन लिया। दूसरी यह कि चोल-नृपति राजेन्द्र प्रथम ने दक्षिण से उत्तर भारत और बंगाल पर वह आक्रमण किया जो चोल-इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। १०२१ ई० और १०२५ ई० के बीच[2] कभी वह चोल-विजेता उड़ीसा, दक्षिण कोशल, दण्डभुक्ति (बालासोर और मिदनापुर के जिले) को रौंदता हुआ, बंगाल का एक बड़ा भाग जीतता पूर्वी बंगाल तक जा धमका। इस प्रकार

महीपाल प्रथम

---

१. Ind. Ant., १५, पृ० ३०४-१०।

२. Dynastic History of Northern India., १, पृ० ३१८-२४।

बंगाल को मथता राजेन्द्र उत्तर की ओर मुड़ा और महीपाल को बुरी तरह हराया। परन्तु पाल-नृपति ने भी उसका पीछा न छोड़ा और उसे गंगा पार बढ़ने न दिया। इसमें फिर भी सन्देह नहीं कि राजेन्द्रचोल के आक्रमण से महीपाल की सीमाएँ संकुचित हो गयी होंगी, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि चोलराज सुदूर दक्षिण से इस भू-भाग पर अपना स्वत्व न रख सका होगा। इस प्रकार के आक्रमणों में उस समय सिवा तात्कालिक द्रव्य-लाभ के चिरकालिक राज्य लाभ नहीं होता था। राजेन्द्र के लौटते ही महीपाल ने किसी हद तक अपने विजित प्रान्त लौटा लिये, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अपने शासन के मध्यकाल में वह एक विस्तृत राज्य का स्वामी था। उसके अभिलेखों का वितरण प्रशस्त है—दिनाजपुर से मुजफ्फरपुर और पटना-गया से टिप्परा तक। इससे प्रमाणित है कि बंगाल, उत्तर बिहार और मगध पर उसका शासन बना रहा। उत्तर बिहार में तिरभुक्ति (तिरहुत) संभवतः उसके हाथ से निकल गया। १०१९ ई० में[1] कर्नाटक-राज कलचुरी गांगेयदेव वहाँ राज कर रहा था जिससे जान पड़ता है कि महीपाल का संघर्ष कलचुरियों से भी चला था जिसमें उसे तिरहुत से हाथ धोना पड़ा। सारनाथ के उसके पाषाण-स्तंभ से विदित होता है कि उसने अपने भाइयों द्वारा गन्धकुटी का निर्माण और धर्मराजिक स्तूप तथा धर्म-चक्र का पुनरुद्धार कराया था। कुछ विद्वानों ने इस लेख के प्राप्ति-स्थान सारनाथ को भी इसी कारण महीपाल के राज्य में ही माना है। परन्तु कलचुरियों के तिरहुत का स्वामी होते यह मानना कठिन जान पड़ता है। इस लेख में विक्रम संवत् में १०८३ तिथि दी हुई है। इससे महीपाल के शासन-काल का कम-से-कम एक वर्ष—१०२६ ई०[2]—निश्चित हो जाता है।

नयपाल, विग्रहपाल तृतीय

महीपाल के पश्चात् नयपाल गौड़ का राजा हुआ। उसके समय में पालों का कलचुरियों के साथ संघर्ष बढ़ गया। कलचुरी-कुल के सर्वशक्तिमान नृपति लक्ष्मी-कर्ण ने उसपर चढ़ाई की। दोनों में कुछ काल तक घोर युद्ध होता रहा। तब महाबोधि विहार के प्रसिद्ध दार्शनिक भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान अथवा अतीश ने बीच बचाव कर सन्धि करायी। इस लंबे संघर्ष में कभी कलचुरी और कभी पाल जीतते रहे। संभवतः पिछले काल में नयपाल के पुत्र विग्रहपाल ने लक्ष्मी-कर्ण को परास्त कर उसकी कन्या, यौवनश्री से विवाह किया। कलचुरी-आक्रमण से तो अवश्य पालों का छुटकारा हो गया, पर चालुक्यों की एक नई विपत्ति उनके गले पड़ी। विक्रमादित्य चालुक्य ने बंगाल और आसाम दोनों के राजाओं को परास्त किया। विग्रहपाल की मृत्यु के बाद बंगाल में गृह-युद्ध छिड़ गया, जिसमें उसके तीन पुत्रों ने भाग लिया। इसी समय मौका पाकर पूर्वी बंगाल के वर्मन् स्वतंत्र हो गये और कैवर्त-कुल के दिव्योक ने महीपाल से वारेन्द्र भी उधर छीन लिया जिससे पाल उत्तर बंगाल से भी हाथ धो बैठे।

---

1. Dynastic History of Northern India., १, पृ० ३१७।
2. Ind. Ant., १४, पृ० १३९-४०; J A S B., १९०६, पृ० ४४५-४७; गौड़-लेखमाला, पृ० १०४-१०९।

उत्तरकालीन पालों में रामपाल शक्तिशाली हुआ। इस समय पालों के सामन्त-राज्य प्रबल होकर विद्रोह कर रहे थे। रामपाल नीतिज्ञ था। उन्हें समझा-बुझाकर उसने अपनी ओर मिला लिया और तदनंतर वह कैवर्तों के विरुद्ध बढ़ा। सामन्तों और अपने मामा राष्ट्रकूट मथन की सहायता से उसने कैवर्तों पर चढ़ाई की और दिव्योक के पुत्र भीम को बन्दी कर मार डाला। इस प्रकार रामपाल ने उत्तर बंगाल पर पुनः अधिकार कर लिया। फिर वह कलिंग और कामरूप की ओर बढ़ा और उन्हें भी उसने स्वायत्त कर लिया। पूर्व बंगाल के यादव-वर्मन् राजा भी काँप उठे। परन्तु रामपाल का उत्कर्ष क्षणिक सिद्ध हुआ। उसके पुत्र कुमारपाल के शासन-काल में कामरूप ने विद्रोह किया। पालराज ने उसे दबाने के लिए अपने मंत्री वैद्यदेव को भेजा। वैद्यदेव ने कामरूप का विद्रोह दबाकर उसे सर तो जरूर कर लिया, पर वह स्वयं उस देश का स्वतन्त्र शासक बन बैठा। कुमारपाल के उत्तराधिकारी उससे भी दुर्बल सिद्ध हुए। उनके समय में उनके सामन्त विद्रोही हो स्वतंत्र हो चले। विजयसेन ने मदनपाल को शीघ्र गौड़ (पश्चिमी बंगाल) से निकाल-बाहर किया। अब पूर्व में सेनों और पश्चिम में गहडवालों की-सी सबल शक्तियों के बीच पालों का नितान्त संकुचित राज्य पिस चला। गोविन्दपाल संभवतः इस कुल का अन्तिम नृपति था। उसके शासन के चौदहवें वर्ष के एक लेख से प्रमाणित है कि कम-से-कम ११७५ ई० तक पाल किसी-न-किसी प्रकार जीवित बने रहे।[1] लगभग चार सदियों तक एक प्रशस्त भू-भाग पर साम्राज्य-दीक्षित हो वे राज करते रहे। फिर सामन्तों के विद्रोह, सेनों के उत्कर्ष और अपनी दुर्बलता के कारण वे धरा से उठ गये। अपने उत्थान-काल में उन्होंने एक ओर प्रतीहारों और दूसरी ओर राष्ट्रकूटों से लोहा लिया था। उनका प्रभाव बंगाल से बाहर अन्य राज्यों पर भी था। धर्मपाल ने तो एक बार कन्नौज की राज्य-लक्ष्मी ही स्वायत्त कर ली थी।

रामपाल

पाल-नृपति राजनीति में तो शक्तिशाली थे ही, शान्तिकाल के कार्यों में भी वे बड़े दक्ष थे। बंगाल और बिहार में उन्होंने हजारों मन्दिर, विहार, तालाब, वापी आदि का निर्माण कराया। उनकी इमारतें तो आज मिट गयी हैं, परन्तु उनके खंडहर और बंगाल के तालाब आज भी उनका यश-विस्तार कर रहे हैं। उन्होंने अनेक शिक्षा-केन्द्र स्थापित किये और नालन्दा तथा अन्य विद्यापीठों, विहारों तथा देव-मन्दिरों के व्ययार्थ अनन्त धन का दान किया। अधिकतर पाल-नरेश बौद्ध थे और उन्होंने बौद्ध-दर्शन तथा दार्शनिकों का संरक्षण किया। अतीश नामक प्रख्यात बौद्ध-भिक्षु ने ग्यारहवीं सती के मध्य तिब्बत जाकर वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। बौद्ध होते हुए भी पाल-नृपतियों ने हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता का बर्ताव न किया। नारायणपाल ने तो शिव के मन्दिर भी बनवाये थे। उन्होंने साहित्यिकों को भी आश्रय दिया था। सन्ध्याकरनन्दी ने रामपाल की संरक्षा में 'रामचरित' लिखा, जो श्लेषात्मक महाकाव्य है। उसमें राजा रामपाल का जीवनचरित्र और रामायण दोनों का बोध एक साथ होता है। पालों के समय तक्षण (मूर्त्ति) कला का भी बड़ा विकास हुआ। इस समय के दो

पालों के सांस्कृतिक कार्य

1 J B O R S, दिसम्बर १९२८, पृ० ५३४।

कलाकार, धीमान्, और उसका पुत्र वितपाल, चित्रण, तक्षण और धातुओं में मूर्त्ति ढालने की कला में बड़े पारंगत थे ।

३. पूर्व बंगाल के सेन

सेन संभवतः दक्षिण से आये थे और आरंभ में ब्राह्मण थे । फिर युद्ध-कर्म से क्षत्रिय मान लिये गये थे । इस वंश का प्रतिष्ठाता सामन्तसेन एक लेख में 'कर्णाट-क्षत्रिय' कहा गया है । कर्णाट-क्षत्रिय ब्रह्म-क्षत्रिय थे । सामन्तसेन वीरसेन का पुत्र था । सेनों का उत्कर्ष पालों के बाद आरंभ हुआ और उनका राज्य पाल-साम्राज्य के केन्द्रीय भग्नावशेष पर ही खड़ा हुआ ।

विजयसेन

सामन्तसेन के पौत्र विजयसेन ने अपने कुल के यश का विस्तार किया । उसने गौड़ाधिपति मदनपाल को उत्तर बंगाल से निकाल बाहर किया । पौण्ड्रवर्धन-भुक्ति (उत्तर बंगाल) का एक गाँव उसने दान किया था । उसके दो-दो अभिलेखों से[1] उसका उत्तर बंगाल का स्वामी होना प्रमाणित है । धीरे-धीरे विजयसेन ने पूर्व बंगाल पर भी अपना स्वत्व स्थापित कर लिया ।[2] उसके पास नौ सेना भी थी जिससे उसने गंगावर्ती अनेक पश्चिमी प्रदेश विजय किये थे ।[3] उसने तिरहुत (उत्तर बिहार) के नान्यदेव और कलिंग तथा कामरूप के राजाओं को युद्ध में परास्त किया था ।[4] विजयसेन के शासन-काल का अधिकतर भाग इस प्रकार युद्ध-क्षेत्र में ही बीता । उसने बासठ वर्ष राज किया, संभवतः १०९५-११५८ ई० तक । विजयसेन अनन्य शैव था और देवपाड़ा में उसने प्रद्युम्नेश्वर शिव का एक विशाल मन्दिर बनवाया । वहीं उसने एक प्रशस्त झील भी खुदवायी ।

बल्लालसेन

विजयसेन का पुत्र बल्लालसेन पिता के बाद लगभग ११५८ ई० में कुल के सिंहासन पर बैठा । उसकी माता विलास देवी पश्चिमी बंगाल के सूर-परिवार की थी । बल्लालसेन का यश वर्णाश्रम के रक्षा-कार्य पर अवलंबित है । वर्ण-धर्म की रक्षा के लिए उसने उस वैवाहिक प्रथा का प्रचार किया जिसे 'कुलीन-प्रथा' कहते हैं । पिता की ही भाँति बल्लाल भी कट्टर शैव था । साहित्यिकों और साधुओं का वह आदर करता था । अपने गुरु की सहायता से उसने 'दान-सागर' और 'अद्भुत-सागर' नामक दो ग्रन्थ स्वयं भी रचे । इनमें से दूसरा वह समाप्त न कर सका; अतः उसके पुत्र ने किया ।

सेनवंश के पिछले राजाओं में लक्ष्मणसेन विशेष विख्यात हो गया है । वह पृथ्वीराज तृतीय, जयचन्द्र और शिहाबुद्दीन गोरी का समसामयिक था । उसके अभिलेखों में उसे असामान्य विजेता कहा गया है । यदि उनपर विश्वास करें, तो उसने कलिंग और कामरूप को तो रौंद ही डाला, पश्चिमी प्रांतों को भी जीतकर उसने प्रयाग तथा काशी में विजय-

---

१. Ep. Ind, १, पृ० ३०५-१५ ; वही, १५, पृ० २७८-८६ ।

२. वही, १५, पृ० २७८-८६ । ३. वही, १, पृ० ३०९-१०, ३१४ ।

४. वही, (देवपाड़ा का पाषाण-लेख) ।

स्तंभ गाड़े[1]। कलिंग तथा कामरूप का जीतना तो संभव हो सकता है, परन्तु जयचन्द्र के-से प्रबल शत्रु से काशी-प्रयाग छीन लेना सर्वथा जल्पना है। उसके लेखों से सिद्ध है कि काशी जयचन्द्र गहड़वाल की पूर्वी राजधानी बनी रही और गया भी उसके पूर्वी इलाकों में से एक था, जहाँ उसने ग्रामादि दान किये थे। इसके अतिरिक्त मुसलमान इतिहासकारों ने जो इस नृपति का चित्र खींचा है, वह एक अत्यँन्त कायर पुरुष का है। उनका कहना है कि राय लखमनिया इतना बुजदिल था कि जब मुहम्मद-इब्न-बख्तियार खिल्जी अपनी छोटी सेना लेकर नदिया पहुँचा तो वह महल के पिछले द्वार से भाग गया। बख्तियार संभवतः ११९७ ई० में उधर चला और रास्ते में उसने हजारों बौद्ध-भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया। संभवतः ये नालन्दा, उद्दण्डपुर आदि विद्यापीठों और विहारों में रहनेवाले बौद्ध थे जिन्हें मुसलमान इतिहासकार 'मुंडितशिर ब्राह्मण' कहते हैं। ११९९ ई० के लगभग वह नदिया पहुँचा। लक्ष्मणसेन भागकर गंगा पार उतर गया और वहाँ वह लगभग १२०६ ई० तक पूर्व बंगाल पर राज करता रहा। मुसलमान इतिहासकारों ने बख्तियार की सेना केवल अठारह घुड़सवार की बनायी है। उसकी सेना में कुल १८ घुड़सवार थे यह तो स्वीकार करना असंभव है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह सेना अत्यन्त थोड़ी थी। इतनी छोटी सेना का देश के बीच से अत्याचार करते निकल जाना शायद भारतीय इतिहास की ही घटना है। रास्ते में हजारों बौद्ध-भिक्षुओं का इस छोटी सेना ने बध किया था और किसी ने उसे पूर्व की ओर बढ़ते हुए न रोका। स्वयं लक्ष्मणसेन के राजप्रासाद में इतनी शरीर-रक्षक सेना थी कि यदि वह केवल बख्तियार के घुड़सवारों पर गिर जाती तो वे पिस जाते। यदि केवल उसकी दासियाँ चाहतीं तो उसे मार भगातीं। लक्ष्मणसेन ने अपनी विजयों के प्रशस्ति-स्तंभ तो गाड़े, पर इस कायरता की अपनी कालिमा न मिटा सका। उसके अभिलेखों की कीर्ति-कथा पर बख्तियार एक भयानक व्यंग है। लक्ष्मणसेन गद्दी पर कब बैठा, यह कहना कठिन है। मिनहाजुद्दीन उसका अस्सी वर्ष तक राज करना लिखता है, जो स्पष्ट अशुद्ध है। संभवतः ११८० ई० में वह राजा हुआ। १११९ ई० वाला संवत् प्रमाणतः उसका चलाया हुआ नहीं है। लक्ष्मणसेन कवियों का संरक्षक था और 'पवनदूत' का रचयिता धोयिक तथा 'गीत-गोविन्द' का कवि जयदेव उसके दरबारी थे। उसने स्वयं अपने पिता के आरंभ किये काव्य 'अद्भुत-सागर' को समाप्त किया। उसकी मृत्यु के बाद लगभग ५० वर्षों तक उसके वंशज वंग देश पर राज करते रहे। फिर वह देश मुसलमानों के हाथ में आ गया।

लक्ष्मणसेन

४. आसाम

आसाम का प्राचीन नाम कामरूप है। प्राचीन कामरूप आज के आसाम से बड़ा था और इसमें पूर्वी और उत्तरी बंगाल के कुछ भाग तथा भूटान भी शामिल थे। इसकी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुर (गौहाटी) थी। यहाँ राज करनेवाले राजाओं का कुल बड़ा

---

1 JASB., N. S., १०, पृ० ९७-१०४; वही, N. S., ५, पृ० ४७१, ४७६, श्लोक ११।

प्राचीन था। उनका आदि पुरुष नरक नाम का व्यक्ति था, जिसका पुत्र भगदत्त महाभारत में कौरवों की ओर से लड़ा था। कामरूप के प्रति भारतीय अभिलेखों में पहला उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में है जहाँ वह सीमांत के करदायी राज्यों में परिगणित है। फिर लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) के राजाओं के मालवा के जनेन्द्र यशोधर्मन् के प्रति आत्मसमर्पण का मन्दसोर के स्तंभ-लेख में हवाला है। तीसरा हवाला अफसाद लेख में[1] है जिससे जान पड़ता है कि मालवा के महासेन गुप्त ने लौहित्य तक पहुँचकर कामरूप के राजा सुस्थितवर्मन् को परास्त किया। इस सुस्थितवर्मन् का पुत्र भास्करवर्मन् हर्ष का मित्र था।

भास्करवर्मन्

भास्करवर्मन् संभवतः सातवीं सदी ईसवी के आरंभ में कामरूप की गद्दी पर बैठा और उसने उस सदी के मध्य तक राज किया। उसका दूसरा नाम कुमारराज था। कर्णसुवर्ण के राजा शशांक से उसको सदा भय लगा रहता था और जब मालवा के देवगुप्त ने शशांक से मित्रता कर ली तब यह भय और बढ़ गया। देवगुप्त का कुल कामरूप के राजकुल का शत्रु था और उसके पिता ने भास्करवर्मन् के पिता को परास्त किया था। इसी कारण कामरूपाधिपति ने हर्ष से सन्धि कर ली, जो हर्ष के जीवन भर कायम रही। हर्ष के कन्नौज-अधिवेशन तथा प्रयाग के महामोक्ष-परिषद्, दोनों में भास्करवर्मन् उपस्थित था। हर्ष की मृत्यु के बाद जब उसका साम्राज्य तितर-बितर हो गया तब कामरूप के नृपति ने भी उससे लाभ उठाया और कर्णसुवर्ण अपने राज्य में मिला लिया। अर्जुन के विरुद्ध चीनी दूत वैंग-हुएन-त्से की ओर से वह लड़ा भी था। निधानपुरवाले लेख[2] से विदित होता है कि कर्णसुवर्ण की राजधानी से उसने कुछ भूमि दान की थी। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्-त्सांग ६४३ ई० के लगभग कामरूप गया और यद्यपि भास्करवर्मन् ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था, पर वह उसका मित्र हो गया। हर्ष के माँगने पर भी उसने चीनी भिक्षु को न देना चाहा और उसके भय दिखाने पर ही उसने उसे भेजा।

भास्करवर्मन् के उत्तराधिकारियों के विषय में इतिहास को कुछ ज्ञान नहीं है। सालस्तंभ नामक एक राजा ने एक नये राजकुल की नींव डाली; परन्तु शीघ्र ही इस राजकुल का भी अन्त हो गया। श्रीहर्ष और रत्नपाल को छोड़ और किसी राजा ने आसाम के बाहर अपना यश नहीं फैलाया। पालों के उत्कर्षकाल में तो इस राज्य को सदा उनसे भय लगा रहता था। देवपाल ने जयपाल के नेतृत्व में सेना भेजकर कामरूप पर कुछ अधिकार कर लिया था, फिर कुमारपाल के समय तो उसका मंत्री वैद्यदेव उसे जीतकर प्रायः वहाँ स्वतंत्र हो गया था।

उत्तरकालीन इतिहास

तेरहवीं सदी के आरंभ में शान-जाति की अहोम-शाखा ने कामरूप पर अधिकार कर लिया और उसी के अनुसार इस देश का नाम आसाम पड़ा। मुसलमानों ने १२०५ ई० से लेकर १६६२ ई० तक इसे जीतने के अनेक प्रयत्न किये, परन्तु सफल न हो सके। मुहम्मद-इब्न-बख्तियार और मीरजुमला दोनों की सेनाएँ उस बीहड़ प्रान्त में नष्ट हो गयीं। सन् १८२५ में ब्रिटिश सरकार ने आसाम पर अधिकार कर लिया।

---

१. C. I. I., ३, पृ० २०३, २०६, श्लोक १३-१४।
२. Ep. Ind., १२, पृ० ६५ से आगे।

आसाम में तांत्रिक मत का खूब प्रचार हुआ। बौद्ध और हिन्दू दोनों संप्रदाय धीरे-धीरे तांत्रिक हो गये और आज वहाँ का धर्म अधिकतर तांत्रिक शाक्त है। शक्ति की पूजा भले प्रकार प्रचलित है। गौहाटी के समीप कामाक्ष्या देवी का मन्दिर है। आसाम सारे भारत में जादू-टोने का देश समझा जाता है और आज भी वहाँ किसी-न-किसी रूप में कुमारी-पूजा जीवित है। औघड़ आदि मतों का प्रचार विशेषकर वहीं से हुआ।

५. कलिंग (उड़ीसा)

कलिंग साधारणतया महानदी और गोदावरी नदियों के बीच के देश को कहते हैं। आज का उड़ीसा प्राचीन कलिंग और ओड्र अथवा उत्कल दोनों का सम्मिलित प्रांत है। प्राचीन कलिंग दक्षिण में गंजाम तक और उत्कल उसका उत्तरी भाग बंगाल से लगा हुआ था। कलिंग का पहला हवाला नन्दकाल में मिलता है। नन्दराज ने पहले उसे जीता था और वहाँ से जैन तीर्थंकर की मूर्ति उठा ले गया था। अशोक के पहले कलिंग स्वतंत्र हो गया था, परन्तु उस राजा ने भयानक समर के उपरांत उसे जीता। इस युद्ध में इतना संहार हुआ कि उससे प्रभावित होकर अशोक बौद्ध हो गया। द्वितीय शती ई० पू० में चेदिवंशीय खारवेल ने कलिंग की शक्ति खूब बढ़ायी और सातवाहनों तथा मौर्यों को परास्त किया। मगध को दो-दो बार जीतकर उसने जैन-तीर्थंकर की मूर्ति का उद्धार किया। इस देश का इतिहास अत्यन्त अन्धकार में है।

कलिंग के उत्तरकालीन इतिहास में दो राजकुलों ने एक ही काल में इसके विविध भागों पर शासन किया। वे थे भुवनेश्वर के केशरी और कलिंगनगर (कलिंगपत्तन) के पूर्वी गंग। केशरियों के संबंध में हमारा ऐतिहासिक ज्ञान अत्यन्त न्यून है। हम केवल इतना जानते हैं कि भुवनेश्वर आदि स्थानों में उन्होंने अनेक शैव मन्दिर बनवाये, जो कला की दृष्टि से आश्चर्यजनक हैं। केशरी-राजकुल परम शैव था। कलिंग का गंग-राजकुल मैसूर के गंगों की शाखा था और कोलाहल (कोलार) से आकर आठवीं शती में कलिंगनगर (कलिंगपत्तन) में उसने अपने राज्य की नींव डाली थी। इस कुल के प्रारंभिक राजाओं का वृत्तान्त अंधकार में है। इतना बस विदित है कि उस काल इसपर अनेक आक्रमण हुए। आठवीं शती के मध्य में कामरूप के श्रीहर्ष ने इसे जीता और नवीं शती में पूर्वी चालुक्य-राज विजयादित्य ने इसे रौंद डाला। ग्यारहवीं सदी में अवश्य गंगों ने कुछ सतर्कता दिखाई और अनन्तवर्मन् चोडगंगा ने इस कुल का यश दूर-दूर तक फैला दिया। उसकी माता राजसुन्दरी राजेन्द्र चोल की कन्या थी। अनन्तवर्मन् ने संभवतः १०७७ ई० से ११४७ ई० तक संभवतः ७० वर्ष राज किया। यह नृपति प्रबल विजेता था। उसने उत्कलों को जीता और गोदावरी तथा गंगा के बीच के देशों से कर ग्रहण किया। वह विजयसेन का समकालीन था। पाल-नरेश रामपाल के सम्मुख संभवतः उसे एक बार झुकना पड़ा था। अनन्तवर्मन् चोडगंगा ने पुरी के प्रख्यात जगन्नाथ-मन्दिर का निर्माण कराया था। उसके पुत्रों के समय में विजयसेन ने कलिंग पर आक्रमण किया।

पूर्वी गंग

अनन्तवर्मन् चोडगंगा

लक्ष्मणसेन ने भी अपने राज के आरंभ में कलिंग पर हमला किया। तेरहवीं सदी से कलिंग (उड़ीसा) मुसलमानी हमलों का शिकार होने लगा और सोलहवीं सदी में वह जहाँगीर के साम्राज्य का अंग हो गया।

उड़ीसा के मन्दिर

उड़ीसा के मन्दिरों की विशेष ख्याति है। इनमें से अधिकतर मन्दिर ग्यारहवीं सदी के बने हुए हैं और भारतीय मन्दिर-निर्माण-कला में वे अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी शैली अपनी है और मूर्तियों के उभार, तक्षण-सौन्दर्य तथा सजीवता में वे अपनी सानी नहीं रखते। भुवनेश्वर के मन्दिर अधिकतर शिव के हैं। उनके विमानों की ऊँचाई बड़ी होती है। इन मन्दिरों में साधारणतया निम्नलिखित भाग होते हैं—विमान, जगमोहन, नाट्यमंडप, गर्भगृह तथा भोगमंडप। भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर स्तुत्य है। इनके अतिरिक्त पुरी का विष्णु-मन्दिर और कोणार्क का सूर्य-मन्दिर बड़े प्रसिद्ध हैं। पुरी का मन्दिर तो उड़ीसा-कला का अवसान प्रमाणित करता है। परन्तु कोणार्क मन्दिर भारतीय मन्दिर-कला का अभूतपूर्व रत्न है। उसके अश्व, चक्र, ग्रहादि अद्भुत वेश और सजीवता प्रदर्शित करते हैं। जगन्नाथ और कोणार्क के मन्दिरों की एक विशेषता यह है कि उनकी दीवारों पर बाहर की ओर सैकड़ों नग्न काम-चित्र बने हुए हैं। संभवतः इनका कारण वज्रयान तथा तन्त्रयान का प्रभाव है। वज्रयान का आरंभ उड़ीसा में ही श्रीपर्वत पर हुआ था।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. राइट : History of Nepal.
२. रे : Dynastic History of Northern India, प्रथम भाग।
३. जायसवाल : Nepalese Chronology.
४. त्रिपाठी : History of Kanauj.
५. मजूमदार : Early History of Bengal.
६. स्मिथ : Pala Dynasty of Bengal, Ind. Ant., ३८,(१९०९)।
७. बनर्जी : The Palas of Bengal, As. Soc. Beng. का मेम्वायर, खण्ड ५, नं० ३।
८. बनर्जी : History of Orissa.
९. बी० सी० मजूमदार : Orissa in the Making.
१०. हंटर : Orissa.
११. मित्र : The Antiquities of Orissa,
१२. गांगुली : Orissa and Her Remains.
१३. गेट : History of Assam, दूसरा संस्करण।
१४. बरुआ : History of Assam.

तेईसवाँ परिच्छेद

पश्चिमोत्तर सीमा के राज्य

पिछले परिच्छेद में पूर्वी सीमा के राज्यों का वृत्तान्त दिया जा चुका है। इसमें पश्चिमी और पश्चिमोत्तर सीमा के राज्यों का इतिहास देना अभीष्ट है। इस दिशा में तीन राज्य—सिन्ध, काबुल-पंजाब और काश्मीर—खड़े हुए जिनका इतिहास काफी महत्त्वपूर्ण है।

१. सिन्ध

सिन्ध सिन्धुनदतटवर्ती मुल्तान से समुद्र तक का देश है। किसी समय में इसमें बलूचिस्तान का कुछ भाग भी शामिल था। इसी देश के आधुनिक लरकाना प्रांत में अति प्राचीन काल में मोहेन-जो-दाड़ो की सैन्धव सभ्यता का राज था। इसी पर पहले-पहल अरबी मुसलमानों का हमला हुआ और यहीं उनका पहला भारतीय राष्ट्र खड़ा हुआ। सिन्ध के इतिहास के संबंध में जो थोड़ी-बहुत सामग्री उपलब्ध है वह अधिकतर मुसलमान इतिहासकारों द्वारा ही प्रस्तुत हुई है।

प्राचीन काल में इस भू-भाग पर शकों ने राज किया था। उनसे भी पहले देमित्रयस यवन का आक्रमण उसी ओर से हुआ था। शक लोगों ने फिर यहाँ अपना उपनिवेश बनाया जिससे इस भाग का नाम शकद्वीप हो गया था। यहीं से सिकन्दर की नौसेना ने पश्चिम की ओर नियरकस की संरक्षता में प्रयाण किया था और इससे भी पहले ईरानी नृपति दारा के एक सेनापति ने सिन्धुनद से होकर फारस की खाड़ी तक यात्रा की थी, जिसके फलस्वरूप पाँचवीं शती ई० पू० में सिन्ध देश ईरानी साम्राज्य का एक प्रान्त बन सका। उत्तरकाल में इसका संपर्क थानेश्वर-कन्नौज के हर्षवर्धन से हुआ और 'हर्षचरित' में लिखा है कि हर्ष ने 'सिन्धुराज को मथकर उसकी लक्ष्मी छीन ली।'[1] इससे जान पड़ता है कि हर्ष ने कभी सिंध पर आक्रमण कर उससे धन वसूल किया। यदि उसने

प्राचीन वृत्तान्त

उसपर कुछ काल तक अपना प्रभुत्व भी रखा हो, तो आश्चर्य नहीं। हर्ष का समकालिक सिन्धराज संभवतः सिहरस राय (श्रीहर्ष राय) था। हुएन्-त्सांग ने अपने भ्रमण के सिलसिले में सिन्ध का भी पर्यटन किया था। वह लिखता है कि इस देश का राजा शूद्रवर्णीय बौद्ध है।[2] सिन्ध के उत्तरकालीन राजाओं के दो कुल हैं, राय और ब्राह्मण।

अरबी इतिहासकारों के अनुसार इस देश पर रायों के (शूद्र—हुएनत्सांग) कुल और छछ के ब्राह्मण-कुल ने लगभग २०० वर्षों तक राज किया। रायों के राज्य-काल का जोड़ वे १३७ वर्ष बताते हैं। राय-वंश में कुल पाँच राजा हुए और उनकी राजधानी अलोर थी। इस कुल के अन्तिम राजा का मंत्री छछ-ब्राह्मण था। राजा की मृत्यु के बाद छछ ने विधवा रानी से विवाह कर लिया और स्वयं रायों के सिंहासन पर जा बैठा। छछ के राज्यारोहण से सिन्ध देश पर ब्राह्मण-कुल का शासन चला। छछ शक्तिमान नृपति था

---

1. Hc. C. T., पृ० ७६। 2. वाटर्स २, पृ० २५२।

और उसने अपने राज्य की सीमा कश्मीर की हद तक पहुँचा दी। उसने चालीस वर्षों तक राज किया। उसके पश्चात् उसका भाई चन्द्र राजा हुआ, फिर छछ का पुत्र दाहिर। दाहिर के शासनकाल में ही मुहम्मद-इब्न कासिम ने ७१२ ई० में हमला किया। देबुल और ब्रह्मनाबाद की विजय कर कासिम ने मुल्तान पर भी अधिकार कर लिया। ७२३ ई० तक सिन्ध पूरा-पूरा अरबों के अधिकार में आ गया। जुनैद के समय फिर एक बार अरबों की प्रसर-नीति क्रियात्मिका हुई। वह नागभट प्रथम का समकालीन था। उसने भीनमल, गुजरात और उज्जैन तक धावे किये। नागभट ने उसे आगे बढ़ने से रोक दिया। तब से प्रतीहार अरबों और इस्लाम के भारत में सबसे प्रबल शत्रु हो गये। इस कारण अरबों ने अब प्रतीहारों के सहज वैरी मान्यखेत के राष्ट्रकूटों से मैत्री की।

मुस्लिम-नीति

सिन्ध की सीमा के अन्दर अरबों ने हिन्दुओं के साथ काफी सहिष्णुता का बर्ताव किया। उत्तरकालीन समानधर्मा सुल्तानों की भाँति उन्होंने हिन्दू-मन्दिरों का विध्वंस न किया वरन् उनकी रक्षा की। उन्होंने एलान किया कि हिन्दुओं के मन्दिर भी 'मगों, यहूदियों और ईसाइयों के इबादतखानों की तरह सुरक्षित' रहेंगे। हिन्दुओं को अपने मन्दिरों को पुनरुद्धार अथवा नयों के निर्माण का अधिकार प्राप्त था। देश के भीतर के शासन में हिन्दुओं से सहायता ली जाती थी। फिर भी उन्हें 'खिराज' और 'जिजिया' नामक कर देने पड़ते थे। अरबों ने भारतीयों के संबंध से अनेक विद्याएँ सीखीं जिनमें ज्योतिष, गणित और औषधि मुख्य थीं। चरक के चिकित्सा-ग्रन्थ और 'पञ्च तंत्र' का भी उन्होंने अरबी में अनुवाद कराया।[1]

कुछ काल के बाद सिन्ध के अरबों में गृह-कलह का आरंभ हुआ। परिणामस्वरूप मुल्तान और मन्सूरा के दो-दो स्वतंत्र राष्ट्र खड़े हो गये। गृह-कलहजनित दुर्बलता के कारण सिन्ध शीघ्र महमूद गजनवी और उसके रिसालों का शिकार हुआ। महमूद की मृत्यु के बाद उपरला सिन्ध फिर एक बार हिन्दू-अधिकार में आया और सुम्रा उसके राजा हुए जिन्होंने वहाँ लगभग तीन शताब्दियों तक राज किया। उनके बाद चौदहवीं शती के मध्य वहाँ के शासक सम्मा हुए, जिनसे बाद के मुसलमानों ने फिर एक बार सिन्ध छीन लिया।

२. काबुल और पंजाब के शाही

समुद्रगुप्त के प्रयागवाले स्तंभ-लेख से प्रमाणित है कि भारत से उनका लोप हो जाने पर भी कुषाणवंशी राजा देवपुत्र-शाही-शाहानुशाही नाम से काबुल की घाटी में राज करते रहे। अलबेरूनी उन्हें 'हिन्दू-तुर्क' कहता है। उसका वक्तव्य है कि इन हिन्दू-तुर्कों ने 'शाहिय' उपाधि धारण कर काबुल पर साठ पुश्तों तक राज किया। निस्सन्देह प्राचीन कुषाणों के विरुद 'शाही' का ही 'शाहिय' रूपान्तर है। संभव है, अलबेरूनी की दी हुई संख्या 'साठ' बिलकुल सही न हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि एक लंबे काल तक कुषाण-राजाओं का काबुल की घाटी में शासन रहा। ये कुषाण सर्वथा हिन्दू हो गये थे और संभवतः क्षत्रिय माने जाने लगे थे। सातवीं सदी से नवीं तक लगभग दो सौ वर्षों तक कुषाण-

1. Dynastic History of Northern India, १, पृ० २०-२१।

शाहियों अथवा हिन्दू-तुर्कों का यह घराना अरब-आक्रमण की निरन्तर चोटें सहता रहा। इस कुल का अन्तिम राजा लगतूर्मान् था जिसे सिंहासन-च्युत कर उसके ब्राह्मण-मंत्री कल्लर ने अपने नवीन 'हिन्दू-शाही' कुल की नींव डाली।[1]

हिन्दू-शाही नृपति

इस हिन्दू-शाही कुल में भी अनेक राजा हुए। अलबेरूनी ने कल्लर के पश्चात् होनेवाले इस कुल के राजाओं के नाम इस प्रकार दिये हैं:—सामन्द, कमलू, भीम, जयपाल, आनन्दपाल, तरोजनपाल और भीमपाल।[2] अलबेरूनी की यह सूची सिक्कों के प्रमाण से भी सही जान पड़ती है। परन्तु कुछ राजाओं के नाम कल्हण ने भी अपनी 'राजतरङ्गिणी' में दिये हैं। इनमें से एक लल्लिय था जिसने शंकरवर्मन् के गुर्जर-शत्रु की सहायता की थी। लल्लिय संभवतः कल्लर है। गोपालवर्मन् के मंत्री ने जिस शाही को परास्त किया था, वह निस्सन्देह सामन्त था। कल्हण उसे 'उद्‌भाण्डपुर का शाही' कहता है। क्योंकि ८७०-७१ ई० में याकूब के काबुल पर कब्जा कर लेने के बाद शाहियों ने अपनी राजधानी उद्‌भाण्डपुर हटा ली थी। 'श्री सामन्तदेव' नाम के सिक्के अफगानिस्तान और पंजाब में बड़ी संख्या में पाये गये हैं। विजेता ने शाहियों का राज जिस तोरमाण को दे दिया था, वह संभवतः अलबेरूनी की सूची का कमलू है। कमलू के बाद शाहियों का राजा भीम हुआ। इस नृपति के सिक्के भी मिले हैं। भीम कश्मीर की प्रसिद्ध रानी दिद्दा का नाना था। उसने क्षेमगुप्त के काल में कश्मीर में भीमकेश्वर शिव का मन्दिर बनवाया।

जयपाल

जयपाल के समय में मुसलमानों की शक्ति अफगानिस्तान में दृढ़ हो गयी, और वह दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी। अपनी राजधानी वे अब पटियाला के राज्य में भटिण्डा उठा लाये। परन्तु सबुक्तगीन की चोटें फिर भी शाही सीमा पर निरन्तर पड़ती रहीं। जयपाल ने तब उसपर भी हमले करने की ठानी। कई बार उसने भी काबुल के राज्य पर हमले किये, परन्तु उसका उद्देश्य पूरा न हुआ। स्वयं जयपाल पकड़ लिया गया और उसे नितान्त निन्द्य शर्तों पर सन्धि करनी पड़ी।[3] परन्तु अपनी राजधानी में पहुँचकर उसने कर देने से इन्कार कर दिया और सबुक्तगीन के दूत जब माँगने आये तो उसने उन्हें बन्दी भी कर लिया। सबुक्तगीन तब उसकी ओर बढ़ा। जयपाल ने पहले से इस स्थिति की कल्पना कर भारतीय राजाओं के पास सहायता के अर्थ दूत भेज रखे थे। दिल्ली, अजमेर, कालञ्जर तथा कन्नौज से, चौहान, चन्देल और गहडवाल-सेनाएँ आयीं; परन्तु जलालाबाद जिले के लमगान[4] की सीमा पर जो शक्तिसंतुलन हुई, उसमें हिन्दू हल्के साबित हुए और जयपाल को काफी नुकसान उठाना पड़ा। सबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गजनी की गद्दी पर बैठा और लड़ाई के मामलों में वह बाप से भी चुस्त निकला। १००१ ई० में एक बड़ी सेना लेकर वह भारत की ओर बढ़ा और

---

१. अलबेरूनी का भारत, सचाऊ का अनुवाद, २, पृ० १३। २. वही

३. इलियट : History of India, २, पृ० २१; ब्रिग्स् : फिरिश्ता १, पृ० १७।

४. ब्रिग्स् : फिरिश्ता, १, पृ० १८।

जयपाल को फिर हारना पड़ा। अनेक बार हार जाने से जयपाल को इतनी ग्लानि हुई कि उसने अपना राज्य अपने पुत्र आनन्दपाल को सौंप चिता का आश्रय लिया। फिरिश्ता का कहना है कि हिन्दू राजा जब दो से अधिक बार हार जाते थे तब वे राज करने के योग्य नहीं समझे जाते थे और उनका आग में जल मरना ही उचित समझा जाता था।[1]

आनन्दपाल, त्रिलोचनपाल

आनन्दपाल पिता की गद्दी पर बैठा, परन्तु महमूद ने उसे भी कल न लेने दिया और १००८ ई० में वह फिर भारत पर चढ़ दौड़ा। आनन्दपाल ने भी पिता की ही भाँति भारत के अन्य राजाओं के पास मदद के लिए लिखा और मदद आयी भी काफी। पर, महमूद के सेनापतित्व के सामने हिन्दू की सम्मिलित सेना की एक न चली और हार फिर हिन्दुओं के हिस्से पड़ी। १०१४ ई० में आनन्दपाल का पुत्र त्रिलोचनपाल शाही-वंश की गद्दी पर बैठा और उसे भी १०२१ ई० में महमूद की चोट सहनी पड़ी। उसने भी हिन्दू-राजाओं से मदद माँगी और उसकी पराजय बहुत कुछ यह मदद ही थी। अनेक कश्मिरी मददगार के दोषपूर्ण नेतृत्व के कारण ही उसकी हार हुई। परन्तु वीरता से लड़ता हुआ वह युद्ध-क्षेत्र में मारा गया। उसके बेटे भीमपाल ने पिता की नीति का अनुकरण किया और महमूद के विरुद्ध १०२६ ई० में वह भी युद्ध के लिए उतरा और लड़ता हुआ मारा गया। महमूद भारत के धन का प्यासा और इस्लाम का कट्टर अनुयायी था। मध्यएशिया के चुने हुए लड़ाके कट्टर मुसलमान और दुस्साहसी दरिद्र उसकी सेना में थे। समृद्धि और संस्कृति में पले सौभाग्य के लाड़ले भारतीय उनका सामना न कर सके।

३. कश्मीर

पंजाब और पामीर, तिब्बत और यारखुन नदी के बीच का आधुनिक कश्मीर प्राचीन काल में अपेक्षाकृत बहुत छोटा था। तब वह झेलम और उसकी सहायक सोतों की घाटी में बसा हुआ यह देश भारत से बाहर दूर था, उससे कटा हुआ। इसी कारण दोनों का संपर्क भी कम हुआ और कश्मीर अपनी संस्कृति के कितने ही अंगों में भारत से भिन्न हो गया। फिर भी जब-तब भारतीय नरेशों ने इस देश पर शासन किया। अशोक ने यहाँ

भारत से संबंध

अनेक स्तूप बनवाये और श्रीनगर की स्थापना की। ह्वेन्-त्सांग का तो यहाँ तक कहना है कि अशोक ने इस देश को संघ के व्ययार्थ दान-सा कर दिया था।[2] उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र जालौक केन्द्रीय शासन से स्वतंत्र हो गया। कुषाणों के समय में यह देश उनके शासन में रहा और कनिष्क को यह स्थान बड़ा प्रिय था। उसने बौद्धों की चौथी संगीति भी पार्श्व की सलाह से यहीं बुलायी थी। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में कश्मीर का उल्लेख नहीं है, यद्यपि संभव है कि उसमें उल्लिखित 'दैवपुत्र शाहानुशाहीशकमुरुण्ड' आदि राजाओं में से किसी के अधिकार में यह सुहावनी घाटी रही हो। ये राजा समुद्रगुप्त के करदायी सीमान्त-नृपति थे। हूण-सरदार

---

1. वही, पृ० ३८; इलियट, History of India, २, पृ० २७।

2. बील, १, पृ० १५१ ; वाटर्स, १, पृ० २६७।

तोरमाण का पुत्र मिहिरकुल जब यशोधर्मन् और बालादित्य से हारकर भागा तब उसने कश्मीर में शरण ली। उसकी वहाँ खूब आव भगत हुई; परन्तु उसका बदला उसने तत्कालीन राजा से गद्दी छीनकर दिया। हर्ष का संबंध इस देश से नहीं था।

'राजतरंगिणी' और अन्य साहित्यिक ग्रन्थों के अनुसार चार वंशों ने कश्मीर देश पर राज किया। ये थे कर्कोटक, उत्पल, गुप्त और लोहर। परन्तु इनका राज्यारंभ केवल सातवीं सदी ईसवी से होता है। इस सदी से पूर्व का इतिहास अत्यन्त संदिग्ध और अग्राह्य है। कर्कोटक-कुल से पूर्व के गोनन्द-वंश का वृत्तान्त कल्हण ने अटकल से तो लिखा ही है, वह नितान्त कपोलकल्पित पुराण भी है। परन्तु कर्कोटक-कुल का इतिहास निस्सन्देह सत्य पर अवलंबित है। इस कुल का नाम इसके आदि पुरुष नाग-कर्कोटक के नाम पर पड़ा है। इस कुल का पहला राजा दुर्लभवर्धन गोनन्द-वंश के अन्त होने पर कश्मीर की गद्दी पर बैठा। उसने लगभग ३६ वर्ष राज किया। उसने हर्ष को बुद्ध का दाँत भेंट दिया, जिसे हर्ष ने अपनी राजधानी में एक स्तूप बनवाकर रखा। संभवतः इसी दुर्लभवर्धन के दरबार में चीनी यात्री हुएन्-त्सांग ६३१-३३ ई० तक ठहरा था। कश्मीर तभी से उत्कर्ष के मार्ग पर आरूढ़ हो चला था और उसने सिंहपुर (केतास), उरशा (हजारा), पुंछ और राजपुर (राजोरी) पर अधिकार कर लिया था।

कर्कोटक-राजकुल

दुर्लभवर्धन

कश्मीर का सबसे शक्तिमान नृपति ललितादित्य मुक्तापीड था जिसने सम्भवतः ३६ वर्ष राज किया। वह बड़ा पराक्रमी और दुर्द्धर्ष विजेता था। उसकी दिग्विजय का सविस्तर वृत्तान्त 'राजतरंगिणी' में दिया हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें अतिरंजन काफी है, परन्तु उसके आधार पर उसकी वास्तविक विजयों का उल्लेख किया जा सकता है। उससे विदित होता है कि उसने ७३३ ई० में यशोवर्मन् को परास्त कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। इसी दौरान में पंजाब के भी कुछ भाग उसने जीत लिये। उत्तर की ओर भी उसने विजयों का ताँता लगा दिया। वक्षु-तीर के केसर के खेतों में उसने अपने घोड़े दौड़ाये और तुखारिस्तान (वक्षु नद की उपरली पामीर की घाटी) पर अधिकार कर लिया। उसके पास का ही, कश्मीर के ठीक उत्तर का, दरदों का देश भी (दरदिस्तान) उसने जीता, फिर वह पूर्व की ओर मुड़ा। पूर्व में उसने तिब्बतियों (भूतों) को परास्त किया और हिमालय की ऊँची दीवार लाँघता उसकी छाया में वह उत्तरी बंगाल की ओर जा पहुँचा। गौड़ाधिपति को हराकर वह लौटा। ललितादित्य मुक्तापीड ने चीनी सम्राट् के पास अपने दूत भेजे। इस समय चीनी सम्राटों का कश्मीर पर बड़ा प्रभुत्व था। उसके पहले के राजा चन्द्रापीड का तो राज्याभिषेक भी ७२० ई० में चीनी सम्राट् द्वारा हुआ ही था। निस्सन्देह ललितादित्य ने कश्मीर दरबार को उस चीनी प्रभाव से मुक्त कर लिया था। वह सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु जान पड़ता है। हुष्कपुर और अन्य स्थानों में उसने बौद्ध-विहार बनाये। साथ ही उसने हिन्दू-देवताओं के भी अनेक मन्दिर बनवाये। भूतेश का शिव-मन्दिर, परिहास-केशव का विष्णु-मन्दिर और सूर्य का मार्तण्ड-मन्दिर उसके ही

ललितादित्य मुक्तापीड—लगभग ७२४ ई०--७६० ई०

निर्माण-प्रयास की विभूति हैं। इनमें से मार्तण्ड-मन्दिर के खँडहरों से तो प्रतीत होता है कि यह मन्दिर अत्यन्त विशाल था। कुछ आश्चर्य नहीं, यदि ललितादित्य की रुझान सूर्य की पूजा के प्रति अधिक रही हो।

जयापीड विनयादित्य अपने पितामह ललितादित्य की ही भाँति यशस्वी और पराक्रमी हुआ। उसने भी पितामह की तरह कन्नौज पर चढ़ाई की और वहाँ के राजा वज्रायुध अथवा इन्द्रायुध को गद्दी से उतार दिया। फिर वह भी मुक्तापीड की भाँति पूर्व की ओर मुड़ा और उसने भी उत्तर बंगाल (पौण्ड्रवर्धन) के नृपति को परास्त किया। फिर नैपाल के राजा को हराता हुआ वह कश्मीर लौटा। जयापीड अन्त में धनलोलुप और क्रूर हो गया। परन्तु वह साहित्यिकों का संरक्षक था। उसके दरबार में प्रसिद्ध अलंकार-शास्त्री उद्भट और वामन तथा 'कुट्टनीमतं' का रचयिता दामोदरगुप्त आश्रय पाते थे। जयापीड के उत्तराधिकारी दुर्बल हुए और नवीं शती के मध्य में कश्मीर का राज्य कर्कोटकों के हाथ से निकलकर उत्पलों के हाथ में चला गया।

जयापीड विनयादित्य ७७९-८१० ई०

उत्पल-राजकुल का पहला राजा अवन्तिवर्मन् हुआ। ८५५ ई० में वह गद्दी पर बैठा और ८८३ ई० तक उसने राज किया। जब वह राजा हुआ तब कश्मीर दरिद्र और लहूलुहान हो रहा था। अन्तिम कर्कोटकों की दुर्बलता के कारण गाँवों के जमीन्दार (डामर) अत्यन्त शसक्त हो गये थे और उन्होंने प्रजा को तबाह कर डाला था। उनके मारे न जीवन की रक्षा हो पाती थी, न धन की। देश की उपज अत्यन्त क्षीण हो गयी थी और अन्न का मूल्य अदेय हो गया था। अवन्तिवर्मन् ने देश में शान्ति स्थापित करने और सस्ती लाने का पूरा प्रयत्न किया और वह इन कार्यों में सफल भी हुआ। 'डामरों' को तो उसने पूर्णतया दबा दिया; फिर वह अपने मंत्री सुय्य (सूर्य) की सहायता से देश की आर्थिक स्थिति की ओर मुड़ा। सुय्य ने अनेक नहरें निकालकर खेती में सिंचाई का प्रबन्ध किया। उसने वितस्ता (झेलम) का प्रवाह तक बदल दिया, जिससे दलदलों पर अधिकार हो जाने से उपज की मात्रा बहुत बढ़ गयी और देश सम्पन्न हो गया। एक खिरनी चावल का मूल्य जो पहले २०० दीनार था, वह अब ३६ दीनार हो गया। सुय्य ने निर्माण-कार्य भी अनेक कराये। उसके नाम पर आज भी सोपुर (सूर्यपुर) बसा हुआ है और अवन्तिवर्मन् के नाम का अवशेष वन्तपोर में ध्वनित है। इस नृपति ने अनेक मन्दिर बनवाकर उनके व्यय के अर्थदान दिये। उसके दरबार में अनेक साहित्यिक थे, जिनमें अग्रगण्य 'ध्वन्यालोक' का रचयिता आनन्दवर्धन था।

उत्पल-राजकुल

अवन्तिवर्मन् ८५५-८८३ ई०

अवन्तिवर्मन् की मृत्यु के बाद उसका पुत्र शंकरवर्मन् राजा हुआ। पहले तो गद्दी के लिए संघर्ष छिड़ गया और बड़ा रक्तपात हुआ। परन्तु शंकरवर्मन् पिता का राज्य लेने में सफल हुआ। राजा होते ही उसने पिता की शान्ति-नीति छोड़कर युद्ध-नीति अपनायी। उसने झेलम और चिनाब नदियों के द्वाब (दर्वाभिसार) पर आक्रमण किया और काँगड़ा (त्रिगर्त) पर भी अपना

शंकरवर्मन् ८८३-९०२ ई०

प्रभुत्व जमाया। फिर वह गुर्जर-नरेश अलखान तथा लल्लीय-शाही के संघ को तोड़कर गुर्जरों को परास्त कर दिया। मिहिरभोज द्वारा विजित प्रदेश उसने उसके उत्तराधिकारी महेंद्रपाल प्रथम प्रतीहार से छीनकर ठक्किय सरदार को प्रदान किया। अन्त में आक्रमण से लौटता हुआ वह ९०२ ई० में उरशा (हजारा) में मरा। शंकरवर्मन् ने अपने युद्धों के व्यय से अपने पिता की सफलता पर पानी फेर दिया। देश पूर्ववत् फिर कंगाल हो गया। पश्चात्काल में उसकी अर्थ-लोलुपता यहाँ तक बढ़ गयी थी कि उसने मन्दिरों तक को लूटा और धार्मिक अनुष्ठानों तक पर कर लगाये। पिता ने कश्मीर को संपन्न छोड़ा था, पुत्र ने उसे दरिद्र छोड़ा।

शंकरवर्मन् और उसके बाद का इतिहास कश्मीर के दुर्भाग्य का इतिहास है—रक्तपात और दारिद्र्य का। शंकरवर्मन् के पुत्र गोपालवर्मन् ने केवल दो वर्ष राज किया। उसका मंत्री प्रभाकरदेव योद्धा और नीतिज्ञ था। उसने शाही राजा सामन्तदेव को पराजित कर उसका राज्य तोरमाण-कमलुक को दे दिया। गोपालवर्मन् ९०४ ई० में मरा। उसके बाद दो प्रकार के सैनिकों—तन्त्रिन् और एकांगों—के गृहयुद्ध से कश्मीर क्षत-विक्षत हो गया। तन्त्रिन् तो इतने शक्तिमान हो गये थे कि वे जिसे चाहते गद्दी पर बिठा देते, जिसे चाहते गद्दी से उतार देते। पार्थ के समय में (९१७-१८ ई०) में भारी अकाल पड़ा; परन्तु प्रजा की सहायता करनेवाला कोई न था। तन्त्रिन् मंत्रियों से मिलकर महँगे दामों चावल बेचकर धन एकत्र करते रहे। ९३७-३९ ई० तक उन्मत्तावन्ती ने राज किया। वह इस कुल का सबसे क्रूर और दुष्ट नृपति था। क्रूरता के कार्य उसे विशेष तरह से प्रसन्न करते थे। गर्भवती स्त्रियों के बच्चों को मार डालना उसका असाधारण आनन्द था। जयेन्द्रविहार में रहनेवाले अपने विरक्त पिता पार्थ और अपने सारे अन्य भाइयों को उसने मरवा डाला। उसका अनौरस पुत्र सूरवर्मन् द्वितीय केवल कुछ महीने राज कर सका। उसके बाद कश्मीर का शासन गोपालवर्मन् के मन्त्री प्रभाकरदेव के कुल के हाथ में चला गया।

गोपालवर्मन्, पार्थ, उन्मत्तावन्ती

नया नृपति प्रभाकरदेव का पुत्र यशःकर था और उसे ब्राह्मणों ने चुनकर राजा बनाया था। उसने ९३९ ई० से ९४८ ई० तक राज किया, परन्तु इस थोड़े काल के अन्दर उसने कश्मीर की दशा बिलकुल बदल दी। चारों ओर शान्ति और समृद्धि छा गयी। परन्तु उसकी मृत्यु के बाद राज्य के पहले साल में ही उसका पुत्र अपने मंत्री पर्वगुप्त द्वारा मार डाला गया। पर्वगुप्त स्वयं राजा बन बैठा। इस कुल की रानी दिद्दा बड़ी प्रसिद्ध हो गयी है। वास्तव में उसकी तरह की शक्तिमती ओजस्विनी नारी भारत ने कम पैदा किया है। पचास वर्षों तक वह कश्मीर की गन्दी राजनीति में प्रमुख व्यक्ति थी, जिसके संकेत बिना एक पत्ता तक न हिल सकता था। उसमें अद्भुत क्षमता, साहस, क्रूरता तथा महत्त्वाकांक्षा थी। उसके पति क्षेमगुप्त ने ९५०-९५८ ई० तक राज किया और तदन्तर उसने अपने पुत्र के अभिभाविका के रूप में ९५८ ई० से ९८० ई० तक शासन किया। दोनों के समय में वास्तविक राजा वही थी। फिर ९८० ई०

गुप्तकुल

यशःकर, संग्राम

दिद्दा

में वह स्वयं सिंहासन पर जा बैठी और १००३ ई० तक तुंग नामक एक खस की सहायता से वह राज करती रही। डामर और ब्राह्मण दोनों उसके विरुद्ध थे, परन्तु उसने उनको भी कुचल डाला। अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए उसने अपने पति और पुत्र को मरवा डालने से भी हाथ न रोका। तुंग उसकी सारी वासनाओं का पूरक था। उसके लिए उसने सारी लोक-लाज छोड़ रखी थी; परन्तु शासन में वह असाधारणतया दृढ़ और कुशल थी। दिद्दा शाही-राजा भीम की कन्या की पुत्री और लोहर-राजा (पुंछ रियासत) सिंहराज की पुत्री थी। मृत्यु के पहले उसने अपने भतीजे लोहर-राज विग्रहराज के भाई संग्रामराज को कश्मीर का राज्य सौंप दिया और कोई चूँ न कर सका। राजकुल चुपचाप बदल गया।

लोहरों का राज १००३ ई० में आरम्भ हुआ। संग्रामराज ने १५ वर्ष राज किया। आरम्भ काल में तुंग प्रबल बना रहा। महमूद के विरुद्ध त्रिलोचनपाल की सहायता में तुंग भी गया था। १०२१ ई० में महमूद ने कश्मीर जीतने के लिए मंसूबे बाँधे ; परन्तु लोहकोट को सर न कर सकने के कारण वह लौट गया। आरम्भ के राजाओं में से वे प्रायः दुर्बल, क्रूर और स्वार्थी थे। आगे की कहानी भी वही दुःशासन, रक्तपात और क्रूरता की है। १०८९ ई० में हर्ष नामक राजा कश्मीर की गद्दी पर बैठा। आरम्भ में उसने सुशासन, सैन्य-संचालन तथा ललित-कलाओं में इतनी रुचि दिखायी कि प्रजा उससे बड़ी आशा रखने लगी। परन्तु शीघ्र हर्ष व्यभिचारी, क्रूर और अधार्मिक हो गया। तुर्कों को उसने अपनी सेना में ऊँचे पद दिये और धनोपार्जन के नये साधन ढूँढ़ निकाले। मन्दिरों को उसने खूब लूटा और मूर्तियों का तिरस्कार किया। डामरों ने अन्त में विद्रोह का झण्डा उठाया और सर्वत्र मार-काट और अराजकता फैल गयी। हर्ष ११०१ ई० में मरा। इस अराजकता के समय उच्छल ने गद्दी पर अधिकार कर लिया। परन्तु वह भी उस-पर अधिक दिनों तक न बैठ सका। इसी प्रकार देश की दशा चलती रही। अन्त में १३३९ ई० में एक मुसलमान साहसिक ने कश्मीर पर अधिकार कर लिया। उसने अपना नाम श्री शम्सद्दीन (शम्सुद्दीन) रखा। आरम्भ के मुसलमान राजाओं के शासन-काल में ब्राह्मण कश्मीरी राजनीति में प्रबल बने रहे और राज्य की भाषा भी संस्कृत बनी रही।

लोहर-राजकुल

हर्ष

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. रे : Dynastic History of Northern India.

२. सचाऊ : Alberuni's India.

३. इलियट : History of India.

४. ब्रिग्स् : History of the Rise of Mohemmedan Power.

५. कल्हण : राजतरंगिणी।

६. जोनराज : द्वितीय राजतरंगिणी।

चौबीसवाँ परिच्छेद

राजपूत-काल

१. त्रिपुरी के कलचुरी

कलचुरी हैहयवंशीय क्षत्रिय थे। प्राचीन काल में हैहयों का राज्य नर्मदा के तट पर फैला हुआ था। उनकी राजधानी माहिष्मती (मान्धाता) थी। कलचुरियों को चेदिकुलीय भी कहते थे, क्योंकि उनका निवास चेदि देश में भी था जिसे उन्होंने जीत लिया था। इस कुल का ऐतिहासिक प्रतिष्ठाता कोकल्ल प्रथम था। उसने डहाल (जबलपुर के आसपास की भूमि) प्रदेश में त्रिपुरी नामक स्थान पर अपना राज्य स्थापित किया।

कोकल्ल प्रथम

नवीं शती के अन्त और दसवीं के आरंभ में वह इतना प्रबल हो गया कि राष्ट्रकूट और प्रतीहार उसकी सहायता की अपेक्षा करने लगे। राष्ट्रकूट कृष्ण द्वितीय की उसने पूर्वी चालुक्यों के विरुद्ध[1] और भोज द्वितीय प्रतीहार की उसके भाई महीपाल[2] के विरुद्ध सहायता की। उसने चन्देल-राजकुमारी नट्टदेवी से विवाह किया और अपनी कन्या कृष्ण द्वितीय को ब्याह दी। वह विजेता भी था और अधिक अपनी लूट की नीति से उसने अपने समकालीनों को भयान्वित रखा।

१०१९ ई० में इस कुल में गांगेयदेव राजा हुआ। महोबा के अभिलेख[3] से जान पड़ता है कि उसने उत्तर भारत में कांगड़ा (कीर) तक धावा किया और प्रयाग तथा वाराणसी पर अधिकार कर लिया। अल बैहाकी अपने इतिहास में लिखता है कि जब मसूद के पंजाब के शासक नियालित गिन ने १०३३ ई० में काशी पर हमला किया था तब वह नगर गंगा के अधिकार में था।[4]

गांगेयदेव
१०१९-१०४१ ई०

उसने उत्कल और कुन्तल (कन्नड़) के नरेशों को भी पराजित किया था[5] और तिरहुत (उत्तर बिहार) पर अधिकार कर लिया था।[6] उसने 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण किया; परन्तु अपने शासन के अन्तिम वर्षों में उसे भोज परमार से परास्त होना पड़ा। वह १०४१ ई० के आसपास मरा।

गांगेयदेव का पुत्र कर्ण अथवा लक्ष्मीकर्ण इस कुल का सर्वशक्तिमान् नृपति था। उसने

---

१ Ep. Ind., १, पृ० २५६, २६४, श्लोक १७; वही, २, पृ० ३००,३०६, श्लोक ७। २ देखिये प्रतीहार-प्रकरण।

३ Ep. Ind. १, पृ० २१९,२२२, पं० १४।

४ इलियट : History of India, २, पृ० १२३-२४।

५ Ep. Ind. ११, पृ० १४३ श्लोक १७।

६ Dy. His. Nor-India. १, पृ० ७७४.।

१०४१ ई० से १०७२ ई० तक राज किया और इन ३१ वर्षों के शासन में सारे उत्तर भारत में वह विख्यात हो गया। काशी उसके अधिकार में भी रही। वहाँ उसने कर्णमेरु-शिव का विशाल मन्दिर बनवाया।[1] पिता की ही भाँति उत्तर-पश्चिम में कांगड़ा तक धावे मारे थे।[2] गहड़वालों के आरंभ के पूर्व पृथ्वी की जो दयनीय दशा बसही अभिलेख में बताई गयी है उसके कारणों में भोज के साथ सार्थकर्ण[3] का भी उल्लेख है। निस्सन्देह लक्ष्मीकर्ण उत्तर भारत में एक बार काल की भाँति फिर गया था।

कर्ण

चन्देलों पर भी उसने विजय पायी थी। पालों के साथ भी उसका संघर्ष हुआ जिसमें पहले तो उसकी जीत हुई; परन्तु नयपाल के पुत्र विग्रहपाल तृतीय ने उसे पराजित कर दिया। इस समय धारा का भोज परमार अत्यन्त प्रबल हो गया था। कर्ण ने गुजराती चालुक्यराज भीम प्रथम की सहायता से उसे बुरी तरह परास्त किया। उसकी शक्ति का साका चल गया। उत्तर भारत में पश्चिम में कांगड़ा से पूर्व में बंगाल तक उसकी धाक जम गयी और कलिंग भी उसकी शक्ति से कांप उठा। दक्षिण के चोल और पांड्य-राजाओं ने भी उसकी शक्ति की सराहना की। परन्तु अन्त उसका उज्ज्वल न रह सका। भीम प्रथम ने उसे पराजित किया, मालवा एक बार फिर स्वतंत्र हो गया और चालुक्य सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल तथा कीर्तिवर्मन् चन्देल ने उसे अलग-अलग परास्त किया। कर्ण ने हूणों की राजकुमारी आवल्लदेवी से विवाह किया था। उससे प्रसूत अपने पुत्र यशःकर्ण को राज सौंप वह स्वयं विरक्त हो गया।

यशःकर्ण १०७३ के लगभग त्रिपुरी के सिंहासन पर बैठा। उसने उत्तर-बिहार के चम्पारण्य (चम्पारण जिला) पर धावा मारा और वेंगी के चालुक्य-नृपति विजयादित्य सप्तम को उखाड़ फेंका। परन्तु कुललक्ष्मी विचलित हो चुकी थीं, यशः उसे स्तंभित न कर सका। अनेक राजाओं ने उसका पराभव किया,

यशःकर्ण

अनेक प्रांत उसके राज्य से निकल गये। लक्ष्मदेव परमार ने कुल के अपमान का बदला लिया और वह त्रिपुरी तक चढ़ आया। गहड़वालों ने काशी पर कब्जा कर लिया और कन्नौज को राजधानी बनायी तथा कलचुरियों के अनेक प्रांत दबा लिये। यशःकर्ण ने ११२० ई० तक लगभग ४७ वर्ष राज किया। उसके पुत्र गयाकर्ण के समय तो और भी दुर्दशा हुई। चन्देल मदनवर्मन् ने उससे अनेक प्रांत छीन लिये और दक्षिण कोशल में रत्नपुर-शाखा के कलचुरी स्वतंत्र हो गये।[4] गयाकर्ण के पश्चात् इस कुल का प्रताप-सूर्य तेजी से क्षितिज की ओर ढल चला और जिसने कभी सारे देश को तपाया था, वह अस्त हो गया।

२. जेजाकभुक्ति (बुंदेलखण्ड) के चन्देल

विन्सेंट स्मिथ[5] के मत से चन्देल गोंड और भरों की जाति से उत्पन्न हुए थे और उनका मूल छतरपुर रियासत में केन नदी के तट पर मनियागढ़ था। नवीं शती के आरंभ में नन्नुक नामक चन्देल ने दक्षिणी बुन्देलखण्ड में अपने कुल के ऐश्वर्य का विस्तार किया

1 Ep. Ind. २, पृ० ४, ६, श्लोक १२ 2 Ind. Ant., १८, पृ० २१७, पंक्ति ११।
3 वही, १४, पृ० १०३, पं० ३। 4 Dy. His. Nor-Ind.- २, पृ० ७९१-९२।
5 Ind. Ant. ३७, (१९०८), पृ० १३६-३७।

और उसके पौत्र जयशक्ति अथवा जेजा ने देश को उसका नाम दिया। आरंभ के नृपतिं प्रतीहारों के माण्डलिक नृपति थे; परन्तु हर्षदेव बड़ा प्रभावशाली हो गया था। उसने मिहिर-

हर्षदेव

भोज के पुत्रों भोज द्वितीय और महीपाल के गृह-कलह में भाग लिया और उसी की सहायता से महीपाल भाई को गद्दी से उतार स्वयं उसपर बैठ सका। यशोवर्मन् के शासन-काल में चन्देलों का प्रभुत्व और प्रसार और बढ़ा। उन्होंने

यशोवर्मन्

कलचुरियों, मालवों और कोशलों के अनेक प्रान्त हड़प लिये। खजुराहो के एक अभिलेख [1] से विदित होता है कि उसने गुर्जरों पर अपना आतंक जमा लिया था और प्रतीहारों से उनका प्रमुख कालंजर का दुर्ग छीन लिया था। देवपाल प्रतीहार से विष्णु की एक मूर्ति छीनकर उसने खजुराहो के मन्दिर में प्रतिष्ठित की। [2] यशोवर्मन् के बाद उसका पुत्र धंग चन्देल-राज्य का स्वामी हुआ।

धंग लगभग ९५० ई० के गद्दी पर बैठा और आधी शती से ऊपर १००२ ई० तक राज करके मरा। धंग चन्देल-कुल का सर्व-शक्तिमान् राजा था, फिर भी वह नीतिकुशल था और जब तक कि उसने अपनी शक्ति पर्याप्त न कर ली वह प्रतीहारों को अपना प्रभु मानता

धंग

रहा। उसके ९५४ ई० के एक लेख [3] में उसका इस प्रकार का आचरण सिद्ध है। उसके बाद उसने कन्नौज के अपने प्रतीहार-नृपति को बुरी तरह परास्त [4] किया और वह सर्वथा स्वतंत्र हो गया। खजुराहो के अभिलेख [5] में उसके राज्य की सीमाएँ दी हुई हैं। उसके अनुसार उसके राज्य का विस्तार कालंजर और मालवनद तक, खजुराहो से यमुना नदी तक, खजुराहो से चेदि देश की सीमा तक और खजुराहो से गोपाद्रि (पर्वत) तक था। ९९८ ई० में काशी नगरी धंग के अधिकार में थी और वहाँ उसने एक ब्राह्मण को ग्राम-दान [6] किया था। सुबुक्तगीन के हमले के विरुद्ध जयपाल की मदद में धंग ने भी सेना भेजी थी।

धंग के पुत्र गंड ने भी जयपाल के पुत्र आनन्दपाल की मदद को सेना भेजी थी जिसे महमूद के सामने हारना पड़ा था। गंड का राज्य-वृत्तान्त अधिकतर महमूद के टक्करों का ही वृत्तान्त है। प्रतीहार-नृपति राज्यपाल ने महमूद के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था। गंड ने अपने युवराज को उसकी कायरता का दण्ड देने के लिए भेजा। राज्यपाल मारा गया। यह खबर सुन महमूद फिर लौटा। १०१९ ई० में महमूद और चन्देलराज गंड की सेनाएँ

गंड

आमने-सामने खड़ी हुईं। परन्तु एकाएक गंड को भय ने धर दबाया और रात के अँधेरे में वह अपना 'माल व असबाब लिये' भागा[7]। १०२२ ई० में महमूद ने चन्देलों पर फिर चढ़ाई की और ग्वालियर तथा कालिंजर पर अधिकार

१ Ep. Ind. १, पृ० १३२, श्लोक २३ ; पृ० १३३, श्लोक ३१।

२ वही, पृ० १३४, श्लोक ४३। ३ वही, १, पृ० १३५।

४ वही, पृ० १९७, २०३, श्लोक ३। ५ वही, पृ० १२४, १३४, श्लोक ५५।

६ Ind. Ant. १६, पृ० २०१-२०४।

७ इलियट : History of India, २, पृ० ४६७।

कर लिया। गंड ने आत्मसमर्पण कर दिया। किले और राज्य उसे देकर महमूद लौट गया।

कीर्तिवर्मन्, मदनवर्मन् और परमार्दि चन्देलों के पिछले राजाओं में प्रबल हुए। कीर्तिवर्मन् ने कुल की खोई हुई सत्ता फिर से बहुत कुछ लौटा ली। कलचुरियों और चन्देलों में जो संघर्ष चला था उसमें चन्देलों ने बहुत कुछ खोया था। पहले तो कीर्तिवर्मन् भी कलचुरी-नरेश लक्ष्मी-कर्ण से हार गया था, परन्तु कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' से प्रमाणित है कि अन्त में वह कर्ण पर पूरी तरह से विजयी हुआ। मदनवर्मन् ने ११२६ ई० के कुछ पहले से लेकर ११६५ ई० के कुछ बाद तक राज किया। उसने गुजरात के गुर्जरनरेश सिद्धराज जयसिंह को संभवतः हराया। मऊ (झाँसी जिले में) के अभिलेख से विदित होता है कि मदनवर्मन् ने 'चेदि-नृपति (गयाकर्ण) को परास्त किया, मालव परमारनरेश को उखाड़ फेंका और काशी के राजा (विजयचन्द्र गहड़वाल) को मित्र भाव से बरतने को बाध्य किया'।[1] परमार्दि (परमल) ने लगभग ११६५ ई० से १२०३ ई० तक राज किया। मदनपुर के अभिलेख[2] और 'पृथ्वीराजरासो' से प्रमाणित है कि पृथ्वीराज तृतीय चौहान ने उसे ११८२-८३ ई० में परास्त किया; परन्तु शीघ्र परमल ने अपनी स्थिति सम्हाल ली। १२०३ ई० में जब कुतुबुद्दीन ने कालिंजर पर घेरा डाला था तब पहले तो परमार्दि खूब लड़ा, परन्तु बाद में आत्मसमर्पण कर दिया। महोबा पर भी मुसलमानों ने कब्जा कर लिया। छोटे-छोटे चन्देल-राज पन्द्रहवीं सदी के अन्त तक बने रहे। अनुश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध योद्धा आल्हा-ऊदल परमल के ही दरबार में रहते थे जिनकी वीरता के संबंध में जगनिक नामक कवि ने अपने 'आल्हा-काव्य' की रचना की।

कीर्तिवर्मन्, मदनवर्मन्, परमार्दि

चन्देल-नृपति असाधारण निर्माता थे। मध्यकालीन राजपूत-वास्तु-कला के अनेक नमूने बुन्देलखण्ड में आज भी खड़े हैं। मन्दिर और सरोवर चन्देल-राजाओं के विशेष प्रिय थे। महोबा का मदनसागर मदनवर्मन् की कीर्ति है। खजुराहो में अनेक दर्शनीय मन्दिर आज भी खड़े हैं, जो तत्कालीन कला के प्रतीक हैं।

२. मालवा के परमार

परमार अथवा पवार भी प्रतीहारों की ही भाँति अग्निकुलीय थे। अहमदाबाद जिले के हरसोला नामक स्थान से एक अभिलेख[3] मिला है जिसके बल पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि परमार राष्ट्रकूट-कुल के थे और उनका मूलस्थान दकन था।[4] प्रतीहार और राष्ट्रकूट दोनों ने समय-समय पर मालवा पर अधिकार किया था। परताबगढ़ के अभिलेख[5]

१ Ep. Ind. १, पृ० १९८, २०४।
२ Rep. Arch. Sur. Ind. १९०३-१९०४, पृ० ५५।
३ Ep. Ind. १९, पृ० २३६-४४।
४ गांगुली : History of the Paramaras, पृ० ९।
५ Ep. Ind. १४, पृ० १७६-८८।

से तो प्रमाणित है कि प्रतीहार अपने शासक भी मालवा के लिये नियत करते थे, जो मण्डपिका (माण्डू) में रहता था। इससे जान पड़ता है कि उपेन्द्र अथवा कृष्णराज (परमार-वंश का प्रतिष्ठाता) प्रतीहारों अथवा राष्ट्रकूटों का माण्डलिक नृपति रहा होगा। सीयक-हर्ष परमार-कुल का प्रथम पराक्रमी राजा था। उसके शासन-काल की जानी हुई तिथियाँ ९४९ ई० और ९७२ ई० हैं। प्रतीहारों के अवसान का समय होने के कारण सीयक को राज्य-विस्तार का अवसर भी मिला ; परन्तु राष्ट्रकूटों से उसका टकरा जाना स्वाभाविक ही था। उदेपुर के अभिलेख से विदित है कि सीयक ने खोट्टिग से लक्ष्मी हर ली।[१] खोट्टिग राष्ट्रकूट ने ९५५ ई० से ९७० ई० तक राज किया था। 'पाइय-लच्छी' नामक धनपाल द्वारा विरचित प्राकृत ग्रन्थ का हवाला देते हुए बूह्लर साहब ने प्रमाणित किया है कि राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट पर आक्रमण हुआ था।[२] सीयक-हर्ष ने हूणों पर भी विजय पायी थी। सीयक-हर्ष ९७२ ई० के लगभग मरा।

आरंभ

सीयक-हर्ष के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र वाक्पतिमुञ्ज परमारों की गद्दी पर बैठा। वाक्पति बड़ा पराक्रमी हुआ। उसके 'उत्पलराज', 'अमोघवर्ष', 'श्रीवल्लभ', 'पृथ्वीवल्लभ' आदि अनेक विरुद थे। उसकी निश्चित तिथि ९७४ ई० है। इस कारण संभवतः ९७३ ई० में वह सिंहासनासीन हुआ। उदेपुर का अभिलेख[३] उसकी विजयों की एक विस्तृत सूची देता है जिसमें लाटों, कर्णाटों, चोडों और केरलों का उल्लेख है। त्रिपुरी के कलचुरी-राजा युवराज द्वितीय को भी उसने परास्त किया ; परन्तु उसका विशेष युद्ध चालुक्यराज तैलप द्वितीय से हुआ। तैलप को उसने छः बार परास्त किया। मेरुतुंग का कहना है कि मंत्रियों की सलाह की अवहेलना कर वह सातवीं बार तैलप पर चढ़ दौड़ा और गोदावरी लाँघ चालुक्य-देश में वह घुसता गया। अन्त में उसे हारना पड़ा। वह बन्दी कर लिया गया और अन्त में तैलप ने उसे मरवा डाला। यह युद्ध वाक्पति की जानी हुई अन्तिम तिथि ९९३ ई० और तैलप की मृत्यु की तिथि ९९८ ई० के बीच कभी हुआ होगा।[४] मुञ्ज प्रसिद्ध निर्माता था और उसने सुन्दर और विशाल मन्दिर बनवाये। धार में उसका खुदवाया हुआ विस्तृत ह्रद मुंजसागर के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। मुंज की संरक्षा में अनेक साहित्यिकों का निवास था। 'नवसाहसांक-चरित' का रचयिता पद्मगुप्त, 'दशरूप' का रचयिता धनंजय, 'दशरूपावलोक' का लेखक (धनंजय का भाई) धनिक, 'अभिदान-रत्नमाला' तथा 'मृतसंजीवनी' के रचयिता भट्ट हलायुध उनमें मुख्य थे।

वाक्पतिमुञ्ज

वाक्पतिमुंज के बाद उसका अनुज सिन्धुल (सिन्धुराज) परमारों की गद्दी पर बैठा। उसका दूसरा नाम नवसाहसांक भी था और इसी नाम को लेकर पद्मगुप्त ने उसके संबंध में 'नवसाहसांक-चरित' की रचना की। इससे विदित होता है कि सिन्धुराज ने हूणों, कलचुरियों (तुम्मान दक्षिण कोशल या कोशल के), चालुक्यों (लाट के) आदि को परास्त किया। उसने थोड़े ही काल तक शासन किया।

सिन्धुल

---

१ Ep. Ind. १, पृ० २३५, २३७, श्लोक १२। २ वही, पृ० २२६।
३ वही, श्लोक १४। ४ Dy. Hist. of Nor. Ind., २, पृ० ८५७-५८।

सिन्धुराज के बाद उसका यशस्वी तनय भोज परमारों का राजा हुआ। मेरुतुंग के 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' से ज्ञात होता है कि मुंज के बाद ही भोज गद्दी पर बैठा। परन्तु अभिलेखों का प्रमाण इसके विरुद्ध है। उनके अनुसार मुंज के बाद भोज का पिता सिन्धुराज राजा हुआ। पद्मगुप्त के 'नवसाहसांक-चरित' से भी यही सिद्ध है। भोज परमार-राजकुल का सबसे शक्तिमान् और कीर्तिशाली राजा था। जितना ही वह मेधावी था, उतना ही वह युद्ध-विशारद था। पचपन वर्ष सात महीने तीन दिन के उसके राज्य-काल का अधिकांश युद्धस्थल में ही बीता। वीर विजेता भोज दुःसाहस के कार्यों में भी अग्रगण्य था और इसी कारण उसकी पराजयों की संख्या भी न्यून न थी; परन्तु राजधर्म में उसने जय-पराजय दोनों को समान समझा। न विजय उसे दृप्त कर सकी, न पराजय हतोत्साहित। सारे भारत पर उसकी शक्ति, पराक्रम और मेधा का आतंक छा गया। विजयों के कारण उसकी संज्ञा 'सार्वभौम' हो गयी थी। उदेपुर के अभिलेख में उसकी प्रशस्ति दी हुई है। उसमें लिखा है कि कैलास और मलय के बीच की भूमि उसके शासन[2] में थी। यद्यपि यह उक्ति अतिरंजित है, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस नृपति ने विस्तृत पृथ्वी विजय की। आरंभ में ही उसने चाचा मुंज के शत्रु कल्याणी के चालुक्यों की ओर दृष्टि फेंकी। विक्रमादित्य पंचम्[3] को हराकर उसने मार डाला। परन्तु वह दकन का स्वामी न हो सका। चालुक्यराज जयसिंह द्वितीय ने उसे परास्त कर दिया।[4] तब वह कलचुरियों की ओर फिरा और त्रिपुरी के गांगेयदेव को युद्ध में हराया। लगे हाथ इन्द्ररथ और तोकराल नामक अज्ञात नृपतियों को भी उसने धूल चटा दी। बसहीवाले ताम्रपत्र के लेख[5] से स्पष्ट है कि भोज ने उत्तरी भारत में भी हड़कम्प मचा दिया और कान्यकुब्ज के राज्य पर भी कुछ काल के लिये उसने अधिकार कर लिया। उत्तर भारत के तुरुष्कों (मुसलमानों) को भी उसने हराया, परन्तु ये मुसलमान कौन थे, इसमें लोगों को सन्देह है। संभवतः वे सिन्ध के अरब अथवा गजनवी के अनुयायी थे। चन्देल-राज विद्याधर और ग्वालियर के कच्छपघात-कुल के कीर्तिराज से युद्ध कर भोज ने अयश पाया। परन्तु गुजरात के भीम प्रथम तथा लाट के कीर्तिराज को परास्त कर उसने शीघ्र अपनी पराजयों का बदला फेर लिया। ग्यारहवीं सदी के मध्य में उसकी चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम आह्वमल्ल से मुठभेड़ हुई। जिसने संभवतः भोज को परास्त कर भगा दिया और मालवा तथा उसकी राजधानी धारा नगरी को खूब लूटा। परन्तु भोज मनस्वी और पराक्रमी था। उसने शीघ्र अपनी अपकीर्ति धो डाली और मालवा पर अधिकार कर लिया। इतना ही नहीं, अन्हिलवाड़ के नृपति भीम प्रथम

भोज[1]

---

१ अयंगर : Bhojaraja ; रेऊ, राजा भोज।

२ Ep. Ind., १, पृ० २३७-३८।

३ भण्डारकर उसे विक्रमादित्य प्रथम कहते हैं—देखिये, Early History of the Deccan, पृ० १४०, नोट १५, गांगुली उसे जयसिंह द्वितीय मानते हैं—देखिये, History of Paramaras Dynasty, पृ० ९०-९१।

४ Ind. Ant., ५, पृ० १७। ५ वही, १४, पृ० १०३, पंक्ति ३-४।

को मुसलमानों से उलझा और राज्य से बाहर पा उसने अपने जैन-सेनापति कुलचन्द्र को वहाँ भेज उसकी राजधानी खूब लुटवायी। भीम प्रथम ने फुरसत पाकर कलचुरी-नरेश लक्ष्मीकर्ण से सन्धि की और दोनों की सम्मिलित सेनाओं ने मालवा पर दो ओर से आक्रमण किया। भोज ने दोनों शत्रुओं का एक साथ सामना किया, परन्तु इसी बीच उसका देहान्त हो गया। इससे उसके शत्रुओं को अच्छा अवसर मिला और उन्होंने मालवा और धारानगरी को खूब लूटा।

विद्या-व्यसन

भोज विद्या-व्यसनी था—विद्वानों का आदर करता था। उसके दरबार में अनेक कवि और साहित्यिक रहते थे। अनुश्रुति उसको भारत का सबसे बड़ा साहित्य-जिज्ञासु और कवि-पारखी मानती है। एक-एक श्लोक के एक-एक चरण पर वह लाख-लाख मुद्राएँ पारितोषिक देता था। और इससे भी बड़ी बात यह थी कि वह स्वयं सरस कवि और ग्रन्थकार था। एक लेख में उसे कविराज कहा गया है। अनेक ग्रन्थ उसके नाम से जाने जाते हैं जो चिकित्सा, ज्योतिष, गणित, कोष, व्याकरण, वास्तु, अलंकार आदि के हैं। कुछ ग्रंथों के नाम निम्नलिखित हैं—आयुर्वेद-सर्वस्व, राजमृगांक, व्यवहार-समुच्चय, शब्दानुशासन, समरांगण-सूत्रधार, सरस्वती-कण्ठाभरण, नाममालिका, युक्ति-कल्पतरु आदि। इनमें से कुछ उसके रचे हो सकते हैं। धारानगरी में भोज ने संस्कृत का एक कालेज 'भोज-शाला' नाम से स्थापित किया था जिसकी दीवारों से लेखयुक्त अनेक पाषाणपट्ट प्राप्त हुए हैं। मालवा के सुल्तानों ने भोजशाला के स्थान पर मस्जिद बनवा डाली। भोज शैव था और अपने राज्य के नगरों में उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया।[1] धारा को मन्दिरों और प्रासादों से उसने विभूषित किया और भोपाल के दक्षिण भोजपुर नामक नगर बसाया। पास ही उसकी प्रशस्त झील थी जिसे पन्द्रहवीं के आरंभ में मांडू के हुसेन शाह ने भठवा दिया।

जयसिंह

भीम प्रथम और लक्ष्मीकर्ण ने मालवा रौंद डाला था। परन्तु उनकी मित्रता अधिक काल तक न निभ सकी। वे लड़ पड़े। अपने कुल के शत्रु सोमेश्वर प्रथम चालुक्य की सहायता से जयसिंह ने उनकी सेनाओं को मालवा से मार भगाया और परमारों की गद्दी पर बैठा। उसके समय में कर्णाटों और गुजरात के चालुक्यों के साथ युद्ध शुरू हुआ जिससे मालवा की बड़ी हानि हुई। उसका शासन अत्यन्त थोड़े समय तक रहा, संभवतः १०५४ ई० से १०६० ई० तक। उदयादित्य उसके बाद सिंहासनारूढ़ हुआ और उसने कुल को गौरवान्वित करने का प्रयत्न किया। कर्ण को उसने पराजित किया; परन्तु इससे अधिक वह कुछ न कर सका। उसने लगभग १०६० ई० से १०८८ ई० तक राज किया। उसके बाद इस कुल में अनेक राजा हुए; परन्तु वे दुर्बल थे और परमारों की दशा निरन्तर अधोमुखी होती गयी। अन्त में १३०५ ई० में मालवा के हिन्दू-राजवंश का सूर्य सर्वथा अस्त हो गया। अलाउद्दीन के सेनापति ने मालवा को कुचल डाला।

---

1 Ep. Ind., १, पृ० २३८, श्लोक २०।

४. अन्हिलवाड के चालुक्य

पाटन अथवा अन्हिलवाड का चालुक्य-राजकुल मूलराज सोलंकी ने प्रतिष्ठित किया था। यह कहना कठिन है कि इस कुल का दक्कन अथवा सौराष्ट्र के चालुक्य-राजकुलों से क्या संबंध था। मूलराज का पिता राजी कल्याणकटक (कन्नौज के इलाके में) का स्वामी था और उसकी माता गुजरात के एक भाग पर चालुक्यों से पूर्व राज करनेवाले चावड घराने की थी। मूलराज ने ९४१ ई० के लगभग अपने मामा को मारकर चापोत्कट (चावड) की गद्दी पर बैठा। मूलराज अद्‌भुत लड़ाका था और उसने अपनी विजयों की परंपरा बाँध दी।[1] कच्छ के लक्षराज को हराकर उसने युद्ध में मार डाला और वामनस्थली (वन्थली—सौराष्ट्र) के ग्रहरिपु को बन्दी कर लिया। शाकम्भरी के विग्रहराज चौहान तथा लाट के बारप्प के साथ भी उसके युद्ध हुए। मूलराज ९९६ ई० के लगभग मरा। वह परम शैव था और उसने अनेक शैव-मन्दिरों का निर्माण कराया।

मूलराज सोलंकी

भीम प्रथम दुर्लभराज का पौत्र और मूलराज का भतीजा था। उसने लगभग १०२१ ई० से १०६३ ई० तक राज किया। १०२५ ई० में महमूद ने अन्हिलवाड पर चढ़ाई की। मरुभूमि लाँघता वह राजधानी जा पहुँचा; परन्तु भीम पर उसका ऐसा आतंक छा गया कि वह एकाएक भाग खड़ा हुआ। महमूद ने सोमनाथ के मन्दिर को खूब लूटा। हिन्दू अनन्त संख्या में मारे गये। महमूद अनन्त रत्नराशि और तोड़ी हुई मूर्ति लिये गजनी पहुँचा। वहाँ जामे-मस्जिद की सीढ़ियों में उसने वह मूर्ति चुनवा दी। महमूद के लौटने पर भीम ने अपना राज्य फिर प्राप्त कर लिया। पराजय का अपयश मिटाने के लिये उसने कुछ प्रान्त विजय किये। उसने आबू के परमार-नृपति को परास्त किया; परन्तु उसकी अनुपस्थिति में भोज के सेनापति कुलचन्द्र ने अन्हिलवाड पर धावा कर उसे खूब लूटा। इसपर भीम ने लक्ष्मीकर्ण कलचुरी से मिलकर मालवा पर आक्रमण किया। भोज इसी बीच मर गया और दोनों सेनाओं ने मालवा को तहस-नहस कर डाला। परन्तु आपस में फूट हो गयी और भीम ने लक्ष्मीकर्ण को परास्त कर दिया। इस बीच जयसिंह सोमेश्वर प्रथम ने चालुक्य की सहायता से अवसर पाकर मालवा को फिर एक बार स्वतंत्र कर लिया।

भीम प्रथम

भीम के बाद उसका पुत्र कर्ण राजा हुआ और उसने १०६३ ई० से संभवतः १०९३ ई० तक राज किया। उसके समय में परमार फिर प्रबल हो गये थे और उन्होंने संभवतः कर्ण को हराया भी। कर्ण ने अनेक सरोवर खुदवाये और मन्दिर बनवाये। अहमदाबाद जहाँ आज खड़ा है, वहाँ उसने एक नगर भी बसाया था। उसके बाद उसके पुत्र जयसिंह सिद्धराज ने प्रायः आधी शती (लगभग १०९३ ई० से ११४३ ई० तक) तक राज किया। इस राजकुल में वह सबसे शक्तिमान् नृपति हुआ। सिद्धराज की बाल्यावस्था में उसकी माँ ने बड़ी योग्यता से शासन किया। बालिग होते ही

जयसिंह सिद्धराज

1 Ind. Ant., ६, पृ० १९१, पं० ६-७।

सिद्धराज ने अपने पराक्रम का परिचय देना प्रारंभ किया। नादोल (जोधपुर रियासत) के चौहानों और सौराष्ट्र के चूडासम के राजा को उसने परास्त किया। इस चूडासम नृपति का तो राज्य भी उसने अपने राज्य में मिला लिया। नरवर्मन् और यशोवर्मन् नामक परमार नृपतियों से उसका बहुत काल तक युद्ध हुआ और अन्त में धारा को विजय कर उसने 'अवन्तिनाथ' का विरुद धारण किया। चन्देल मदनवर्मन् के साथ युद्ध में उसका मस्तक नत हो गया। प्रबन्ध 'चिन्तामणि' से पता चलता है कि काशी और त्रिपुरी के राजा से उसकी मित्रता थी। जयसिंह परम शैव था और उसने भी अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। वह भी विद्वानों का आदर करता था और उसके यहाँ प्रायः विद्वानों के शास्त्रार्थ होते। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र उसके दरबार में रहता था। जयसिंह को पुत्र न हुआ।

कुमारपाल

उत्तराधिकारी के अभाव में कुमारपाल नामक एक संबंधी ने जयसिंह के सिंहासन पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। मालवा के चालुक्यों और आबू के परमारों को उसने पूरी तरह दबा दिया और शाकंभरी के चौहानों को पूर्णतया परास्त किया। मल्लिकार्जुन की पराजय उसकी सबसे बड़ी कीर्ति का कारण हुई। मल्लिकार्जुन कोंकण देश का राजा था। कुमारपाल ने सोमनाथ का मन्दिर फिर से बनवाया। वह शिवभक्त था, परन्तु मेधावी जैनाचार्य के तर्क से प्रभावित होकर वह जैन-धर्म की ओर भी झुका। उसने अपने राज्य में पशुवध सर्वथा बन्द कर दिया।[१] उसी के शासन-काल में हेमचन्द्र ने अपने अनेक ग्रंथ लिखे। जयसिंह ने 'कुमारपालचरित' के नाम से उसका जीवन-चरित लिखा। कुमारपाल संभवतः ११७१ ई० में मरा और अजयपाल उसकी गद्दी पर बैठा।

अन्त

११७८ ई० में भीम द्वितीय (भोला भीम) के राज्य-काल में शिहाबुद्दीन ने गुजरात पर हमला किया, परन्तु भीम ने उसे मार भगाया। ११९७ ई० में कुतुबुद्दीन ने भीम की राजधानी पर कब्जा कर लिया, यद्यपि यह अधिकार चिरस्थायी नहीं हो सका। मालवा और देवगिरि के राजाओं ने भी गुजरात को लूटा और दक्षिण गुजरात में भोला भीम का बघेल मंत्री लवणप्रसाद स्वतंत्र हो गया। धीरे-धीरे बघेलों ने अन्हिलवाड और सारे गुजरात पर कब्जा कर लिया। लवणप्रसाद कुमारपाल की भगिनी-शाखा से जन्मा उसका दूर का संबंधी था। भोला भीम ने लगभग साठ वर्ष राज किया था। उसके बाद बघेलों के घराने का राज शुरू हुआ। १२९७ ई० में अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात के विरुद्ध अपनी सेना भेजी। करणदेव बघेल राजधानी छोड़कर भाग खड़ा हुआ। उलूग खाँ और नसरत खाँ ने राजधानी और रास्ते के नगरों को खूब लूटा। कुछ काल बाद हिन्दू-राज्य का गुजरात से सर्वथा लोप हो गया और उसपर मुसलमान-सल्तनत खड़ी हुई। सदियों तक वहाँ मुसलमानी नवाबी फूलती-फलती रही।

---

१ सोमप्रभाचार्य का 'कुमारपाल-प्रतिबोध' और यशःपाल का 'मोहराज-पराजय' देखिये।

आबू पर दिलवारा और शत्रुञ्जय के संगमरमर के मन्दिर बघेलों के ही समय में वस्तुपाल और तेजःपाल ने बनवाये थे। मन्दिर जैन-मत के हैं। परन्तु इनकी कोरने की कला अभूतपूर्व है। स्तंभों और छत में अनन्त संख्या में डिजाइनें खुदी हैं, जो परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। ये मन्दिर भारत की विभूतियों में से हैं।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. रे : Dynastic History of Northern India.

२. राजेन्द्रसिंह : त्रिपुरी का इतिहास।

३. इलियट : History of India, २।

४. इवार्ड और लेले : Paramaras of Dhar and Malwa.

५. गांगुली : History of the Paramara Dynasty.

६. अयंगर : Bhojaraja.

७. रेऊ : राजा भोज।

८. भण्डारकर : Early History of Deccan.

९. Bombay Gazetteer, १।

१०. टाड : Annals and Antiquities of Rajasthan.

११. बेली : History of Gujarat.

१२. हीरालाल : Kalacuris of Tripuri, ABRI., १९२७, पृ० २८०-९५।

१३. स्मिथ : Contributions of the History of Bundelkhand—JASB., १८८१, १, १, पृ० १-५३।

१४. स्मिथ : Ind. Ant., ३७, पृ० ११४-४८।

पचीसवाँ परिच्छेद

दक्षिण के चालुक्य-राजकुल

चालुक्यों के वास्तविक तीन कुल थे—(१) गुजरात (अन्हिलवाड) के चालुक्य, (२) वातापी के चालुक्य और (३) कल्याण के चालुक्य। चालुक्यों का एक कुल और था जिसे पूर्वी चालुक्यों अथवा वेंगी के चालुक्यों का कुल कहते हैं। परन्तु यह राजकुल यथार्थ में वातापी के चालुक्य-कुल की ही एक शाखा था। इनमें से अन्हिलवाड के चालुक्यों का वृत्तान्त पिछले परिच्छेद में दिया जा चुका है। शेष चालुक्य-राजकुल विन्ध्य पर्वत के दक्षिण में अवस्थित थे। इस अध्याय में उनका इतिहास देना अभीष्ट है। ये दक्षिणापथ के राज्य थे।

१. वातापी के चालुक्य

चालुक्य संभवतः अयोध्या के क्षत्रिय थे, जो दक्षिण चले गये थे। हुएन्-त्सांग उनके नृपति पुलकेशिन् द्वितीय को क्षत्रिय कहता है।[1] जयसिंह और रणराज के बाद सत्याश्रय श्री वल्लभ पुलकेशिन् राजा हुआ। उसने वातापी (बादामी, बीजापुर जिले में) को अपनी राजधानी बनाया। उसका एक ५४३ ई० का लेख बादामी के किले से मिला है[2] जिससे स्पष्ट है कि वह इस तिथि तक गद्दी पर बैठ चुका था।

पुलकेशिन् प्रथम

पुलकेशिन् अपने पिता रणराज और पितामह जयसिंह से अधिक प्रबल हुआ और उसने अश्वमेध का अनुष्ठान भी किया। उसका उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन् पराक्रमी हुआ। उसने मौर्यों, कदम्बों, नलों को परास्त किया और बिहार, वंग, चोड तथा पाण्ड्य देशों तक धावे मारे। वह संभवतः ५६७ ई० में राजा हुआ और उसने लगभग २५ वर्ष राज किया। उसके बाद उसके पुत्र को अलग कर उसका अनुज मंगलराज राजा बन बैठा। उसने कुछ भूमि भी जीती, परन्तु उसके भतीजे ने भी उसे चैन न लेने दिया। गृह-युद्ध जो चला, उसमें उसे मारकर उसका भतीजा पुलकेशिन् द्वितीय विजयी हुआ। मंगलराज के समय में बादामी का विष्णु का गुहा-मन्दिर खोदा गया।

पुलकेशिन् द्वितीय चालुक्य-राजकुल का सर्व-शक्तिमान नृपति था। पुलकेशिन् धीर, वीर और नीतिज्ञ था। गृह-कलह के समय अनेक विजित प्रांतों ने सिर उठाया। परन्तु उसने शांतिपूर्वक सारे उपद्रवों को शान्त कर दिया। पहले उसने भीमा पर के हमलों का अवरोध किया; फिर उत्तर कनाडा के वनवासी पर अधिकार कर लिया। उसका विजयहस्त मैसूर के गंगों, मालावार के अलूपों और उत्तर कोंकण के मौर्यों पर भी पड़ा। दक्षिण गुजरात के लाटों, मालवों और गुर्जरों को भी उसके प्रति आत्म-समर्पण करना पड़ा।

पुलकेशिन् द्वितीय

पुलकेशिन् हर्ष का समकालीन था और जब उत्तर में हर्ष अपनी शक्ति का प्रसार कर रहा था, पुलकेशिन् द्वितीय भी तभी दक्षिणापथ में अपना साम्राज्य खड़ा कर रहा था। दोनों की सीमाएँ नर्मदा पर टकरा गयीं। विशाल सेनाएँ लिए दोनों एक दूसरे की ओर बढ़े। भयानक संग्राम हुआ, जिसमें पुलकेशिन् ने हर्ष की सेना को मथ डाला। कान्यकुब्ज का अधिपति हर्ष, वह हर्ष जिसके 'चरणारविन्द पर सामन्त-सेना की मुकुट-मणियों की किरणें' फूटती रहती थीं,[3] अपने हाथियों के मारे जाने से 'भयविगलित' हो उठा। पुलकेशिन् की यह सबसे यशस्वी कीर्ति थी। महाकोशल और कलिंग के नृपति उससे आतंकित हो गये। पृष्ठपुर (पीठापुरं) का दुर्ग अनायास

---

१ वाटर्स, २, पृ० २३९।

२ ब्रीडर, जून १९, १९५१।

३ अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेना—
मुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः।
युधिपतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो
भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः॥

Ep. Ind., ६, पृ० ६, १०, श्लोक २३।

उसके हाथ आ गया। अब तक उसकी विजयों से साम्राज्य की सीमाएँ अत्यधिक फैल गयी थीं; इसलिए पूर्वी प्रांतों के शासनार्थ उसने ६१५ ई० के लगभग अपने अनुज विषमसिद्धि को नियुक्त किया। विषमसिद्धि का पुत्र पूर्वी प्रांतों का पुलकेशिन् के बाद स्वतंत्र शासक हो गया और उसने वेंगी के चालुक्य-राजकुल की नींव डाली। उसके पिता जयसिंह प्रथम ने पूर्वी प्रान्तों को और बढ़ाया और जीते-जी अपने भाई पुलकेशिन् से स्नेह-विच्छेद न किया। दक्षिण दिशा में पुलकेशिन् ने पल्लवराज महेन्द्रवर्मन् को परास्त कर उसकी राजधानी कांची को खतरे में डाल दिया। इस प्रकार जब उसके धावे कावेरी के दक्षिण में भी होने लगे तब पाण्ड्यों, चोडों और केरलों ने एक सम्मिलित संघ बनाया। पुलकेशिन् का अन्त काल सुखद न हो सका। नरसिंहवर्मन् पल्लव के नेतृत्व में दाक्षिणात्य सेनाओं के पुलकेशिन् के साथ अनेक युद्ध हुए और ६४२ ई० में उन्होंने वातापी पर अधिकार कर पुलकेशिन् को मार डाला। परन्तु उनका वातापी पर यह अधिकार क्षणिक था और चालुक्य शीघ्र फिर शक्तिधर हो गये।

पुलकेशिन् द्वितीय न केवल योद्धा, वरन् नीतिकुशल भी था। तबरी लिखता है[1] कि उसने ईरान के बादशाह खुसरू द्वितीय के पास पत्र और उपहार देकर दूत भेजे। ६२५ ई० में ये दूत भेजे गये। खुसरू ने भी इसके उत्तर में चालुक्य-राज के पास अपने दूत भेजे। अजन्ता के एक चित्र में इस दौत्य का अंकन बताया जाता है। पुलकेशिन् अपनी विजयों के बाद 'तीन महाराष्ट्रों' का स्वामी हो गया था और अब उसका विरुद था 'परमेश्वर-श्री पृथ्वीवल्लभ-सत्याश्रय'। ईरानी मैत्री स्वाभाविक थी।

दौत्य

पुलकेशिन् के शासनकाल में चीनी यात्री हुएन-त्सांग ने महाराष्ट्र का भ्रमण किया और उसने तत्कालीन वृत्तान्त दिये हैं। उसका कहना है कि भूमि अत्यन्त उर्वरा है और निरन्तर जोती जाती है[2]। मराठे दृप्त और लड़ाके, उपकार के प्रति कृतज्ञ और अपकार के विरुद्ध प्रतिशोधी होते हैं। शरणागत को अभय प्रदान करते और अपमानकारी के आमृत्यु शत्रु होते हैं। युद्ध के समय हरावल के योद्धा और गज दोनों सुरा पान कर प्रमत्त हो लेते हैं।[3] उनका नृपति पुलकेशिन् अपनी शक्ति के सामने अपने पड़ोसियों को तुच्छ समझता है और उसके सामन्त उसके प्रति स्वामिभक्त हैं।[4]

पुलकेशिन् का पुत्र विक्रमादित्य प्रथम सत्याश्रय पिता की ही भाँति पराक्रमी हुआ। उसने ६५४ ई० के लगभग पल्लवों से अपनी पैतृक भूमि छीन ली। उसने तीन पल्लव राजाओं को परास्त कर उनकी कांची छीन ली। उसे लूटकर वह और दक्षिण पाण्ड्य, चोड और केरल तक जा पहुँचा। उसका बड़ा भाई चन्द्रादित्य दूरस्थ प्रांत का शासक था और अनुज जयसिंह लाट का। उनके पुत्र विनयादित्य और पौत्र विजयादित्य ने लगभग ६८० ई० और ७३३ ई० के बीच राज

विक्रमादित्य प्रथम

---

1 JRAS., N. S., 11, पृ० १६५-६६।
2 बील, २, पृ० २५६।
3 वाटर्स, २, पृ० २३९।
4 वही।

किया। विनयादित्य ने संभवतः उत्तर के भी कुछ प्रदेश जीते।[1] विजयादित्य के पुत्र

विक्रमादित्य द्वितीय

विक्रमादित्य द्वितीय ने भी पल्लवों को परास्त कर उनकी राजधानी में प्रवेश किया। पाण्ड्य, चोड और केरलों को भी उसने आतंकित किया। वह ब्राह्मणों को दान देता था। उसका पुत्र कीर्तिवर्मन् द्वितीय ७४७-४८ ई० में गद्दी पर बैठा। दन्तिदुर्ग राष्ट्रकूट ने उससे महाराष्ट्र छीन लिया।[2] कीर्तिवर्मन् के बाद चालुक्यों का यह राजकुल लुप्त हो गया; परन्तु अन्यत्र (कल्याण में) उनकी एक दूसरी शाखा उठकर प्रबल हो गयी।

चालुक्य-नृपति धार्मिक सहिष्णुता के पोषक थे। कट्टर हिन्दू होते हुए भी उनके राज्य में जैन-संप्रदाय का विस्तार हुआ। जैन कवि रविकीर्ति जिसने पुलकेशिन् द्वितीय की प्रशस्ति (एहोल की) रची थी, उस नृपति का प्रियपात्र था। राजाओं ने जैन-पण्डितों

धर्म और कला

को दान किये, उनके मन्दिर-निर्माण में सहायता की। बौद्ध धर्म अवश्य अपकर्षाभिमुख था। पुराणसम्मत हिन्दू-धर्म का यह उत्कर्ष-काल था। ब्रह्मा, विष्णु और शिव के बादामी, पत्तदकल आदि नगरों में विशाल मन्दिर बने। दरीगृहों का भी उत्खनन हुआ। अजन्ता के कुछ चित्र भी संभवतः चालुक्यों के आरंभ काल के हैं। इस वंश के राजाओं ने अनेक यज्ञानुष्ठान किये।

२. वेंगी के पूर्वी चालुक्य

पूर्वी चालुक्यों का राजकुल पुलकेशिन् द्वितीय के समय उसके अनुज कुब्ज-विष्णुवर्द्धन-विषमसिद्धि द्वारा ६१५ ई० के लगभग प्रतिस्थापित हुआ। परन्तु विषमसिद्धि पुलकेशिन् का प्रान्तीय शासकमात्र था। स्वतंत्र राजकुल की प्रतिष्ठा उसके पुत्र जयसिंह प्रथम ने की थी। उसके बाद अनेक शताब्दियों तक इस कुल की शक्ति बनी रही। इनका अधिकार आंध्र देश और कलिंग के एक भाग की उर्वरा भूमि पर थी।

पूर्वी चालुक्यों में से विजयादित्य द्वितीय (ल० ७६६-८४३ ई०) और विजयादित्य तृतीय (ल० ८४४-८८ ई०) पराक्रमी हुए। उन्होंने राष्ट्रकूटों और गंगों को परास्त किया। दसवीं शती के अन्त में इस कुल की सत्ता पतनोन्मुख हो चली। चोड-नृपति राजराज प्रथम ने इस चालुक्य-भूमि को रौंद डाला। शक्तिवर्मन् ने फिर भी इस कुल की शक्ति का पुनरुद्धार किया। ल० ९९९ ई० से १०११ ई० तक उसने राज किया। परन्तु उसके उत्तराधिकारी तंजोर के चोडों के प्रभाव में आ गये और अपनी शक्ति उन्होंने खो दी। इसका विशेष कारण दोनों राजकुलों में विवाह-संबंध था। विमलादित्य लगभग १०११ ई० में वेंगी का राजा हुआ। उसने चोड-राजकुमारी कुंदवा से विवाह किया। उसके पुत्र राजराज विष्णुवर्द्धन् ने भी अपनी माता के ही कुल में विवाह-संबंध किया। उसकी पत्नी राजेन्द्र प्रथम की कन्या थी। इस विवाह से राजेन्द्र चोड द्वितीय उत्पन्न हुआ। कुलोत्तुंग प्रथम के नाम से

---

[1] Ind. Ant., ९, पृ० १२९ ; ७, पृ० १०७, १११।

[2] Ep. Ind., २५, पृ० २५-३१।

१०७० ई० में वह चोड और चालुक्य-सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार दोनों राज्यों का वह समान नृपति हुआ। अपने चाचा विजयादित्य सप्तम् को उसने वेंगी से भगाकर उसपर अधिकार कर लिया और अपने पुत्रों—राजाराज मुंमडि चोड और वीर चोड—को वहाँ के शासक बनाये। इस प्रकार पूर्वी चालुक्यों और तंजोर के चोडों के दो कुल मिलकर एक हो गये। इस मिश्रित कुल का लगभग दो सदियों तक समृद्ध शासन रहा। अन्त में इस कुल की लक्ष्मी काकतीयों, होयसलों आदि के नये उठते हुए कुलों ने हर ली। दो राजघरानों के मिल जाने के कुछ उदाहरण और हैं, परन्तु इस प्रकार के उत्तरी और दक्षिणी दो शक्तिशाली कुलों के सम्मिश्रण का संभवतः यह एक ही उदाहरण है। इसके परिणामस्वरूप सुदूर दक्षिणी छोर से लेकर कलिंग तक की पूर्ववर्ती भूमि एक शक्ति द्वारा लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक शासित होती रही।

३. कल्याण के चालुक्य

सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर कल्याण के चालुक्यों को वातापी के चालुक्यों से रक्त में भिन्न मानते हैं। उनका कहना है कि कल्याण के चालुक्य न तो उस गोत्र के हैं और न उसकी भाँति हरीति को अपना पूर्वज ही मानते हैं[1]। इस कल्याण-राजकुल के उत्तरकालीन लेखों से विदित होता है कि तैलप कीर्तिवर्मन् द्वितीय के चाचा का वंशज था। यदि यह सत्य हो तो निस्सन्देह कल्याण के पश्चिमी चालुक्य भी वेंगी के पूर्वी चालुक्यों की भाँति ही वातापी की मुख्य चालुक्य-शाखा का रक्त-बन्धु हुआ।

तैलप द्वितीय

तैलप भी अपने पूर्वजों को ही भाँति कल्याण में राष्ट्रकूटों का सामन्त-नृपति था। परन्तु वह सामर्थ्यवान् और नीतिकुशल था। महत्त्वाकांक्षा उसमें प्रबल थी, परन्तु अवसर की ताक में वह चुपचाप बैठा रहा। अवसर आया। परमारों ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट पर आक्रमण कर उसको तहस-नहस कर डाला था। स्वर्ण-अवसर सामने था और तैलप अवसर खोना नहीं जानता था। उसके सामने मान्यखेट के अनेक प्रतिस्पर्द्धी थे—कर्क द्वितीय, इन्द्र चतुर्थ, परमार आदि। परमार तो राजधानी लूट-खसोटकर चले गये, परन्तु कर्क, इन्द्र आदि परस्पर शक्ति-संतुलन के लिए अवसर की ताक में पड़े रहे। राजधानी पर पहला अधिकार कर्क द्वितीय का हुआ। इसी समय तैलप उसपर चढ़ दौड़ा। उसने उसे ऐसी बुरी तरह परास्त किया कि इन्द्र चतुर्थ स्वयं मैदान से अलग हो गया। तैलप ने राष्ट्रकूटों का जूआ कल्याण के कन्धों से उतार फेंका और अपने चालुक्य-कुल की स्वतंत्रता घोषित कर दी। इसके पश्चात् उसने दिग्विजय पर कमर कसी। दक्षिण गुजरात के लाट देश पर अधिकार कर उसने वहाँ बारप्प को शासक बनाया। परन्तु उसकी यह विजय चिरस्थायी न हो सकी, क्योंकि मूलराज सोलंकी ने उसे शीघ्र वहाँ से निकाल बाहर किया। उसके बाद तैलप ने कन्नड देश के कुन्तल-नरेश को पराजित किया। चेदि और चोलों को भी हराये जाने के उल्लेख मिलते हैं; परन्तु उन उल्लेखों पर

---

१. Early History of Deccan. पृ० १११।

विश्वास करना कठिन है। मेरुतुंग के अनुसार तैलप को परमार-राज वाक्पति-मुञ्ज द्वारा छ बार परास्त होना पड़ा। चालुक्य-नृपति ने बार-बार हारकर भी साहस न छोड़ा। मालव-सम्राट् वाक्पति सातवीं बार फिर आया और गोदावरी पार के चालुक्य-प्रांत में निरन्तर धँसता गया। अन्त में विपत्ति में जा फँसा और उसकी सेना तितर-बितर हो गयी। वह पकड़ लिया गया और उसके बारंबार के हराये शत्रु ने उसका बध करा दिया। चौबीस वर्ष तक एक प्रशस्त भू-भाग पर राज कर तैलप ल० ९९७ ई० में मर गया।

तैलप के बाद सत्याश्रय के शासन-काल में चालुक्यों पर बुरी गुजरी। चोड-नृपति राजराज प्रथम अपनी सेना लिये निकला और उसने चालुक्य-राज्य को रौंद डाला। चोड-नृपति ने निर्दय रक्तपात से चालुक्य-प्रजा को सर्वथा आतंकित कर दिया। परन्तु उसके जाते ही सत्याश्रय ने फिर अपनी शक्ति पूर्ववत् कर ली। उसके बाद उसका भतीजा विक्रमादित्य पञ्चम, (जिसे सर रामकृष्ण प्रथम[1] कहते हैं) राजा हुआ। चालुक्य-परमारों का संघर्ष चल ही रहा था। चाचा की मृत्यु का बदला लेने के लिए भोज परमार ने चालुक्य-राज विक्रमादित्य पर चढ़ाई की। उसने चालुक्यों को भरपूर हराया। परन्तु दूसरी बार उसे भी हारना पड़ा। विक्रमादित्य के बाद चालुक्यों का राजा जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल हुआ था। उसने भोज को परास्त कर दिया। राजेन्द्र चोड प्रथम से भी इस नृपति की दो-दो चोटें हुई थीं, परन्तु इनमें कौन जीता कौन हारा, यह कहना कठिन है। दोनों अपनी-अपनी जीत का उल्लेख करते हैं। लगभग २६ वर्ष राज करके जयसिंह १०४२ ई० में मर गया।

सत्याश्रय (९९७-१००८ ई०), विक्रमादित्य ५, जयसिंह द्वितीय (ल० १०१६-१०४२ ई०)

जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल के पश्चात् उसका पुत्र सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल १०४२ ई० में सिंहासन पर बैठा। उसका विरुद त्रैलोक्यमल्ल भी था। पिता ने समृद्ध राज्य छोड़ा था, इसलिए और चिन्ता न थी और सोमेश्वर ने दिग्विजय की ठानी। चोड और परमार उसके शत्रु थे। उसने उनकी ओर रुख किया। भोज के अनवरत युद्ध के कारण परमारों की लक्ष्मी निष्प्रभ हो गयी थी और सोमेश्वर ने मौका देख उसपर चढ़ाई कर दी। भोज माँडू और धारा छोड़ भागा और उज्जैन का आश्रय लिया। सोमेश्वर ने माँडू और धारा लूटा और अब उज्जैन की ओर बढ़ा। उज्जैन की भी वही गति हुई। परन्तु सम्हलकर भोज फिर लौटा और उसने अपने खोये हुए प्रान्त लौटा लिये। इस बीच अन्हिलवाड के भीम प्रथम और कलचुरी लक्ष्मीकर्ण ने भोज के विरुद्ध मंत्रणा कर अपनी सम्मिलित सेनाओं के साथ मालवा पर दो-तरफा आक्रमण किया। भोज इस लड़ाई के समय ही मर गया। दोनों आक्रमक भी परस्पर लड़कर अलग हो गये। जयसिंह मालवा का उत्तराधिकारी था। उसने सोमेश्वर से सहायता की प्रार्थना की। सोमेश्वर ने कलचुरियों का उत्कर्ष देख अपने सहज शत्रु को मालवा की गद्दी पर बैठा दिया। इधर चोड-चालुक्य-संघर्ष भी चल रहा था। १०५२ ई०

सोमेश्वर प्रथम आहवमल्ल (१०४२-६८ ई०)

---

१. Early History of Deccan, पृ० १४०, नोट १५।

में कृष्णा और पञ्चगंगा के संगम पर कोप्पम् (खिद्रापुर) का युद्ध हुआ जिसमें सोमेश्वर विजयी हुआ। बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' के अनुसार तो सोमेश्वर ने एक बार चोल-शक्ति के केन्द्र काँची तक धावा किया था। इस समय उत्तर की दशा करुण थी। प्रतीहारों का साम्राज्य तितर-बितर हो गया था और कन्नौज संभवतः राष्ट्रकूटों के हाथ में आ गया था[१]। सोमेश्वर एक बड़ी सेना लेकर अपनी राजधानी से निकला और मध्य भारत में चन्देलों और कच्छपघातों को रौंदता गंगा-यमुना के द्वाब की ओर बढ़ा। कनौज के राजा ने डरकर कन्दराओं की शरण ली। लक्ष्मीकर्ण कलचुरी यह बर्दाश्त न कर सका और उसकी राह रोकने आगे आया; परन्तु युद्ध में उसे परास्त होना पड़ा। उसी बीच सोमेश्वर के पुत्र विक्रमादित्य ने मिथिला, मगध, अंग, वंग और गौड़ को रौंद डाला। कामरूप के रत्नपाल ने चालुक्य-आक्रमण को रोक दिया और चालुक्य-सेना कोशल के रास्ते घर लौटी। सोमेश्वर ने कल्याण नाम की नयी राजधानी बसायी। आज यह कल्याणी नाम से निज़ाम की रियासत में अवस्थित है। १०६८ ई० में सोमेश्वर बीमार हुआ। जब उसने बचने की आशा न देखी तब तुंगभद्रा में डूबकर मर गया। सोमेश्वर बड़ा वीर और विजेता था। उसने अपने कुल के यश को दूर-दूर फैला दिया।

सोमेश्वर के बाद उसका पुत्र सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल गद्दी पर बैठा। उसके अनुज विक्रमादित्य, जो पिता की विजयों का कारण था, चोडों से लड़ रहा था। पिता की मृत्यु का समाचार पाकर वह उत्तर लौटा और भाई के प्रति अपनी स्वामिभक्ति प्रदर्शित की। बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' से विदित होता है कि सोमेश्वर ने अपने असद्व्यवहार और

विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६-११२६ ई०)

दुःशासन से भाई और प्रजा दोनों को दुखी कर दिया। विक्रमादित्य ने अपने अनुयायियों और अनुज जयसिंह को लेकर कोंकण के राजा जयकेशिन् और अन्य राजाओं को परास्त किया। चोडराज वीर राजेन्द्र ने उससे दबकर उसको अपनी कन्या व्याह दी। वीर राजेन्द्र के बाद वेंगी के कुलोत्तुंग और चोडराज के पुत्र में युद्ध चला। कुलोत्तुंग ने सोमेश्वर से मदद माँगी। दोनों की सम्मिलित सेना को विक्रमादित्य ने हरा दिया और १०७६ ई० में भाई को गद्दी से उतारकर स्वयं बैठ गया। इसी तिथि को उसने चालुक्य-विक्रम-संवत् चलाया। सोमेश्वर कुल आठ वर्ष राज कर सका था।

इस कुल का सबसे प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य षष्ठ था। पिता के अधिकतर युद्धों में उसने भाग लिया और जीता था। वह विद्या-व्यसनी था और विद्वानों को उसने दूर-दूर से अपने दरबार में बुलाकर रखा। 'विक्रमांकदेवचरित' के रचयिता कश्मीरी कवि बिल्हण और 'मिताक्षरा'-कार विज्ञानेश्वर उसकी सभा के रत्न थे। अपने अनुज जयसिंह को उसने बनवासी का शासक नियुक्त कर दिया था। वह विद्रोही हो गया, परन्तु विक्रमादित्य ने उसे दबा दिया। चोड और होयसलों ने भी उपद्रव करना चाहा, परन्तु उसने उनको यथास्थान कर दिया। विक्रमादित्य तत्कालीन शान्ति का रक्षक था।

---

१. Ind. Ant. ८, पृ० १६ और देखिये History of Kanauj, पृ० २८९-९०।

उसके बाद सोमेश्वर तृतीय सिंहासनासीन हुआ। उसने ११२६ से ११३८ ई० तक राज किया। 'मानसोल्लास' उसकी रचना कहा जाता है। सोमेश्वर के बाद उसका तनय जगदेकमल्ल द्वितीय अभिषिक्त हुआ जिसने ११५१ ई० तक शासन किया। होयसल-नृपति, परमारजयवर्मन् और कुमारपाल चालुक्य (गुजरात) से उसने सफल लोहा लिया। उसके भाई नुरमडी तैल के समय उसका कलचुरी मंत्री बिज्जल अन्य सामन्तों की मदद से अपने राजा को भगाकर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। ११५७ ई० से ११८२ ई० तक चालुक्य-शासन कल्याण से निकल गया। तैल के पुत्र सोमेश्वर चतुर्थ ने ११८२ ई० में पैतृक राज्य का भाग जीत लिया और ११८६ ई० तक धारवाड में राज करता रहा। देवगिरि के यादवों और द्वारसमुद्र के होयसलों की सम्मिलित सेना से लड़ते वह मारा गया।

कलचुरी-बिज्जल पहले दण्डनायक और महामण्डलेश्वर था। ११६२ ई० तक उसने स्वतंत्र राजा के विरुद धारण कर लिये। उसके प्रधान मंत्री बासव ने 'वीर शैव' अथवा 'लिंगायत-संप्रदाय' की स्थापना की। इस संप्रदाय के अनुयायी शिव-लिंग और शिव-वाहन नन्दी को मानते हैं, वेद को नहीं। वे वर्णप्रथा को भी नहीं मानते। लिंगायत मत के प्रचार से जैनों की बड़ी हानि हुई। जैन होने के कारण विज्जल को यह अच्छा न लगा। परन्तु बासव ने संभवतः चुपके से उसका अन्त कर दिया। विज्जल के पुत्र सोविदेव ने बासव को दबाने का सफल प्रयत्न किया। ११८२ ई० में सोमेश्वर चतुर्थ ने कल्याण से कलचुरियों को उखाड़ फेंका; परन्तु स्वयं चालुक्यों का भी शीघ्र अन्त हो गया।

विज्जल

इस परिच्छेद के लिये साहित्य

१. त्रिपाठी : History of Ancient India.

२. भण्डारकर : Early History of Deccan.

३. स्मिथ : Early History of India.

४. दुब्रइल : Ancient History of Deccan.

५. कजिन्स् : The Calukyan Architecture.

६. कटारे : The Calukyas of the Kalyani, Indian Culture खण्ड ४, अंक १।

७. फ्लीट : Dynasties of the Kanarese Districts.

८. अलतेकर : Rastrakutas and their Times.

९. Bombay Gazetteer खण्ड १, भाग २।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

मान्यखेट के राष्ट्रकूट

मान्यखेट (मालखेड) के राष्ट्रकूट कौन और कहाँ से आये थे, यह कहना बड़ा कठिन है। इस संबंध में भण्डारकर, फ्लीट और बरनेल आदि के विभिन्न मत हैं; परन्तु उनमें से कोई ग्राह्य नहीं। कोई उनको उत्तर के राठौरों के संबंधी, कोई दक्षिण के रेड्डियों के बताते हैं। स्वयं उनके पिछले लेखों में उनको यदु से उत्पन्न और रट्ट तथा राष्ट्रकूट के वंशज कहा गया है। परन्तु इससे भी हम जहाँ के तहाँ रह जाते हैं। वास्तव में जान पड़ता है कि राष्ट्रकूट अशोक के शिलालेखों में गिनाये अपरान्तों में से एक रष्टिक अथवा रठिक हैं। उनके मूलस्थान के संबंध में डा० अल्तेकर का मत है कि वे कर्णाटक के रहनेवाले थे और उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी। इसी भाषा को वे बोलते और इसी लिपि में लिखते थे।[1] ये 'लट्टलूर के स्वामी' थे, जो हैदराबाद रियासत में लाटूर के नाम से बीदर जिले में आज भी अवस्थित है और जहाँ कन्नड़ बोली जाती है।

मूल

संभवतः कर्णाटक से ये चलकर बरार में आ बसे थे और इनका छोटा-मोटा राज्य पहले वहीं था।[2] राष्ट्रकूटों का उत्कर्ष दन्तिदुर्ग के समय आरंभ हुआ। उसकी माता चालुक्य राजकुमारी भवनागा को उसके पिता इन्द्रराज विवाह के अवसर पर ले भागे थे। आठवीं सदी ईसवी के मध्य में दन्तिदुर्ग ने महाराष्ट्र में चालुक्य-शक्ति का अन्त कर दिया। एलोरा के ताम्रपत्रों से विदित है कि उस भूमि पर उसका राज्य ७४१-४२ ई० में ही स्थापित हो गया था।[3] दन्तिदुर्ग ने अनेक देशों की विजय की थी। काँची, कोशल, कलिंग, मालवा (गुर्जर-प्रतीहार), लाट (दक्षिण गुजरात) तक (?), और श्रीशैल (कर्नूल जिले में) के राजाओं को उसने परास्त किया था। पुत्र न होने के कारण उसके मरने पर उसका चाचा कृष्ण प्रथम राष्ट्रकूट गद्दी पर बैठा। कृष्णराज ने कीर्तिवर्मन् द्वितीय चालुक्य की सत्ता कर्नाटक से पूर्णतया उठा दी। राहप्प को परास्त कर उसने राजाधिराज-परमेश्वर का विरुद धारण किया। उसके अन्य नाम शुभतुंग और अकालवर्ष थे। उसने कोंकण, गंगवाडी और वेंगी के राजाओं को भी परास्त किया। कृष्ण ने एलोरा (एलापुर) में पहाड़ों को काटकर अद्भुत शिव-मन्दिर बनवाया।

दन्तिदुर्ग

कृष्ण के ७७२ ई० के लगभग मरने पर गोविन्द द्वितीय प्रभूतवर्ष राजा हुआ। यह विलासी था और राजकार्य से जी चुराता था। शासन का काम उसका अनुज ध्रुव करता था। अवसर पाकर उसने भाई से गद्दी छीन ली और स्वयं लगभग ७७६ ई० में उसपर आसीन हो गया। वह धारावर्ष और श्रीवल्लभ भी कहलाता था। भाई के अनुयायियों को कुचलकर उसने गंगराज पर आक्रमण किया और

ध्रुव निरुपम

---

१ Rastrakutas and their Times पृ० ११-२२।

२ वही, पृ० १९-२१।

३ Ep. Ind., २५. पृ० २५-३१।

उसका राज्य जीतकर अपने शासन में मिला लिया। कांची के पल्लवराज को परास्त कर उत्तर की ओर मुड़ा। उज्जैन के वत्सराज प्रतीहार को हराकर उसने उसे राजपूताना की मरुभूमि में शरण लेने को बाध्य किया। इन्द्रायुध के समय उसने कन्नौज की ओर भी रुख किया और द्वाब जीतने के उपलक्ष्य में उसने 'गंगा और यमुना को भी अपना लांच्छन' (राज-चिह्न) बनाया। धर्मपाल को उसने हराकर भगा दिया और भागते हुए पाल-नरेश के राजछत्र छीन लिये।[1] ध्रुव के समय में राष्ट्रकूट यशस्वी हो चले थे।

ध्रुव ने अपने कनिष्ठ पुत्र गोविन्द तृतीय जगत्तुंग को अपना उत्तराधिकारी चुना था, जो उसके पश्चात् राजा हुआ। गंगवाडी के शासक उसके ज्येष्ठ पुत्र स्तंभ ने पिता के इस अनौचित्य के विरुद्ध विद्रोह किया। परन्तु गोविन्द ने यह विद्रोह कुचल दिया। उसके पिता द्वारा बन्दी किये गंगवाडी का नृपति फिर स्वतंत्र हो गया था। उसके राज्य को गोविन्द ने फिर जीता और अपने भाई स्तंभ को फिर वहाँ का शासक नियत किया। उसने कांची के दंतिग और वेंगी के विजयादित्य द्वितीय को भी परास्त किया। फिर वह भी पिता की ही भाँति उत्तर की ओर मुड़ा। नागभट द्वितीय पिता द्वारा खोये मालव-भूमि को जीतने का प्रयास कर रहा था। गोविन्द ने उसे ८०७ के लगभग परास्त किया।[2] मालवा में नागभट के विरुद्ध उसने करकराज को बल दिया।[3] इससे राष्ट्रकूटों की सीमाएँ प्रतीहार-नृपति के धावों से भले प्रकार बची रह सकीं। अब वह गंगा-यमुना के द्वाब की ओर बढ़ा। वहाँ धर्मपाल द्वारा प्रतिष्ठित चक्रायुध कान्यकुब्ज (कन्नौज) के सिंहासन पर विराजमान था। उसकी शक्ति से आतंकित होकर धर्मपाल और चक्रायुध दोनों ने आत्मसमर्पण कर दिया।[4] उसकी अनुपस्थिति में अवसर पाकर दक्षिण चोड, पाण्ड्य, केरल, पल्लव, गांग आदि नरेशों ने संघ बना लिया था। गोविन्द उनके सम्मिलित आक्रमण की बात सुन दक्षिण लौटा और उसने उनका संघ छिन्न-भिन्न कर दिया।

गोविन्द तृतीय जगत्तुंग

गोविन्द तृतीय के निधन के पश्चात् उसका पुत्र अमोघवर्ष प्रथम राज्याभिषिक्त हुआ। उसके किशोर होने के कारण पिता ने करकराज को शासन का कार्य सम्हालने को नियुक्त किया था। परन्तु मंत्री और सामन्त सभी धीरे-धीरे असहिष्णु और विद्रोही होते गये। गंगवाडी फिर स्वतंत्र हो गया। वेंगी के विजयादित्य द्वितीय चालुक्य ने राष्ट्रकूटों पर आक्रमण तक कर दिया। अमोघवर्ष गद्दी से उतार दिया गया। परन्तु करकराज की सहायता से वह फिर सिंहासनारूढ़ हुआ।[5] फिर भी राष्ट्रकूट-राज्य की दशा सुधरी नहीं और बहुत काल तक वैसी ही बनी रही। चालुक्यों ने

अमोघवर्ष प्रथम

---

१ Ep. Ind., १८, पृ० २४४, २५२।

२ सञ्जन-ताम्रपत्र, वही; श्लोक २२।

३ Ind. Ant., १२, पृ० १६०, १६४।

४ Ep. Ind., १८, पृ० २४५, २५३, श्लोक २३; वही, ६, पृ० १०२, १०५।

५ Ep. Ind., ११, पृ० १२६-४७।

कई बार उसे लूटा-खसोटा। मिहिरभोज प्रतीहार ने भी उज्जैनी के चतुर्दिक् का प्रदेश रौंद डाला। गुजराती राष्ट्रकूट घराने के ध्रुव द्वितीय[1] की चोट से घबराकर ही भोज पीछे लौटा।

अमोघवर्ष की विजयों के संबंध में संजन-ताम्रपत्र में जो उल्लेख है, वह निस्सन्देह अतिरंजित है। वास्तव में उसके युद्ध उसके विपरीत हो गये। वह फिर भी धार्मिक और विद्याव्यसनी अवश्य था। महालक्ष्मी का वह परम भक्त था।[2] परमगुरु जैनाचार्य जिनसेन के उपदेशों से उसकी प्रवृत्ति जैन भी हो गयी थी। ऐसा वीराचार्य के 'गणितसार संग्रह' से ध्वनित होता है। संजन-ताम्रपत्र में उसकी तुलना विक्रमादित्य से की गयी है।[3] वह स्वयं 'कविराजमार्ग' और 'प्रश्नोत्तरमालिका' का रचयिता माना जाता है। अपने अन्तिम दिनों में वह राजकार्य मंत्रियों और युवराज पर छोड़ विरक्त रहने लगा था। अमोघवर्ष ने ही मान्यखेट राजधानी बनायी थी। उससे पूर्व राष्ट्रकूट-राजधानी कहाँ थी, नहीं कहा जा सकता। ६४ वर्ष राज करके अमोघवर्ष संभवतः ८७८ ई० में मरा।

अमोघवर्ष के बाद उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय राजा हुआ। उसने कलचुरी कोकल्ल प्रथम की दुहिता से विवाह किया।[4] कृष्ण के समय में भी गुजरात का राष्ट्रकूट-कुल विनष्ट

कृष्ण द्वितीय

हो गया। उसने भी अन्हिलवाड और वेंगी के चालुक्य-कुलों से संघर्ष जारी रखा, परन्तु इससे उसको लाभ न हुआ। उसका प्रतीहारराज मिहिरभोज से भी युद्ध हुआ; परन्तु परिणाम स्पष्ट न हो सका। दोनों ने अपनी-अपनी विजय की गाथा गायी।[5] ९१४ ई० के लगभग कृष्ण का देहान्त हुआ और उसकी गद्दी पर उसका

इन्द्र तृतीय

पौत्र इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष बैठा। इन्द्र बड़ा पराक्रमी था और उसने कन्नौज का संहार कर दिया।[6] अपने चालुक्य-सामन्त नरसिंह[7] के साथ मालवा होता हुआ वह उत्तर की ओर बढ़ा और महीपाल प्रतीहार को परास्त किया। प्रयाग तक उसकी विजयवाहिनी अदम्य उत्साह से बढ़ती चली गयी। इन्द्र का शासन

---

१ नवीं सदी के आरम्भ में गोविन्द तृतीय ने अपने अनुज इन्द्र को लाट (दक्षिण गुजरात) देश का शासक नियुक्त किया था। इन्द्र ने ही गुजराती राष्ट्रकूट-राजकुल की नींव डाली थी। इसके मुख्य राजा निम्नलिखित थे—कर्क-सुवर्णवर्ष, ध्रुव धारावर्ष, अकालवर्ष, शुभतुंग, ध्रुव द्वितीय। नवीं शती ईसवी के अन्त में इस कुल का अन्त हो गया।

२. Ep. Ind., १८, पृ० २४८, २५५, श्लोक ४७।

३. वही, श्लोक ४८।

४. वही, १, पृ० २५६, २६७, श्लोक १७ ; वही, २, पृ० ३०६, श्लोक ७।

५. वही, १९, पृ० १७४-७७; वही, ९, पृ० ३१, ३९, श्लोक १५; Ind. Ant., १३, पृ० ६७, ६९, श्लोक २३।

६. Ep. Ind., ७, पृ० ३८, ४३, श्लोक १९।

७. History of Kanauj, पृ० २५६-५७, २६०।

अल्पकालिक रहा और ९१८ ई० के लगभग उसकी गद्दी पर गोविन्द चतुर्थ बैठा, परन्तु वह सर्वथा विलासी निकला।[1] वेंगी के भीम द्वितीय ने उसे परास्त किया और उसके शासन के अन्त काल में साधारण सामन्तों तक ने उसे मार-मारकर जर्जर कर दिया। ९३६ ई० के आसपास उसका चाचा अमोघवर्ष तृतीय राष्ट्रकूटों का राजा हुआ। ९४० ई० में उसका भी निधन हो गया।

अमोघवर्ष का पुत्र कृष्ण तृतीय बड़ा पराक्रमी नृपति था। पश्चिमी गंगराज रायमल्ल को गद्दी से उतारकर उसने बूटुग द्वितीय को उसपर बैठाया। ९४० ई० के पूर्व उसने प्रतीहारों पर आक्रमण कर उनसे कालिंजर और चित्रकूट छीन लिये।[2] कृष्ण के इस उत्तरी आक्रमण का प्रमाण हमें देवली-ताम्रपत्र-लेख के अतिरिक्त बघेलखण्ड के मइहर-रियासत में पाये पाषाण-पट्ट[3] के लेख से भी मिलता है। अब तक कृष्ण ने 'महाराजाधिराज' 'परमभट्टारक' और 'परमेश्वर' विरुद धारण कर लिये थे। दक्षिण में उसने अपनी विजयों की परंपरा बाँध दी। उसने तंजोर की विजय की[4] और कांची पर अधिकार कर लिया। तक्कोलं के प्रसिद्ध युद्ध में परान्तक प्रथम के पुत्र राजादित्य चोड को उसने ९४९ ई० में परास्त किया। गंगाधिपति बुटुग द्वितीय ने उसकी सहायता की थी, इस कारण उसने उसे बनवासी का प्रान्त भेंट किया।[5] चोड-राज्य का दक्षिणी भाग उसने स्वयं अपने अधिकार में रखा। पांड्य और केरल-राजाओं ने भी उससे हार मानी और सिंहल के राजा ने भी उसकी स्तुति की। वेंगी के शासन-क्रम में भी उसने सशक्त परिवर्तन किये। कृष्ण इस कुल का अंतिम गौरवशाली राजा था। वह ९६८ ई० में मरा और उसकी मृत्यु के साथ राष्ट्रकूटों का गौरव विलीन हो गया।

कृष्ण तृतीय

उसके भाई खोट्टिग नित्यवर्ष के समय में मालवा के परमार-राजा सीयक हर्ष ने राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट तक को लूटा[6]। ९७३ ई० में खोट्टिग के भतीजे कर्क द्वितीय के समय में तैलप द्वितीय चालुक्य ने इस कुल का नाश कर दिया। लगभग ढाई सौ वर्षों तक चमककर राष्ट्रकूटों का सूर्य दसवीं सदी के अन्तिम चरण के आरंभ में डूब गया।

राष्ट्रकूटों के प्रताप का अरब-पर्यटकों ने भी वर्णन किया है। उनको वे 'बल्हर' (बल्लभराज) कहते हैं। ८५१ ई० में लिखता हुआ सुलेमान अमोघवर्ष प्रथम की गणना बगदाद के खलीफा और चीन तथा कुस्तुन्तुनिया के सम्राटों के साथ संसार के चार सर्वशक्तिमान राजाओं में करता है। राष्ट्रकूटों की अरबी मुसलमानों से काफी बनती थी और वे उन्हें

१. Ep. Ind., ४, पृ० २८३, २८८, श्लोक २०।

२. वही, ५, पृ० १९४, श्लोक २५।

३. वही, १९, पृ० २८७-९०।

४. इसीसे उसकी संज्ञा 'तंजैयुकोंड' हो गयी थी।

५. Ep. Ind. ६, पृ० ५०-५७।

६. वही, १, पृ० २२५, २२७, श्लो० १२; और देखिये धनपाल 'पाइयलच्छी', श्लोक २७६,—Ep. Ind. १, पृ० २२६।

व्यापार के लिए विशेष सुविधाएँ देते थे। सिन्ध के अरबों और दक्कन के राष्ट्रकूटों में यह मैत्री स्वाभाविक ही थी ; क्योंकि कन्नौज के प्रतीहार दोनों के घोर शत्रु थे।

धार्मिक अवस्था

राष्ट्रकूट-नृपति पौराणिक ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे। उनकी संरक्षा में हिन्दू-धर्म की उन्नति हुई और वैष्णव तथा शैव-संप्रदाय खूब फूले-फले। उनके ताम्रपत्र-लेखों में विष्णु अथवा शिव के प्रति स्तुति मिलती है और उनकी मुहरों पर विष्णु के वाहन गरुड़ अथवा योगमुद्रा में शिव की मूर्ति अंकित मिलती है। राष्ट्रकूट राजा धार्मिक अनुष्ठानों से बड़ा प्रेम रखते थे। दन्तिदुर्ग ने 'हिरण्यगर्भ' का अनुष्ठान किया था और तुलादान किया था। कृष्ण प्रथम के समय में वह अद्भुत कैलास-मन्दिर एलोरा की पर्वत-श्रेणी में निर्मित हुआ, जो संसार के आश्चर्यों में से एक है। उस पर्वत से उस मन्दिर के लिए लगभग तीस लाख हाथ पत्थर काटा गया है जिसमें ताजमहल की इमारत मैं अपने कम्पाउण्ड के रखी जा सकती है। इस कुल के राजा ब्राह्मण-धर्मानुयायी होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णु न थे। अमोघवर्ष प्रथम आदि ने तो जैन-आचार्यों का बड़ा आदर किया था। बौद्ध-धर्म अवश्य पतनोन्मुख रहा।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. स्मिथ : Early History of India.
२. त्रिपाठी : History of Ancient India.
३. भण्डारकर : Early History of Deccan.
४. Bombay Gazetteer, १, २।
५. अल्तेकर : Rastrakutas and Their Times.
६. त्रिपाठी : History of Kanauj.
७. इलियट : History of India. १।

सताईसवाँ परिच्छेद

दक्षिणापथ के छोटे राज्य

पिछले परिच्छेदों में उन बड़े राज्यों का इतिहास दिया जा चुका है जो या तो दक्षिणापथ (नर्मदा और कृष्णा नदियों के बीच की भूमि) के थे। ये अपने उत्तरापथ के मूल से उखड़कर वहाँ जा लगे थे। इस प्रकरण में उन्हीं की भाँति अन्य, किन्तु छोटे राज्यों का वृत्तान्त लिखा जायगा। इनमें निम्नलिखित की गणना की जाती है—(१) देवगिरि के यादव, (२) वारंगल के काकतीय, (३) कोंकण के शिलाहार, (४) बनवासी के कदम्ब, (५) तलकाड के गंग और (६) द्वारसमुद्र के होयसल। इनका इतिहास संक्षिप्त में नीचे दिया जाता है।

१. देवगिरि के यादव

यादव-नरेश अपने को यदुवंशी क्षत्रिय और कृष्ण की सन्तान मानते हैं। उनका संबंध कृष्ण से कहाँ तक था, यह कहना असंभव है, यद्यपि महाभारत और पौराणिक अनुवृत्ति के अनुसार उनका संपर्क शौरसेनों से किसी न किसी रूप में अवश्य था। मथुरा की ओर से गुजरात आदि पश्चिमी प्रांतों की ओर जातियों का निष्क्रमण हुआ, इसमें सन्देह नहीं। संभव है, उसी सिलसिले में उन्होंने दक्खन को भी अपना निवास बनाया हो। देवगिरि के यादव आरंभ में राष्ट्रकूटों और कल्याणी के चालुक्यों के समय-समय से सामन्त-नृपति रह चुके थे। बाद में चालुक्यों के पतन के बाद उन्होंने स्वतंत्र होकर एक विशाल राज्य की भी स्थापना की, जो अलाउद्दीन के समय अर्थात् १३वीं सदी तक कायम रहा था। कलचुरी और होयसलों की अनवरत चोटों से जर्जर पश्चिमी चालुक्यों के अधिपति सोमेश्वर चतुर्थ के दुर्बल हाथों से भिल्लम पंचम् ने ११८७ ई० के लगभग कृष्ण के उत्तरवर्त्ती प्रदेश छीन लिये। इसके साथ ही उसने साम्राजोचित विरुद भी धारण किये और देवगिरि (हैदराबाद रियासत में दौलताबाद) में अपनी राजधानी स्थापित की। परन्तु उसकी स्थिति स्वयं भी डाँवाँडोल बनी रही और होयसलों ने उसको भी चैन न लेने दिया। ११९१ ई० में वीर बल्लाल प्रथम ने लकुण्डी (धारवाड जिले में) के युद्ध में उसे पराजित कर मार डाला।

आरंभ

भिल्लम के बाद उसका पुत्र जैत्रपाल प्रथम यादवों की गद्दी पर बैठा और उसने संभवतः १२१० ई० तक राज किया। जैत्रपाल ने यादवों की शक्ति और राज्य का काफी प्रसार किया। वास्तव में उसके सीमा-विस्तार-कार्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उसका यश-विस्तार था। इस समय यादवों का काकतीयों से भी संघर्ष चल रहा था। तैलंगों के अधिपति रुद्रदेव को उसने युद्ध में मार डाला और उसके भतीजे गणपति को काकतीयों की गद्दी पर बैठा दिया। उसके इस आचरण से यादवों का यश आसमान चूमने लगा। लगभग उन्नीस वर्ष राज करके जैत्रपाल १२१० ई० के करीब मरा। उसके बाद उसका पुत्र सिंघण यादवों का राजा हुआ।

जैत्रपाल

सिंघण इस राजकुल का सबसे प्रतापी राजा हुआ। उसकी मृत्यु के समय यादवों का साम्राज्य पश्चिमी चालुक्यों के साम्राज्य के बराबर विस्तृत हो चुका था। अपने ३७ वर्षों के शासन-काल में सिंघण ने काफी लड़ाइयाँ लड़ीं और काफी राज्य जीते। उसके समय में शिलाहार, होयसल, मालव, चेदि और गुजराती राजाओं को दबना पड़ा था और उन्हें सदा आतंकित रहना पड़ता था। सिंघण ने शिलाहाराधिपति वीरभोज को पराजित कर उसका कोल्हापुरवाला सारा प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया। भिल्लम को होयसल-नरेश वीर बल्लाल ने कभी हराया था। यादवों के हृदय में वह हार शूल की भाँति चुभती रही थी। स्वयं सिंघण उसे न भुला सका था। उसका बदला लेने के लिये वह कृष्णा पार कर होयसलों के राज्य में पिल पड़ा और वीर बल्लाल द्वितीय से उसके अनेक प्रान्त उसने छीन लिये। इसी प्रकार मालवा के अर्जुनवर्मन् और छत्तीसगढ़ के चेदिराज जाजल्ल को भी उसने अपनी शक्ति का परिचय

सिंघण

दिया। गुजरात पर बघेलों के समय में उसने दो-दो बार चढ़ाई की और प्रत्येक बार उन्होंने उसकी तलवार की सराहना की। सिंघण लगभग १२४७ ई० में मरा।

सिंघण विद्वानों का संरक्षक और स्वयं विद्वान् था। 'संगीत-रत्नाकर' का रचयिता सारंगधर सिंघण की ही राज-सभा में रहता था। उसके 'संगीत-रत्नाकर' पर राजा ने एक टीका भी लिखी थी। उसकी सभा का दूसरा रत्न चांगदेव था। चांगदेव स्वयं ज्योतिर्विद् था और भास्कराचार्य की 'सिद्धान्त-शिरोमणि' तथा अन्य ज्योतिर्ग्रन्थों के अध्ययन और अध्यापन के अर्थ उसने पटने (खानदेश जिले में) में एक विद्यालय भी स्थापित किया था।

सिंघण के बाद उसका पोता कृष्ण (कन्हर) राजा हुआ। उसका भी मालवा, गुजरात और कोंकण के राजाओं से संघर्ष हुआ। उसके शासन-काल में कश्मीरी कवि जल्हण ने अपनी 'सूक्तिमुक्तावली' और अमलानन्द ने अपना 'वेदान्त-कल्पतरु' रचा। संभवतः १२६० ई० में कन्हर का देहान्त हुआ। कृष्ण के बाद उसका भाई महादेव यादवों के सिंहासन पर बैठा और उसके समय में एक बार और उनकी तलवार चमकी। शिलाहारों से उसने उत्तरी कोंकण छीन लिया और कर्णाट तथा लाट के राजाओं को परास्त किया। उसकी शक्ति का लोहा काकतीयों की रानी रुद्राम्बा ने भी माना और वह उसकी प्रसर-नीति से संत्रस्त हो गयी। उसके अथवा रामचन्द्र (१२७१-१३०९ ई०) के समय में प्रसिद्ध धर्मशास्त्री हेमाद्रि (हेमाडपन्त) ने अपना 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' लिखा। कहा जाता है कि हेमाडपन्त ने मोडी लिपि में सुधार किये और दक्कन के मन्दिरों में एक नयी शैली चलायी। रामचन्द्र (रामराजा) के समय में ज्ञानेश्वर नामक सन्यस्तु साधु ने भगवद्गीता पर १२९० ई० में एक मराठी टीका लिखी। रामचन्द्र के शासन-काल में अलाउद्दीन खिलजी ने देवगिरि पर चढ़ाई की। चाचा के डर से भाग आने का बहाना कर पहले तो अलाउद्दीन ने रामचन्द्र का आतिथ्य स्वीकार किया, फिर उसपर वह चढ़ दौड़ा। रामचन्द्र ने कुसमय देख दुर्ग का आश्रय लिया और उसके पुत्र शंकर ने कुछ समय तक उसका सामना किया। परन्तु जब उसके सामने उसकी कुछ न चली तब उसके पिता को अलाउद्दीन से सन्धि करनी पड़ी। जीत के उपलक्ष्य में १२९४ ई० में उसने अलाउद्दीन को ६०० मन मोती, २ मन रत्न, १००० मन चाँदी, ४००० रेशमी थान और एलिचपुर का इलाका दिये।[1] इसके अतिरिक्त रामचन्द्र ने इसी प्रकार का वार्षिक कर देना भी स्वीकार किया; परन्तु धीरे-धीरे उसने दिल्ली का कर देना बन्द कर दिया। इस समय तक यादवों की सर्वथा स्वतंत्र सत्ता का लोप हो गया था। १३०७ ई० में अलाउद्दीन ने अपने सेनापति मलिक काफ़ूर को देवगिरि भेजा। काफ़ूर ने रामचन्द्र को पकड़कर दिल्ली भेज दिया।[2] परन्तु अलाउद्दीन ने उसकी बड़ी आवभगत की और उसका राज उसे लौटा दिया। १३०९ ई० में रामचन्द्र का पुत्र शंकर देवगिरि का राजा हुआ। उसने एक बार अलाउद्दीन

महादेव

रामचन्द्र

१ ब्रिग्स् : Firishta, १, पृ० ३१० ।

२ इलियट : History of India, ३, पृ० ७७, १०० ।

से भी लोहा लिया था। अब उसने उसे कर भेजना बन्द कर दिया। १३१२ ई० में मलिक काफूर फिर लौटा और उसने शंकर को युद्ध में मार डाला। इस प्रकार यादवों के राज्य का अन्त हो गया। रामचन्द्र के जामाता हरपाल ने अवश्य सुल्तान मुबारक के शासन-काल में विद्रोह किया, परन्तु उसे पकड़कर उसकी खाल खिंचवा ली गयी।

२. वारंगल के काकतीय

वारंगल के काकतीय अपने को सूर्यवंशी क्षत्रिय कहते हैं। परन्तु नेल्लोर जिले के अनेक लेखों में उनके शूद्र होने का उल्लेख है। चालुक्यों के पतन के पश्चात् ये तेलिंगाना में प्रबल हुए। पहले इनकी राजधानी हनुमकोंडा फिर वारंगल हुई। इस कुल के प्रारंभिक राजाओं में प्रोलराज प्रबल हुआ। उसके एक लेख में उसकी तिथि १११७-१८ ई० दी हुई है। उसने पश्चिमी चालुक्यों को परास्त किया। परन्तु इस राजकुल का सबसे पराक्रमी नृपति गणपति हुआ। गणपति ने ६२ वर्ष राज किया। ११९९ ई० में वह गद्दी पर बैठा और संभवतः १२६१ ई० में वह मरा। उसने चोड, कलिंग, यादव, कर्णाट, लाट आदि के राजाओं से लोहा लिया। पुत्र न होने के कारण उसके बाद उसकी कन्या रुद्राम्बा 'रुद्रदेव-महाराज' के पुरुष नाम से गद्दी पर बैठी। ३० वर्ष राज करने के बाद उसका पुत्र प्रताप रुद्रदेव राजा हुआ जिसके समय में विद्यानाथ ने अलंकार-शास्त्र पर अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रतापरुद्रीय' लिखा। मलिक काफूर ने प्रताप रुद्रदेव को परास्त किया। अन्त में बहमनी-सुल्तान अहमदशाह ने लगभग १४२४-१४२५ ई० में काकतीय-राज को अपनी सल्तनत में मिला लिया और लगभग तीन सदियों के शासन के बाद काकतीय धरा से उठ गये।

३. कोंकण के शिलाहार

शिलाहारों का राजकुल संभवतः क्षत्रिय था और उसकी तीन शाखाएँ थीं। उसकी प्राचीनतम शाखा ने दक्षिण कोंकण में आठवीं शती ईसवी के अन्तिम चरण से ग्यारहवीं के आरंभ तक राज किया। उनकी राजधानी गोआ थी। उसकी दूसरी शाखा ने लगभग साढ़े चार सदियों तक उत्तरी कोंकण पर राज किया। नवीं सदी के आरंभ से ही उनकी शक्ति सजग हो चली थी। थाना और रत्नागिरि के जिले तथा सूरत के कुछ इलाके भी उनके राज्य में पड़ते थे। इस राजकुल की तीसरी शाखा ग्यारहवीं सदी के आरंभ में कोल्हापुर अथवा पन्हाला में प्रतिष्ठित हुई और सतारा तथा बेलगाँव के जिलों पर भी इसने शासन किया। इसने अपने उत्कर्ष के दिनों में दक्षिण कोंकण पर भी अधिकार कर लिया था और इसके पराक्रमी राजा विजयादित्य ने बिजल की अन्तिम चालुक्य नृपति के विरुद्ध सहायता की थी। भोज इस कुल का सबसे प्रबल राजा था। उसने लगभग ११७५ ई० से १२१० ई० तक राज किया। उसके बाद यादवराज सिंघण ने शिलाहारों का राज्य जीतकर अपने शासन में मिला लिया। शिलाहार-नृपति वास्तव में कभी स्वतंत्र अथवा प्रबल न हो सके। उन्हें राष्ट्रकूटों, चालुक्यों अथवा यादवों के अधीन ही रहना पड़ा। वे कभी साम्राज्य की शक्ति प्राप्त न कर सके।

४. बनवासी के कदम्ब

कदम्ब-राजकुल ब्राह्मण था। उसका गोत्र मानव्य था। मयूरशर्मन् नामक एक ब्राह्मण ने पल्लवों की काँची में किसी अपमान से क्रुद्ध होकर चौथी शती ईसवी के मध्य में कर्णाटक में एक छोटा-सा राज्य स्थापित किया। उसने अपनी राजधानी बनवासी बनायी। समुद्रगुप्त की विजयों से संत्रस्त होने के कारण पल्लवों ने हस्तक्षेप न किया। इस कुल का अन्य प्रबल राजा काकुस्थवर्मन् हुआ जिसने इस कुल का यश तथा सीमा-विस्तार किया। छठी शती के आरंभिक दशाब्दियों में रविवर्मन् हुआ जिसने अपनी राजधानी बनवासी से हटाकर हल्सी (बेलगाँव जिले में) बनायी और गंगों तथा पल्लवों से वह लड़ता रहा। परंतु वातापी के चालुक्यों का उत्कर्ष अधिकतर उन्हीं के उत्तरी प्रांतों पर हुआ। पुलकेशिन् प्रथम ने उनसे उनके उत्तरी प्रांत छीन लिये और पुलकेशिन् द्वितीय ने उनको सर्वथा बेदम कर डाला। उधर दक्षिण में गंगों ने भी वैर साधा और उनसे उनके दक्षिणी प्रांत छीन लिये। फिर भी कदम्बों का अन्त न हुआ और दसवीं सदी के अन्तिम चरण में एक बार फिर राष्ट्रकूटों के अपकर्ष के बाद उन्होंने सिर उठाया। तेरहवीं सदी के अन्त तक कदम्बों की अनेक छोटी-छोटी शाखाएँ दकन और कोंकण में राज करती रहीं। उनके राज्य के प्रमुख केन्द्र धारवाड़ जिले में हंगल और गोआ थे। लगभग हजार वर्षों तक गिरते-पड़ते कदम्ब दक्षिणापथ के विविध स्थानों पर शासन करते रहे थे, यद्यपि उनका असाधारण उत्कर्ष कभी न हुआ। अनेक दक्षिणात्य राजकुलों के ये समय-समय पर सामन्त होते रहे।

५. तलकाड के गंग

गंगों के कुल का स्पष्ट पता नहीं। कोई उनको सूर्यवंशी क्षत्रिय मानते हैं, कोई काण्वायन ब्राह्मण। गंगों का राज्य आधुनिक मैसूर रियासत के अधिकांश पर फैला हुआ था और उन्हीं के नाम पर 'गंगवाडी' कहलाता था। चौथी सदी ईसवी में इसकी नींव दिदिग (कोंगनिवर्मन्) और माधव ने डाली। पहले उनकी राजधानी कुलुवल थी, परन्तु पाँचवीं शती के मध्य में हरिवर्मन् ने वहाँ से हटाकर मैसूर जिले में तलवनपुर (तलकाड) में कावेरी-तट पर स्थापित की। इस कुल के प्राचीन राजाओं में से एक दुर्विनीत था जिसने पल्लवों से लोहा लिया। वह साहित्यिक भी था और बृहत्कथा का एक संस्कृत रूपान्तर तथा कुछ अन्य ग्रन्थ उसके रचे कहे जाते हैं। श्री पुरुष नामक एक अन्य प्रबल राजा ने आठवीं शती के मध्य में शासन किया। उसे राष्ट्रकूटों और पल्लवों दोनों से युद्ध करना पड़ा। राष्ट्रकूटों को उसने अपने राज्य में पाँव न रखने दिया और पल्लवों को युद्ध में परास्त किया। परन्तु शीघ्र राष्ट्रकूटों के प्रहार गंगों पर चलने लगे और वेंगी के पूर्वी चालुक्यों ने भी उन्हें अपने प्रहारों से संत्रस्त रखा। ध्रुव निरुपम ने तो एक बार गंगराज शिवमार को बन्दी कर उसका राज्य ही हड़प लिया था; परन्तु गोविन्द तृतीय के राज्यारोहण-युद्ध में अवसर पाकर शिवमार ने फिर अपना पैतृक वापस कर लिया। किन्तु गृह-युद्ध से फुरसत पाते ही राष्ट्रकूटों ने गंगों का राज्य फिर स्वायत्त कर उसपर अपना शासक नियुक्त किया। राजमल्ल ने गंगों की कुल-लक्ष्मी

एक बार फिर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की; परन्तु राष्ट्रकूटों ने उन्हें उठने न दिया। चोडों ने अलग विपत्ति ढानी शुरू की थी और १००४ ई० तक उनकी राजधानी तलकाड पर भी उन्होंने अधिकार कर गंगों का राज्य ही उठा दिया। फिर भी गंग होयसलों और चोडों की अधीनता में माण्डलिक-नृपतियों की हैसियत से जहाँ-तहाँ शासन करते रहे। गंगों के अनेक नृपति जैन-मत से प्रभावित थे और उन्होंने अनेक जैनाचार्यों को आश्रय दिया था।

६. द्वारसमुद्र के होयसल

होयसल अपने को चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहते हैं। अभिलेखों में उन्होंने अपने को 'यादवकुल-तिलक' कहा है। कहते हैं कि साल नामक एक व्यक्ति ने इस कुल की स्थापना की। किंवदन्ती है कि उसने एक साधु की आज्ञा से एक व्याघ्र को लौहदण्ड से मार डाला था। इसी से इस राजकुल का यह नाम पड़ा।

पहले इस कुल का एक छोटा-सा राज्य मैसूर में कायम था; परन्तु वह चोडों अथवा कल्याणी के चालुक्यों के अधीन अधिकतर सामन्त-राज्य ही था। ग्यारहवीं शती के आरंभ में होयसलों का उत्कर्ष आरंभ हुआ। उसी सदी के मध्य में विनयादित्य और उसके पुत्र ने अपने कुल का यश-विस्तार किया; परन्तु वास्तव में बिट्टिग विष्णुवर्द्धन् ने शक्ति का संचय किया। १११० ई० के लगभग वह होयसलों की गद्दी पर बैठा और उसने अपनी राजधानी वेलापुर (बेलूर) से हटाकर द्वारसमुद्र कर दी। विक्रमादित्य षष्ठ के समय में उसने अपने को चालुक्य-आधिपत्य से सर्वथा स्वतन्त्र भी कर लिया। उसने चोडों और पाण्ड्यों को परास्त किया। मालाबार, दक्षिण कनाड़ा और गोआ के कदम्बों तक पर धावा मारा। इस प्रकार उसने सारे मैसूर और आसपास की भूमि पर अपना अधिकार कर लिया। आरम्भ में तो उसने जैन-मत को प्रश्रय दिया, परन्तु श्रीरामानुज के उपदेशों को सुनकर वैष्णव सिद्धान्तों की ओर झुका। विष्णुवर्द्धन् ने लगभग ११४० ई० तक राज किया।

वीर बल्लाल प्रथम विष्णुवर्द्धन का पौत्र था। इस राजकुल में पहले-पहल उसने ही 'महाराजाधिराज' का विरुद धारण किया। उसने सोमेश्वर चतुर्थ चालुक्य तथा भिल्लम पंचम यादव को परास्त किया। वीर बल्लाल द्वितीय अथवा नरसिंह द्वितीय इस बल्लाल का पुत्र था जिसके समय में सिंघण यादव ने उसके कुछ प्रान्तों पर सफल छापे मारे। बाद के होयसलों का वृत्तान्त अन्धकार में है। इस कुल का अन्तिम राजा वीर बल्लाल तृतीय था। उसके शासन-काल में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति ने सारे दक्षिण को रौंद डाला। लगभग १३१० ई० में उसने द्वारसमुद्र को भी लूटा और वीर बल्लाल को बन्दी कर दिल्ली भेज दिया। वहाँ से लौटकर उसने मुसलमानों के विरुद्ध एक शक्ति-संघ स्थापित करने का प्रयत्न किया, पर वह सफल न हो सका। होयसलों का वीर बल्लाल के साथ ही चौदहवीं सदी के मध्य में अन्त हो गया। होयसल-नृपति निर्माता थे और दक्षिण में उनके बनवाये अनेक विशाल मन्दिर वास्तु-कला में उनकी अभिरुचि के आज भी साक्षी हैं।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. स्मिथ : Early History of India.
२. त्रिपाठी : History of Ancient India.
३. भण्डारकर : Early History of Deccan.
४. Bombay Gazetteer, खण्ड १, भाग २।
५. ब्रिग्स् : फिरिश्ता, भाग १।
६. इलियट : History of India. ३.
७. अलतेकर : The Sitaharas of Western India, Indian Culture, भाग २, नं० ३, पृष्ठ ४९३-४३४.
८. मोरेज : The Kadamba-Kula।
९. कृष्णराव : The Gangas of Talkad.

खण्ड ७

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

सुदूर दक्षिण के राज्य

पल्लव-राजकुल

दक्षिण के राजकुलों में पल्लव, चोड, पाण्ड्य और केरल मुख्य थे। इनकी स्थिति सुदूर दक्षिण में कृष्णा नदी से दक्षिण समुद्र-तट तक थी। इनके राज्यों की प्रजा मिश्रित थी, द्रविड़-प्रधान। कब इन द्रविड़ जातियों ने आर्य-संस्कृति को अपनाया, यह कहना कठिन है, जब हम यह देखते हैं कि स्वयं द्रविड़ भी संभवतः दक्षिण के मूल निवासी हैं। उत्तर-पाषाण-काल के अन्त में कभी द्रविड़ों ने संभवतः उत्तर से आकर दक्षिण में अपनी सभ्यता फैलायी। स्वयं वे कैसे और कब आर्यों के संपर्क में आये और उनकी संस्कृति को अपना लिया, यह निर्णय करना भी आसान नहीं है। वेदों में इन पल्लव, चोड, पाण्ड्य, केरल आदि राज्यों का उल्लेख नहीं मिलता। अनुवृत्त के अनुसार अगस्त्य ऋषि ने विन्ध्य-पर्वत और तद्वर्ती महाकान्तार को लाँघकर दक्षिण में आर्य-संस्कृति, भाषा तथा धर्म का प्रसार किया। अगस्त्य की तिथि निर्धारित करनी तो असंभव है; परन्तु पौराणिक ख्यातों से इतना निस्सन्देह विदित होता है कि अति प्राचीन काल में विदर्भादि में भी क्षत्रिय-राजकुल स्थापित हो चुके थे। चोड, केरल, पाण्ड्य आदि के प्रति संकेत न तो वैदिक साहित्य में, न पाणिनी की 'अष्टाध्यायी' में मिलता है। 'अष्टाध्यायी' के व्याख्याता कात्यायन (चतुर्थ शती ई० पू०) ने अवश्य उनका उल्लेख किया। अशोक के शिलालेखों

में उनका हवाला मिलता है। कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' से और मेगास्थनीज की इंडिका' से भी दक्षिणी राज्यों की शक्ति का कुछ परिचय मिलता है। रामायण और पतञ्जलि के महाभाष्य में पाण्ड्यों, केरलों और काञ्ची का उल्लेख है। इसी प्रकार 'पेरिप्लस', (प्रथम शती ईसवी) और तालेमी के 'भूगोल' (द्वितीय शती ईसवी) से पाश्चात्य देशों से दक्षिण के राज्यों के व्यापार संबंध का पता चलता है। बाइबिल, प्लिनी के इतिहास आदि से विदित होता है कि दक्षिण भारत से गरम मसाले, मोती, रत्न, मलमल जहाजों में भर भरकर अरब, मिस्र, रोम आदि देशों को जाते थे और उनके बदले रोमन दीनारों की भारत में वर्षा होती थी। इन दक्षिणी भारतीय देशों का व्यापार चीन, मलय आदि देशों के साथ भी अटूट था।

दाक्षिणात्य राजकुलों की प्राचीनता

पल्लवों के मूल के संबंध में विद्वान् अत्यन्त असम्मत हैं। कुछ के विचार में पल्लव उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत के प्राचीन पह्लवों (पार्थवों) की शाखा हैं। परन्तु यह विचार अब प्रायः विद्वान् छोड़ते जा रहे हैं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि पल्लव चोड-नागों की एक सम्मिलित प्रसूति हैं।[1] डा० कृष्णस्वामी आयंगर के मत से[2] उन्हें संगम-साहित्य में तोण्डैयर कहा गया है। वे संभवतः नाग-सामन्तों से उत्पन्न आंध्र सातवाहनों के माण्डलिक-नृपति थे। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने उनको वाकाटकों की शाखा और युद्धजीवी ब्राह्मण माना है।[3] पल्लवों का अपने को द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा का सन्तान मानना, अपने अभिलेख प्राकृत में लिखवाना और संस्कृत-साहित्य को प्रश्रय देना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे डा० जायसवाल के मत को पुष्टि मिलती है। परन्तु तालगुण्ड के अभिलेख में कदम्ब मयूरशर्मन् का उन्हें क्षत्रिय कहना[4] इस कुल के अत्यन्त उलझे सूतों में एक और गुत्थी डाल देता है। इस कारण स्पष्टतया यह नहीं कहा जा सकता कि पल्लव ब्राह्मण थे अथवा क्षत्रिय। कुछ आश्चर्य नहीं कि अनेक भारतीय राजकुलों की भाँति वे भी प्रारंभ में ब्राह्मण थे, परन्तु युद्धजीवी होने के कारण बाद में वे क्षत्रिय मान लिये गये। उनके विदेशी होने की कल्पना निराधार है।

पल्लवों का मूल

पल्लवों के प्राचीनतम लेख ताम्रपत्रों पर प्राकृत में खुदे हैं, जो संभवतः तीसरी-चौथी सदी ईसवी के हैं।[5] उनसे जान पड़ता है कि इस कुल का मुख्य प्रतिष्ठाता संभवतः बप्पदेव था। उसने आंध्रपथ के तेलगू और तोण्डमण्डलं के तामिल प्रदेशों पर क्रमशः धान्यकट (अमरावती के समीप धरणीकोट्टा) तथा काञ्ची (कांजीवरम्) नामक राजधानियों से शासन किया। उसके पुत्र शिवस्कन्दवर्मन् ने पिता के राज्य की सीमाएँ विस्तृत कीं और अश्वमेध, वाजपेय और अग्निष्टोम यज्ञों का अनुष्ठान

आरंभ

---

१ Ind. Ant., ५२, अप्रैल १९२३, पृ० ७७-८२।

२ J. Ind His., २, १, पृ० २२-३६।

३ JBORS., मार्च-जून १९३३, पृ० १८०-८३।

४ Ep. Ind., ८, पृ० ३२, ३४, श्लोक ११, पं० ४।

५ गोपालन् : History of the Pallavas of Kanci, पृ० ३२।

किया। उसने अपना स्वत्व संभवतः दक्षिणी दक्कन पर भी स्थापित कर लिया था। इस कुल के प्रारंभिक राजाओं में विष्णुगोप ने समुद्रगुप्त को आत्मसमर्पण किया था जिससे उसका चौथी शती ईसवी के मध्य में जीवित रहना प्रमाणित है। इससे जान पड़ता है कि पल्लवों का आरंभ तृतीय शती ईसवी के मध्य काल में कभी हुआ। एक प्रकार के संस्कृत में लिखे अनेक ताम्रपत्रों से दस-बारह पल्लव-राजाओं के नाम उपलब्ध हैं; परन्तु चूँकि उनमें केवल उनके शासन-काल की वार्षिक तिथियाँ दी हुई हैं, राजाओं का पारस्परिक क्रम निर्धारित करना कठिन है। इन राजाओं ने संभवतः चतुर्थ शती के मध्य से छठी शती ईसवी के अन्त तक राज किया था। ये ताम्रपत्र राजधानी के बाहर से घोषित हुए थे। इससे कुछ विद्वानों ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि पल्लवों को कुछ काल के लिए चोड-आक्रमणों के कारण काञ्ची छोड़ देनी पड़ी थी; परन्तु वास्तव में इस मत के लिये कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है।

छठी शती ईसवी के अन्तिम चरण में पल्लवों का उत्कर्ष विशेष प्रकार से होता है। इस काल सिंहविष्णु ने एक नये पल्लव-राजकुल की नींव डाली और उसने कावेरी तक के चोड-प्रान्तों पर अधिकार कर लिया। उसने पाण्ड्यों और अनेक अन्य जातियों को परास्त किया। सातवीं सदी के आरम्भ में उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् प्रथम काञ्ची की गद्दी पर बैठा। शीघ्र पल्लवों और चालुक्यों में संघर्ष आरम्भ हो गया।

महेन्द्रवर्मन् प्रथम

ऐहोल-अभिलेख के अनुसार पुलकेशिन् द्वितीय ने पल्लवों को परास्त किया।[१] इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुलकेशिन् ने अपने पल्लव-शत्रु से वेंगी नामक उसका प्रान्त छीनकर अपने भाई को दे दिया जिससे पूर्वी चालुक्यों के कुल का आरम्भ हुआ। परन्तु कसक्कुडी-तामपत्रों[२] में महेन्द्रवर्मन् द्वारा चालुक्य-नृपति के हराये जाने का उल्लेख है। सम्भव है, उसने किसी छोटे-मोटे युद्ध में उसे हराया हो। महेन्द्रवर्मन् पहले जैन था, फिर अप्पर के उपदेशों से प्रभावित होकर कट्टर शैव हो गया। और शैव-सम्प्रदाय का प्रचार इसके बाद भले प्रकार हुआ। उत्तर अरकाट जिले में उसने दरीगृह में एक विष्णु-मन्दिर भी बनवाया।[३] उसीने दरीगृहों के निर्माण का दक्षिण में आरम्भ किया और ब्रह्मा, शिव और विष्णु के मन्दिर खुदवाकर बनवाये।[४] इसी कारण उसका एक विरुद 'चैत्यकारि' भी था। चिंगलपुट और दक्षिण अरकाट जिलों में इस प्रकार के अनेक मन्दिर विद्यमान हैं। चित्रण, नर्तन और गायन-कला में भी उसकी अभिरुचि थी। पुदुकोट्टा राज्य में कुडुमियमलै का गायन-सम्बन्धी लंबा शिलालेख संभवतः उसी का खुदवाया हुआ है। उसने 'मत्तविलास-प्रहसन' नामक एक नाटक भी लिखा था जिसमें साम्प्रदायिक साधुओं का वर्णन है।

महेन्द्रवर्मन् के पश्चात् उसका पराक्रमी पुत्र नरसिंहवर्मन् प्रथम गद्दी पर बैठा।

---

१. Ep. Ind., ६, पृष्ठ ६, श्लोक २९।
२. S. I. I., २, ३, पृष्ठ ३४२।
३. Ep. Ind., ४, पृ० १५२-५३।
४. वही, १७, पृष्ठ १४-१७।

पुलकेशिन् द्वितीय ने कांची तक धावा किया था। नरसिंह ने उसे मार भगाया।[1] अपने सेनापति सिरु तोण्ड (परंजोति) की अध्यक्षता में एक सेना भेज उसने ६४२ ई० में वातापी पर आक्रमण कराया। इस युद्ध में संभवतः पुलकेशिन् को अपने प्राणों से भी हाथ धोने पड़े। तेरह वर्षों तक वातापी का चालुक्य-राजकुल लुप्त रहा और वहाँ अधिकार कर नरसिंहवर्मन् ने अपना नया विरुद 'वातापिकोण्ड' धारण किया। सिंहल में गृह-युद्ध छिड़ा था और उसके एक हकदार मानवम्म ने नरसिंह की राजधानी में शरण ली थी। नरसिंह ने उसकी सहायता में दो दो बार सिंहल को नौसेना भेजी। उसके दूसरे आक्रमण की स्मृति सिंहलवासियों को चिरकाल तक बनी रही।

नरसिंहवर्मन् प्रथम

नरसिंहवर्मन् प्रथम महामल्ल ने भी पिता की ही भाँति अनेक दरीगृह-मन्दिर खुदवाये, जो पुदुकोट्टा और त्रिचिनापोली में खड़े हैं। उसने महामल्लपुरम् नामक नगर भी बसाया और उसे अनेक मन्दिरों से अलंकृत किया। धर्मराजरथ आज भी वहाँ उसकी कीर्ति का साक्षी है। उसके शासन-काल में ६४२ ई० के लगभग चीनी यात्री हुएन् त्सांग ने भी कांची का भ्रमण किया। उसका कहना है कि उस देश की भूमि उर्वरा है और वहाँ अन्न खूब होता है। रत्नों का वह आकर है। उसके निवासी साहसी हैं। ईमान्दारी और विद्या उनके व्यसन हैं। वहाँ लगभग १०० संघाराम और १०००० भिक्षु हैं। वे सब महायान की स्थविर शाखा के अनुयायी हैं। वहाँ लगभग ८० देव-मन्दिर और अनेक चैत्यादि हैं।[2] हुएन्-त्सांग के अनुसार प्रसिद्ध बौद्ध-भिक्षु धर्मपाल कांची का था।

नरसिंहवर्मन् प्रथम के बाद उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् द्वितीय राजा हुआ। उसके शासन काल में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। उसके पश्चात् परमेश्वरवर्मन् प्रथम गद्दी पर बैठा। उसके समय में पल्लवों और चालुक्यों की पुरानी शत्रुता फिर चल पड़ी। विक्रमादित्य प्रथम अपने अभिलेख में लिखता है कि उसने कांची पर अधिकार कर लिया और महामल्ल के कुल का नाश करता हुआ वह उरगपुर तक जा पहुँचा।[3] परमेश्वरवर्मन् अपने लेख में कहता है कि उसने पेरुवडनल्लुर के युद्ध में विक्रमादित्य प्रथम के पैर इस प्रकार उखाड़ दिये कि उसके शरीर पर एक चिथड़ा मात्र रह गया। इस दशा में यह कहना कठिन है कि वास्तविक विजेता कौन था! परमेश्वरवर्मन् शैव था और उसने अपने राज्य में अनेक शिव-मन्दिर बनवाये। उसने लगभग ६५५ ई० से सातवीं सदी के अन्त तक राज किया। फिर उसका पुत्र नरसिंहवर्मन् द्वितीय राजसिंह राजा हुआ। उसके शासन-काल में शान्ति और समृद्धि रही। उसने कैलाशनाथ का विख्यात मन्दिर बनवाया। कांची के ऐरावतेश्वर तथा महाबलिपुरं में समुद्रतट के मन्दिर उसी के बनवाये हुए हैं। दण्डिन् संभवतः उसी का

परमेश्वरवर्मन् प्रथम, नरसिंहवर्मन् द्वितीय

---

१. S. I. I., १, पृ० ५२।

२. बील : Buddhist Records of the Western World, २, पृ० २२८-२९।

३. Ep. Ind., १० पृ० १००-१०६।

समकालीन था। उसका उत्तराधिकारी परमेश्वरवर्मन् द्वितीय था। वह आठवीं शती की द्वितीय दशाब्दी में मरा। उसके मरते ही गद्दी के अनेक हकदारों में युद्ध होने लगा। अन्त में सिंहविष्णु के भाई के वंशज हिरण्यवर्मन् के पुत्र नन्दिवर्मन् को प्रजा ने अपना राजा मनोनीत किया। विक्रमादित्य द्वितीय चालुक्य ने अब आक्रमण कर कांची ले ली। परन्तु नन्दिवर्मन् ने उसे तुरत मार भगाया। फिर उसे तामिलों, पाण्ड्यों और गंगों से भी लड़ना पड़ा। परन्तु उसे राष्ट्रकूट-नृपति दन्तिदुर्ग से पराजित होना पड़ा। महाबलिपुरं के आदिवराह मन्दिर के अभिलेख से जान पड़ता है कि नन्दिवर्मन् ने कम-से-कम ६५ वर्षों तक राज किया। वह वैष्णव था और उसने अनेक मन्दिर बनवाये।

नन्दिवर्मन् ने सम्भवतः राष्ट्रकूट-राज दन्तिदुर्ग की कन्या रेवा से विवाह किया था। दन्तिदुर्ग उनका पुत्र था, जो अब गद्दी पर बैठा। संबंधी होने पर भी गोविन्द तृतीय राष्ट्रकूट ने कांची पर आक्रमण कर दन्तिदुर्ग को परास्त किया। दन्तिदुर्ग प्रायः ५० वर्ष राज करके संभवतः ८२८ ई० में मरा। इस कुल के अन्तिम राजाओं में अपराजितवर्मन् (ल० ८७६-९५ ई०) पराक्रमी हुआ। उसने पाण्ड्यराज वरगुण द्वितीय को हराया। अन्त में आदित्य प्रथम चोड ने अपराजितवर्मन् को हराकर तोण्डमण्डलं पर अधिकार कर लिया और पल्लवों के राज्य का अन्त हो गया।

पल्लवों ने लगभग सात सदियों तक इस भू-भाग पर राज किया था। इस बीच उन्होंने शासन, कला, साहित्य सबको प्रभावित किया। नीचे उनके शासन-विधानादि पर विचार किया जायगा।

पल्लवों के राजा धर्ममहाराज कहलाते थे। राजा शासन का केन्द्र था और अपने उस कार्य में वह मंत्रियों से सहायता लेता था। उसके मंत्री 'रहस्यादिकदा' कहलाते थे। उसका व्यक्तिगत मंत्री उसकी आज्ञाओं को कागज पर दर्ज करता था। साम्राज्य राष्ट्रों अथवा मण्डलों में विभक्त था, जिसके शासक राजकुलों अथवा प्रसिद्ध कुलों से नियुक्त किये जाते थे। कोट्टं और नाडु अन्य छोटे शासन-प्रान्त थे। ग्राम-शासन का निम्नतम आधार था। ग्राम-सभा अपनी अनेक समितियाँ बनाकर उद्यानों, मन्दिरों, सरोवरों आदि का प्रबन्ध करती थी। सभा न्याय का कार्य भी देखती थी और सार्वजनिक दानों का प्रबन्ध करती थी। सिंचाई, भू-माप आदि के कार्य भी सुचारु रूप से किये जाते थे। लगान की वसूली के लिए परती और जुती जमीन का पूरा ब्योरा रखा जाता था और खेतों की सीमाएँ भले प्रकार खिंची होती थीं। राजा अट्ठारह प्रकार के कर वसूलने का अधिकारी था। घास, लकड़ी, साग, फूल, दूध, चीनी आदि पर कर लगाया जाता था। इसी प्रकार कोल्हू, करघे, बरतन, ऊन, ताड़ी, नमक, गाय, साँड़, दलाली, अन्न आदि पर भी राजा अपना भाग पाता था। शासन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए कर्मचारियों की क्रमिक परंपरा थी। राजकुमार, जिलाधीश (रट्टिक), मदम्ब (जकात के अफसर), देशाधिकारी, विविध गाँवों के भोक्ता, अमात्य, गूमिक (वनों के अधिकारी), दूत, सैनिक आदि अनेक पदाधिकारियों का पल्लव-अभिलेखों में उल्लेख हुआ है। यह शासन-विधान प्रायः चोड-पद्धति के अनुसार था।

पल्लवों की शासन-व्यवस्था

पल्लव-कुल के कुछ राजा जैन थे और उन्होंने जैन मत को काफी बढ़ाया। परन्तु उनमें से अधिकतर ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे, विशेषकर शैव, और उन्होंने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया। पल्लवों की वास्तु-कला बड़ी उन्नत और असाधारण थी। पर्वत-श्रेणी में काटकर मन्दिर बनवाने की प्रथा का अधिकतर उन्होंने ही प्रचार किया। उनके मन्दिर-निर्माण की अनेक शैलियाँ हैं। दक्षिण अरकाट, पल्लवरं, चिंगलपुट आदि के—महेन्द्रवर्मन प्रथम के—मन्दिरों की शैली दरीगृहों की है। उनके लिंगं, द्वारपाल, प्रभातोरण, स्तंभादि सभी एक विशिष्ट शैली के हैं। नरसिंहवर्मन प्रथम के पुदुकोट्टा, त्रिचिनापली आदि के शिलामन्दिर भी अधिकतर उसी प्रकार के हैं; परन्तु उनके मस्तक अधिक अलंकृत और स्तंभ अधिक सुन्दर हैं। इस राजा ने कुछ 'रथ' भी बनवाये, जो एक ही चट्टान से कटे हुए थे। इनके अतिरिक्त ईंट-पत्थर के ऊँची बुर्जियोंवाले मन्दिर भी बने जिनमें कांची का कैलाशनाथ और सात पगोडा प्रसिद्ध हैं। पल्लव-मन्दिरों की एक विशेष बात यह है कि उनमें से अनेक पल्लव-राजाओं और रानियों की पुरुषाकार मूर्तियों से विभूषित हैं।

पल्लव-वास्तु-कला

पल्लवों ने संस्कृत और प्राकृत को बढ़ाया। उनके अभिलेख अधिकतर संस्कृत में हैं। कांची बहुत प्राचीन काल से ही विद्या का केन्द्र थी। दिङ्नाग वहाँ अपने दार्शनिक व्याख्यानों के लिए चतुर्थ शती के मध्य में गया था। कदम्ब-कुल का प्रतिष्ठाता मयूरशर्मन् ने भी वहीं अपनी वैदिक शिक्षा पूरी की थी। सिंहविष्णु ने भारवि को अपने दरबार में निमंत्रित किया था और दण्डी कांची दरबार का ही आश्रित था। महेन्द्रवर्मन् प्रथम स्वयं पण्डित था और उसने 'मत्तविलास-प्रहसन' की रचना की थी। कुछ विद्वानों का मत है कि भास और शूद्रक के नाटक पल्लव-दरबार में प्रदर्शित होने के अर्थ संक्षिप्त किये गये थे।

साहित्य

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१. गोपालन् : History of the Pallavas of Kanci.

२. डुब्रोभा : Ancient History of the Deccan.

३. डुब्रोभा : The Pallavas.

४. हेरास : The Pallava kings.

५. मीनाक्षी : Administration and Social life under the Pallavas.

उनतीसवाँ परिच्छेद

चोड-साम्राज्य

पेन्नार और वेल्लार नदियों के बीच का देश चोड-मण्डलं कहलाता था। उसमें तंजोर और त्रिचिनापली के आधुनिक जिले और पुदुकोट्टा रियासत के कुछ भाग भी शामिल थे। चोडों का राज्य इस आधार से घटता-बढ़ता रहा था। उनकी अनेक राजधानियाँ रहीं जिनमें तीन उरगपुर (त्रिचिनापली के समीप उरैयुर), तंजोर और गंगैकोण्ड-चोडपुरं (पुहार) थीं। ऊपर बताया जा चुका है कि चोड-राज्य बहुत पुराना है और चोडों के अनेक उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। कात्यायन के वार्तिक, महाभारत, अशोक के शिलालेख, महावंश, परिप्लस तालेमी के भूगोल, संगम-साहित्य आदि सर्वत्र चोडों के प्रति उल्लेख अथवा संकेत हुए हैं। संभवतः करिकाल चोडों के उन प्रारंभिक राजाओं में से मुख्य था, जिन्होंने चोड-राज्य का विस्तार किया था। करिकाल ने पाण्ड्य, चेर और अनेक अन्य राजाओं को परास्त किया था। अपने वीर कृत्यों के कारण करिकाल असंख्य किंवदन्तियों का नायक हो गया है। तीसरी-चौथी शताब्दियों में पल्लवों के उत्कर्ष तथा केरलों और पाण्ड्यों के अपहरणों के कारण चोड हतश्री हो गये थे। हुएन्-त्सांग ने सातवीं सदी के मध्य के चोडमण्डल के संबंध में लिखा है "देश जंगलों और दलदलों से भरा है, आबादी कम है, सैनिक और दस्यु देश को खुले-आम लूटते हैं। जलवायु उष्ण है, निवासियों के व्यवहार अशिष्ट और क्रूर हैं। संघाराम खंडहर और उनके भिक्षु दरिद्र हैं। देवों के अनेक मन्दिर हैं।"[1] हुएन्-त्सांग ने चोडराज के निर्बल होने के कारण ही संभवतः उसका नामतः उल्लेख नहीं किया है। पल्लवों की शक्ति के नवीं सदी के मध्य में विलीन हो जाने के बाद चोड-शक्ति का उत्कर्ष प्रारंभ हुआ और निरन्तर होता गया।

विस्तार और प्राचीनता

चोड-सम्राटों का आरंभ विजयालय ने किया। पहले संभवतः वह पल्लवों का सामन्त-नृपति था, परन्तु शीघ्र वह स्वतंत्र हो गया। पाण्ड्यों के मित्र-राष्ट्र से उसने तंजोर छीन लिया। ८५० ई० के पूर्व ही वह गद्दी पर बैठा था और लगभग २५ वर्षों तक उसने राज किया। उसके बाद उसका पुत्र आदित्य ८७५ ई० के लगभग राजा हुआ। उसने पल्लवराज अपराजितवर्मन को परास्त कर ८९० ई० के समीप तोण्डमण्डलं को अपने अधिकार में कर लिया। कोंगुदेश छीनकर उसने पश्चिमी गंगों से उनका तलकाड भी जीत लिया। आदित्य शैव था और उसने अनेक शिव-मन्दिर बनवाये। उसके मरने तक उत्तर में कलहस्ती और मद्रास तथा दक्षिण में कावेरी तक का सारा देश चोडों के शासन में आ चुका था।

आदित्य प्रथम

आदित्य के पुत्र परान्तक ने उस राज्य को और बढ़ाया। उसने पांड्यराज राजसिंह का देश जीत उसे सिंहल भगा दिया। फिर वह सिंहल की ओर भी मुड़ा, परन्तु उसका प्रयास

---

1 बील, २ पृ० २२७।

उधर सफल न हो सका। बाण-राजाओं को हराकर वह पल्लवों पर फिर टूटा और उनके रहे-सहे चिह्न भी मिटाकर उसने अपनी सीमा नेल्लोर तक पहुँचा दी। परन्तु साम्राज्य की सीमाएँ जब उत्तर की ओर बढ़ीं तब वे राष्ट्रकूटों के साम्राज्य से टकरा गयीं और दोनों में संघर्ष आवश्यक हो गया। गंगराज बूटुग द्वितीय की सहायता से कृष्ण तृतीय ने परान्तक पर विजय प्राप्त की और कांची तथा तंजोर पर अधिकार कर तंजयकोण्ड' का विरुद धारण किया। तक्कोलं के युद्ध में परान्तक का पुत्र राजादित्य ९४९ ई०[1] में धराशायी हुआ और कृष्ण तृतीय रामेश्वरं तक बढ़ता चला गया। चोडों का निस्सन्देह इनसे बड़ा अपकर्ष हुआ। परान्तक शैव था और चिदम्बर के शिव-मन्दिर को उसने सुवर्ण से ढक[2] दिया। उसने ९०७ ई० से ९५३ ई० तक राज किया।

परान्तक प्रथम

परान्तक के पश्चात् पाँच राजाओं ने शासन किया, परन्तु वे शक्तिहीन थे। उनके समय में चोडों की शक्ति का ह्रास हुआ। सुन्दर चोड के बाद उसका पुत्र राजराज प्रथम लगभग ९८५ ई० में गद्दी पर बैठा। उसके शासन-काल से चोडों का सूर्य आकाश की मूर्द्धा की ओर चढ़ चला। जब वह चोड-गद्दी पर बैठा, उस राजकुल की शक्ति क्षीण हो गयी थी; परन्तु उसने अपनी शासन-योग्यता, पराक्रम और विजयों से दक्षिण में उस राजकुल की अनन्य शक्ति प्रतिष्ठित कर दी। पहले वह केरलों की ओर बढ़ा और उसने कन्दलुर में उनकी नौ सेना नष्ट कर दी। फिर उसने मदुरा पर अधिकार कर पाण्ड्यराज अमरभुजंग को बन्दी कर लिया। कोल्लं, उदगै और कुर्ग पर भी उसने अधिकार कर लिया। सिंहल की दशा कुछ समय से अस्त-व्यस्त थी। राजराज अवसर चूकनेवाला व्यक्ति न था। उसने झट सिंहल पर आक्रमण कर उसके उत्तरी भाग अपने शासन में मिला लिया। इसी समय बढ़कर उसने सारे मैसूर को भी जीत लिया। राजराज का उत्कर्ष न देख सकना चालुक्यों के लिए स्वाभाविक ही था और इस कारण शीघ्र दोनों राजकुलों में कशमकश शुरू हो गयी। तैलप के पुत्र सत्याश्रय को राजराज ने बुरी तरह हराया और चालुक्य-राज्य को रौंद डाला। परन्तु सत्याश्रय ने भी शीघ्र अपने प्रांत लौटा लिये। अब राजराज पूर्वी चालुक्यों की ओर मुड़ा। शक्तिवर्मन् ने उससे लोहा लेना चाहा, परन्तु उसके अनुज और उत्तराधिकारी विमलादित्य (१०११-१८ ई०) ने राजराज की अधीनता स्वीकार कर ली। इसपर प्रसन्न होकर राजराज ने उसे अपनी कन्या ब्याह दी। राजराज ने फिर कलिंग और लक्कदीव और मालदीव भी जीते। अब चोड-साम्राज्य पूरे मद्रास प्रेसिडेन्सी, कुर्ग, मैसूर, सिंहल के उत्तरी भाग और अन्य द्वीपों पर फैल गया। इन द्वीपों की विजयों से उसकी नौसेना की शक्ति भी प्रगट होती है। अपनी विजयों से राजराज निस्सन्देह भारत के अग्रगण्य साम्राज्य-निर्माताओं में गिना जाता है।

राजराज प्रथम

राजराज शैव था, परन्तु अन्य संप्रदायों के प्रति वह कभी असहिष्णु न हुआ। इतना ही नहीं, बल्कि उसने विष्णु के मन्दिर भी बनवाये और बौद्ध-विहारों को भी दान दिये।

---

[1] Ep. Ind. ४, पृ० ५०-५७। [2] The Colas, पृ० १६१।

तंजोर में बनवाया उसका राजराजेश्वर-शिव-मन्दिर दर्शनीय है। उसकी विशालता, दृढ़ता और सादगी अद्भुत है। उसकी दीवारों पर राजराज की विजयों की प्रशस्ति उत्कीर्ण है जिसके अभाव में उसकी शक्ति का परिचय पाना असम्भव था। उसकी मृत्यु के बाद उसका सुयोग्य पुत्र राजेन्द्र प्रथम गंगैकोण्ड लगभग १०१४ ई० में राजा हुआ।

राजेन्द्र प्रथम

राजराज के अन्त्य काल में ही उसके साम्राज्य का सारा भार राजेन्द्र ने सम्हाल लिया था। वास्तव में राजेन्द्र के शासन-वर्ष १०१२ ई० से ही गिने जाते हैं। उसने अपनी योग्यता और विजयों से चोड-साम्राज्य को उन्नति के शिखर पर चढ़ा दिया। रायचुर, बनवासी, मान्यखेट आदि पर उसने अपने पिता के समय ही सफल आक्रमण किये थे। १०१७ ई० के लगभग उसने सारे सिंहल पर अधिकार कर लिया। अगले वर्ष उसने केरल और पाण्ड्य-राज्यों पर फिर अपना प्रभुत्व स्थापित किया और अपने पुत्र जटावर्मन् सुन्दर को 'चोड-पाण्ड्य' की उपाधि प्रदान कर वहाँ का शासक नियत किया। पिता की ही भाँति उसने भी अनेक द्वीपों पर अपना अधिकार सुरक्षित रखा। पश्चिमी चालुक्य-राज जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल से उसका संघर्ष चला। दोनों अपनी-अपनी प्रशस्तियों में अपने को विजेता कहते हैं, इसलिए युद्ध का अन्तिम परिणाम बताना कठिन है। यह भी संभव है कि दोनों में कई युद्ध हुए हों, कभी किसी की जीत हुई हो और कभी किसी की, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि जयसिंह तुंगभद्रा तक के प्रांतों का स्वामी बना रहा। इसके बाद राजेन्द्र चोड उत्तर की ओर बढ़ा। उसकी सेना गंगा तक[1] बढ़ती चली गयी और गौडों के राजा महीपाल से जा टकरायी। तिरुमलै के अभिलेख से[2] विदित होता है कि अपनी इस उत्तराभिमुख यात्रा में राजेन्द्र ने अनेक देश जीते। इनके नाम निम्नलिखित हैं—उड़ीसा, दक्षिण-कोशल, दण्डभुक्ति (बालासोर और मिदनापुर का एकांश), दक्षिण राढ, पूर्व बंगाल, गौड़, उत्तर राढ आदि। यह विजय-यात्रा १०२१ ई० और १०२५ ई० के बीच कभी हुई थी।[3] इसके बाद उसने 'गंगैकोण्ड' विरुद धारण किया। इस विजय का प्रभाव चिरकालिक न हो सका। राजेन्द्र के पास एक शक्तिमान नौसेना भी थी। उसका उसने बंगाल की खाड़ी और अन्य समुद्रों के द्वीपों को जीतने में प्रयोग किया। इससे मलाया और भारत में व्यापार की अटूट शृंखला बँध गयी। अब राजेन्द्र ने अपनी तलवार म्यान में की। फिर भी अन्त्य जीवन में वह शान्तिपूर्वक न रह सका। पाण्ड्य और केरल प्रान्तों ने विद्रोह कर दिया। उसके पुत्र राजाधिराज ने उनको कुचल दिया। राजाधिराज ने पश्चिमी चालुक्यराज सोमेश्वर प्रथम को भी हराया।

राजेन्द्र चोल ने गंगाकुण्डपुरं में अपनी राजधानी बसायी और मन्दिरों आदि से अलंकृत किया। उसके पास ही उसने एक बड़ा सरोवर खुदवाया, जो नदियों के जल से भर दिया जाता था।

१०४४ ई० में राजाधिराज प्रथम पिता की गद्दी पर बैठा। युवराज की अवस्था

---

1 J B O R S. १४, (१९२८), पृ० ५१२-२० ।

2 EP. Ind. ९, पृ० २२९-३६ ।

3 S. I. I. ३, १, १८९९, पृ० २७-२९; Dy. His. Nor. Ind. १, पृ० ३१८ ।

में ही उसने राज-कार्य सम्हाले थे और पिता की लड़ाइयाँ लड़ी थीं। पिता के मरते ही शत्रुओं ने सिर उठाया ; परन्तु उसने पाण्ड्य-केरल-सिंहल के राजाओं के सम्मिलित संघ को कुचल दिया। इसके बाद उसने एक अश्वमेध भी किया। चालुक्य-राज सोमेश्वर प्रथम के साथ कुछ काल तक उसका युद्ध चला। पहले तो वह सफल हुआ, परन्तु अन्त में कोप्पं के युद्ध में १०५२ ई० में वह मारा गया। उसके बाद उसका अनुज राजेन्द्र द्वितीय राजा हुआ। युद्ध चलता ही रहा, यद्यपि दोनों एक दूसरे पर अपनी विजय की प्रशस्ति खुदवाते रहे। राजेन्द्र द्वितीय के समय तक चोड-साम्राज्य निस्सन्देह अविजित बना रहा। १०६३ ई० में राजेन्द्र द्वितीय का अनुज वीर राजेन्द्र राजा हुआ और उसने सोमेश्वर प्रथम को कृष्णा और तुंगभद्रा के संगम पर बुरी तरह परास्त किया।[1] अब वह वेंगी के चालुक्यों की ओर मुड़ा। सोमेश्वर प्रथम के पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ ने उसके मित्र विजयादित्य को कठिनाई में डाल रखा था। बेजवाड़ा के समीप विक्रमादित्य को परास्त कर वीर राजेन्द्र ने कलिंग को रौंद डाला और वेंगी पर उसने फिर विजयादित्य सप्तम् को प्रतिष्ठित किया। फिर विद्रोही केरलों, पाण्ड्यों और सिंहलकों को उसने अपनी सीमा में रहने और अपनी अधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया। इसी समय विक्रमादित्य अपने भाई सोमेश्वर द्वितीय से झगड़कर तुंगभद्रा की ओर चला। वीर राजेन्द्र ने उससे अपनी कन्या का विवाह कर दिया और राज्य की उपलब्धि में उसकी सहायता की। १०७० ई० में वीर राजेन्द्र मरा और उसका पुत्र अधिराजेन्द्र चोड सिंहासन पर बैठा। अधिराजेन्द्र अपने साम्राज्य में होनेवाले उपद्रवों को सम्हाल न सका और जिस वर्ष वह सिंहासनासीन हुआ, उसी वर्ष मार डाला गया।

राजाधिराज

राजेन्द्र द्वितीय

वीर राजेन्द्र

अधिराजेन्द्र के पश्चात् चोड-सिंहासन राजेन्द्र द्वितीय चालुक्य को मिला। वेंगी के पूर्वी चालुक्य के विमलादित्य ने राजराज प्रथम चोड की कन्या कुन्दवा को ब्याहा था। इस विवाह से राजराज विष्णुवर्द्धन उत्पन्न हुआ जिसने अपने मामा राजेन्द्र प्रथम चोड की कन्या अम्मंगदेवी से विवाह किया। इससे राजेन्द्र द्वितीय चालुक्य का जन्म हुआ। इसका नाम कुलोत्तुंग (प्रथम) था और इसने स्वयं अपने मातृकुल में राजेन्द्रदेव द्वितीय की कन्या मधुरान्तकी से विवाह किया। अधिराजेन्द्र के कोई पुत्र न होने से राजेन्द्र चालुक्य ने चोड-सिंहासन पर अधिकार कर लिया। अपने चाचा विजयादित्य सप्तम् के विरुद्ध वेंगी में विजयी होकर उसने पूर्वी चालुक्य राज्य पर अधिकार कर ही लिया था। अब वह कुलोत्तुंग प्रथम के नाम से चोड-गद्दी पर भी १०७० ई० में बैठा। अब तंजोर का चोड-साम्राज्य और वेंगी का चालुक्य-राज्य मिलकर एक हो गये। पश्चिमी चालुक्य-घराने के विक्रमादित्य ने इसमें कुछ रुकावट डालनी चाही ; परन्तु वह कुछ कर न सका और कुलोत्तुङ्ग का चोड-सिंहासन पर पूरा अधिकार हो गया। कुलोत्तुङ्ग ने अपने पुत्र को वेंगी का शासक बनाया, परन्तु एक वर्ष शासन कर उसने अपना कार्य-भार छोड़ दिया। उसके बाद

कुलोत्तुङ्ग प्रथम

---

१ S. I. I. ३, पृ० १९३।

उसके भाई वीर चोड और राजराज चोड क्रमशः वेंगी के शासक हुए। कुलोत्तुंग ने केरलों और पाण्ड्यों को दबाया, परमारों को हराया और दो बार कलिंग जीता। कुलोत्तुंग का अधिकार द्वीपों से उठ गया और दक्षिण मैसूर (गंगवाडी) पर भी होयसलों ने अधिकार कर लिया। कुलोत्तुङ्ग ने अपने राज्य की सारी भूमि लगान के लिए मपवा डाली।

कुलोत्तुंग शैव था, परन्तु बौद्धों के प्रति सहिष्णु था। उनके विहार को उसने दान भी दिया। परन्तु वैष्णवाचार्य श्री रामानुज के प्रति उसका व्यवहार इतना असद् हुआ कि आचार्य को श्रीरंग छोड़कर होयसल-नरेश बिट्टिग विष्णुवर्द्धन का आश्रय लेना पड़ा। कुलोत्तुंग के शासन-काल में जयगोन्दन ने 'कलिंगत्तुप्परति' और अदियकुंनल्लर ने 'शिल्पधिकारम्' पर एक टीका लिखी।

प्रायः पचास वर्ष राज करके कुलोत्तुङ्ग प्रथम ११२२ ई० में मरा। उसके उत्तराधिकारी दुर्बल हुए जिससे पड़ोसी सबल हो उठे और चोड-शक्ति क्षीण हो चली। सिंहल, केरल और पाण्ड्य स्वतंत्र हो गये और होयसलों का उत्कर्ष आरंभ हुआ। धीरे-धीरे पासा पलट चुका था और राजराज तृतीय के समय में मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम ने तन्जोर लूटा। राजराज तृतीय दो-दो बार बन्दी कर लिया गया। राजराज तृतीय और राजेन्द्र तृतीय में इसी काल गृहकलह भी प्रारंभ हो गया जिससे पड़ोसियों को चोड-प्रान्त छीनने का मौका मिला। राजेन्द्र तृतीय के राज-काल में जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य ने कांची को लूटा और उसपर अधिकार कर लिया। होयसलों और काकतीयों ने भी अनेक चोड-प्रान्त दबा लिये और १२६७ ई० तक चोड नगण्य हो चुके थे।

चोड-शासन-प्रणाली

चोडों की शासन-प्रणाली भारतीय शासन-पद्धति में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। चोडों ने अपना विशाल साम्राज्य स्थापित किया था और उसके शासन के अर्थ भी उन्होंने विधिवत् प्रयास किये। साम्राज्य के विशिष्ट शासन के अतिरिक्त उनका ग्राम-शासन अधिक सम्मान्य था, जो प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति में असामान्य था। पल्लवों की शासन-प्रणाली प्रायः चोडों की पद्धति पर ही अवलंबित थी। नीचे चोड-शासन-प्रणाली का एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

साम्राज्य-शासन

राजा साम्राज्य-शासन का केन्द्र था। शासन-कार्य में वह सदा मन्त्रियों और अन्य उच्चाधिकारियों से सहायता लेता था। राजा का एक स्वकीय मंत्री (व्यक्तिगत-प्राइवेट सेक्रेटरी) भी था। वह राजा के आज्ञापत्र प्रस्तुत किया करता था और उसके आदेश पत्रारूढ़ कर लिया करता था। कहते हैं कि राजराज प्रथम और राजेन्द्र प्रथम के समय में उनकी आज्ञाएं अधिकारी-विभागों में अथवा अन्यत्र भेज नहीं सकते थे जब तक कि राजा का स्वकीय मंत्री उन्हें देख न ले। साम्राज्य अनेक प्रान्तों में विभक्त था, जिन्हें 'मण्डलम्' कहते थे। ये कई प्रकार के थे—विजित, प्राचीन अथवा सामन्त-वर्गीय। जहाँ के शासक स्थानीय माण्डलिक-नृपति न थे, वहाँ राजकुल अथवा अन्य विशिष्ट कुलों से शासक नियुक्त किये जाते थे। माण्डलिक-नृपति अपने सामन्त-राज्यों का शासन

आप करते थे ; परन्तु उन्हें वार्षिक कर देना पड़ता था और अवसर आने पर अपने सम्राट् की धन-जन से सहायता करनी होती थी। 'मण्डल' के भी अनेक भाग थे जिन्हें 'कोट्टम्' अथवा 'वलनाडु' कहते थे। 'कोट्टम्' अनेक जिलों में विभक्त थे जिन्हें 'नाडु' कहते थे। 'नाडुओं' के नीचे गाँवों के समूह थे। प्रत्येक समूह 'कुर्रम्' कहलाता था। शासन का निम्नतम आधार 'ग्राम' था। ग्राम के शासन पर ही चोड-विधान का गौरव अवलंबित है।

प्रान्त

शासन-कार्य में अनेक सभाओं और समितियों से काम लिया जाता था। ऊपर गिनाये अनेक शासन-केन्द्रों की अपनी-अपनी सभाएँ थीं। 'मण्डलम्' की जनता की एक अपनी सभा थी, जो अन्य कार्यों के अतिरिक्त लगान की छूट का भी जब तब प्रबन्ध करती थी।[1] 'नाडु' की जन-सभा को 'नाट्टर' कहते थे और व्यापारियों के संघ को 'नगरत्तार'। ये दोनों प्राचीन-काल के उत्तर भारतीय 'जनपद' और 'पौर' के क्रमशः दाक्षिणात्य रूपान्तर जान पड़ते हैं। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उनपर 'जनपद' और 'पौर' का किसी प्रकार प्रभाव पड़ा था। उनका आरंभ दक्षिण में सर्वथा स्वतंत्र रूप से हुआ। परन्तु इन सभाओं के कार्यों के विषय में हमें सविस्तार ज्ञान नहीं है। इन जन-सभाओं के अतिरिक्त अन्य सार्वजनिक समूहों से भी शासन-कार्य में प्रचुर सहायता मिलती थी। ये समूह एक ही पेशा करनेवाले श्रमिकों, व्यापारियों आदि के संघ थे जिन्हें 'श्रेणी', 'पूग' आदि कहते थे। कुछ गाँवों में प्रायः सारे ग्रामवासियों की भी एक सभा होती थी जिसे 'ऊर' कहते थे। 'ऊर' नियमों से निर्बन्ध हो ग्राम की साधारण आवश्यकताओं पर विचार करते थे। ब्राह्मण-गाँवों की एक विशिष्ट संस्था थी जिसे 'सभा' अथवा 'महासभा' कहते थे। मद्रास के समीप उत्तरमेरूर नामक स्थान से कुछ अभिलेख उपलब्ध हुए हैं जिनसे विदित होता है कि यद्यपि इनपर राजा के कर्मचारियों (अधिकारिन्) की कुछ संरक्षा और देख-रेख थी, जनपद के कार्यों में ये 'सभाएँ' अथवा 'महासभाएँ' प्रायः सर्वथा स्वतंत्र थीं। इन सभाओं में ही गाँवों की जुती अथवा परती भूमि का स्वामित्व निहित था। वनों को काटकर कृषि-कर्म के लिए ये सभाएँ नयी भूमि प्रस्तुत करतीं और कृषकों की सर्वथा रक्षा करती थीं। लगान वसूल करना इनका ही काम था और लगान न चुका सकने पर खेत छीन लेने का उन्हें अधिकार था। देवोत्तर-भूमि का क्रय-विक्रय तथा प्रबन्ध यह संस्था स्वतंत्र रूप से बिना राजा अथवा उसके प्रतिनिधि की अनुमति के करती थी। ये सभाएँ आधुनिक बैंकों का भी काम करती थीं। लोग उन्हें धर्मार्थ दान करते थे और वे उस दान का सद्व्यय करती थीं। सभा का एक कार्य न्याय-सम्बन्धी भी था। अपराधियों के प्रति वह दण्ड-विधान भी करती थी। मठों के जरिये वह गाँव के बच्चों को संस्कृत और तामिल पढ़ाने का प्रबन्ध भी करती थी। इसकी बैठकें मन्दिर, सार्वजनिक हॉल अथवा चैत्य-वृक्षों के नीचे हुआ करती थीं। इसके सदस्यों की संख्या कितनी थी, यह नहीं कहा जा सकता। संभवतः वह गाँव की आबादी के अनुसार कम-बेश

जन-सभाएँ

महासभा

---

१. Studies in Cola History and Administration, पृ० ७१।

होती थी। गाँव के विविध प्रबन्धों के लिए विविध समितियाँ नियुक्त होती थीं। इस प्रकार साधारण प्रबन्ध, उद्यानों, सरोवरों, मन्दिरों, खेतों, देवोत्तर संपत्ति आदि के लिए अनेक पृथक्-पृथक् समितियाँ संगठित थीं। इन छोटी सभाओं अथवा समितियों के निर्वाचन के लिए नियम बने हुए थे। प्रत्येक ग्राम इस अर्थ वार्डों अथवा 'कुडुम्बों' (कुटुम्बों) में बँटा हुआ था। सदस्यता की योग्यता आयु, शिक्षा, आचरण, संबंधियों और सामाजिक स्थिति पर निर्भर करती थी। निर्वाचन का तरीका सादा था। जितने उम्मेदवार होते थे, उतने उनके नाम के टिकट एक बर्तन में डालकर मिला दिये जाते थे। फिर वे एक बालक द्वारा एक-एक करके निकाले जाते थे। गाँव का पुरोहित अपेक्षित संख्या के नाम तब घोषित कर देता था। सफल उम्मेदवारों में से यदि कोई किसी प्रकार का दोषी होता, तो उसका निर्वाचन रद्द कर दिया जाता। प्रतिनिधियों को पूर्णतया आदर्श होना पड़ता था। परन्तु इस निर्वाचन का रूप प्रमाणतः लोकतन्त्रिय न था। सभा आदि का एकाउन्ट बड़ी ईमान्दारी और सच्चाई से रखा जाता था, जिसकी समय-समय पर जाँच होती रहती थी। किसी प्रकार के गबन अथवा सार्वजनिक धन की चोरी का दण्ड कठोर था।[1]

प्रतिनिधियों का निर्वाचन

भूमि की माप समय-समय पर होती थी और खेतों की चौहद्दी में उनके मालिकों के नाम के रजिस्टरों में दर्ज होती थी। पहले भूमि की माप १६ और १८ बित्तों के लठ्ठों से होती थी। फिर कुलोत्तुंग प्रथम के विधानानुसार उसके चरण की लंबाई इस माप का स्टैंडर्ड हो गया। खेत ही राज्य की आय के मुख्य आधार थे। उपज का छठा भाग साधारणतया राजा का भूमि-कर था। सिंचाई की सुविधाओं अथवा भूमि की उपज-शक्ति के अनुसार लगान की दर बढ़ती-घटती रहती थी। अकाल अथवा बाढ़ के कारण लगान में कभी-कभी छूट भी मिला करती थी। ग्राम-सभाएँ लगान वसूलतीं और अन्न अथवा सिक्कों में उसे राजकोष में जमा करती थीं। लगभग तीन मन अन्न का एक 'कलम्' होता था। सोने के सिक्के को 'कशु' कहते थे। इनमें से एक अथवा सुविधावश दोनों में लगान चुकाई जा सकती थी। भूमि-कर के अतिरिक्त कई प्रकार के अन्य कर भी थे, जो करघों, कोल्हुओं, व्यापार-वस्तुओं, बटखरों, बाजारों, पशुओं, सरोवरों, घाटों, सुनारों आदि पर लगते थे।[3] इन अनेक जरियों से जो आय होती थी, उसके व्यय के लिए भी अनेक स्कंध थे। व्यय के मुख्य मार्ग निम्नलिखित थे—राजा और उसका दरबार, शासन, सेना, नगरों, मन्दिरों, राजमार्गों, नहरों और अन्य सार्वजनिक इमारतों के निर्माण आदि।

भूमि-माप और आय-व्यय[2]

चोड-शासन में सेना का स्थान भी साधारण न था। सेना सशक्त, बहुसंख्यक और विजयिनी थी। पदाति, आरोही आदि अनेक वर्गों में विभक्त थी। उसका विभाजन अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग के अनुसार भी था। एक दल धनुर्धरों का, दूसरा पदाति रक्षकों का, तीसरा

---

१ The Colas, २, १, अध्याय १८। २ वही, १९।
३ आयंगर : Ancient India, पृ० १८०।

दक्षिण पार्श्व के पदातियों का, चौथा घुड़सवारों, पाँचवाँ हाथियों का था। इनके अतिरिक्त सेना में अनेक अन्य दल भी थे। सेना को सैन्य-शिक्षण बराबर दिया जाता था। राज्य के विविध दुर्गों और छावनियों में सेना रखी जाती थी। छावनियों को 'कडगम' कहते थे। ब्राह्मण-सेनापतियों की संज्ञा 'ब्रह्माधिराज' थी। उनके पास एक शक्तिशाली नौसेना भी थी जिससे मलाया के अनेक द्वीप वे जीत सके थे।

सेना

चोड-राजाओं ने भी पल्लवों की ही भाँति खेतों की सिंचाई का पूरा प्रबन्ध किया था। उन्होंने कुएँ, बावलियाँ और तालाब तो इस कार्य के लिए खुदवाये ही, नदियों की धारा रोककर उन्होंने जलाशय बनवाये और उनमें से अनेक छोटी छोटी नहरें निकालकर खेतों तक पानी पहुँचाया। अपनी राजधानी गंगैकोण्ड-चोडपुरं के समीप राजेन्द्र प्रथम चोड ने कृत्रिम झील खुदवाकर उसे कोलेरून और वेलार नदियों के जल से भरवा दिया। इसके किनारे सोलह मील लंबे थे और इससे पत्थर की बनी नहरें निकाली गयी थीं।

सिंचाई

नगरों, मन्दिरों और सड़कों का निर्माण चोड-राजाओं का सामान्य व्यसन था। उन्होंने अनेक राजधानियाँ और नगर बसाये। उनके राज्य में अनन्त मन्दिरों का निर्माण हुआ। मन्दिर तत्कालीन जीवन में जनता के अनेक कार्य साधते थे। आध्यात्मिक जीवन के तो वे केन्द्र थे ही, उनमें अन्य सामाजिक कर्तव्य भी संपादित होते थे। वहाँ वेद-पुराणादि की आध्यात्मिक शिक्षा और व्याकरण, ज्योतिष आदि की वैज्ञानिक शिक्षा दी जाती थी। दक्षिण के अनेक मन्दिरों ने शिक्षा-केन्द्रों का स्थान ग्रहण कर लिया था। धार्मिक अथवा सामाजिक अवसरों पर उनमें नाटक भी खेले जाते थे जिस अर्थ उनमें 'रङ्ग' बने होते थे। नृत्य-गान के भी वे केन्द्र थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि इसी बुनियाद से बाद की देवदासी प्रथा का आरंभ हुआ जिसने समाज के एक अंग को घृणित कर डाला। चोड राजा सड़कों के भी बड़े निर्माता थे। उन्होंने प्रशस्त राजमार्ग बनवाये, जिनपर थोड़ी-थोड़ी दूर पर रक्षा के लिए सेनाएँ रखीं। चोडों की विशाल सेनाओं के उनके विशाल साम्राज्य में आवागमन के लिए इन राजपथों की आवश्यकता भी थी। उनकी विजयों और समय-समय पर विद्रोहों को दबाने में ये राजमार्ग प्रचुर सहायक सिद्ध हुए होंगे।

नगर, मन्दिर और सड़कें

चोड-राजा अधिकतर शैव-मतानुयायी थे और उनकी संरक्षा में शैव-मत का खूब प्रचार हुआ। शिव के उन्होंने असंख्य मन्दिर बनवाये। फिर भी वे वैष्णव अथवा बौद्ध-जैन-धर्मावलंबियों के प्रति भी सहिष्णु बने रहे। असहिष्णुता का बस एक उदाहरण कुलोत्तुंग प्रथम का वैष्णवाचार्य रामानुज के विरुद्ध है। राजा के कारण अपना देश छोड़कर उक्त आचार्य को होयसल-राज्य में शरण लेनी पड़ी थी। परन्तु विक्रम चोड ने फिर रामानुज को अपने देश में बुला लिया। वैष्णव-मन्दिर भी चोड-राजाओं ने बनवाये और बौद्ध-विहारों तक को दान दिये। अश्वमेध आदि अनेक यज्ञ भी उन्होंने अनुष्ठित किये। इस प्रकार की धार्मिक परिस्थिति में मन्दिरों का निर्माण और कला का उत्कर्ष स्वाभाविक ही था। इस काल धातुओं की सुन्दर मूर्तियाँ भी ढाली गयीं; परन्तु

धर्म और कला

कला, विशेषकर वास्तु की पराकाष्ठा तो तत्कालीन मन्दिरों के निर्माण में पहुँची। विस्तृत प्रांगण, उत्तुंग विमान, समलंकृत गोपुरं से विभूषित चोड-राजाओं द्वारा निर्मित मन्दिर अपने प्रतीक आप हैं। विशालता और दृढ़ता में तंजोर और काडहस्ती के मन्दिर दर्शनीय हैं। राजराज प्रथम का बनवाया हुआ तंजोर के राजराजेश्वर मन्दिर का विमान १९० फुट ऊँचा है। उसका आधार ८२ वर्ग-फुट तेरह मंजिलों में निर्मित है। विमान का शिखर २५ फुट ऊँचा एक ही चट्टान का बना है जिसकी तौल ८० टन है। १९० फुट की ऊँचाई पर इतनी भारी शिला को ले जाना निस्सन्देह आश्चर्यजनक है। इसी प्रकार का एक विशाल मन्दिर राजेन्द्र प्रथम ने भी अपनी राजधानी गंगैकोण्डचडपुरं के समीप बनवाया। इन मन्दिरों में सुन्दर कोरी हुई राजा-रानी की पुरुषाकार मूर्तियाँ हैं।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१ नीलकंठ शास्त्री : The Colas.
२ आयंगर : Ancient India.
३ शास्त्री : Studies in Cola History and Administration.
४ त्रिपाठी : History of Ancient India.
५ स्मिथ : Early History of India.
६ S. I. I.

तीसवाँ परिच्छेद

पाण्ड्य और चेर

१. पाण्ड्य

पाण्ड्यों के मूल आदि के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। उनका निवास भारतीय अन्तरीप के दक्षिणतम भाग में था। मदुरा, रमनाड और टिन्नेवेली के आधुनिक जिले पाण्ड्यों के प्राचीन राज्य के आज स्थानापन्न हैं। उनके राज्य की सीमाएँ समय-समय पर घटती-बढ़ती रही थीं। पाण्ड्यों की राजधानी मधुरा (मदुरा) थी। कोरकइ उनका मुख्य व्यापारिक केन्द्र था। बाद में इसका स्थान कायल ने ले लिया था।

पाण्ड्यों का राज्य प्राचीन था और इसके प्रति प्राचीन साहित्य— कात्यायन के वार्तिक, रामायण, महावंश, मेगास्थनीज की 'इंडिका' आदि—में हवाले मिलते हैं।। मेगास्थनीज ने उनकी शक्ति और धन की स्तुति की है। अशोक के शिलालेखों में उनको स्वतंत्र कहा गया है। हाथीगुम्फावाले खारवेल के लेख में भी पाण्ड्यों के धन का अन्दाज लगता है। स्त्राबो का कहना है कि पाण्ड्य-नरेश ने लगभग २० ई० पू० में आगस्टस सीजर के पास अपने दूत भेजे थे। 'पेरिप्लस' और तालेमी के

आरंभ

'भूगोल' में भी पाण्ड्यों और उनकी राजधानी मदुरा का उल्लेख है। प्रारंभिक पाण्ड्यों के विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है। संगम्-साहित्य में कुछ राजाओं के नाम अवश्य मिलते हैं, परन्तु उनका तिथिक्रम निश्चित करना असंभव है। इनमें से नेडुन्जेडियन् नामक नृपति ने तन्जोर में एक विरोधी राजसंघ को परास्त कर पाण्ड्य-यश का विस्तार किया था। पल्लवों के उत्कर्ष से पाण्ड्यों का प्रभुत्व तीन सदियों तक दबा रहा और छठी शती में कळभ्रों ने पाण्ड्य देश पर अधिकार कर लिया ; परन्तु उस सदी के अन्त में कडुंगोन् ने उनको अपने देश से निकाल बाहर किया। यह कडुंगोन् ही वास्तव में पाण्ड्यों के प्रभुत्व का प्रारंभक है।

अन्य महत्त्वपूर्ण राजा अरिकेशरी मारवर्मन् हुआ, जो आरंभ में जैन था ; परन्तु बाद में सन्त तिरुज्ञानसम्बन्दर के उपदेश से शैव हो गया था। उसके बाद कोचडयन् रणधीर, मारवर्मन् राजसिंह प्रथम और नेडुन्जेडयन् वरगुण प्रथम (ल० ७६५-८१५ ई०) के समय में पाण्ड्य राज्य की सीमाएँ निरन्तर बढ़ती गयीं। श्रीमार श्रीवल्लभ ने सिंहल के राजा को परास्त किया और पल्लव, गंग तथा चोड-राजाओं के संघ को छिन्न-भिन्न कर दिया। उसने लगभग ८१५ ई० से ८६२ ई० तक शासन किया। ८८० ई० के आसपास संभवतः वरगुण द्वितीय के समय में पासा पलटा और चोडों तथा गंगों की सहायता से अपराजितवर्मन् पाण्ड्य ने कुंबकोनम् के समीप श्रीपुरम्बीयम् के युद्ध में उसे बुरी तरह हरा दिया। चोडों के उत्कर्ष से भी पाण्ड्यों का पराभव हुआ। मारवर्मन् राजसिंह द्वितीय ने परान्तक प्रथम चोड पर हमाला किया, परन्तु चोड-नृपति ने उसका दुखद पराभव कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और इस विजय के उपलक्ष्य में 'मदुरैकोण्ड' विरुद धारण किया। राजसिंह ने सिंहल में शरण ली और पाण्ड्य-राज्य चोडों का सामन्त-राज्य हो गया। उसकी यह राजनीतिक परिस्थिति लगभग चार सदियों (ल० ९२० ई० से १३वीं सदी के आरंभ) तक बनी रही।

चोड-आधिपत्य-काल

इस बीच चोड-आधिपत्य से निकल भागने की पाण्ड्य-राजाओं ने अनेक बार प्रयत्न किये। तक्कोलं के युद्ध (९४९ ई०) में जब कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूट ने चोडों को धूल चटा दी तब अवसर पाकर वीर पाण्ड्य ने विद्रोह किया ; परन्तु उसे मारकर विद्रोह शान्त कर दिया गया। राजेन्द्र प्रथम चोड के समय में पाण्ड्य-राज्य का शासन उसके पुत्र जटावर्मन् सुन्दर के सुपुर्द कर दिया गया। परन्तु विद्रोह निरन्तर होते ही रहे। राजाधिराज द्वितीय के समय में चोड-आधिपत्य अत्यन्त दुर्बल हो गया। कुलोत्तुंग तृतीय ने अन्त में एक बार और मदुरा पर अधिकार किया ; परन्तु इसके बाद चोड स्वयं कमजोर हो गये और पाण्ड्यों पर वे अपना आधिपत्य न रख सके। ११९० ई० में जटावर्मन् कुलशेखर पाण्ड्य गद्दी पर बैठा और शक्ति का पाँसा एक बार फिर पाण्ड्यों के पक्ष में पड़ा। पाण्ड्यों का यह दूसरा साम्राज्य-काल था। लगभग सौ वर्ष तक पाण्ड्य दक्षिण के भाग्य-विधाता बने रहे। उसके उत्तराधिकारी

उत्कर्ष

मारवर्मन् सुन्दर पाण्ड्य प्रथम के समय चोडों को और भी मुँह की खानी पड़ी। उसने लगभग १२१६ से १२३८ ई० तक राज किया। उसने चोड-राज्य रौंद डाला और तंजोर और उरैपुर को जला दिया। राजराज तृतीय चोड को

उसने दो-दो बार परास्त किया और दोनों बार गद्दी दे दी। जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य (१२५१-७२ ई०) इस कुल का सबसे पराक्रमी नृपति था और उसने पाण्ड्य-शक्ति का सर्वाधिक विस्तार किया। उसने चोडों को कुचलकर कांची पर अधिकार कर लिया और चेर, कोंगुदेश तथा सिंहल पर भी कब्जा किया। उसने होयसल, काकतीय और पल्लव-राजाओं को भी परास्त किया। पाण्ड्य-राज्य का इन विजयों के कारण बड़ा विस्तार हो गया। जटावर्मन् ने अपना नया विरुद 'महाराजाधिराज श्रीपरमेश्वर' धारण किया। उसने अनेक यज्ञ किये तथा श्रीरंगम् और चिदम्बरम् को अनन्त धन दान किया। उसके शासन और युद्धों में जटावर्मन् वीर पाण्ड्य नाम का एक और राजा सम्मिलित था। कुछ विद्वानों ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि दोनों स्वतंत्र नृपति थे। यह मत दोषपूर्ण है। प्रायः प्रत्येक पाण्ड्य-राजा अपने सामन्त-नृपति की सहायता लेता था और राज्य की सीमाएँ बढ़ जाने पर यह स्वाभाविक-सा हो गया। जटावर्मन् के बाद मारवर्मन् कुलशेखर ने भी कुछ राज्य-विस्तार किया और मन्दिर बनवाये। १२९३ ई० में वेनिस का पर्यटक मार्कोपोलो दक्षिण आया और उसने पाण्ड्य-देश के राजा-प्रजा के व्यवहार-आचार का वर्णन किया। उसने उस देश की समृद्धि और धन का विशेष ब्योरा दिया है। मारवर्मन् कुलशेखर ने अपने दो पुत्रों, वीर पाण्ड्य और सुन्दर के साथ मिलकर राज किया। मारवर्मन् की हत्या कर दी गयी और तब सुन्दर ने अलाउद्दीन खिलजी से मदद माँगी। १३१० ई० में मलिक काफूर ने मदुरा लूटा। भाइयों में युद्ध चलता रहा। अलाउद्दीन ने खुसरू खाँ के सेनापतित्व में एक और सेना भेजी। पाण्ड्य-राजकुल का शीघ्र अन्त हो गया। मुसलमान शासक मदुरा में स्वतंत्र हो गया। परन्तु अन्त में विजयनगर के साम्राज्य ने उसपर अपना अधिकार कर लिया।

जटावर्मन् सुन्दर पाण्ड्य

२. चेर

चेर अथवा केरल दक्षिण के तीन द्राविड़ जातियों में से एक हैं। प्राचीन काल में भी केरल देश ब्रिटिश मालाबार, कोचीन और ट्रावनकोर का ही द्योतन करता था। उत्कर्ष के समय इसमें कोंगु प्रान्त (अर्थात् कोइम्बटूर का जिला और सालेम का दक्षिणी भाग) भी शामिल था। आधुनिक क्रंगनूर के स्थान पर पहले मूज़िरिस आबाद था, जो व्यापार का केन्द्र था। वहाँ रोमनों की भी कुछ आबादी हो गयी थी और उन्होंने वहाँ आगस्टस् का मन्दिर बनाया था। यहूदियों का भी वहाँ एक भाग में आवास था जिन्हें चेर-राजा भास्कर रविवर्मन् ने दसवीं सदी के आरंभ में कुछ अधिकार दिये थे।

केरलों का संक्षिप्त इतिहास

चेरों के प्रति पहला हवाला अशोक के शिलालेख में मिलता है और वहाँ उन्हें चोडों और पाण्ड्यों के साथ स्वतंत्र केरलपुत्र कहा गया है। राजा सेंगुत्तुवन् के समय से उनके इतिहास का किंचित् पता चलता है। उसके भाई इलंगोवदिगल द्वारा विरचित तामिल

'शिलप्पदिकारम्' में सेंगुत्तुवन् का चरित दिया हुआ है। यह नृपति संभवतः करिकाल चोड के पौत्र का सम-कालीन था। जान पड़ता है, सेंगुत्तुवन् पराक्रमी था और उसने कुछ प्रांत भी जीते। इसके बाद अनेक सदियों तक चेरों की अवस्था अन्धकार में पड़ जाती है। आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में चेर-राजाओं को पाण्ड्यरा-जाओं की चोटें सहनी पड़ती हैं। चोडों के साथ चेरों का संबंध मैत्री का था; परन्तु दसवीं सदी के अन्त में दोनों जूझ पड़े। राजराज प्रथम ने केरलराज को परास्त कर कन्दलुर के पास उसका जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया। बारहवीं सदी तक चेरों पर चोडों का प्रभुत्व बना रहा। इसी काल वीर केरल ने अपनी स्वतंत्रता स्थापित की। परन्तु तेरहवीं सदी में पाण्ड्यों के उत्कर्ष-काल में चेर फिर अधोमुख हो गये। १३१० ई० में मलिक काफ़ूर ने पाण्ड्यों को कुचल डाला और चेरों को दम लेने का अवसर मिला। उनके राजा रविवर्मन् कुलशेखर ने पाण्ड्यों और चोडों के अनेक प्रान्त झट दबा लिये। परन्तु काकतीय रुद्र प्रथम ने उसे विशेष बढ़ने न दिया। रविवर्मन् कुलशेखर १२६६ ई० में गद्दी पर बैठा था। उसके बाद चेरों का फिर अवसान आरंभ हुआ और वे धरा से उठ गये। चेरों की शक्ति कभी चोडों अथवा पल्लवों की भाँति दक्षिण भारत में प्रबल न हो सकी।

इस परिच्छेद के लिए साहित्य

१ नीलकंठ शास्त्री : The Pāndyan Kingdom.
२ त्रिपाठी : History of Ancient India.
३ स्मिथ : Early History of India.

H. P. P.—J. No. 582 (a)—17-1-48—2000

अनुक्रमणिका

अ

ग

घ

च

छ

ज

प

श

स

ह

क्ष

त्र

ज्ञ


CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
New Delhi.
LIBRARY

